राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

Hindi Translation of :

(Gettelle's : HISTORY OF POLITICAL THOUGHT)

लेखक :
रेमंड गारफील्ड गैटिल

संशोधनकर्त्ता :
लॉरेन्स सी० वनलास

अनुवादक :
सत्यनारायण दुबे, एम० ए०, पी-एच० डी०
एसोशियेट प्रोफेसर, इतिहास तथा राजनीति विभाग,
आगरा कॉलेज, आगरा ।

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल
शिक्षा सम्बन्धी प्रकाशक
आगरा ।

मूल्य १५.०० रुपये

प्रथम संस्करण, १९६०

मूल्य पन्द्रह रुपये

मुद्रक : दी मॉडर्न प्रेस, नमक मंडी, आगरा।
प्रकाशक : लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, अस्पताल रोड, आगरा।

प्राक्कथन

इस पुस्तक के पहले संस्करण का, जिसकी रचना स्वर्गीय प्रोफेसर रेमंड गारफील्ड गैटिल ने की थी, अच्छा स्वागत हुआ, इसलिये इस संशोधन में उसके सामान्य स्वरूप में परिवर्तन करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। जो कुछ हेरफेर किया गया है, वह यूनानी राजनीति दर्शन से सम्बद्ध अध्यायों और उदारवाद, फासीवाद, साम्यवाद से सम्बन्धित अन्तिम अध्यायों में देखने को मिलेगा। इन परवर्ती विषयों के महत्व को स्पष्ट करने के लिये मैंने पुस्तक को अनेक भागों में विभक्त करके नये सिरे से संगठित कर दिया है और बीच के अनेक अध्याय जिनका सम्बन्ध उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीतिक चिन्तन से था, हटा दिये हैं। प्रत्येक अध्याय के अन्त में पठनीय ग्रन्थों की सूची दे दी गई है जिसमें नवीनतम तथा सुलभ पुस्तकें सम्मिलित हैं।

संशोधन के इस कार्य में मुझ पर अनेक अनुगृह हुए हैं। अन्य विद्वानों का, जिनके ग्रन्थों का मैंने सहारा लिया है, मैं ऋणी हूँ। प्रोफेसर चार्ल्स मैकिलवेन के ग्रन्थ **द ग्रोथ ऑव पोलिटिकल थौट इन द वेस्ट (पश्चिम में राजनीतिक चिन्तन का विकास)** का मेरे यूनानी राजनीति दर्शन विषयक चिन्तन पर प्रभाव पड़ा है। मध्यकालीन चिन्तन से सम्बद्ध खंडों का संशोधन करने में मुझे ए० जे० कार्लाइल और आर० डब्ल्यू० कार्लाइल के **ए हिस्ट्री आव मैडीवल पोलिटीकल थियरी इन द वेस्ट (पश्चिम के मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन का इतिहास)** से बहुमूल्य सहायता मिली है। एलाइ हैल्वे के ग्रन्थ **द ग्रोथ ऑव फिलसौफिक रेडीकलिज्म (दार्शनिक उग्रवाद का विकास)** ने मेरे ब्रिटिश उपयोगितावाद सम्बन्धी विचारों को प्रभावित किया है। जॉर्ज एच० सेबाइन के ग्रन्थ **ए हिस्ट्री ऑव पोलिटिकल थियरी (राजनीतिक सिद्धान्त का इतिहास)** से मुझे राजनीतिदर्शन के स्वरूप तथा अन्तर्वस्तु के विषय में नई सूझबूझ मिली है। मैं उन मित्रों का भी आभारी हूँ जिन्होंने मुझे पांडुलिपि तैयार करने में अपना परामर्श और प्रोत्साहन दिया है। विशेषकर मैं स्मिथ कॉलेज के हैरोल्ड यू० फौकनर, माउंट होलयोक कॉलिज के रौजर डवल्यू० होल्म्स और कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के ड्वाइट वाल्डो को धन्यवाद देता हूँ। किन्तु मुझ पर सबसे अधिक ऋण मेरी पत्नी एनीता का है जिन्होंने हमारे इस संयुक्त कार्य में बहुत अधिक समय लगाया है। उनकी सहायता और सहयोग के बिना संशोधन का यह कार्य करना मेरे लिये असम्भव हो जाता।

एल० सी० डब्लू

विषय-सूची

भाग १—भूमिका

भाग २—प्राचीन राजनीतिक चिन्तन

भाग ३—मध्यकालीन राजनीतिक चिन्तन

भाग ४—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ

भाग ५—आधुनिक उदारवादी राजनीतिक चिन्तन

मनुष्य की प्रारम्भिक सामाजिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव और परिवर्धन दीर्घकाल तक अचेतन रूप से ही हुआ। धीरे ही धीरे उसे उनके अस्तित्व का बोध हुआ और यह समझ में आया कि उनमें अपने उद्देश्य के अनुसार परिवर्तन और सुधार करने की सम्भावना है।

मनुष्य की सामाजिक संस्थाओं में राज्य सबसे अधिक व्यापक और शक्तिशाली है। जहाँ कहीं भी मनुष्य रहता है वहाँ किसी न किसी प्रकार का संगठन और सत्ता दिखाई पड़ती है, किसी न किसी प्रकार का विधान और नियम लागू किये जाते हैं। इसलिये मानवीय विकास की प्रक्रिया में यह अनिवार्य था कि मनुष्य इस संस्था की (राज्य की) जाँच करे, उसकी उत्पत्ति का पता लगाये, उसकी सत्ता को चिनौती दे अथवा उसका समर्थन करे, और उसके कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में वाद-विवाद करे। इसी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप राजनीतिक चिन्तन का जन्म हुआ। अब मनुष्य सरकार और कानून की जिनका जन्म और विकास पहले अचेतन और अनियंत्रित ढंग से हुआ था, अपनी बुद्धि से समीक्षा करने लगा। राज्य के विषय में वह सचेत हो उठा और राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप और प्रकृति की व्याख्या करने लगा, यद्यपि प्रारम्भ में यह व्याख्या भद्दे-भोंड़े ढंग की ही थी। जैसे-जैसे निरीक्षण और तार्किक विश्लेषण की शक्तियाँ बढ़ती गईं वैसे ही राजनीतिक चिन्तन का क्षेत्र भी विस्तीर्ण होता गया। राज्य के बाह्य स्वरूप अर्थात् संगठन और कार्यकलाप के परिवर्धन के साथ-साथ उसके सैद्धान्तिक पक्ष का भी विकास हुआ—मनुष्यों के विचारों और परम्पराओं तथा साहित्य में यह पक्ष प्रतिबिम्बित होने लगा।

राजनीतिक चिन्तन तथा राजनीतिक संस्थाएँ

यह स्पष्ट है कि किसी युग के राजनीतिक विचारों और वास्तविक राजनीतिक परिस्थितियों में परस्पर गहरा सम्बन्ध होना चाहिए। अधिकतर राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रादुर्भाव के पीछे दो कारण रहे हैं—या तो उनका जन्म तत्कालीन सत्ता की व्याख्या करने और उसको उचित ठहराने के लिये हुआ, या परिवर्तन करने की आशा से उसकी आलोचना करने के लिये। यह सही है कि कभी-कभी राजनीतिक मनीषियों ने आदर्श राज्य के सम्बन्ध में चिन्तन किया है, अथवा अपने आदर्शों के आधार पर राजनीतिक संस्थाओं का काल्पनिक चित्र खींचा है। किन्तु ध्यान से समीक्षा करने पर ज्ञात होगा कि इस प्रकार के राजनीतिक सिद्धान्त भी अपने समय के राजनीतिक आदर्शों पर आधारित थे और उनका उद्देश्य तत्कालीन परिस्थियों से उत्पन्न विशेष दोषों को दूर करना ही था। प्लेटो ने अपनी **रिपब्लिक** में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे निरर्थक प्रतीत होंगे यदि हम यूनानी नगर-राज्यों के पतन के काल की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उनका अध्ययन नहीं करते। टॉमस मोर की **यूटोपिया** ('आदर्श समाज') के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। इंगलैंड में जब कृषि के स्थान पर भेंड़ पालने के उद्योग का विकास हुआ तो गहरी सामाजिक उथल-पुथल और अशान्ति उभड़

पड़ी; यही अशान्ति **यूटोपिया** की पृष्ठभूमि हैं। बैलमी की **लुकिंग बेकवर्ड** में आधुनिक नगरों तथा पूँजीपतियों और श्रमिकों की समस्याओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

साधारणतया राजनीतिक सिद्धान्त वास्तविक राजनीतिक परिस्थितियों के ही सीधे परिणाम होते हैं। वे वास्तविक राजनीतिक विकास के पीछे निहित विचारों और उद्देश्यों का ही प्रतिबिम्ब होते हैं और उन्हीं का निर्वचन करते हैं। मनुष्य जिस चीज को अपनी संस्थाओं की तात्विक विशेषता और आत्मा समझते हैं उसी का वे प्रतिनिधित्व करते हैं। वे अपने युग की परिस्थितियों और बौद्धिक दृष्टिकोण के द्योतक होते हैं। साथ ही साथ राजनीतिक सिद्धान्तों का राजनीतिक विकास पर भी प्रभाव पड़ता है। वे वस्तुस्थिति की उपज मात्र नहीं होते, बल्कि मनुष्य को अपनी राजनीतिक संस्थाओं में रूपान्तर करने के लिये प्रेरित भी करते हैं। कभी-कभी सिद्धान्त का पहले जन्म होता है और फिर उसके अनुरूप संस्थाएँ बनती हैं और कार्य होने लगता है। कभी-कभी इसका उलटा होता है। संस्थाएँ बन जाती हैं, काम चलने लगता है और बाद में सिद्धान्त गढ़ लिया जाता है। इस प्रकार राजनीतिक सिद्धान्त कारण भी होते हैं और परिणाम भी। बदलती हुई परिस्थितियाँ नये सिद्धान्तों को जन्म देती हैं, और फिर सिद्धान्तों का राजनीतिक कार्यप्रणाली पर प्रभाव पड़ता है। 'महान् अधिकार पत्र' और 'मानव अधिकारों की घोषणा' को केवल सिद्धान्तों का प्रतिपादन मात्र नहीं कहा जा सकता। उनके द्वारा वास्तव में ठोस कार्य-क्रम प्रस्तुत किये गये थे जिनका प्रभाव आज तक दीख पड़ता है।

राजनीतिक सिद्धान्त का अपने समय की राजनीतिक संस्थाओं से ही नहीं बल्कि अन्य प्रकार की विचारधाराओं से भी सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार हम किसी व्यक्ति के राजनीतिक अथवा आर्थिक जीवन को उसके अन्य हितों से पृथक करके नहीं समझ सकते वैसे ही राजनीतिक चिन्तन को विज्ञान, दर्शन, नैतिकता, धर्म, आर्थिक सिद्धान्त, साहित्य और यहाँ तक कि परम्पराओं, मतवादों, दुर्भावों और अन्धविश्वासों से अलग नहीं किया जा सकता। राजनीतिक चिन्तन का स्वरूप बहुत-कुछ मानसिक विकास की अवस्था पर निर्भर होता है। एक युग में मनुष्य की बुद्धि एक चीज को महत्व देती है और दूसरे युग में किसी दूसरी चीजें को। उदाहरण के लिये मध्ययुग के राजनीतिक चिन्तन पर तत्कालीन धार्मिक सिद्धातों का मुख्य प्रभाव था, और आधुनिक काल की राजनीतिक विचारधाराओं पर आर्थिक सिद्धान्तों का बहुत प्रभाव है। इसलिये राजनीतिक चिन्तन का ऐतिहासिक सर्वेक्षण करते समय हमें वास्तविक राजनीतिक संस्थाओं के विकास पर ही नहीं अपितु अन्य क्षेत्रों में मनुष्य के विचारों की प्रगति को भी ध्यान में रखना चाहिए, तभी हम किसी काल के राजनीतिक सिद्धान्तों को समझ सकते और उनका मूल्याङ्कन कर सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य के विकास के दो पक्ष हैं। पहला व्यावहारिक पक्ष है जिसका अभिप्राय है राज्य का वास्तविक विकास जो उसकी सरकार, प्रशासनीय

कानूनों और उनके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों द्वारा व्यक्त होता है। दूसरा सैद्धान्तिक पक्ष है जिसमें राज्य सम्बन्धी विचारों का विकास सन्निहित रहता है। वास्तविक राजनीतिक संस्थाओं के सदृश राजनीतिक सिद्धान्तों में भी हमें विकास की एक अविच्छिन्न धारा देखने को मिलती है। राजकीय संस्थाओं की भाँति राजनीतिक सिद्धान्त भी पीढ़ी दर पीढ़ी चलते रहते हैं। प्रत्येक राज्य अपने अनुभव तथा परिस्थितियों के अनुसार अपने पूर्व सिद्धान्तों और संस्थाओं में रूपान्तर कर लेता है, और ये चीजें आगे आने वाले राज्यों को प्रभावित करती हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि राजनीतिक चिन्तन तत्वतः सापेक्ष होता है, निरपेक्ष सत्य के प्रतिपादन का वह दावा नहीं करता। अतीत में वास्तविक परिस्थितियों तथा विभिन्न विचारधाराओं के आधार पर उसका विकास हुआ; वर्तमान काल में उसका सम्बन्ध उन समस्याओं से है जिनका हमें दिन-प्रति-दिन सामना करना पड़ता है। इन समस्याओं के सम्बन्ध में विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं में मतैक्य देखने को नहीं मिलता। काफी समय बीत जाने पर जब ऐतिहासिक दृष्टिकोण साफ हो जाता है तब अतीत की समस्याओं का सही रूप सामने आने लगता है और उस समय अनुभवहीन आलोचक समझने लगते हैं कि पुरानी पीढ़ियों के लोग मूर्ख तथा अज्ञानी थे और अपने समय की समस्याओं का जो हल उन्होंने निकाला वह अपूर्ण तथा निरर्थक था। इसी प्रकार भावी पीढ़ियों की निगाह में हमारी आज की समस्याएँ बड़ी सरल प्रतीत होंगी, और उनका जो हल हम बड़ी कठिनाई से निकाल पा रहे हैं उसे वे भारी भूल समझेंगे। किन्तु यदि हम किसी सिद्धान्त, समस्याओं के किसी हल, को तत्कालीन परिस्थितियों और प्रचलित विचारधाराओं को दृष्टि में रख कर समझने का प्रयत्न करें तो हमें उस काल के लोगों की वास्तविक कठिनाइयों का स्पष्टीकरण हो जायगा।

राजनीतिक जीवन के किसी विशेष पहलू का प्रभाव लाभदायक होगा अथवा हानिकारक, इस सम्बन्ध में बुद्धिमान लोगों में बहुधा ईमानदारी का मतभेद होता है। यदि कहीं समस्याओं की मूल प्रकृति के सम्बन्ध में सब लोगों में मतैक्य हो भी गया तो वे उनके कारणों के हल करने की उचित प्रणाली के विषय में एकमत नहीं हो पाते। इसी प्रकार के अनेक मतभेद राजनीतिक प्रश्नों के मूल में छिपे होते हैं, वे ही राजनीतिक दलों तथा उनके पारस्परिक संघर्षों को जन्म देते हैं और उन्हीं से सरकारों को प्रेरणा मिलती है। राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के मूल में भी ऐसे ही मतभेद होते हैं और उन्हीं के कारण उनके बीच विवाद अथवा युद्ध उठ खड़ा होता है, और दोनों पक्ष ईमानदारी से सोचते हैं कि न्याय हमारी ही ओर है। कभी-कभी ऐसा भी समय आ जाता है जब कि राजनीतिक समस्याओं से उत्पन्न संघर्ष तीक्ष्ण नहीं होता, जब कि व्यक्ति और राज्य आधारभूत प्रश्नों पर काफी सीमा तक एक दूसरे से सहमत होते हैं और परिणामस्वरूप राजकीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध सुचारु रूप से संचालित होते रहते

हैं। कभी-कभी इसके विपरीत होता है। मतभेद तीक्ष्ण हो जाता है, विरोधी पक्ष एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं, क्रांति का वातावरण उत्पन्न हो जाता है, और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं।

यद्यपि कुछ राजनीतिक सिद्धान्त ऐसे हैं जिनकी बार-बार व्याख्या, आलोचना और प्रत्यालोचना हुई है, और इस प्रकार उनका रूप निखर आया है और उनमें एक प्रकार की सार्वभौमिकता दीख पड़ती है, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि राज्य विषयक कोई भी सिद्धान्त परमार्थ सत्य नहीं कहा जा सकता है। कुछ सुधारकों की यह बुनियादी कमजोरी होती है कि वे समझते हैं कि समाज के पुनस्संगठन की हमारी योजना पूर्ण है और स्थायी सिद्ध होगी। हो सकता है कि एक शताब्दी बाद उस समय की बदली हुई परिस्थितियों में लोगों को हमारे आज के राजनीतिक विचार भद्दे-भोंडे और बेहूदे प्रतीत हों जैसे कि हमें अपने पूर्वजों के अनेक सिद्धान्त प्रतीत होते हैं। किन्तु इससे इस बात की आवश्यकता किसी प्रकार कम नहीं हो जाती कि प्रत्येक युग के लोग अपने समय की विकास की अवस्था, वास्तविक परिस्थितियों और भविष्य के आदर्शों के आधार पर अपने लिए एक राजनीति दर्शन का निर्माण करें।

राजनीतिक चिन्तन की समस्याएँ

यदि हम उन समस्याओं का विश्लेषण करें जो राजनीतिक चिन्तन का विषय रहीं हैं तो हमें ज्ञात होगा कि किसी एक युग में जिन समस्याओं पर जोर दिया गया वे दूसरे युगों की समस्याओं से बहुत भिन्न थीं। मध्ययुग में राजनीतिक तथा धार्मिक सत्ताओं के बीच प्रभुत्व के लिये चलने वाला संघर्ष विवाद का मुख्य केन्द्र था; सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में राजतंत्रीय तथा लोकतांत्रिक सिद्धान्तों में लोगों को अधिक रुचि थी; वर्तमान युग में राज्य के कार्य-क्षेत्र को विशेष महत्व दिया जा रहा है, और विशेषकर राजनीतिक तथा आर्थिक हितों के बीच सम्बन्ध विवाद का विषय बना हुआ है।

विभिन्न युगों की राजनीतिक परिस्थितियाँ एक दूसरे से इतनी भिन्न होती हैं कि एक समय किसी समस्या का जो अर्थ होता है वह दूसरे युग में पूर्णतया बदल जाता है। उदाहरण के लिये अठारहवीं शताब्दी के उदारवादी विचारक व्यक्तिवाद के पक्ष में इसलिये थे कि वे ग़ैर-जिम्मेदार और निरंकुश राजाओं द्वारा नियंत्रित राज्यों के कार्य-क्षेत्र को सीमित करना चाहते थे। किन्तु आज उसी प्रकार का विचारक मर्यादित समाजवादी दृष्टिकोण को अपना सकता है और राजकीय नियमन तथा नियंत्रण के प्रसार के पक्ष में हो सकता है। जब राजशक्ति राजाओं के हाथ से निकल कर जनता के हाथों में आगई तो फिर उससे डरने का कारण भी जाता रहा; और इसलिये लोग सोचने लगे कि राज्य कोई अत्याचारी नहीं है जिसके कामों पर अंकुश लगाया जाय बल्कि जनता का नौकर है और उसके कार्यों से सार्वजनिक कल्याण की अभिवृद्धि होती है इसलिये उसके कार्यक्षेत्र को विस्तृत करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ऐसे बहुत कम विचारक हुए हैं जिन्होंने राज्य विषयक एक व्यापक, अखिल और सुसंगत सिद्धान्त का निर्माण करने का प्रयत्न किया हो। साधारणतया लोगों की रुचि राजनीतिक जीवन के किसी ऐसे विशेष पहलू में रही है जो उनके समय में महत्व का समझा जाता था। इसलिये उन समस्याओं की जिनको राजनीतिक सिद्धान्तों ने हल करने का प्रयत्न किया है एक सम्पूर्ण और युक्तिसंगत रूपरेखा प्रस्तुत करना बहुत कठिन है। यहाँ पर कुछ महत्वपूर्ण समस्याओं का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा, विशेषकर उनका जिनके विषय में बार-बार चिन्तन किया गया है।

राज्य की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचारकों ने बहुत ध्यान दिया है। प्राचीन काल में जब लोगों की विवेचन-शक्ति अविकसित थी और ऐतिहासिक ज्ञान भी नहीं के बराबर था, राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति का कारण ढूँढ़ निकालने के अनेक प्रयत्न किये गये। जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये उनमें तीन मुख्य थे। पहला दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त था। इसके प्रतिपादकों का कहना था कि राज्य ईश्वर की सत्ता से कायम किया गया था। दूसरा शक्ति सिद्धान्त था। इसके माननेवालों का मत था कि शक्तिशाली व्यक्तियों ने बलपूर्वक दुर्बलों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति हुई। तीसरा सामाजिक अनुबन्ध का सिद्धान्त था। इसके अनुसार व्यक्तियों ने समझ बूझकर ऐच्छिक समझौते अथवा सम्मति से राज्य का निर्माण किया। ये सिद्धान्त सन्तोषजनक नहीं कहे जा सकते। अभी हाल में ही ऐतिहासिक ज्ञान के विकास, आलोचनात्मक ऐतिहासिक दृष्टिकोण के प्रादुर्भाव और विकासवाद के सिद्धान्त के प्रचार के कारण राज्य की उत्पत्ति का सन्तोषजनक सिद्धान्त प्रतिपादित करना सम्भव हो सका है। फिर भी राजनीतिक जीवन के अत्यन्त प्रारम्भिक काल के विषय में हमारा ज्ञान अभी अधूरा है और इसलिये अनेक प्रश्न अब भी विवादग्रस्त हैं। तो भी सामान्यतया आधुनिक विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर यह माना जाता है कि राज्य का निर्माण न तो ईश्वर द्वारा हुआ, और न मनुष्य ने ही जानबूझ कर विजय अथवा समझौते से उसका निर्माण किया। वल्कि मनुष्य की व्यवस्था और सुरक्षा की स्वाभाविक आवश्यकता के परिणामस्वरूप राज्य की संस्था का शनैः शनैः विकास हुआ।

उत्पत्ति के प्रश्न के साथ राज्य के प्रति भक्ति का महत्वपूर्ण प्रश्न सम्बद्ध है। कुछ अराजकवादियों को छोड़ कर सभी लेखक किसी न किसी प्रकार की राजशक्ति की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। किन्तु इस राजशक्ति के स्वभाव और रूप के सम्बन्ध में वे एकमत नहीं हो सके हैं। इसी से वैधता का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है जिसे सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन की आत्मा कहना चाहिये। रूसो ने इस प्रश्न को अत्यधिक स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार रक्खा : "मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न होता है किन्तु वह सर्वत्र बन्धन में

पड़ा हुआ दिखाई देता है। इस चीज को वैध कैसे बनाया जा सकता है ?"[1]

इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिये गये हैं। कुछ सैद्धान्तिकों के अनुसार राज्य के प्रति व्यक्ति की भक्ति ईश्वरीय विधान पर आधारित है। एडमंड बर्क का कहना था कि ईश्वर ने "हमें हमारी इच्छा के अनुकूल नहीं बल्कि अपनी दैवी योजना के अनुसार हमारे अपने-अपने स्थानों पर नियुक्त और विनियोजित किया है, और उसका यह कठोर विधान है कि हम अपने स्थान से सम्बद्ध कार्य (स्वधर्म) को सम्पादित करें।"[2] कुछ विद्वानों का, जिनमें अरस्तू भी सम्मिलित है, कहना है कि राज्य मनुष्य की जन्मजात राजनीतिक प्रवृति का आवश्यक परिणाम है। उपयोगितावादियों ने उपयोगिता के आधार पर राज्य को उचित ठहराया है ; उनका मत है कि राज्य की आज्ञा का पालन करने से अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक सुख प्राप्त हो सकता है। लॉक, रूसो आदि अन्य विद्वानों के अनुसार राज्य की सत्ता का आधार व्यक्तियों की वह सम्मति है जो उसको जन्म देने वाले मूल समझौते में निहित थी। ट्रीट्स्के आदि विचारकों ने निसंकोच भाव से शक्ति को राज्य की सत्ता का आधार माना है; शक्ति से ही वे उसकी उत्पत्ति मानते हैं और शक्ति से ही वे उसके अस्तित्व के औचित्य को सिद्ध करते हैं। उनके मतानुसार शक्ति ही राज्य का अधिकार है। कुछ अन्य विद्वान राज्य को मनुष्य की "वास्तविक" इच्छा का मूर्तरूप मानते हैं। इस मत के अनुसार राज्य व्यक्ति की इच्छा के सार्वभौम और स्थायी तत्व का प्रतिनिधित्व करता है, इसलिये राज्य की आज्ञा का पालन करते समय व्यक्ति वास्तव में अपनी सर्वोत्तम वृत्तियों का ही अनुगमन करता है।

मध्य युग से राजनीतिक चिंतन में प्रभुत्व के विचार का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सबसे पहले के दार्शनिक विधि को प्रभुत्व सम्पन्न मानते थे, किंतु राष्ट्रीय राजतंत्रों के उदय होने पर शासक को राज्य का प्रतीक माना जाने लगा और प्रभु तथा प्रजा के के बीच के संबंध को राज्य का मुख्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया। आगे चलकर जब राजा की शक्ति पर आक्रमण हुआ तो लोक प्रभुत्व के सिद्धांत की उत्पत्ति हुई जिसके अनुसार राजनीतिक शक्ति को समस्त नागरिकों में सामूहिक रूप से निहित माना गया, और शासक को वैयक्तिक रूप से नहीं, बल्कि राज्य को वैध पुरुष के रूप में प्रभु स्वीकार किया गया। किन्तु लोक प्रभुत्व का स्वभाव अस्पष्ट और विधि की परिधि के परे था। इसलिये उन्नीसवीं शताब्दी में प्रभुत्व को निश्चित स्थान में स्थित करने के अनेक प्रयत्न किये गये। उस समय तक संविधान द्वारा शक्तियों का पृथक्करण होने लगा था। इसी पृथक्करण के आधार पर सरकार के विभिन्न अंगों में प्रभुत्व को स्थित करने का

---

1. Jean-Jacques Rousseau, The *Social Contract,* trans. by Henry J. Tozer (1924)
2. Edmond Burke, *Reflections on the Revolution in France* (1790), Works, Vol III, p. 361. Reference is to Little Brown edition (1866).

यत्न हुआ। किंतु इस प्रयत्न में अनेक कठिनाइयाँ सामने आईं, विशेषकर संघ राज्यों के सम्बन्ध में। इसके अतिरिक्त निरपेक्ष, उच्चतम और अविभाज्य प्रभुत्व की धारणा भी कठिनाइयों से मुक्त नहीं थी। राज्य के अन्तर्गत अनेक समुदाय थे जिनका वैध व्यक्तित्व और अपनी निजी सत्ता थी। इन समुदायों के अस्तित्व के साथ प्रभुत्व के सिद्धांत का मेल नहीं बैठ सकता था। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के क्षेत्र में भी यही दिक्कत थी। प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों की सैद्धान्तिक समता और स्वतंत्रता उनकी वास्तविक असमानता और पारस्परिक निर्भरता से मेल नहीं खाती थी।

इसी प्रकार विधि सम्बन्धी धारणा में भी अनेक परवर्तन हो चुके हैं। रूढ़ियों से विधि की उत्पत्ति हुई, और अति प्राचीन परम्पराओं और ईश्वरीय विधान में आत्मा द्वारा उसका पोषण हुआ। आगे चल कर यह विचार उत्पन्न हुआ कि कानून प्रकृति में विद्यमान है; मनुष्य को अपनी बुद्धि द्वारा उसको खोजना तथा कार्यान्वित करना है। राष्ट्रीय राजतंत्रों की स्थापना होने पर शासक की इच्छा को कानून का स्रोत माना गया। अन्त में, लोकतंत्र के समर्थक इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि राज्य को इच्छा ही कानून है, इसलिये उसका निरूपण और प्रशासन लोकप्रिय राजकीय अंगों द्वारा होना चाहिये, और जब नई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नये नियमों की माँग हो तो उनमें समयानुकूल परिवर्तन कर लिया जाय।

सरकार के स्वरूप तथा राज्य के भीतर सत्ता के निवास स्थान के सम्बन्ध में भी सैद्धान्तिक विवाद निरन्तर चलता आया है। राजनीतिक शक्ति किसी एक व्यक्ति में निहित है, अथवा थोड़े से अभिजतवर्गीय लोगों में अथवा व्यापक रूप से साधारण जनता में, इस विषय को लेकर बहुत कुछ विचार संघर्ष हुआ है।

राज्य के कार्यकलाप की उचित सीमा के सम्बन्ध में भी विद्वानों में गहरा मतभेद रहा है। एक छोर पर ऐसे व्यक्तिवादी हैं जो राजसत्ता के न्यूनतम प्रयोग के पक्ष में हैं और चाहते हैं कि व्यक्ति के स्वतन्त्र कार्यकलाप के लिये अधिक से अधिक विस्तीर्ण क्षेत्र छोड़ दिया जाय। दूसरे छोर पर पितृतुल्य समाजवाद के समर्थक हैं जो राज्य के कार्य-क्षेत्र का अधिकाधिक विस्तार करना तथा व्यक्ति को समाज रूपी सागर में विलीन कर देना ही अच्छा समझते हैं। इन दो अतिवादी विचारधाराओं के बीच में अनेक मत-मतान्तर हैं। राज्य के कुछ काम ऐसे हैं जिन्हें सभी लोग राज्य के अस्तित्व के लिये आवश्यक मानते हैं, किन्तु बहुसंख्यक ऐच्छिक कार्यों के सम्बन्ध में भारी विवाद चल रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस प्रकार के विवाद का मुख्य कारण यह है कि पिछले दिनों में कुछ राष्ट्रपतियों के प्रशासन में स्वतंत्र व्यवसाय को नष्ट किये बिना उस पर सरकारी नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। विरोधियों ने उन पर समाजवाद का आरोप लगाया है और कहा है कि अधिक नियंत्रण से स्वतंत्र व्यवसाय का ही नहीं बल्कि सभी प्रकार की स्वतंत्रता का नाश हो जायगा।

अन्त में, अनेक विचारकों ने राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी बहुत कुछ चिन्तन किया है। प्रारम्भ में राज्यों का विश्वास था कि अपने धर्म तथा नस्ल के लोगों के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति हमारा कोई कर्तव्य नहीं है। जो अपने नहीं थे वे शत्रु थे और उनके कोई अधिकार नहीं थे। अतः राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के नियमन के लिये किन्हीं सिद्धान्तों की आवश्यकता ही नहीं थी। आगे चलकर जब रोमन साम्राज्य की स्थापना हुई तो विश्व-एकता के आदर्श और उच्चतम सत्ता के सम्राट अथवा पोप में निहित होने के सिद्धान्त के कारण शताब्दियों तक अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में किसी सुनिश्चित सिद्धान्त का प्रादुर्भाव न हो सका। फिर भी व्यापारिक कार्रवाइयों, कूटनीतिक सम्बन्धों और युद्ध के विषय में धीरे-धीरे कुछ रूढ़ियाँ तथा सिद्धान्त कायम होगये। राज्यों की स्वतंत्रता और समता, तटस्थों के अधिकारों और भूमि तथा समुद्र पर युद्ध चलाने के तरीकों के सम्बन्ध में कुछ सामान्य सिद्धान्त निश्चित कर लिये गये। और यह स्वीकार किया जाने लगा कि राज्यों का यही सम्बन्ध अच्छा है कि वे अनियमित युद्ध को त्याग कर सर्वमान्य नियमों का पालन करते हुए शान्ति से रहें। सन्धियों, राज्य-संघों और अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लेकर काफी राजनीतिक चिन्तन हुआ; और विश्व साम्राज्य, विश्व संघ और विश्वशान्ति के आदर्शों ने सभी युगों के उच्चतम विचारकों का ध्यान आकृष्ट किया।

पुरातनपोषी और आलोचनात्मक राजनीतिक चिन्तन

सामान्यतया राजनीतिक चिन्तन का उद्देश्य या तो विद्यमान राजनीतिक संस्थाओं और पद्धतियों का समर्थन करना होता है, अथवा उन पर आक्रमण करना; इसलिये मोटे तौर पर हम उसको दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं, पुरातनपोषी और आलोचनात्मक। पुरातनपोषी ढँग के सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव तब होता है जब लोग जिस राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत वे रहते हैं उसको उचित ठहराने और कायम रखने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार के सिद्धान्तों को जन्म देने और उनका समर्थन करने वाले वे वर्ग होते हैं जिनके हाथों में राज्य की शक्ति होती है और जिनको विद्यमान राज-व्यवस्था से लाभ होता है। वे उस मानसिक प्रवृत्ति का भी प्रतिनिधित्व करते हैं जिसके कारण लोग कानून तथा व्यवस्था से प्रेम करते और गड़बड़ी तथा परिवर्तन से घबड़ाते हैं। इस प्रकार के सिद्धान्त का सर्वोत्तम उदाहरण दैवी अधिकारों का सिद्धांत है जिसने राज्य की राजनीतिक सत्ता के साथ चर्च की धार्मिक सत्ता का संयोग किया, कानून पर ईश्वरीय विधान की छाप लगाई और राजाओं के पद को पवित्र तथा अनुल्लंघनीय घोषित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार विद्यमान सत्ता का प्रतिरोध करना अपराध ही नहीं बल्कि पाप भी था, इसलिये यह राज्य के अधिकारियों तथा चर्च के नेताओं, दोनों के लिये भी लाभदायक सिद्ध हुआ। राजनीतिक चिन्तन के इति-

हास में इस सिद्धान्त ने स्वेच्छाचारी शासन के समर्थक और सुधार के विरोधी की भूमिका अदा की ।

पुरातनपोषी सिद्धान्त का थोड़ा सा नरम रूप हमें अठाहरवीं शताब्दी में मोन्टेस्क्यू, ब्लेकस्टोन और डी लोम के लेखों में इंगलैंड के संविधान की अतिरंजित अभ्यर्थना और उन्नीसवीं शताब्दी में अमरीकी लेखकों की अमरीकी संविधान की सामान्य प्रशंसा के रूप में देखने को मिलता है । विद्यमान संस्थाओं की पूर्णता में व्यापक आस्था उत्पन्न करके इन लेखकों ने परिवर्तन के कार्य को और भी कठिन बना दिया । इसी प्रकार राजनीतिक नीतियाँ वार-बार दुहराये जाने से राष्ट्रीय परम्परा का अंग वन जातीं और फलस्वरूप मतवादों तथा पहिचान चिन्हों का रूप धारण कर लेती हैं, और अन्धे होकर लोग उनका समर्थन करने लगते हैं । इस प्रक्रिया से निर्मित पुरातनपोषी सिद्धान्त का एक उदाहरण 'मनरो सिद्धान्त' है ।

पुरातनपोषी सिद्धान्त के समर्थकों के हृदय में बदलती हुई परिस्थितियों को देखकर जो भाव उत्पन्न होते हैं वे साधारण खेद से लेकर घबड़ाहट तक पहुँच जाते हैं । जब उनका सिद्धान्त वास्तविक परिस्थितियों से मेल नहीं खाता तो वे अतीत के एक स्वर्ण युग का चित्र खींचने लगते, और विश्वास करने लगते हैं कि संसार नाश की ओर जा रहा है, और लौटकर अच्छे पुराने युग में पहुँचने की कामना करने लगते हैं । इसी रूप में पुरातनपोषी सिद्धान्त प्रतिक्रियावादी बन जाते और बहुधा विलुप्त हो जाते हैं, यद्यपि परिवर्तन को रोकने के लिये वे अन्त तक लड़ते रहते और कठिनाई से मरते हैं ।

आलोचनात्मक सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव विद्यमान व्यवस्था के विरोध के रूप में होता है, और वे विद्यमान राजनीतिक संस्थाओं तथा पद्धतियों को बदलने के प्रयत्नों का समर्थन करते हैं । ऐसे सिद्धान्तों में कुछ तो आदर्श व्यवस्था के दार्शनिक और काल्पनिक चित्र होते है जिनका न तो वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध होता है और न व्यवहार में लाये जाने की कोई सम्भावना होती है । किन्तु दूसरी ओर सुधारकों के ठोस आदर्श भी देखने को मिलते हैं जिनका उद्देश्य कुछ प्रचलित दोषों को दूर करके अपेक्षित ढंग से पुनर्निर्माण करना होता है । इन दूसरे ढँग के सिद्धांतों में से कुछ तो राजनीतिक संगठन के किसी एकाकी पहलू में परिबर्तन करना अथवा सरकार के कार्यों में थोड़ा-बहुत हेर-फेर करना चाहते हैं; और कुछ राजनीतिक पुनस्संगठन की व्यापक योजनाएँ प्रस्तुत करते अथवा नितान्त नये ढंग की राजनीतिक व्यवस्था का सृजन करना चाहते हैं । उनके समर्थकों में से कुछ तो धीरे-धीरे और वैध तरीकों से काम करना पसन्द करते हैं; और कुछ तात्कालिक क्रांतिकारी तरीकों में विश्वास करते हैं । इस प्रकार उदारवादी सिद्धांतों में विभिन्न अंशों की उग्रता देखने को मिलती है ।

यह स्पष्ट है कि आलोचनात्मक सिद्धांतों का तब तक प्रादुर्भाव और व्यापक

प्रचार नहीं हो सकता जब तक कि लोगों की राजनीतिक चेतना का काफी सीमा तक विकास नहीं हो जाता और जब तक कि उनको विचार तथा विवाद की स्वतंत्रता उपलब्ध नहीं होती। ऐसे सिद्धांतों का समर्थन बहुधा वे लोग करते हैं जिनके हाथों में राजनीतिक शक्ति नहीं होती, जो विद्यमान व्यवस्था के अन्तर्गत सुखी और समृद्ध नहीं होते और जिन्हें परिवर्तन द्वारा अपनी दशा में सुधार करने की आशा होती है। अपने श्रेष्ठतम रूप में आलोचनात्मक सिद्धांत रचनात्मक होता है क्योंकि वह तथ्यों का सामान्यीकरण ही नहीं करता बल्कि प्रवृत्तियों का मूल्यांकन भी करता है। आलोचनात्मक चिन्तन पुराने जर्जरित विचारों का मूलोच्छेद करके उनके स्थान पर भविष्य के लिये नये आदर्श प्रस्तुत करता है। ऐसे सिद्धांत विद्यमान सत्ताधारियों के लिये घातक होते हैं, इसलिये मानव इतिहास के अधिकांश काल में उनका विरोध तथा दमन किया गया है। बहुत कम अवसरों पर, बिना गम्भीर प्रतिरोध के आलोचनात्मक राजनीति दर्शन का निर्माण करना अथवा कानूनी तरीकों से अपेक्षित सुधारों का सम्पादन करना सम्भव हो सका है; उदाहरण के लिये यूनानी नगर राज्यों और आधुनिक लोकतंत्रों का उल्लेख किया जा सकता है।

आलोचनात्मक राजनीतिक चिन्तन का एक महत्वपूर्ण उदाहरण लॉक तथा रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संविदा और प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त था। यह सिद्धान्त सत्रहवीं शताब्दी की इंगलैंड की क्रान्ति और अठारहवीं शताब्दी की अमरीकी तथा फ्रांसीसी क्रान्तियों का आधार बना। इसने राजाओं के दैवी अधिकारों के सिद्धान्त का खंडन किया और क्रान्ति तथा लोकप्रभुत्व को उचित ठहराया। आधुनिक समाजवादी सिद्धान्त आलोचनात्मक चिन्तन के अन्य उल्लेखनीय उदाहरण हैं।

यह एक दिलचस्पी की बात है कि जब कोई आलोचनात्मक सिद्धान्त सर्व सामान्य द्वारा स्वीकृत और व्यवहार में सफल हो जाता है तो वह स्वयं पुरातनपोषी बन जाता है; व्यावहारिक आवश्यकता के सामने वह थोड़ा-बहुत भले ही झुक जाय किन्तु मुख्यत: जो कुछ सम्पादित हो चुका है उसको कायम रखने और आगे के परिवर्तनों को रोकने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिये, प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त अठारहवीं शताब्दी में एक आलोचनात्मक सिद्धान्त था, क्योंकि उसने व्यक्तिवाद तथा वैयक्तिक और सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों पर जोर दिया और तत्कालीन स्वेच्छाचारी और पितृतुल्य निरंकुश व्यवहार करने वाली सरकारों का विरोध किया था। किन्तु वर्तमान काल में उसी का एक पुरातनपोषी सिद्धान्त के रूप में प्रयोग किया जा रहा है; अपने स्थापित स्वार्थों की रक्षा और समाजवादियों द्वारा अपेक्षित राजकीय नियमन और नियंत्रण के प्रसार को रोकने के लिये लोग उसका सहारा ले रहे हैं। पिछले दिनों में रूस में जो कुछ हुआ है उससे उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित होती है। लेनिन तथा स्टेलिन ने साम्यवादी सिद्धान्त को अपने समय की आवश्यकताओं और परिस्थितियों

के अनुरूप ढाल लिया, किन्तु अब उस सिद्धान्त में जटिलता आती जाती है, और वह विद्यमान व्यवस्था को कायम रखने और नये परिवर्तनों को रोकने का प्रयत्न करेगा।

पुरातनपोषी तथा आलोचनात्मक दोनों ही सिद्धान्तों में शक्ति तथा कमजोरियाँ होती हैं। पुरातनपोषी सिद्धान्त सार्वजनिक शान्ति और स्थिरता कायम रखने में बड़े सहायक होते हैं, किन्तु बहुधा के बहुअपेक्षित सुधारों को रोकने अथवा उनके आने में बिलम्ब उत्पन्न करते हैं। आलोचनात्मक सिद्धान्त गतिहीनता को दूर करते तथा स्वस्थ राजनीतिक उन्नति की प्राप्ति के लिये आवश्यक होते हैं, किन्तु बहुधा वे मतान्धों की रामबाण औषध का रूप धारण कर लेते और राजनीतिक अव्यवस्था तथा अराजकता को जन्म देते हैं। राजनीतिक चिन्तन में पुरातनपोषी तथा उग्रवादी विचारों की अवांछनीय कट्टरता से बचना और दोनों के बीच उचित सन्तुलन कायम रखना कठिन होता है; परिणाम यह होता है कि जब एक दिशा में अति हो जाती है तो उसके विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया दूसरे छोर से जा टकराती है।

राजनीतिक चिन्तन की जानकारी के साधन

अतीत के राजनीतिक चिन्तन का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें अनेक साधनों का सहारा लेना पड़ेगा। किसी भी काल में राज्य विषयक सिद्धान्त सरल और सर्वमान्य सिद्धान्तों की शृङ्खला के रूप में प्रकट नहीं हुआ। कुछ प्रश्नों पर इतना मतैक्य देखने को मिलता है कि उस समय के राजनीतिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कहना अनुचित नहीं होगा। किन्तु अन्य प्रश्नों पर विरोधियों में गहरा मतभेद था, और उस भेद का आधार भी स्पष्ट था। कुछ प्रश्नों पर लोगों ने अपूर्ण और अनिर्णायक ढँग से विचार किया, इसलिये उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मतभेद देखने को मिलते हैं। अतः राजनीतिक चिन्तन का अध्ययन करते समय हमें मुख्यतः उन सिद्धान्तों पर ध्यान देना चाहिए जिनका इतना व्यापक प्रभाव था कि वे अपने समय के मानसिक वातावरण का अंग बन चुके थे, और उन परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों को समझने का प्रयत्न करना चाहिये जो प्रत्येक युग की प्रधान समस्याओं के चारों ओर केन्द्रित थे।

राजनीतिक सिद्धांतों की जानकारी का मुख्य साधन उन दार्शनिकों की रचनाएँ हैं जिन्होंने अपने युग के राजनीतिक चिन्तन को व्यवस्थित ढँग से लेखबद्ध किया। प्लेटो से लेकर वर्तमान समय तक ऐसे विचारकों की एक लम्बी सूची है। कुछ ने केवल राजनीति दर्शन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया; और कुछ ने सम्पूर्ण दर्शन को लिया और उसके अन्तर्गत प्रसंगवश राज्यविषयक सिद्धान्त पर प्रकाश डाला। ऐसे लेखकों ने अपनी रचनाओं में अपने पूर्वगामियों और समसामयिकों के विचारों को ही सुसम्बद्ध नहीं किया बल्कि बहुधा नये सिद्धांत भी प्रतिपादित किये जो आगे चल कर सर्वसाधारण द्वारा स्वीकृत किये गये।

किन्तु अनन्य रूप से इसी साधन पर निर्भर रहना उचित नहीं है, क्योंकि इससे

हमें केवल राजनीतिक साहित्य का इतिहास उपलब्ध हो सकता है, राजनीतिक चिन्तन का नहीं। राजनीतिक दार्शनिक व्यावहारिक राजनीतिक जीवन से इतने दूर रहते हैं अथवा अपनी संस्थाओं से इतने अधिक चिपटे हुए होते हैं कि उनके लिये सही दृष्टिकोण अपनाना कठिन होता है। कुछ विचारकों पर अतीत के सिद्धान्तों का अथवा अपने निजी पूर्वाग्रहों का इतना प्रभाव होता है कि वे अपने समय के राजनीतिक चिन्तन का सच्चा चित्र नहीं प्रस्तुत कर सकते। इसलिये राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, संस्थाओं तथा तत्कालीन सामान्य मानसिक पृष्ठभूमि के प्रसंग में समझने के लिये हमें इसके अतिरिक्त अन्य साधनों का भी सहारा लेना पड़ेगा।

बहुत से राजनीतिक सिद्धान्त कभी भी निश्चित रूप से शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किये जाते। वे वास्तविक संगठन और पद्धतियों में अन्तर्निहित होते हैं। उन्हें बिना तर्क-वितर्क के स्वीकार कर लिया जाता है। इसलिये राजनीतिक संस्थाओं और राज्यों के कार्यों तथा नीतियों का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि कभी-कभी मनुष्यों के मस्तिष्क को शासित करने वाले वास्तविक सिद्धान्तों का जितना अच्छा परिचय हमें इन चीजों से मिलता है उतना शब्दों से नहीं मिल पाता। बहुधा जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति राजनीति में भी हमें लोगों की कथनी और करनी में बड़ा अन्तर देखने को मिलता है; जिन सिद्धान्तों पर वे आचरण करते हैं उनके कथित सिद्धान्तों से वे बहुत भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिये मध्ययुग के राजनीतिक सिद्धान्तों से उस काल की राजनीतिक संस्थाओं के वास्तविक स्वभाव का जो चित्र हमें उपलब्ध होगा वह निश्चय ही बहुत असन्तोषजनक होगा। उसी प्रकार आज की व्यावहारिक राजनीति के पीछे जो उद्देश्य काम करते हैं उनका न तो कभी दलों की घोषित नीति में उल्लेख होता है और न प्रचारकों के भाषणों में।

राजनीतिक विचारों को समझने के लिये प्रत्येक युग की सामान्य मानसिक पृष्ठ-भूमि की जानकारी भी आवश्यक है। अन्य विषयों के सम्बन्ध में लोगों के जो विचार होते हैं उनका उनके राज्यविषयक सिद्धान्तों पर भी प्रभाव पड़ता है, इसलिये दर्शन, विज्ञान, धर्म, आचार और आर्थिक सिद्धान्तों के इतिहास का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास से गहरा सम्बन्ध है।

राज्य विषयक सिद्धान्तों के संबंध में हमें उच्च सरकारी अधिकारियों और जनमत का नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों के लेखों और भाषणों से भी बहुत कुछ जानकारी उपलब्ध हो सकती है। यद्यपि ऐसे लोग जनता पर प्रभाव डालने के उद्देश्य से अपने विचारों को बड़े आकर्षक ढँग से सजा-सजू कर प्रस्तुत करते है, फिर भी अनजाने ही उनसे महत्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धांतों का अनावरण हो जाता है। चूँकि ऐसे व्यक्ति राजनीतिक जीवन की वास्तविकता के निकट होते हैं इसलिये उनके विचारों में तज्जनित गुणों और दोषों दोनों का ही समावेश रहता है।

राज्यों के अधिकारि प्रलेख भी राजनीतिक चिंतन की जानकारी के मूल्यवान साधन होते हैं। लिखित संविधान, परिनियम, अध्यादेश, न्यायालयों के निर्णय, अधिकार पत्र, विभागीय रिपोर्टें; संधियाँ राजनयिक पत्र-व्यवहार, राजकीय कागजात आदि इस कोटि में आते हैं। यद्यपि राज्यों के कार्य सदैव इनके अनुरूप नहीं होते फिर भी उनसे हमें राजनीतिक सिद्धांतों के समझने में बहुमूल्य सहायता मिलती है।

पिछले युगों में राजनीतिक चिंतन राज्य के थोड़े से लोगों तक ही सीमित रहता था। बहुसंख्यक जनता राजनीतिक समस्याओं से अपरिचित और उनके प्रति उदासीन रहती थी, अथवा उसके विचार दबा दिये जाते थे। किंतु पिछले कुछ समय से लोकमत का राजनीतिक चिंतन और राजकीय कार्यों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ने लगा हैं। इसलिये उसको प्रभावित और व्यक्त करने के अनेक नये तरीके निकाल लिये गये हैं। अतः पत्र, पत्रिकाएँ, पैम्फिलट, पोस्टर, व्यंग-चित्र तथा प्रकाशन के अन्य साधन भी राजनीतिक सिद्धांतों की जानकारी के महत्वपूर्ण साधन हैं।

अंत में, जिसे हम संकीर्ण अर्थ में साहित्य कहते हैं उसमें भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से राजनीतिक समस्याओं का उल्लेख हुआ करता है, विशेषकर निबंध, कविता, उपन्यास और नाटक में। राजनीतिक लेखकों की अपेक्षा साहित्याकारों में आत्म-चेतना और दलगत पक्षपात कम होता है, इसलिये उनकी रचनाओं से बहुधा उनके समय के राजनीतिक चिंतन का सर्वाधिक यथार्थ चित्र उपलब्ध हो जाता है।

राजनीतिक चिन्तन का मूल्य

राजनीतिक सिद्धान्त पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह व्यावहारिक परिणाम से शून्य ही नहीं होता बल्कि वास्तविक राजनीति पर उसका घातक प्रभाव पड़ता है। बर्क का कहना था कि कुशासित राज्य का एक स्पष्ट लक्षण यह है कि उसके नागरिक सिद्धान्त में अधिक दिलचस्पी लेने लगते हैं। लैस्ली स्टीफन का विश्वास था कि राजनीति दर्शन सामान्यतया निकट अतीत में हुई क्रान्ति की उपज होता है अथवा निकट भविष्य में होनेवाली क्रांति की सूचना देता है। प्रोफेसर डनिंग का कहना था कि जब कोई राजनीतिक व्यवस्था राजनीतिक दर्शन के रूप में व्यक्त की जाने लगती है तो समझ लीजिये कि उस व्यवस्था का अन्त आने को है। यह सत्य है कि जो सिद्धान्त अपनी उपादेयता समाप्त हो जाने पर भी जीवित रहते हैं वे उन्नति के मार्ग में बाधा डालने लगते हैं, और यह भी सत्य है कि अधूरे ज्ञान और असंतुलित मस्तिष्क वाले कट्टर सिद्धांतवादियों के विचारों से बहुत गड़बड़ी फैली है। किंतु इन आलोचनाओं के खिलाफ यह कहा जासकता है कि राजनीतिक, सिद्धांतों के आधार पर सम्पादित क्रांतियों से अंत में मानव जाति को लाभ ही हुआ, और लोकतंत्र, वैयक्तिक स्वतन्त्रता, और अंतर्राष्ट्रीय शांति की ओर हुई प्रगति का बहुत कुछ श्रेय योग्य विचारकों के सिद्धांतों को है।

कभी-कभी कहा जाता है कि अन्य सभी प्रकार के काल्पनिक चिंतन की भाँति राजनीति दर्शन भी वास्तविकता की उपेक्षा करता है, व्यवहार में लाने के योग्य नहीं होता, और ऐसे कानूनी कल्पित तथ्यों और निरपेक्ष आदर्शों का प्रयोग करता है जो अवास्तविक होने के साथ-साथ घातक भी होते हैं। अन्य सभी सामाजिक शास्त्रों की भाँति इसका संबंध भी बड़ी पेचीदा समस्याओं से होता है इसलिये इसके विवेचन और निष्कर्षों में परिशुद्धता नहीं आपाती। राजनीतिक वाद प्रवृत्तियों के द्योतक होते हैं, निरपेक्ष सिद्धांतों का प्रतिपादन नहीं करते, इसलिये उन्हें कार्यान्वित करते समय परिवर्तनकारी परिस्थितियों का ध्यान रखना आवश्यक होता है। इसी प्रकार राजनीतिक आदर्श, जैसे राज्य का निरपेक्ष प्रभुत्व और राज्यों की पारस्परिक समता, कामचलाऊ उपकल्पनाओं के रूप में लाभदायक होते हैं, किन्तु, उन्हें वास्तविक तथ्यों की सीमाओं की उपेक्षा करके, मदवादों के रूप में नहीं ग्रहण करना चाहिये।

यह भी आरोप लगाया जाता है कि राजनीतिक वादों में विवादग्रस्त प्रश्नों का निश्चित उत्तर देने की क्षमता नहीं होती। उदाहरण के लिये, व्यक्ति के अधिकारों और सरकार के सर्वोत्तम रूप के सम्बन्ध में कट्टर विचार रखने वाले लोग किसी भी अंश में निश्चितता के साथ अपने मतों की सत्यता सिद्ध नहीं कर पाते। नीतिशास्त्र की भाँति राजनीति दर्शन में भी आदि सिद्धांतों को सिद्ध नहीं किया जासकता। वे मानसिक निर्णयों और संवेगमूलक अनुभूतियों के परिणाम होते हैं। राजनीति सिद्धांत केवल इतना ही कर सकता है कि लोगों को चिंतन और विवाद के सामान्य कार्य के क्षेत्र में एक दूसरे के निकट लाकर खड़ा करदे जिसके कि वे अपनी-अपनी शब्दावली को स्पष्ट कर सकें और एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझ सकें। यदि इनके परिणाम-स्वरूप उनमें एक दूसरे के दृष्टिकोण के लिये सम्मान और सहिष्णुता उत्पन्न हो सके तो राजनीतिक सिद्धांतों के अध्ययन को सार्थक समझना चाहिये।

दूसरी ओर, यह कहना अनुचित न होगा कि राजनीतिक सिद्धांत में कुछ अस्ति (भावात्मक) मूल्य भी होते हैं। वह राजनीतिक शब्दावली के अर्थ को परिशुद्धता और निश्चितता प्रदान करता है। यह चीज सभी विज्ञानों के लिये आवश्यक है, किन्तु, राजनीतिशास्त्र के लिये तो इसका विशेष मूल्य है, क्योंकि इसके कुछ आधारभूत शब्द ऐसे हैं जिनका साधारण जन और राजनीति के विद्यार्थी दोनों ही खुलकर प्रयोग करते हैं, उदाहरण के लिये स्वातन्त्र्य, स्वाधीनता, लोकतंत्र, राष्ट्रीयता। इसके अति-रिक्त राजनीतिक सिद्धांत इन शब्दों के वास्तविक अर्थ की परीक्षा भी करता है, जिससे चिंतन में ईमानदारी और स्पष्टता को प्रोत्साहन मिलता है। लोकप्रिय और वकवासी नेताओं की यह सामान्य प्रणाली होती है कि वे जनता के मस्तिष्क को प्रभावित करने के लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनके साथ वांछनीय अथवा अवांछनीय भावनाओं

का संयोग रहता है। उदाहरण के लिये आजकल किसी चीज को 'लोकतांत्रिक' कहना उसकी प्रशंसा करना है; इसके विपरीत किसी चीज को 'उग्र' अथवा 'गैर-अमरीकी' कहने का अर्थ होता है उसके सिर एक प्रकार का कलंक मढ़ना। अनेक शब्द ऐसे हैं जो आजकल बहुत ही साधारण अर्थ में दैनिक बातचीत में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु एक समय था जब कि वे तीव्र राजनैनिक उत्तेजना और आवेश के प्रतीक थे। अनेक शब्द आज भी इतिहास के निर्माण में प्रभावशाली शक्ति का कार्य करते हैं।

राजनीतिक सिद्धांत से इतिहास की व्याख्या में बहुमूल्य सहायता मिलती है। इसके अध्ययन से अतीत के मानसिक वातावरण को समझने की दृष्टि पैनी होती है; और महत्वपूर्ण राजनीतिक आन्दोलनों को प्रेरणा देने वाले उद्देश्यों और भावनाओं का भी पता लगता है। अतीत को समझने के लिये मनुष्यों के कार्यकलाप का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि यह जानना भी आवश्यक है कि उनके विश्वास और आशाएँ क्या थीं। अतीत की घटनाओं का जहाँ तक मनुष्य की इच्छा से सम्बन्ध था वहाँ तक उस इच्छा को प्रेरित करने वाले आदर्शों को समझना आवश्यक है। संस्थाओं का जो रूप होता है वह उन विचारों से निर्मित होता है जिन्हें वे मूर्त रूप देने का प्रयत्न करती हैं। कोई व्यक्ति 'मध्य युग' के इतिहास को तब तक नहीं समझ सकता है जब तक कि वह पोप तथा सम्राट के बीच हुए राजनीतिक विवाद से भली-भाँति परिचित न हो। इसी प्रकार हमें अमरीकी इतिहास के मध्य युग का सही ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक कि हम प्रभुत्व के सिद्धांत पर आधारित 'उत्तर' तथा 'दक्षिण' के बीच के झगड़े को नहीं समझ लेते।

वर्तमान समय की राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझने के लिये भी अतीत के राजनीतिक चिन्तन की जानकारी आवश्यक है। आज की समस्याएँ अतीत की परिस्थितियों की उपज है; और जिन राजनीतिक सिद्धान्तों पर आज अमल किया जा रहा है वे अतीत के चिन्तन के विकास के परिणाम हैं। शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का संयुक्त राज्य अमेरिका के वास्तविक शासन पर निरन्तर प्रभाव पड़ता आया है; और शक्ति सन्तुलन का सिद्धांत आज भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का आधारभूत सिद्धांत बना हुआ है।

प्रत्येक राज्य को किसी न किसी प्रकार के राजनीतिक सिद्धांत की आवश्यकता होती है। राजनीतिज्ञों और नागरिकों के पथ प्रदर्शन के लिए कुछ सामान्य सिद्धान्त होते हैं; सरकारी संगठन के प्रत्येक हेर-फेर और सरकारी कार्यों की प्रत्येक नीति के पीछे कोई न कोई न्यूनाधिक सुनिश्चित सामान्य योजना रहती है। इसलिये राजनीतिक चिंतन का एक व्यावहारिक मूल्य है। उससे हमें अपनी राजनीतिक योजनाओं के अभिप्राय और प्रवृति की अधिक पूर्ण और स्पष्ट ढंग से परीक्षा करने का अभ्यास होता है। जिस

प्रकार वर्तमान अतीत के गर्भ में छिपा हुआ था, उसी प्रकार भविष्य, काफी हद तक, वर्तमान में आशा अथवा आदर्श के रूप में विद्यमान है इसलिये रचनात्मक राजनीतिक उन्नति के लिये हमारे प्रयत्न तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि वे ऐसे ठोस और व्यापक राजनीतिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं होते जो वर्त्तमान की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुकूल हों।

अन्त में, राजनीतिक चिन्तन एक अत्यन्त उच्च कोटि की मानसिक सिद्धि है। अन्य प्रकार के दार्शनिक चिन्तन की भाँति, इसका भी, सिद्धांतों की व्यावहारिकता के अतिरिक्त, अपना एक विशेष आकर्षण और मूल्य है। बुद्धिमान लोग जिस सत्ता के अन्तर्गत जीवन बिताते हैं उसको समझने, उसके संगठन और कार्यों का विश्लेषण करने तथा राजनीतिक जीवन के सर्वोत्तम रूप के सम्बन्ध में चिंतन करने के इच्छुक रहते हैं। प्लेटो, अरस्तू, एक्विनास, लॉक, रूसो, कांट, मिल आदि विश्व के महानतम विचारकों ने दर्शन के राजनीतिक पहलू पर ध्यान केन्द्रित किया, इसी से प्रकट होता है कि यह एक महत्वपूर्ण मानसिक साधना है।

राजनीतिक विकास के सम्बन्ध में दीर्घ-काल से दो विरोधी सिद्धांत चले आ रहे हैं। एक सिद्धांत के अनुसार सरकार का रूप मनुष्य की इच्छा पर नहीं निर्भर होता; बल्कि एक अनिवार्य स्वाभाविक विकास का परिणाम होता है; मनुष्य के उद्देश्यों और आकाक्षांओं का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। बर्क ने सामाजिक जीवन के उलझे हुए तथ्यों को सुलझाने का कुछ प्रयत्न किया, किन्तु अंत में निराश होकर कहा कि "मुझे विश्वास है कि मनुष्य का इतिहास अभी इतना पूर्ण नहीं हुआ है, और न शायद कभी हो ही सकेगा, कि उसके आधार पर हम राज्यों के भाग्य को प्रभावित करने वाले आन्तरिक कारणों के सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धांत स्थिर कर सकें।........इसलिये विवश होकर हमें यही मानना पड़ता है कि इस सम्बन्ध में यदृच्छा ही सब कुछ है, अथवा यदि हम अधिक पवित्र भावना और बुद्धि से काम लें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि इन चीजों में ईश्वर समय-समय पर हस्तक्षेप करता है और सब कुछ उसी की दुर्दमनीय इच्छा का परिणाम है।" यदि इस मत को सत्य मान लिया जाय तो फिर साहित्यिक महत्व को छोड़ कर राजनीति सिद्धांत के अध्ययन का अन्य कोई मूल्य नहीं रह जाता।

दूसरे सिद्धांत के अनुसार सरकार एक ऐसी समस्या है जिससे मनुष्य की रचनात्मक बुद्धि की परीक्षा होती है; मनुष्य को यह पता लगाना है कि सरकार का सर्वोत्तम रूप क्या हो और उसकी प्राप्ति के लिये कौन-कौन साधन अपनाये जायें। यदि यह मत सत्य है, तो फिर राजनीति दर्शन के अध्ययन से अधिक मूल्यवान और किसी भी चीज का अध्ययन नहीं हो सकता। यदि हम इन सिद्धांतों के शुद्ध तार्किक परिणामों पर विचार करें तो देखेंगे कि इनमें से कोई भी मान्य नहीं हो सकता फिर भी मानना पड़ेगा

कि इनके समन्वय में ही तात्विक सत्य निहित है। "मनुष्य दीर्घकाल तक भौतिक शक्तियों का शिकार रहा किन्तु बुद्धि और चितन के सहारे उसने अपने को हवा, तूफान और समुद्रों का स्वामी बना लिया है। क्या वह उसी चितन के सहारे सभ्यताओं का ध्वंस करने वाले सामाजिक संघर्षों से ऊपर उठकर अपने सामाजिक भाग्य का स्वामी नहीं बन सकता।"[3]

पठनीय ग्रन्थ

Beard, C. A., *The Economic Basis of Politics*, 3rd Ed. (New York, Kropf, 1945), Chap. 1.

Burns, C. D., *Political Ideals*, 4th ed. (London, Oxford Univ. Press, 1929), Chap. 1.

Cassirer, Ernst, *The Myth of the State* (New Haven, Yale Univ. Press, 1946), Part 1.

D'Entrvees, A. P., *The Medieval Contribution to Political Thought* (Oxford, Oxford Univ. Press, 1939), Chap. 1.

Elliot, W. Y., & Mcdonald, N. A., *Western Political Heritage* (New York, Prentice-Hall, 1949), Introduction.

Figgis, J. N., *Political Thought from Gerson to Grotius* (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1907), Lecture 1.

Gettel, R. G., "Nature and Scope of Present Political Theory," *Proceedings of the American Political Science* Association, Vol. 10 (1913)

Hallowell, J. H., *Main Currents in Modern Political Thought* (New York, Holt, 1950), Chap. 1.

Lerner, Max, *Ideas Are Weapons* (New York, Viking, 1939), Chap. 1.

McIlwain, C. H., *The Growth of Political Thought in the West* (New York, Macmillan. 1932), pp. 1-3.

Orton, W. A. *The Liberal Tradition* (New Haven, Yale Univ. Press, 1945), Chap. 1.

Willoughby, W. W, "The Value of Political Philosophy," *Political Science Quarterly*, Vol. 15 (March, 1900).

---

3. C. A. Board, *The Economic Basis of Politics*, 3rd ed. (1945), p. 3.

भाग २

प्राचीन राजनीतिक चिन्तन

अध्याय २

राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ

आदिम राजनीतिक विचार

मनुष्य अत्यंत प्राचीन काल से अपने जीवन और कार्यों को नियंत्रित करने वाली बाह्य सत्ता के संबंध में विचार करता आया है। आदिम मनुष्यों के विचारों के विषय में हमारी जानकारी बहुत ही न्यून है। फिर भी प्रयत्न करने पर हम कुछ ऐसे सिद्धांतों की खोज कर सकते हैं जिन्हें वे अपनी राजनीतिक संस्थाओं का आधार मानते थे। इसके लिये हमें दो मुख्य चीजों का सहारा लेना पड़ेगा। पहले हमें उन प्राचीनतम जातियों के विश्वासों और रूढ़ियों की जाँच करनी चाहिये जिनके सम्बन्ध में हमें कुछ जानकारी उपलब्ध है; और दूसरे आज जो आदिम जातियाँ शेष हैं उनके जीवन का ध्यान से निरीक्षण करना चाहिये।

आदिम मनुष्यों के राजनीतिक चिंतन की सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करनेवाली और सार्वभौम विशेषता यह थी कि उनकी निगाह में धर्म, रूढ़ि और कानून में कोई भेद नहीं था। प्रत्येक कार्य के पीछे ईश्वरीय विधि अथवा निषेध की कल्पना विद्यमान रहती थी, सामाजिक रूढ़ियाँ लोगों के आचरण को नियंत्रित कहती थीं, और परिवर्तन से उन्हें घृणा थी। समूह के सदस्यों के बीच एकता का सबसे मजबूत सूत्र धार्मिक बंधन था, और आचरण के प्रत्येक नियम के पीछे अंतिम सत्ता देवताओं की इच्छा मानी जाती थी, चाहे उस नियम की उत्पत्ति कैसे ही हुई हो।

आदिम कानून का रूप पूर्णतया निषेधात्मक होता था। निषिद्ध कार्यों की सूची का ही नाम कानून था। इन निषेधों का जन्म सामान्यतया संकट के डर से हुआ करता था। बर्बर मानव प्रकृति के रहस्यों से अपरिचित था और दुष्ट आत्माओं के अस्तित्व में उसका सामान्य विश्वास था। इसलिये आदिम चिन्तन में हमें जादू टोना और धार्मिक अनुष्ठानों की प्रधानता देखने को मिलती है। उस काल के समाज में जादूगर अथवा 'चिकित्सक' के हाथ में अपरिमित शक्ति थी।

धर्म के अतिरिक्त रक्त-सम्बन्ध दूसरा महत्वपूर्ण सामाजिक बंधन था। आदिम सामाजिक इकाइयों के संगठन का आधार देवक-पूजा (टोटम पूजा) थी। प्रत्येक समाज किसी प्राकृतिक वस्तु की पूजा करता था और उसी से उस समाज की पहिचान होती थी। समूह के भीतर विवाह-सम्बन्ध का निषेध था, वंश माता के नाम से चलता था,

और समूह के बाहर विवाह के लिये तथा सम्बन्धों की व्यवस्था को निर्धारित करने के लिये निश्चित नियम थे।

सामाजिक विकास की दूसरी अवस्था पितृप्रधान जन (कबीला) था। इसका प्रादुर्भाव पशुपालन के आगमन के साथ-साथ हुआ। यह संगठन का अधिक दृढ़ और स्थायी रूप था, और इसके अंतर्गत निश्चित राजनीतिक विचारों की उत्पत्ति हुई। इस व्यवस्था में स्त्री अपने पति के समूह की सदस्या बन गई, वंश पिता के नाम से चलने लगा और उसकी शक्ति लगभग निरंकुश होगई थी। समूह के भीतर सत्ता का रूप वैयक्तिक था, और सदस्य वास्तविक अथवा काल्पनिक रक्त सम्बन्ध द्वारा परस्पर सम्बद्ध थे। पितृ-प्रधान व्यवस्था में दास-प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ, क्योंकि भोजन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने से नर-भक्षण की आवश्यकता नहीं रही थी, इसलिये बन्दियों को लोग जीवित रखने और उनसे अपना काम कराने लगे। आत्माओं में विश्वास तथा पितृसत्ता के प्रति सम्मान-भावना से उत्पन्न पितृपूजा प्रधान धर्म बन गई, और इससे पिता की शक्ति तथा जन के कानूनों को एक नया बल मिला। निषेधों का स्थान अब अस्तिमूलक रूढ़ियों ने ले लिया। कानून कोई बनाने की चीज़ नहीं थी, उसे केवल ढूँढ़ निकालना था। आदरणीय पूर्वजों ने जिन नियमों का पालन किया था उन्हीं को जन का प्रमुख अथवा वयोवृद्ध लोग घोषित कर देते, और जो उनका पालन नहीं करता उसे कबीले से बहिष्कृत कर दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति समूह के सदस्यों को आघात पहुँचाता तो लड़ाई द्वारा उसको चोट पहुँचा कर अथवा बदले में धन लेकर झगड़े का फैसला कर लिया जाता था।

रक्त-सम्बन्ध पर आधारित इन दोनों प्रकार की संस्थाओं के अन्तर्गत एक ऐसी व्यापक और दृढ़ सत्ता की आवश्यकता थी जो निजी झगड़ों का निपटारा करके आन्तरिक शान्ति स्थापित रख सकती और युद्ध में संयुक्त कार्रवाई करके बाहरी आक्रमण से रक्षा कर सकती। पारिवारिक ढँग के शासन से यह कार्य नहीं हो सकता था। इसलिये परिस्थितियों के कारण जन के प्रमुख का उदय हुआ। कभी-कभी जन का पुरखा ही प्रमुख का कार्य करता था; किन्तु बहुधा ऐसे व्यक्ति को प्रमुख बनाया जाता जो शारीरिक पराक्रम के लिये प्रसिद्ध होता था। जन के भीतर वह राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करता था, और उसे अपनी प्रजा तथा धर्म दोनों का ही समर्थन प्राप्त होता था। प्रारम्भ में जन के राजनीतिक संगठन में सत्ता का प्रभाव और क्षेत्राधिकार बहुत ही सीमित था। युद्ध में जन का संचालन करना और शांति-काल में झगड़ों का निपटारा करना—शासन के ये ही मुख्य कार्य थे। किन्तु धीरे-धीरे उसके कार्यपालक तथा न्यायिक कार्यक्षेत्र का विस्तार हुआ; और आगे चलकर उसने व्यवस्थापिका शक्ति भी धारण कर ली। अंत में उस आदिम ढँग के संगठन ने आधुनिक युग के प्रभुत्वसम्पन्न राज्य का रूप ले लिया। इस

प्रक्रिया में परिवार को बढ़ते हुए राज्य की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, यद्यपि उसका संगठन तथा अपने सदस्यों पर कुछ नियंत्रण कायम रहा। कृषि की उन्नति होने पर जब जन के लोग एक निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से बस गये तो उस समय समूह की राजनीतिक शक्ति की वृद्धि में एक नया युग आया ; अब उसके प्रभुत्व का रूप वैयक्तिक न रह कर जानपदीय (प्रादेशिक) हो गया और उसने अपने शासकों द्वारा नये कानूनों के निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य अपने ऊपर लेलिया।

प्रारम्भिक युगों में राजनीतिक संगठन या तो बड़ी-बड़ी इकाइयों के विघटन से बनते थे, या छोटी-छोटी इकाइयों के बलपूर्वक किये गये संघठन से। यदि जन बहुत बड़े होते तो उन्हें विभक्त कर लिया जाता; अथवा विजेता लोग छोटे-छोटे जनप्रदेशों को जीतकर अपनी भूमि में सम्मिलित कर लिया करते थे। राजनीतिक समूहों के बीच मैत्री सम्बन्ध अस्थायी होते, क्योंकि उन्हें कायम रखना कठिन होता था, समझौते पर आधारित स्थायी संघों का उस युग में सर्वथा अभाव था। समूहों के बीच ऐच्छिक सहयोग बिना उच्चकोटि के राजनीतिक विकास के सम्भव नहीं था। प्राच्य साम्राज्यों का निर्माण विजय द्वारा हुआ, संघीय प्रक्रिया द्वारा नहीं। यहूदियों में धार्मिक एकता थी, और यूनानियों को अपनी यूनानी नस्ल और संस्कृति का घमंड था, फिर भी इनमें से एक भी जाति स्थायी संघों का निर्माण करने में समर्थ नहीं हुई।

प्राच्य राजनीतिक चिन्तन

प्राच्य साम्राज्य—मिश्र, बैबीलोनिया, असीरीया और ईरान—अपनी सामान्य परिस्थितियों तथा सामाजिक वातावरण के कारण व्यवस्थित राजनीति दर्शन का निर्माण नहीं कर सके। उनको अर्थ-व्यवस्था सरल तथा कृषिप्रधान और धार्मिक विचार जटिल तथा अंधविश्वास पूर्ण थे; समाज वर्गों में विभक्त था जो जातियों के रूप में स्थिर हो चुके थे; और व्यक्ति के दैनिक जीवन पर कठोर तथा व्यापक नियंत्रण था।[1] इन सब चीज़ों ने स्थापित संस्थाओं को गतिहीन बना दिया और उन्हें धार्मिक पवित्रता प्रदान करदी। परिणाम यह हुआ कि लोगों को अपनी संस्थाओं की उत्पत्ति, स्वभाव अथवा सुधार के सम्बन्ध में चिन्तन करने का साहस न हो सका। प्राच्य सामाजिक जीवन में एकता अधिक थी ; उसके विभिन्न पहलुओं का स्वतंत्र विकास न हो सका था। परिवार, घर्म, राज्य तथा औद्योगिक संगठन सब ऐसे मिले-जुले थे कि उन्हें एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता था। परिणामस्वरूप राजनीति चिंतन, धर्म, आचार, दर्शन और आर्थिक

---

१. ब्राह्मण सभ्यता के धार्मिक कानून दाँत साफ करने से लेकर अन्त्येष्ठि क्रिया तक प्रत्येक चीज का नियमन करते थे ; मूसा की विधिसंहिता में भी ऐसी ही प्रवृति देखने को मिलती है; उसमें अंगूर की खेती करने, खाने, बाल तथा डाढ़ी बनाने तक के नियम लिखे हुए हैं।'' L. H. Haney : *History of Economic Thought*, 3rd Ed. (1936). p. 51.

सिद्धांतों से पृथक और स्वतंत्र न हो सका। जीवन पर धर्म का प्रभाव मुख्य था, और जो भी विचार थे उनका सृजन एवं संरक्षण पुरोहित वर्ग द्वारा होता और वही उनको थाती के रूप में आगे की पीढ़ियों को सौंप जाता।

नैतिकता तथा कानून में कोई भेद नहीं था; विचारों का आधार परम्पराएँ तथा धार्मिक अंधविश्वास थे, बुद्धि नहीं; और व्यक्ति को इतनी राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं उपलब्ध थी कि वह स्थापित संस्थाओं तथा प्रचलित विचारों के सम्बन्ध में प्रश्न उठा सकता। राजनीतिक सिद्धांतों के विकास के लिये किसी सीमा तक व्यक्तिवाद की आवश्यकता होती है। प्राच्य चिंतन व्यर्थ के किंतु सदिच्छापूर्ण नियमों के बन्धन में जकड़ा हुआ था; वह संस्थाओं को प्रमुखता देता, राजनीतिक और धार्मिक निरंकुशता की अतिरंजित प्रशंसा करता और व्यक्ति के मूल्य को तुच्छ ठहराता। असन्तोष का, जिसने आधुनिक उन्नति को इतना प्रोत्साहन दिया है, जीवन पर कोई प्रभाव नहीं था। सुख, सामान्यतया निजी इच्छाओं को कम करके प्राप्त किया जाता था, न कि बढ़ती हुई इच्छाओं की पूर्ति करके। इसका परिणाम हुआ निष्क्रियता और भाग्यवाद, और उनसे राजनीतिक गतिहीनता को प्रोत्साहन मिला। समाज पर प्रगतिशून्य आदर्शों का आधिपत्य था। सामाजिक सन्तुलन को कायम रखना ही सामान्य उद्देश्य था, और वर्तमान युग के उन्नति तथा सुधार के आदर्शों से लोग सर्वथा अपरिचित थे। उनको उन नैतिक आदर्शों को चिनौती देने का अधिकार न था जिन पर राजनीतिक संस्थाएँ आधारित थीं। विद्यमान संस्थाओं की पूर्णता और परम्परागत राजनीतिक संबंधों के स्थायित्व में उनकी गहरी आस्था थी; इसलिये उन्होंने न तो सत्ता के स्वभाव और उद्गम के संबंध में ही प्रश्न उठाए, और न सरकार के सर्वोत्तम रूप के विषय में विवाद किया और न वैयक्तिक स्वतंत्रता के सिद्धांत के महत्व को समझा।

प्राच्य जातियों का दृष्टिकोण कम भौतिकवादी रहा है। उन्होंने औद्योगिक प्रगति तथा वैयक्तिक समृद्धि के लिये पश्चिमी राष्ट्रों की भाँति, उत्सुकता के साथ प्रयत्न नहीं किया। उनके विचारों के निर्माण में नैतिक तथा धार्मिक नियमों का अधिक प्रत्यक्ष और व्यावहारिक प्रभाव रहा है। प्राच्य चिंतन में कानून के पालन को विशेष महत्व दिया गया है, और कानून में धार्मिक अनुष्ठान तथा आचार, नैतिक उपदेश तथा मानवीय आचरण के नियम सभी कुछ सम्मिलित रहता है।

ब्राह्मणों, बौद्धों और कनफ्यूसियस के अनुयायियों की प्रारम्भिक रचनाओं में हमें यत्र-तत्र ऐसे वाक्यांश और सूक्तियाँ मिल जायेंगी जिनका राजनीतिक विषयों से संबंध है। किंतु वे सब धार्मिक और नैतिक सिद्धांतों से गुथीं हुई हैं; राजनीति दर्शन के रूप में व्यवस्थित ढंग से उन्हें कभी विकसित नहीं किया गया। कुछ प्राच्य जातियों ने राजनीतिक समस्याओं पर स्वतंत्र रूप से विस्तारपूर्वक चिंतन किया, किंतु उसका मुख्य फल यह हुआ कि या तो उन्होने विश्वसंबंधी विस्तृत सिद्धांत रच डाले अथवा विद्यमान

शासन-व्यवस्था को धर्मविहित अथवा पूर्वजों की लोकोत्तर बुद्धि की उपज मान कर उस पर औचित्य की मुहर लगा दी। केवल हिन्दू तथा चीनी जातियाँ ही ऐसी थीं जो मानव समता और राजनीतिक लोकतंत्र के आदर्शों तक पहुँच सकीं।

प्राच्य जगत में जिस राज्य-व्यवस्था का निर्माण हुआ उसका रूप सामान्यतया धर्मतांत्रिक और निरंकुश राजतंत्रात्मक था, और विजय अथवा धर्म को उसकी सत्ता का आधार माना जाता था। राजाओं की पूजा की जाती थी, या तो उन्हें स्वयं देवता मान लिया जाता था जैसा कि मिश्र में था, अथवा वे देवताओं के प्रतिनिधि समझे जाते थे, जैसे असीरिया और ईरान में। राजाओं की सहायता के लिये प्रशासकीय अधिकारियों की जमात हुआ करती थी। पुरोहित वर्ग का भी उन्हें समर्थन प्राप्त रहता था; यह वर्ग जनता के मस्तिष्क को नियंत्रित करता और कहीं-कहीं, जैसा कि मिश्र में था, राज्य की वास्तविक शक्ति का प्रयोग किया करता था।

प्राच्य राज्यों की एकता नस्ल और भाषा की एकता पर आधारित नहीं थी, जैसा कि आधुनिक जगत में देखने को मिलता है, एक ही देवी-देवताओं की पूजा उसका मुख्य आधार थी। देवता लोग राज्य के भीतर शासकों की सत्ता का समर्थन करते और आक्रमण तथा प्रतिरक्षात्मक युद्धों में उन्हें सहायता देते। यहूदियों को छोड़कर सभी प्राच्य जातियों के देवताओं का सम्बन्ध विशेष स्थानों से हुआ करता था, इसलिये जब कोई जाति अपनी भूमि को छोड़कर अन्यत्र चली जाती तो उसे अपने पुराने देवताओं को त्याग कर नये स्थान के देवताओं की पूजा अपनानी पड़ती। इसी प्रकार विजित लोग अपने निजी देवताओं की आराधना तो करते ही रहते किन्तु विजेताओं के देवताओं का प्रभुत्व स्वीकार करने पर भी बाध्य किये जाते थे।

राजनीतिक चिंतन के विकास में प्राच्य जगत की मुख्य देन 'साम्राज्यीय विचार' है। किन्तु प्राच्य साम्राज्य सुसंगठित राजनीतिक इकाइयाँ नहीं थे; बहुधा वे शिथिलता से जुड़े हुए राज्यों के समूहमात्र हुआ करते थे। कभी-कभी कमजोर राज्य अपनी रक्षा के हेतु स्वेच्छा से शक्तिशाली राष्ट्रों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित कर लेते और अपनी सद्भावना प्रकट करने के लिये उन्हें उपहार आदि भेंट करते। किन्तु प्रायः साम्राज्यों का निर्माण विजय की प्रक्रिया से हुआ करता था; विजित जातियाँ विजयी सम्राटों का आधिपत्य स्वीकार कर लेतीं और उन्हें कर तथा सैनिक सहायता दिया करतीं। जिन विजित राष्ट्रों में विद्रोह की प्रवृत्ति न होती उन्हें अपना राष्ट्रीय व्यक्तित्व तथा परम्पराएँ और कानूनों को कायम रखने का अधिकार दे दिया जाता था। यदि वे विद्रोह करतीं और असफल रहतीं तो उनसे पहले से अधिक कर वसूल किया जाता, अथवा उनकी स्वायत्तता नष्ट कर दी जाती और केन्द्रीय राज्य के अधिकारी उनका प्रशासन चलाने के लिये भेज दिये जाते ; यदि स्थिति बहुत ही गम्भीर होती तो उन्हें सामूहिक निर्वासन अथवा कत्लेआम का सामना करना पड़ता।

ढीले ढाले ढँग से बने हुए ये प्राच्य साम्राज्य कभी भी सुसंगठित प्रशासन-व्यवस्था का विकास नहीं कर सके ; जैसा कि आगे के युग में रोमन लोगों ने किया। जहाँ कहीं विजित जातियाँ अपनी राजनीतिक संस्थाओं को कायम रखने में सफल होती वहाँ राष्ट्रीय भावनाओं को प्रोत्साहन मिलता रहता और अवसर आने पर विद्रोह उठ खड़े होते। जिन साम्राज्यों में केंद्रीय अधिकारी प्रान्तों पर शासन करने को भेजे जाते वहाँ भी केंद्रीय सत्ता के प्रति भक्ति नियमित कर चुकाने और युद्ध में सैनिक सहायता देने तक ही सीमित रहती। अधिकारियों में अपने अधीन स्थानीय जनता की सहायता से स्वतंत्र शासक बनने की इच्छा सदैव प्रबल रहती थी। केंद्रीय नियंत्रण की व्यवस्था का सबसे अधिक विकसित रूप यह था कि सम्राट लोग प्रांतीय अधिकारियों के आचरण पर निगाह रखने और उनकी राजभक्ति के संबंध में रिपोर्ट देने के लिये अपने गुप्तचर भेज दिया करते थे। केंद्रीय सरकार के लिये इससे अधिक नियंत्रण रखना असम्भव था। दूरी तथा यातायात के अच्छे साधनों की कमी प्राचीन जगत में एकता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी।

प्राच्य जातियों में हिन्दू, चीनी और यहूदी ही ऐसे थे जिनके प्राचीन ग्रन्थों में सबसे अधिक राजनीतिक चिंतन मिलता है और जिनके राजनीतिक सिद्धांत सर्वाधिक विकसित थे। यद्यपि इनमें से कोई भी जाति राजनीतिक विचारों को नैतिक आदर्शों से पृथक करने में सफल नहीं हुई, फिर भी राजनीतिक चिंतन को उनकी जो देन है उसका विशद विवेचन करना आवश्यक है।

हिन्दुओं का राजनीतिक चिन्तन

भारतवर्ष का, जो क्षेत्रफल में योरोप (रूस को निकाल कर) के बराबर है और जिसकी जनसंख्या विशाल एवं विविधतापूर्ण है, सक्रिय राजनीतिक इतिहास रहा है। हिन्दुओं के प्राचीनतम साहित्य में स्वायत्त अल्पतंत्री नगर राज्यों का उल्लेख मिलता है। चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व में ही एक ऐसे हिन्दू साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी जिसके अन्तर्गत आज के भारत से भी बड़ा भूखंड सम्मिलित था। आगे की शताब्दियों में अनेक राज्य तथा साम्राज्य बने और फिर पतन के गर्त में जा गिरे, विभिन्न राज्यों के बीच निरन्तर युद्ध चलते रहे, और महत्वाकांक्षी सम्राटों ने अनेक बार सम्पूर्ण भारत को एकता के सूत्र में बाँधकर सार्वभौम साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। राज्य व्यवस्थाएँ दीर्घजीवी नहीं हुई, और आये दिन वंश-क्रान्तियाँ होती रहीं। भारत का राजनीतिक विकास भी अनेक दृष्टि से योरोप के ही सदृश था; राजनीतिक चेतना की उत्तरोत्तर वृद्धि और प्रचुर मात्रा में राजनीति दर्शन का सृजन उसकी भी मुख्य विशेषताएँ थीं।

हिन्दुओं के राज्यों का स्वरूप धर्मतांत्रिक नहीं था ; इस दृष्टि से वे अन्य प्राच्य

राजनीतिक व्यवस्थाओं से भिन्न थे। भारत में धर्म का राजनीति पर आधिपत्य नहीं रहा। राज्य धर्मसंस्थाओं के नियंत्रण से मुक्त था और पुरोहित लोग प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं करते थे। धर्म का महत्व केवल इतना था कि वह राजा तथा प्रजा दोनों के पथ-प्रदर्शन के लिये नैतिक सिद्धांतों का विधान करता था। यही कारण था कि स्वतन्त्र राजनीति चिंतन हो सका और ऊँचे दर्जे के सिद्धांत और आदर्श प्रतिपादित किये गये। राजनीति दर्शन को ज्ञान की एक पृथक शाखा के रूप में मान्यता दी गई; उसके सम्बन्ध में विस्तृत वाङ्मय की रचना हुई[२] और उसके संस्थापकों में से कुछ ने तो उसे सबसे महत्वपूर्ण विज्ञान का पद प्रदान किया।

हिन्दू राजनीतिक विचारक मनुष्य के मूल स्वभाव को तत्वतः स्वार्थी और पापनिष्ठ मानते थे। उनके मतानुसार प्रकृति की अवस्था में हिंसा, अन्याय तथा शक्तिशालियों के शासन का बोलबाला था। इस बात में उनका मत ईसाई चर्च के संस्थापकों तथा हॉब्स से मिलता जुलता है, लॉक और रूसो से नहीं। उनके मस्तिष्क में किसी "स्वर्ण युग" अथवा किसी "अदन के बाग" की कल्पना नहीं थी। उनका विश्वास था कि सत्ता के अभाव में "शक्तिशाली लोग दुर्बलों को निगल जायँगे जैसे कि पानी में बड़ी मछलियाँ छोटियों को खा जाती हैं।" जीवन के लिये इस प्रकार के संघर्ष को "मात्स्य न्याय" कहा गया है और इसका राजनीतिक तथा लोकप्रिय साहित्य में अनेक बार उल्लेख आया है।

इस स्थिति के निवारण के लिये सत्ता तथा दंड की आवश्यकता थी। वैयक्तिक हिंसा को रोकने, और सम्पत्ति की रक्षा तथा न्याय के लिये कानून की जरूरत थी, और शक्ति के बिना कानून टिक नहीं सकता था। इस प्रकार मनुष्य के मूल स्वभाव से उत्पन्न आवश्यकताओं ने राज्य को जन्म दिया, और उसकी सत्ता का आधार था दमन करने तथा दंड देने की शक्ति। हिन्दुओं का कानून तथा दण्ड सम्बन्धी सिद्धांत बोदाँ (Bodin) और ग्रोशस (Grotius) के 'प्रभुसत्ता' के सिद्धान्तों तथा प्रभुत्व के आधुनिक आदर्श से मिलता जुलता है।

हिन्दू राजनीतिक सिद्धांत के अनुसार राज्य का शासक सत्ता का मूर्तरूप था, किन्तु वैयक्तिक रूप से शासक भी अन्य व्यक्तियों की भाँति कानून के अधीन और दण्ड का भागी माना जाता था[3]। यही कारण है कि हिन्दू सिद्धान्त में राजशक्ति के विषय में उलझन दिखाई पड़ती है। राजा प्रभुत्व को धारण करता था। वह राज्य का संचालन तथा नियमन करता, अपराधियों को दंड देता और बुराइयों का निवारण करता। किंतु दूसरी ओर प्रभुशक्ति का धारण करना शासक के लिये खतरनाक था। यदि वह बुद्धिमानी

२. देखिये B. K. Sarkar, "Hindu Political Philosophy", *Political Science Quarterly*, Vol. 33. (December, 1918), pp. 488—491.
३. वहीं पृष्ठ ४९७—४९९।

और विवेक से उसका प्रयोग करता तो उससे प्रजा का अधिकाधिक कल्याण हो सकता था, किन्तु अविवेक और मनमाने ढँग से काम करने पर वह स्वयं दंड का भागी होता और अपने पद से हटाया जा सकता था। हिन्दू विचारकों ने स्वेच्छाचारी शासक का सक्रिय प्रतिरोध करने का उपदेश दिया। उन्होंने क्रान्ति को उचित ठहराया और बहुधा अपने सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप भी दिया। उनके एक महानतम राजनीतिक लेखक का कथन है कि "बहुसंख्यक लोगों की एकतामूलक राय राजा से भी अधिक शक्तिशाली होती है। अनेक तन्तुओं से बनी हुई रज्जु इतनी मजबूत होती है कि उससे सिंह को भी बाँधकर घसीटा जा सकता है।"

जल्दबाजी तथा मूर्खतापूर्ण कार्यों को रोकने के लिये विधान किया गया कि राजा को श्रेष्ठतम व्यक्तियों की सलाह लेनी चाहिए और सहायता के लिये एक मंत्रि-परिषद नियुक्त करनी चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू सिद्धान्त ने सीमित राजतंत्र का समर्थन किया, निरंकुश राजतंत्र का नहीं। अनेक हिन्दू लेखकों ने लोकतांत्रिक संस्थाओं, लोकप्रिय सभाओं, साम्यवादी योजनाओं और वैयक्तिक स्वतंत्रता की प्रशंसा की। विश्व-बन्धुत्व तथा वैयक्तिक समता के आदर्शों पर बारम्बार बल दिया गया। ई० पू० पाँचवी शताब्दी में बुद्ध ने लोकतांत्रिक आदर्शों का समर्थन किया, लोगों को सिखाया कि तुम्हारी लोकप्रिय स्थानीय सभाएँ ही तुम्हारी समृद्धि का आधार है, और राजतंत्र के विरुद्ध सक्रिय प्रचार किया।

यद्यपि हिन्दू नीतिशास्त्र ने सैनिक गुणों को निम्न स्थान दिया और शांतिमूलक भाग्यवाद का उपदेश किया, किन्तु हिन्दू राजनीतिक सिद्धांत प्रायः निश्चयात्मक रूप से सैनिकवादी था, और कभी-कभी उसने मैकियाविली के ढँग की कुटिल नीति को भी प्रोत्सा-दिया। उसने युद्ध के लिये सदैव तैयार रहने की आवश्यकता पर बल दिया, सैनिक गुणों की प्रशंसा की, स्पष्ट रूप से शक्ति को सत्ता का आधार ठहराया, और कपट तथा गुप्त भेद-नीति के विवेकपूर्ण प्रयोग को महत्व दिया। हिन्दू सिद्धांत के सैनिक पहलू की तुलना हम स्पार्टा के 'लाईकूर्गन' (Lycurgan) पंथ, जापान के 'बुशिडो', और ट्राइट्श्के (Treitschke) के आधुनिक सिद्धांतों से कर सकते हैं।

चीनियों का राजनैतिक चिन्तन

चीनियों का राजनैतिक चिंतन अनेक बातों में हिन्दुओं से मिलता जुलता है, अन्य प्राच्य जातियों से नहीं। चीन शेष संसार से पृथक रहा, युद्धों से अधिक पीड़ित नहीं हुआ, और न कभी कोई ऐसा शक्तिशाली सम्राट उसे एकता के सूत्र में बाँध सका जो कि विचारों की स्वतंत्रता तथा स्थानीय स्वाधीनता को पूर्णतया कुचल देता। अन्त-रिक्ष परम देवता था; उसकी पूजा करना राज्य का कार्य था और दंडाधीश उसे सम्पादित कर रहे थे। पितृपूजा का सामान्य प्रचार था, और परिवार का प्रमुख उसकी देखभाल

करता था। पितृभक्ति अन्य सभी सद्गुणों का आधार मानी जाती थी। इसी आधार पर हर प्रकार की सत्ता का सम्मान करना तथा आज्ञा मानना परम कर्तव्य ठहराया गया। इसलिये देश में कोई शक्तिशाली पुरोहित वर्ग नहीं पनप सका। उसके स्थान पर विद्वानों का वर्ग था जिसने राजनीतिक सिद्धांतों, विशेषकर उनके नैतिक पक्ष की ओर विशेष ध्यान दिया। ई० पू० ग्यारहवीं तथा तीसरी शताब्दी के बीच चाऊ वंश का शासनकाल चीनियों के चिन्तन का स्वर्ण युग था। सबसे महत्वशाली विचारक कनफ्यूसियस, मैंसियस (Mencius) मोह ती (Moh Ti) और लाओ त्से (Lao Tse) हुए, और अनेक विद्वानों ने उनके विचारों पर भाष्य लिखे।

चीनी दार्शनिकों का विचार था कि मनुष्य की जन्मजात कुप्रवृतियों का नियंत्रण करने के लिए कानून की आवश्यकता है। "मनुष्य स्वभाव से ही दुष्ट है, इसलिये उसको सन्मार्ग पर लाने के लिए शिक्षा तथा अनुशासन की आवश्यकता होती है।······ प्राचीन शासक मनुष्य की स्वाभाविक दुष्टता को समझते थे······ और इसीलिये उन्होंने नैतिकता के नियम, कानून तथा संस्थाएँ बनाईं जिससे कि मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों और मनोवेगों को अनुशासित तथा नियंत्रित किया जा सके।"[४] चीनी दार्शनिकों ने मानव समता तथा लोकतंत्र का पाठ पढ़ाया और स्वेच्छाचारी शासन के खिलाफ विद्रोह करना सिखाया। कनफ्यूसियस की रचनाओं में जो राजनीतिक विचार मिलते हैं वे लोकतांत्रिक ही नहीं अपितु उग्र तथा क्रांतिकारी थे। चीन में स्थानीय संस्थाएँ सदैव सजीव और शक्तिशाली रहीं, और स्व-शासन के आदर्शों का पोषण किया गया।

महान् धर्मगुरू मोह तो (५००-४२० ई० पू०, लगभग) ने विश्व बन्धुत्व का पाठ पढ़ाया। मैंसियस का कथन था कि "राज्य का सबसे महत्वपूर्ण तत्व जनता है; उसके बाद राष्ट्रीय देवताओं की वेदियों का स्थान है; और सबसे कम महत्व का तत्व राजा है," और "जनता की वास्तविक अभिलाषाओं को जानकर ही हम ईश्वर की इच्छा को समझ सकते है।" जनता की आवाज़ ईश्वर की आवाज़ है, यह सिद्धांत चीनियों के लिये एक स्वयंसिद्ध सत्य था। यह स्वाभाविक ही था कि क्रांति से पूर्व के फ्रांसीसी लेखकों के हृदय में चीनी दर्शन और संस्थाओं के लिये बड़ी श्रद्धा थी। चीन में यह एक सांविधानिक सिद्धांत था कि जब कोई राजा दुराचार करता तो सबसे चरित्रवान और शक्तिशाली राजकुमारों का यह कर्तव्य हो जाता था कि वे उसे अपदस्थ करके स्वयं

4. Hsun Tze (B. C. 305—235 ?) cited and translated by Shih Hu, *The Development of the Logical Method in Ancient China (1922)*, *p 156*. किन्तु मैंसियस का कहना था कि जैसे पानी स्वभाव से ही नीचे की ओर बहता है वैसे ही मनुष्य स्वभाव से भलाई की ओर जाता है", और ताओ तथा कनफ्यूसियस के अनुयायी भी सामान्यतया मानते थे कि "मनुष्य अच्छे स्वभाव को लेकर जीवन आरम्भ करता है।"

सिंहासन पर अधिकार कर लेते। और कभी-कभी मंत्री लोग शासक को कुछ समय के लिये नज़रबंद कर देते और जब तक उसके सुधर जाने का प्रमाण न मिलता, न छोड़ते।

यूनानियों की भाँति चीनियों ने भी नैतिक श्रेष्ठता को राज्य का उद्देश्य माना, धन अथवा शक्ति को नहीं; और शासकों के लिये चरित्र तथा उदारता के उच्च आदर्श रक्खे। उनकी निगाह में सैनिक गुणों का बहुत कम मूल्य था; और सैनिकवाद के सिद्धांतों के वे कटु विरोधी थे।[५] अतीत की श्रेष्ठता तथा पुरातन रूढ़ियों की मान्यता पर उन्होंने जो बल दिया उसको देखते हुए उनका राजनीति दर्शन बहुधा प्रगतिशील तथा उदार था।

यहूदियों का राजनीतिक चिन्तन

बहुत सी प्राच्य जातियों की भाँति यहूदियों की भी राज्यविषयक धारणा धर्म-तांत्रिक थी; उनका विश्वास था कि राजनीतिक सत्ता का सृजन ईश्वर ने किया और उसी का विधान उसका मूलाधार है। किंतु बहुत पहले वे एकेश्वरवाद के सिद्धांत पर पहुँच चुके थे, और उनके सब जन मिल कर एक देवता की पूजा करते थे। उनके देवता जेहोवा का स्थान विशेष से संबंध नहीं था; बल्कि वह समस्त यहूदियों का देवता था और जहाँ कहीं वे जाते, यहाँ तक कि दासता के दौरान में भी, वह उनका पथप्रदर्शन तथा रक्षा करता। इसलिये, यद्यपि यहूदी लोग एक प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की स्थापना नहीं कर सके, फिर भी उनमें राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय होतव्यता की भावना अन्य प्राच्य जातियों से कहीं अधिक मजबूत थी।

उनका विश्वास था कि राज्य की स्थापना ईश्वर ने की, और जेहोवा की इच्छा समस्त कानूनों का स्रोत है। कानून निरपेक्ष तथा स्थाई थे, प्रजा तथा शासक दोनों ही उसके अधीन थे, मनुष्य न उन्हें बना सकता और न उनमें परिवर्तन कर सकता था। फिर भी यहूदियों के विचारों में एक विशेषता थी। प्राच्य जातियों का धर्मतांत्रिक सत्ता में जो सामान्य विश्वास था उसके साथ उन्होंने लोक सम्मति का संयोग कर दिया। लोगों ने स्वेच्छा तथा औपचारिक रूप से जेहोवा का शासन स्वीकार कर लिया। दैवी अनुग्रह के बदले में उन्होंने उसकी आज्ञाओं का पालन करने की प्रतिज्ञा की। यदि वे कानून की अवज्ञा करते तो उनके सिर ईश्वरेच्छा के उल्लंघन करने का ही पाप नहीं लगता बल्कि वे अपने विधिवत किये गये करार को भंग करने के भी अपराधी ठहरते।

यहूदियों का विश्वास था कि महत्वपूर्ण प्रश्नों पर जेहोवा की राय ली जा सकती है, और वह अपने चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा उत्तर देता है। इसलिये समय-समय पर उन पैगम्बरों और न्यायकर्त्ताओं का आविर्भाव हुआ जिनके वचन ब्रह्मवाक्य माने जाते

५. मैंसियस की रचनाओं में मुख्यतया युद्ध की बुराइयों की कटु आलोचना की गई है।

थे। इन नेताओं का पद पितृगत नहीं था, और न उनका कोई पृथक वर्ग था। उन्होंने अपनी जन्मजात प्रतिभा तथा चरित्रबल से शक्ति प्राप्त की, और उनका कार्य नैतिक था, राजनीतिक नहीं। यद्यपि यहूदी राज्य का आधार धर्मतांत्रिक था, किन्तु उसका शासन पुरोहितों के हाथ में नहीं था; अधिकतर राजा तथा 'न्यायाधीश' पुरोहितवर्ग के बाहर से आते थे। किन्तु राजतंत्र की स्थापना के बाद भी शासन पर पुरोहितों का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा, चाहे वह अप्रत्यक्ष ही था। पुरोहितों का कहना था कि फिलीस्तीनियों के आक्रमण के डर से यहूदी कबीलों ने बाध्य होकर अपना एक संगठन बनाया और केन्द्रीय सरकार की स्थापना की और ईश्वर से प्रार्थना की कि हमें एक राजा प्रदान कीजिये, तब उसने अनिच्छा से उनकी प्रार्थना को स्वीकार किया। पहले राजा सौल को ईश्वर ने पुरोहित सैमुअल के द्वारा चुना, और जब सोल अयोग्य सिद्ध हुआ तो सैमुअल ने उसको अपदस्थ करके नये राजा की नियुक्ति की।

यहूदियों के चिंतन के लोकतांत्रिक तत्व को प्रकट करनेवाला केवल यही विचार न था कि लोगों ने स्वेच्छा से ईश्वर के साथ करार किया, बल्कि उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि राजा पर लोकमत का सदैव प्रभाव रहना चाहिये। वे अपने राजाओं की आलोचना करने में हिचकते नहीं थे। पैगम्बर नाथन ने डेविड की और एलिजा ने अहब की भर्त्सना की। पैगम्बर लोग खुलकर राजाओं के दुराचार और कुशासन के विरुद्ध आवाज उठाते और जनता के असन्तोष को भड़काते। लोगों ने सुलैमान की साम्राज्यीय योजनाओं, उसकी कठोर सरकार, कर-व्यवस्था तथा सैनिक सेवा और बेगार की प्रथा के खिलाफ रोष प्रकट किया; और उसके मरने के बाद उत्तर के कबीलों ने उसके पुत्र को राजा स्वीकार न करके एक अन्य व्यक्ति को चुन लिया। पैगम्बरों की शिक्षाओं में एक स्पष्ट समाजवादी तत्व विद्यमान था। वे पहले विचारक थे जिन्होंने दीन, दुखियों तथा दलितों के पक्ष में जोरदार आवाज़ उठाई, और विश्वबन्धुत्व के आदर्श को निश्चितरूप से सामने रक्खा।

कानूनों को निश्चित संहिता का रूप देने में साधारण जनता का भी काफी हाथ था। प्रारम्भ में लोगों का विश्वास था कि जेहोवा की प्रत्यक्ष इच्छा ही कानून है और जब पुरोहितों के सामने झगड़े निपटारे के लिये आते हैं तो उस समय वह उनके द्वारा कानूनों को व्यक्त करता है। पुरोहितों के इन निर्णयों ने पूर्वोदाहरणों का रूप धारण कर लिया जिनके आधार पर सामान्य नियमों का निर्माण किया जा सकता था। आगे चलकर मूसा ने धर्मनिरपेक्ष न्यायालयों की स्थापना की जिनमें निश्चित नियमों के अनुसार कार्य हो सकता था, केवल नये और कठिन मामले पुरोहितों के सामने रक्खे जाते थे। किन्तु कुछ ही समय में स्थानीय न्यायाधीशों के निर्णयों में एकरूपता कायम करने और उन सिद्धांतों को प्रतिष्ठित करने के लिये जिनका लोगों द्वारा उल्लंघन किये जाने का डर था, एक प्राधिकारपूर्ण विधिसंहिता की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अतः ई०

पू० आठवीं शताब्दी में निर्णयों की एक संहिता तैयार की गई जो 'संविदा ग्रन्थ' के नाम से प्रसिद्ध हुई।[6] इसमें सिद्धान्तों की विवेचना नहीं की गई, केवल स्थापित नियमों को निश्चित रूप दे दिया गया। ई० पू० छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'द्वितीय विधि संहिता''[7] की रचना हुई। यह एक व्यक्तिगत रूप से तैयार की गई संहिता थी और इसमें ऐसे कानूनों का समावेश था जिन्हें इसके रचयिता चिरस्थाई बनाने के योग्य समझते थे। इसका उद्देश्य लोगों को अपने पूर्वजों की परिपाटियों और रूढ़ियों का स्मरण कराना और असीरिया के पतन की ओर ले जाने वाले प्रभाव का निराकरण करना था। इसके नियम प्रचलित कानूनों से इतने भिन्न थे कि पुरोहितों को कई वर्ष तक उनके पक्ष में प्रचार करना पड़ा तब कहीं जनता ने उन्हें स्वीकार किया। इसको अंगीकार करने के लिये औपचारिक रूप से एक सभा बुलाई गई जिसमें राजा तथा प्रजा ने "पुस्तक में लिखे हुए संविदा के शब्दों का पालन करने की"[8] विधिवत् प्रतिज्ञा की। ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में जनता की एक महासभा ने 'पुरोहितों के कानूनों को जिसे एज़रा नाम का लेखक बाबुल से जैरुसलम लाया था, अंगीकार कर लिया,[9] और इस प्रकार विधि संग्रह का कार्य लगभग पूर्ण हो गया।

परवर्ती युग में यहूदियों के चिंतन में असहिष्णुता आ गई, जटिल अनुष्ठानों की भरमार हो गई, और नैतिक प्रश्नों को लेकर एक युद्ध चला। परिणामस्वरूप कबीलों की पारस्परिक घृणा और युद्ध की बर्बरता और भी अधिक गहरी हो गई। किन्तु बाद में उसके बहुत से सिद्धांतों में यूनानी तथा ईसाई प्रभावों के कारण रूपान्तर हो गया और वे यूरोप में फैल गये। उसी रूप में वे आधुनिक जगत को उपलब्ध हुए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का प्राचीन सिद्धान्त

प्राचीन साहित्य में हमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के सम्बन्ध में भी कतिपय सिद्धान्त मिलते हैं; और उस समय के राज्यों के पारस्परिक वर्ताव से भी हम कुछ सिद्धान्तों का अनुमनन कर सकते हैं। यद्यपि प्राचीन काल में स्वतंत्र तथा प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों के बीच संबंधों को स्थिर करने के लिये अंतर्राष्ट्रीय कानून नहीं थे, और न मध्य युग के अन्त में राष्ट्रीय राजतंत्र के उदय से पहले इस प्रकार के कानूनों का विकास ही हुआ, फिर भी प्राचीन जातियाँ कुछ नियमों तथा धर्मविहित परिपाटियों के आधार पर अपने बाह्य सम्बन्धों का संचालन करती थीं। उस समय शक्ति अन्तर्जातीय सम्बन्धों का मुख्य आधार थी। प्राचीन राज्यों का निर्माण पड़ोसी राज्यों तथा आसपास वसे हुए विजातीय समूहों के साथ संघर्ष करके किया जाता था। इसलिये अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों के विषय में उस

6. Exodus 21 - 23
7. II Kings 23 : 1—3
8. Deut 12—25.
9. Ezra 7 ; Nehemiah 8—9.

समय के विचार आज के विचारों से, जिनका जन्म रोमन साम्राज्य तथा उसके द्वारा स्थापित शांति से हुआ है, भिन्न थे। लोग युद्ध को मानव जाति की एक स्वाभाविक अवस्था मानते थे, और शान्ति को, जो विशेष समझौतों द्वारा ही कायम की जा सकती थी, एक अपवाद समझते थे। राज्यों के बीच सन्धिवार्ता कपटपूर्ण ढँग से हुआ करती थी, और उसका प्रयोग विपक्षी को धोखा देकर युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये किया जाता था; अथवा युद्ध के न होने की अवस्था में उसके द्वारा ही शत्रु को परास्त करने का प्रयत्न किया जाता। हर विदेशी को शत्रु माना जाता; उसके न कोई कानूनी अधिकार होते थे और न कर्तव्य। जाति तथा धर्म के बन्धनों का अवश्य महत्व था, किन्तु राज्यों के परस्पर न कोई अधिकार थे और न एक दूसरे के प्रति कोई कर्तव्य। यहूदियों के कबीले आपसी व्यवहार में पारस्परिक अधिकारों को स्वीकार करते, किन्तु अन्य जातियों को अपना शत्रु समझते और अपने देश के आदि निवासियों से विशेष रूप से घृणा करते थे।[10]

युद्ध का रूप बड़ा ही निर्मम था। हारे हुए लोगों की सम्पत्ति तथा जीवन विजेताओं की दया पर होता था। उस समय के धर्म सामान्यतया पराजित लोगों का नाश करने अथवा उन्हें दास बनाकर रखने की प्रेरणा दिया करते थे। मृतकों के शरीरों के बहुधा टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते थे, बन्दियों को कठोर यातनाएं दी जाती थीं और विजेता अपने स्मारकों में शेखी के साथ अपने अत्याचारों का उल्लेख किया करते थे। धर्म, देवताओं तथा पुजारियों के बीच अन्य जातियों और उनके देवताओं के विरुद्ध एक मैत्री सम्बन्ध समझा जाता था। "चलो उन पर आक्रमण करें, क्योंकि हमारा ईश्वर उनके ईश्वर से बड़ा है", यह उस युग का एक सामान्य युद्ध-घोष था। प्राच्य राज्य अधिक से अधिक जातियों पर अपने देवताओं का प्रभुत्व स्थापित करना अपना एक मुख्य कर्तव्य समझते थे, और सैनिक बल ही इस कार्य को सम्पादित करने का एक तरीका था। विजय का श्रेय देवताओं को दिया जाता था, और विजितों को दिया गया दंड देवताओं की आज्ञा का परिणाम बतलाया जाता था।

किन्तु आदिम जातियों में जीवन और मृत्यु का जो निरन्तर संघर्ष चलता उसके भारी दबाव का, और रक्त तथा धर्म की एकता पर जो बल दिया जाता उसका समूह की आन्तरिक भावना पर गहरा प्रभाव था। लोगों में अपने साथियों के प्रति वफादारी, आत्म-बलिदान और सामूहिक हितों के लिये मर-मिटने की भावना बहुत प्रबल थी। जहाँ तक भाईचारे और राष्ट्रीय एकता के आदर्शों का सम्बन्ध था सभी प्राचीन जातियाँ पश्चिमी देशों से कहीं अधिक आगे थीं। आदिम काल में प्रतिस्पर्धा व्यक्तियों में नहीं

10. Deut. 7·1—3; 20 : 10—17.

बल्कि समूहों के बीच हुआ करती थी। समूहों का आन्तरिक जीवन साम्यवादी आदर्शों पर आधारित था। यदि कोई किसी सदस्य को क्षति पहुँचाता तो उसे सम्पूर्ण समूह की क्षति समझा जाता, और समूह को उसके प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों के लिये उत्तरदायी ठहराया जाता था।

आदिम जातियों में परस्पर मैत्री-सम्बन्धों का नितांत अभाव नहीं था। बर्बर लोगों में भी एक दूसरे को सहायता देने का रिवाज था।[11] प्राचीन साम्राज्य आपस में पत्रों, उपहारों तथा राजदूतों का आदान-प्रदान करते थे; और कभी-कभी विवाह-सम्बन्ध द्वारा परस्पर मैत्री भी कर लिया करते थे। पड़ौसी राज्यों के अधिकारियों को भ्रष्ट करने के लिये रिश्वत का भी प्रयोग किया जाता था। पर्यटकों तथा संवादवाहकों का अतिथिसत्कार करने के भी निश्चित नियम और परिपाटियाँ थीं।

ई० पू० आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में असुर (असीरियन) साम्राज्य पश्चिमी एशिया के छोटे-छोटे राज्यों को हड़प करके एक विश्वशक्ति बन गया। राजनीतिक एकता के स्थापित होने से विश्व कानून तथा विश्व शान्ति के विचारों का जन्म हुआ। उस समय के यहूदी पैगम्बर अपने ईश्वर और धर्म की सर्वोच्चता में विश्वास करते थे, इसलिये उन्होंने एक ऐसे विश्व राज्य की कल्पना की जिसके अन्तर्गत सभी राष्ट्र जेहोवा का आधिपत्य स्वीकार करेंगे। उन्होने विश्व शांति के आदर्श का प्रतिपादन किया और कहा कि एक ऐसा समय आने वाला है "जबकि राष्ट्र एक दूसरे के विरुद्ध तलवार नहीं उठाएँगे।" और न युद्ध की कला सीखेंगे[13] हिरोडोटस के उल्लेख से पता चलता है कि विवाचन का आदर्श भी विद्यमान था; उसने लिखा है कि एक बार एक ईरानी क्षत्रप ने आयोनिया के नगरों को "आपस में समझौता करने के लिये बाध्य किया जिससे कि वे एक दूसरे को लूटें न, और यदि कोई अपराध करें तो उसके लिये उत्तरदायी ठहराए जा-सकें।[14] प्रारम्भ में हिन्दुओं के राजनीति दर्शन का विकास सक्रिय अन्तर्जनजातीय जीवन की परिस्थितियों में हुआ, इसलिये उन्होंने बाह्य प्रभुत्व, शक्ति-संतुलन और विश्व-संगठन के आदर्शों की कल्पना और युद्ध में उदार तरीकों का प्रयोग करने की प्रेरणा दी[15]।

11. देखिये Margaret Mead.ed., *Cooperation and Competition among Primitive Peoples* (1937).
12. प्राचीन राजनयिक पत्रव्यवहार के उदाहरण के लिये देखिये The Tell el-Amarna letters. W. M. F. Petrie, *A History of Egypt*, 3rd. ed. (1899), Vol. II, pp. 259-320. J. Baikie, *The Amarna Age* (1928), Chap. 10 का भी अवलोकन कीजिए।
13. Isaiah 2: 4; and Micah 4: 3.
14. Herodous, VI 42.
15. B. K. Sarkar, "Hindu Theory of International Relations," *American Political Science Review*, Vol. 13 (August, 1919), pp. 400-414.

चीनी दार्शनिक मैंसियस का कहना था कि राष्ट्रों को आपसी सम्बन्धों में नैतिकता के उन्हीं नियमों का पालन करना चाहिये जो कि व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं। उसने यह भी सिखाया कि राष्ट्रों को अपने विवाद शक्ति के द्वारा नहीं बल्कि न्याय के आधार पर और विवाचन द्वारा निपटाने चाहिये।

प्रारम्भ में वाणिज्य युद्ध अथवा लूटमार से भिन्न नहीं था। सामुद्रिक डकैती को लोग सम्माननीय पेशा समझते थे। लूट की आशा वैदेशिक नीति के पीछे मुख्य प्रेरणा का काम करती थी। व्यापारिक जातियाँ, जैसे कार्थेजी और फोनेसी, वाणिज्य को राजकीय उद्योग के रूप में चलातीं; दुर्बल जातियों का संगठित ढंग से व्यापारिक शोषण करतीं और व्यापारिक एकाधिकार प्राप्त करने के लिये अपने प्रतिद्वन्दियों से निर्मम युद्ध करती थीं। प्राचीन वाणिज्य की विशेषता यह थी कि सभ्य जातियाँ अर्ध सभ्य अथवा बर्बर जातियों के साथ व्यापार किया करती थीं। असभ्य लोग सभ्यों से डरते और उनका अविश्वास करते थे। अतः युद्ध होते जिनके परिणामस्वरूप असभ्य जातियों को सर्वनाश, दासता अथवा औपनिवेशिक ढँग की पराधीनता अंगीकार करनी पड़ती। इसलिये प्राचीन लोग कृषि की प्रशंसा करते, वाणिज्य को अविश्वास की दृष्टि से देखते और कठोर नियंत्रण के अन्तर्गत ही वैदेशिक व्यापार की आज्ञा देते। कुछ देश मैत्रीपूर्ण व्यापारिक सम्बन्ध भी कायम किया करते थे; इस संबंध में मिश्रियों का नाम विशेषकर उल्लेखनीय है। व्यापारिक संधियाँ भी की जातीं थीं और बहुधा उनका पालन होता था। सुलैमान के समय में यहूदियों के जहाज दूर-दूर के बन्दरगाहों के साथ व्यापार करने जाते थे; इज्राइल के परवर्ती राजाओं ने दूसरे देशों में व्यापारिक कोठियाँ स्थापित करने का अधिकार प्राप्त कर लिया और विदेशी सौदागरों को भी उसी प्रकार की सुविधाएँ अपने यहाँ प्रदान कीं।

पठनीय ग्रन्थ

आदिम राजनीतिक चिन्तन

Bowle John, *Western Political Thought* (New York, Oxford, 1948), Chap. 1.

Breasted, J. H., *The Conquest of Civilization* (New York, Harper, 1926), Chap. 1.

Frazer, J. C. *Aftermath* (New York, Macmillan, 1937)

Maine, H. S. *Ancient Law* (London, J. Murray, 1907)

Mead, Margaret ed., *Co-operation and Competition among Primitive Peoples* (New York, McGraw, 1937)

Willoughby, W. W., *Political Theories of the Ancient World* (New York, Longmans, 1903) Chap. 1.

प्राच्य राजनीतिक चिन्तन

Baikie, J., *The Amarna Age* (New York, Macmillan, 1926).

Bowle, John, *Western Political Thought*, Chap. 2.

Breasted, J. H. *The Dawn of Conscience* (New York, Scribner, 1934)

" " *The Conquest of Civilization, Part II.*

Davies, W. W., *The Codes of Hammurabi and Moses* (New York, Methodist, 1905)

Frankfort, H., and others. *The Intellectual Adventure of Ancient Man* (Chicago, Univ. of Chicago Press, 1946).

Haney, L. H. *History of Economic Thought*, 3rd ed. (New York, Macmillan, 1936), pp. 37-38

Hu, Shih, *The Development of Logical Method in Ancient China* (Shanghai, Oriental, 1922).

Maxey, Chester, Political Philosophers, rev. ed. (New York, Macmillan, 1948), Chap. 2.

Petrie, W.M.F., *A History of Egypt*, 3rd. ed. (London, Methuen, 1899) Vol II.

Sarkar, B. K. "Hindu Political Philosophy," *Political Science Quarterly*, Vol. 13 (December, 1918)

"Hindu Theory of International Relations", *American Political Science Review*, Vol. 13 (August, 1919)

Political Institutions and theories of the Hindus (Leipzig, Markert and Petters, 1922)

Thomas, E. D., *Chinese Political Thought* (New York, Prentice Hall, 1927).

Zimmer, Heinric, *Philosophies of India* (New York, Partheon, 1951.)

अध्याय ३

यूनानी नगर-राज्य

यद्यपि प्राच्य के राजनीतिक विचार और समस्याएँ दिलचस्पी की चीज़ हैं, किन्तु यूरोपीय संस्कृति की उत्पत्ति को समझने के लिये हमें यूनान की ओर मुड़ना पड़ेगा। हमारे साहित्य, कला तथा विज्ञानों का इतिहास यूनान से प्रारम्भ होता है। यूनानी समाज के महापुरुष इन चीजों के जन्मदाता थे। इनमें से सोफोकल्स, यूरीपाइड्स, फिडियस, पौलीक्लीटस, यूक्लिड, हिप्पोक्रेटस आदि थोड़े से नामों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। राजनीति दर्शन के सम्बन्ध में तो यह बात और भी अधिक सत्य है। यद्यपि पिछली अनेक शताब्दियों में राजनीतिक चिंतन में महत्वपूर्ण परिष्कार हो चुका है, फिर भी उन बुनियादी प्रश्नों के उत्तर के लिए जो आज भी मनुष्य के मस्तिष्क को हैरान किये हुए हैं, हमें प्लेटो तथा अरस्तू के महान् युग की ओर लौटना पड़ेगा। उदाहरण के लिये, बुद्धि, सत्ता, न्याय और विधिशासन से सम्बन्धित प्रश्नों की इतनी गम्भीर समीक्षा हमें अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होगी। जब हम प्लेटो के सम्वादों और अरस्तू के **पोलिटीक्स** (राजनीति) पर विचार करेंगे तो यह चीज स्पष्ट हो जायगी। किन्तु इन चीजों का सही दृष्टिकोण से अध्ययन करने के लिये पीठिका के रूप में नगर-राज्यों की संस्थाओं को समझ लेना आवश्यक है।

यूनान की राजनीतिक संस्थाएँ

यूनानी जगत यूनान की घाटियों, निकटवर्ती समुद्रतटों तथा द्वीपों में बिखरे हुए नगरों से मिलकर बना था। इन नगरों की सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाएँ एक थीं और उनका परम्परागत विश्वास था कि हमारे पूर्वज एक ही थे। किंतु राजनीतिक दृष्टि से वे स्वतंत्र थे; हाँ, कभी कभी-कभी उनमें अस्थाई मैत्री-सम्बन्ध कायम हो जाते और यदा-कदा कोई नगर अपने पड़ौसियों पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करता। बहुधा लोग यूनान के बाहर दूसरे देशों में उपनिवेश बसा लेते थे, किन्तु वे भी शीघ्र ही मातृ-भूमि से सम्बन्ध तोड़ लेते और स्वतंत्र हो जाते थे। होमर की रचनाओं से विदित होता है कि इन नगर-राज्यों में राजतंत्र का उदय बहुत पहले हो चुका था। किन्तु ई० पू० सातवीं शताब्दी तक अधिकतर नगरों में अल्पतंत्रीय व्यवस्था कायम हो चुकी थी और प्रधान जनों (कबीलों) के मुखियों के गुटों ने शासन हस्तगत कर लिया था। धीरे-धीरे प्रमाद तथा आपसी झगड़ों के कारण ये अल्पतंत्रीय गुट दुर्बल हो गये, और ई० पू०

सातवीं तथा पाँचवीं शताब्दी के बीच अत्याचारी शासकों ने इनका उन्मूलन करके राज्य-शक्ति पर अधिकार कर लिया। प्रारम्भ में ये शासक जनता के हितैषी जान पड़े, किन्तु शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि इन महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के अव्यवस्थित स्वेच्छाचार के मुकाबिले में अल्पतंत्रों का भ्रष्टाचार तथा मनमाना शासन बहुत उदार था। प्रत्येक नगर में जनता ने अभिजातवर्ग के साथ मिल कर सफलता पूर्वक विद्रोह किया और अत्याचारियों को मार भगाया। तदुपरान्त लोकतांत्रिक शासन का लम्बा युग आरम्भ हुआ जिसमें बीच-बीच में अभिजात वर्ग तथा लोकतंत्रीय तत्वों के मध्य संघर्ष चलता रहा। यही काल था जिसमें यूनानी राजनीतिक चिंतन का सूत्रपात हुआ।

इन नगर-राज्यों में अथेंस तथा स्पार्टा, दो का महत्वपूर्ण स्थान था; इन्हीं ने सबसे पहले अपना नेतृत्व कायम किया। जब ईरानी आक्रमण का मुकाबिला करने के लिये संयुक्त कार्यवाही की आवश्यकता हुई तो यूनानियों ने इन्हीं नगरों की शरण ली, और आगे चलकर स्पार्टा तथा अथेंस की आपसी प्रतिस्पर्धा ही पेलोपोनेसिआई युद्ध का कारण बनी।

स्पार्टा की सरकार एक जटिल सामाजिक व्यवस्था पर आधारित थी। समाज तीन वर्गों में विभक्त था। सबसे अधिक संख्या दासों की थी। खेती बाड़ी के सारे काम का बोझ उन्हीं पर था। और उन्हीं के परिश्रम से सम्पूर्ण समाज का भरण-पोषण होता था। किन्तु उन्हें किसी प्रकार के नागरिक अथवा राजनीतिक अधिकार नहीं प्राप्त थे। मध्य वर्ग* उद्योग-धन्धों को चलाता और व्यापार करता था। उसे नागरिक अधिकार तो मिले हुए थे किंतु राज्य के शासन में उसका कोई हाथ नहीं था। स्पार्टन लोग मूल डोरियन विजेताओं के वंशज थे। यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम थी, फिर भी सार्वजनिक जीवन पर उनका पूर्ण नियंत्रण था। वे भूमि के स्वामी थे, किंतु व्यापार उनके लिये वर्जित था। उनका सारा समय और शक्ति सैनिक सेवा में व्यय होती थी। जब आयु ढलने पर शारीरिक शक्ति का ह्रास होने लगता तब वे उससे निवृत्त होते और शासन-संबंधी काम काज में लग जाते। उनका जीवन कठोर नियमों में जकड़ा हुआ और साम्यवादी ढँग का था। बालकों को सात वर्ष की आयु में ही प्रशिक्षण के लिये राजकीय अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया जाता था; वयस्क पुरुष सार्वजनिक भोजन गृहों में खाना खाते थे। शारीरिक श्रेष्ठता प्राप्त करना और अच्छी सन्तान उत्पन्न करना ही जीवन का मुख्य उद्देश्य माना जाता था। हर प्रकार की विलासिता और असमानता वर्जित थी। प्रत्येक विवाद में दंडाधीश का निर्णय अंतिम होता था; लिखित कानूनों का स्पष्ट रूप से निषेध था। विदेशियों के साथ संबंध बहुत ही सीमित था।

सरकार के मुख्य अंग ये थे: एक सभा जिसमें सभी स्पार्टन सम्मिलित होते थे, एक अट्ठाईस सदस्यों की सीनेट जिनका चुनाव जीवन भर के लिये होता था, दो राजा

---

*Perioiki.

जिनके अधिकार समान थे और पाँच अधीक्षकों की एक परिषद जिनका चुनाव प्रतिवर्ष होता था। प्रारम्भ में ये अधीक्षक राजाओं तथा सीनेट को शक्ति पर नियंत्रण रखने के लिये बनाये गये थे किंतु धीरे-धीरे उन्होंने राजनीतिक सर्वोच्चता प्राप्त कर ली। आगे चलकर भूस्वामियों की संख्या कम हो गई और बहुत से स्पार्टन सार्वजनिक भोजन गृहों के व्यय का भाग चुकाने में असमर्थ हो गये, अतः उन्हें राजकीय काम-काज में भाग लेने से वंचित कर दिया गया। परिणामस्वरूप वास्तविक शक्ति एक संकीर्ण अल्पतंत्रीय गुट के हाथों में केन्द्रित हो गई।

इन परिस्थितियों को देखते हुए यह आश्चर्य की बात नहीं थी कि स्पार्टा यूनानी राजनीतिक चिंतन में प्रत्यक्ष योग नहीं दे सका। किंतु अप्रत्यक्ष रूप से उसका जो महत्व था उसे कम नहीं समझना चाहिए। अथेंस के दार्शनिकों ने जिस समय अपनी रचनाएँ कीं उस समय अथेंस का तेजी से पराभव और विघटन हो रहा था। अपने राज्य की सामाजिक अस्थिरता और सैनिक असफलताओं ने उन्हें स्पार्टा की ओर उन्मुख किया और स्पार्टन संस्थाओं से उन्हें गहरी प्रेरणा मिली।

अथेंस तथा स्पार्टा के जीवन में अनेक दृष्टि से गहरा विरोध दिखाई देता था। अपने इतिहास के अधिकांश काल में अथेंस संगठन तथा भावना दोनों को ही दृष्टि से अत्यधिक लोकतांत्रिक रहा था। इसके अतिरिक्त अथेंस का जीवन सामुद्रिक तथा व्यापारिक था, कृषि प्रधान नहीं; वहाँ विजितों तथा विजेताओं के बीच परम्परागत सामाजिक भेदभाव नहीं था; उसने अपने यहाँ बहुसंख्यक विदेशियों को सामाजिक तथा आर्थिक विशेषाधिकारों में साझा दे रक्खा था; और नागरिकों के जीवन पर कठोर राजकीय नियंत्रण नहीं था।

अथेंस में दास, अधिवासी विदेशी और अथीनी नागरिक, तीन मुख्य सामाजिक वर्ग थे। दासों की संख्या अथेंस के कुल निवासियों की पूरी एक तिहाई थी, और वे सभी प्रकार के अधिकारों से पूर्णतया वंचित थे। शारीरिक परिश्रम का अधिकांश बोझ उन्हीं के सिर पड़ता था। किंतु यह समझना भूल होगी कि नागरिक लोग तनिक भी परिश्रम नहीं करते थे और पूर्णरूप से अवकाश का जीवन बिताते थे। जैसा कि सैबाइन ने लिखा है, "यह कल्पना गलत है कि अथेंस जैसे नगर में सभी नागरिक ऐसे थे जिनके हाथ मेहनत से गंदे नहीं होते थे।"[1]

फिर भी यह सही है कि खानों तथा बड़े-बड़े कृषि-फार्मों का सारा काम-काज दासों के ही जिम्मे था, और नगर के अधिकारी उनसे प्रशासन से सम्बन्धित नीच काम करवाते थे। इस प्रकार की व्यवस्था में जो दोष थे उनके संबंध में कभी विवाद नहीं

1. G. H. Sabine, *A History of Political Theory*, rev. ed. (1950). p. 5.

होता था। दास प्रथा सभी जगह थी और उसको अधिकतर अनिवार्य मानकर स्वीकार कर लिया गया था।

दूसरे वर्ग, अधिवासी विदेशियों, की संख्या भी काफी बड़ी थी। उनमें से कुछ अस्थाई होते, इसलिये उनकी संख्या घटती-बढ़ती रहती थी। किन्तु अनेक ऐसे परिवार थे जो कई पीढ़ियों से अथेंस में निवास करते आये थे, फिर भी उन्हें नागरिकता का अधिकार नहीं मिला था। नागरिकता जन्म के आधार पर केवल अथीनी नागरिकों को ही मिलती थी,[२] इसलिये विदेशियों को अथेंस के शासन में अधिकार प्राप्त करने की कभी आशा नहीं हो सकती थी। किंतु इसको छोड़कर अन्य किसी विषय में उनके साथ भेद-भाव नहीं किया जाता था। उन्हें पूर्ण नागरिक और सामाजिक अधिकार प्राप्त थे, और सामूहिक दृष्टि से सामान्यतया उनका जीवन समृद्ध था।

सम्पूर्ण राजनीतिक शक्ति अंतिम वर्ग अर्थात् नागरिकों में निहित थी[3]। वे दो वर्गों में विभक्त थे—अभिजात तथा सामान्य। पहले वर्ग में नगर के विशिष्ट परिवार सम्मिलित थे। प्रारम्भ में सम्पूर्ण राजनीनिक सत्ता अभिजात वर्ग के ही हाथों में थी, किंतु सातवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व में दोनों वर्गों में संघर्ष हुआ जिसके परिणामस्वरूप सोलोन ने व्यवस्था में कुछ सुधार किये। जन्म के स्थान पर धन को राजनीतिक शक्ति का आधार बनाया गया और सभी नागरिकों को सार्वजनिक जीवन में कुछ साझा दे दिया गया। जब ५१० ई० पू० में अत्याचारी शासकों को मार भगाया गया तो क्लाइ-स्थीनीज के कानूनों से लोकतांत्रिक मनोवृत्ति को और भी अधिक बढ़ावा मिला; और अगली शताब्दी में पैरीक्लीज के नेतृत्व में अथेंस के लोकतंत्र का अंतिम रूप स्थापित हो गया।

अथेंस में नागरिक होने का अर्थ था प्रशासन के कार्य में सक्रिय भाग लेना। यदि कोई नागरिक और कुछ न करता तो कम से कम सभा के काम में, जो सरकार का उच्चतम अंग थी, अवश्य भाग लेता था[४]। बीस वर्ष से ऊपर के नागरिक वर्ष में दस से भी अधिक बार[५] सार्वजनिक मामलों की स्थिति पर विचार करने के लिये एकत्र

२. इस नियम के कुछ अपवाद भी थे। असाधारण सेवा के उपलक्ष में जनता के आदेश से नागरिकता प्रदान की जा सकती थी।

३. नागरिकों से अभिप्राय केवल पुरुषों से है। स्त्रियों को राजनीतिक अधिकार नहीं प्राप्त थे।

४. सब नागरिक सभा की सब बैठकों में उपस्थित नहीं होते थे। बहुधा कुछ हजार सदस्य उपस्थित हुआ करते थे। महत्वपूर्ण मामलों पर के निर्णय के लिये ६००० का कोरम निश्चित था। देखिये G. Glotz, *The Greek City and its Institutions*, (1929), p. 153.

५. वहीं, पृष्ठ 154।

होते थे। इस सभा की आज्ञप्तियाँ ही कानून थीं और उनके कार्यान्वित होने पर पाँच सौ की परिषद अथवा दण्डाधीशों द्वारा किये गये कार्य रद्द हो जाते थे।

यद्यपि सभा के हाथ में उच्चतम सत्ता थी, किंतु वह नीति निर्धारित और क्रियान्वित करने का प्रयत्न शायद ही कभी करती थी। यह काम सरकार के अन्य अंगों के सुपुर्द था जो सभा के प्रति उत्तरदायी थे।

इन अंगों में प्रमुख स्थान पाँच सौ की परिषद का था। यह प्रतिनिधि संस्था थी। स्थानीय जिले कुछ सदस्यों को नामनिर्देशित करके भेजते थे। और उनमें से लौटरी द्वारा पाँच सौ सदस्य एक वर्ष के लिये चुन लिये जाते थे। इस संबंध में लौटरी का प्रयोग बाद के लोकतांत्रिक देशों को भी सदैव पसन्द आया। अथेंसवासी अपनी व्यवस्था को केवल मतदान की प्रथा से अधिक लोकतांत्रिक समझते थे, क्योंकि लौटरी के प्रयोग से प्रत्येक नामनिर्देशित सदस्य को निर्वाचित होने का अवसर मिल सकता था। चूँकि परिषद् जनता का प्रतिनिधित्व करती थी, इसलिये यह सोचा गया कि निर्वाचित अधिकारी आबादी के सभी वर्गों के प्रतिनिधि होने चाहिये—अपनी उन विशेष योग्यताओं के लिये न चुने जायँ जिनके कारण वे अपने अन्य साथियों से भिन्न समझे जाते हैं। सिद्धान्त यह था कि "प्रत्येक सबके द्वारा शासित होता है और प्रत्येक सब पर शासन करता है।'[६] परिषद् की शक्तियों में वे शक्तियां सम्मिलित थीं जिनका प्रयोग आजकल सरकार की कार्यपालिका शाखा करती है। वह विदेशों में अपने राजदूतों को भेजती और बाहर के दूतों को स्वीकृति देती थी, वह नौसेना तथा नीचे के प्रशासनीय निकायों को नियंत्रित करती, और सभा के सामने प्रस्तुत करने के लिये विधायी कार्यक्रम को तैयार करती थी।

परिषद के साथ दण्डाधीशों की समितियाँ सम्बद्ध थीं। प्रत्येक समिति में दस सदस्य होते थे। अथेंस की दस जनजातियाँ एक-एक समिति के सदस्यों को चुनती थीं। उनका कार्य-काल भी अल्प था और उनका चुनाव लौटरी से होता था। उनके हाथों में जो कुछ प्रशासनीय शक्तियाँ थीं उन पर सभा, परिषद और न्यायालयों का कठोर नियंत्रण था। परिषद की एक समिति हर महीने उनके हिसाब की जाँच करती थी। सभा हर महीने उनके कार्यों की पुनरीक्षा करती और निश्चय करती कि उन्हें अपने पद पर कार्य करने दिया जाय अथवा नहीं। और कोई भी साधारण नागरिक[७] उन पर अभियोग चला सकता था जिसके कारण उन्हें कभी-कभी पदच्युत भी कर दिया जाता था।

'सेनापतियों की परिषद' के अधिकार इसके मुकाबिले में अधिक थे। इसमें दस

6. **Ernest Barker,** *The Political Thought of Plato and Aristotle* (1906), p. 447.
७. वहीं, पृष्ठ 457.

सैनिक नेता सम्मिलित होते थे, और अथेंस के समाज में उसका विशेष स्थान था। नगर निवासियों की सुरक्षा का दायित्व बहुत कुछ इसी पर था। इसके सदस्य लौटरी से नहीं बल्कि नागरिकों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते थे। इसके अतिरिक्त इस परिषद के सदस्यों के पुनर्निर्वाचन पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं था, उन्हें कितनी ही बार चुना जा सकता था। कानूनी दृष्टि से इनकी शक्तियाँ शुद्ध सैनिक मामलों तक ही सीमित थीं, किन्तु संकट के समय परराष्ट्र नीति के नियंत्रण में उसका महत्वपूर्ण स्थान मिल जाता था।

सरकार का अंतिम अंग न्यायालय थे। वे संगठन तथा भावना की दृष्टि से पूर्णतया लोकतांत्रिक होने के कारण हमारे न्यायालयों की व्यवस्था से बहुत भिन्न थे। ६००० सदस्यों का एक जूरी-मंडल था; उसी में से इन न्यायलयों के न्यायाधीश चुने जाते थे। उनका काम निर्णय करना नहीं बल्कि निर्णय को खोज निकालना था। बहुधा एक ही न्यायालय में एक साथ चार-चार और पाँच-पाँच सौ सदस्य बैठते थे। इतनी बड़ी संख्या के पीछे सिद्धान्त यह था कि न्यायालय जनता है और विशेष मामलों में उन्हें जनता की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति को औपचारिक रूप से लेखबद्ध करना है। इन जूरियों को आपराधिक तथा व्यावहारिक दोनों ही प्रकार के मामलों का निपटारा करने का अधिकार था। उनके निर्णय के विरुद्ध कहीं अपील नहीं हो सकती थी। उन्हें कानूनों की वैधता के सम्बन्ध में भी निर्णय देने का अधिकार था। वे ऐसे कानूनों को जो अथेंस के संविधान तथा रूढ़ियों के विरुद्ध होते रद कर सकते थे। इस अधिकार के कारण न्यायालयों के हाथों में काफी हद तक विधायी (व्यवस्थापिका) शक्ति आगई थी, जैसा कि आधुनिक काल में संयुक्त राज्य के उच्चतम न्यायालय के सम्बन्ध में हुआ है।

समुदाय की भावना : पैरीक्लीज़

यूनानी राजनीतिक चिंतन का स्वरूप निश्चित करने में अन्य तत्वों का भी इतना ही महत्व था। इनमें समुदाय की भावना तथा सखाभाव प्रमुख थे। आधुनिक युग में उनके सादृश्य शायद ही उपलब्ध हो सकें। अथेंसवासियों का जीवन हमारे जीवन के समान संकुचित क्षेत्रों में विभक्त नहीं था। निजी तथा सार्वजनिक हितों के भेद सम्पूर्ण समुदाय के कल्याण में विलीन हो गए थे। सरकार के प्रति अविश्वास आधुनिक युग की एक विशेषता है, और अभी तक हम उस अविश्वास पर पूर्णरूप से काबू नहीं पा सके हैं; किन्तु अथेंस के लोगों के लिये इस प्रकार के भाव को समझना ही असम्भव था। उनका लक्ष्य सरकार के द्वारा सुख प्राप्त करना था, न कि सरकार को चिनौती देकर। इसके अतिरिक्त उनमें पड़ौसीपन तथा मित्रता की भावनाएँ बड़ी प्रबल थीं; ऐसी भावनाओं को वे लोग भली-भाँति समझते हैं जिन्हें एकाकी तथा विषम परिस्थितियों में मिल कर समान समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इस युग के हम लोग इस चीज को बहुत कुछ खोबैठे हैं, क्योंकि हमारे जीवन में अपनेपन तथा वैयक्तिक सम्बन्धों का इतना अभाव

है कि हम अपने निकटतम पड़ौसियों को भी नहीं जानते। किन्तु अथेंसवासियों का जीवन बहुत कुछ बाजार में बीतता,[८] वाद विवाद से उन्हें प्रेम था और उनके मूल्य तथा मान्यताएँ एक थीं, इसलिये उनके जीवन में ऐसी चीज की गुंजाइश ही नहीं रह जाती थी।

सामुदायिक मान्यताओं में सबसे महत्वपूर्ण स्थान धर्म का था। देवता सम्पूर्ण समाज के देवता थे, और वैयक्तिक तथा करुणाभाव से नगर पर शासन करते थे। दन्तकथाओं में उल्लेख आता है कि वे साधारण लोगों की भाँति आचरण करते थे, उनकी भाँति ही वे हँसते और चिल्लाते तथा प्रेम और घृणा करते थे। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह थी प्राच्य जातियों के धर्म की तुलना में अथेंसवासियों का धर्म मतवादों से मुक्त था। धर्म का संबंध व्यक्ति के अन्तःकरण से था, उसके अनुयायियों के लिये कोई अनिवार्य अनुष्ठान आदि निश्चित नहीं थे। यही कारण था कि यूनानियों में कोई पुरोहित वर्ग नहीं था जो उनके विचारों को नियंत्रित करता अथवा सत्ता का प्रयोग करता। इससे सभी लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार धार्मिक मामलों में थोड़ा-बहुत भाग ले सकते थे। परिणामस्वरूप धर्म निश्चित धार्मिक विचारों की औपचारिक अभिव्यक्ति न होकर जातीय एकता और नगर के प्रति प्रेम का आनुष्ठानिक द्योतक बन गया था।

इसके अतिरिक्त अन्य भी कई चीजें थीं जिनका सामुदायिक महत्व था। कला के अन्य रूपों की भाँति यूनानियों के स्थापत्य का भी सार्वजनिक जीवन से सम्बन्ध था। अनेक वाणिज्य सम्बन्धी उपक्रम ऐसे थे जिन पर नगर का स्वामित्व था और नगर द्वारा संचालित होते थे, उदाहरण के लिये खानें। इन तथ्यों से केवल हमारे इस आधारभूत निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि यूनानियों का जीवन मूलतः सामुदायिक जीवन था। "समुदाय की भावना की गहराई, पड़ौसीपन तथा नागरिकता का समन्वय तथा सच्चे

[८] चार्ल्स मैकिलवेन ने निम्नांकित शब्दों में बाजार के जीवन का बहुत सुन्दर चित्र खींचा है : "नगर ही एक प्रकार से उसका (नागरिक का) घर था, अपने परिवार में उसकी आसक्ति इतनी कभी नहीं हुई कि उसके कारण वह अपने साथी नागरिकों से दैनिक मिलना-जुलना छोड़ देता। उसके जीवन में ऐसी कोई चीज़ नहीं थी जिसकी तुलना अँग्रेज़ के घर के प्रति प्रेम से की जा सकती और जिसके लिये वह बाज़ार को, जो उसके जीवन का वास्तविक क्षेत्र था और जहाँ उसके दिन सचमुच बीतते थे, त्याग देता। स्त्रियों के जीवन का क्षेत्र घर हो सकता था, और मौन उनका विशेष गुण, किन्तु उसका स्थान या तो सभा में था या बाजार में। अरस्तू का कथन है कि जो स्त्री केवल इतनी नम्र है जितना कि एक भला पुरुष तो उसे बातूनी और बकवासी समझा जायगा, और अति लोकतंत्र का सबसे बड़ा दोष यह है कि गरीबों की स्त्रियों को बाहर जाने से नहीं रोका जा सकता"। (*The Growth of Political Thought in the West* (*1932*), p. 9. मैकमिलन कम्पनी की आज्ञा से।

सार्वजनिक कल्याण का वास्तविक तथा व्यावहारिक साक्षात्कार" ये सब से गहरी जड़ें थीं जिनसे अथेंसवासियों को जीवन-रस प्राप्त होता था।[९]

समुदाय की इस भावना की जैसी अच्छी अभिव्यक्ति पैरीक्लीज़ के अन्त्येष्टि भाषण में हुई है वैसी अन्यत्र देखने को नहीं मिलती[१०]। यूनान के महानतम इतिहासकार थ्यूसीडाइड्स ने अपने ग्रंथ में उसका उल्लेख किया है। स्पार्टा से युद्ध हाल ही में प्रारम्भ हुआ था। सर्वप्रथम मारे गये सैनिक घर वापस लाये गये थे। उनकी सेवाओं का अभिनन्दन करते हुए अथेंस के सर्वप्रमुख नेता पैरीक्लीज़ ने अपने सार्वजनिक भाषण में अथेंस तथा उसके लिये वीरगति को प्राप्त हुए लोगों की महानता का वर्णन इस प्रकार किया :

हमारे संविधान में पड़ौसी राज्यों के कानूनों का अनुकरण नहीं किया गया है। हम दूसरों का अनुकरण नहीं करते, बल्कि हम एक ऐसा आदर्श हैं जिसका अनुकरण दूसरे करते हैं। हमारे प्रशासन में बहुसंख्यकों के हितों का ध्यान रक्खा जाता है, अल्पसंख्यकों का नहीं; इसीलिये इसको लोकतन्त्र कहते हैं। हमारे कानून ऐसे हैं कि निजी झगड़ों में सभी के साथ समान न्याय होता है; हमारी सामाजिक व्यवस्था की विशेषता यह है कि सार्वजनिक जीवन में उच्च पद उन्हीं को मिलता है जो अपनी योग्यता के लिये प्रसिद्ध होते हैं; योग्यता के मामले में वर्गगत स्वार्थों का ध्यान नहीं रक्खा जाता; और न दरिद्रता किसी आदमी के मार्ग में बाधा डालती है, यदि कोई व्यक्ति राज्य की सेवा करने के योग्य होता है तो उसकी निम्न स्थिति उसे रोक नहीं सकती ....यदि हम अपनी सैनिक नीति पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि उसमें भी हम अपने शत्रुओं से भिन्न हैं। ....हमारे शत्रु साहस तथा शूरत्व के गुणों की प्राप्ति के लिये जन्म से ही कठोर अनुशासन का जीवन बिताते हैं, किन्तु हम अथेंसवासी जैसे चाहते हैं रहते हैं और फिर भी हर प्रकार के संकट का सामना करने के लिये सर्वत्र कटिबद्ध रहते हैं। .... केवल यही गुण नहीं है जिनके कारण हमारा नगर प्रशंसा का पात्र है। हम अपने में सुरुचि तथा शिष्टाचार का विकास करते हैं किन्तु मर्यादा तथा संयम का उल्लंघन किये बिना; हम ज्ञानवर्धन करते हैं, लेकिन पुरुषत्व को खोये बिना; धन का प्रयोग हम दिखावे के लिये नहीं, उपयोग के लिये करते हैं और दरिद्रता को नहीं बल्कि दरिद्रता से संघर्ष न करने को हम कलंक और लज्जा की बात मानते हैं। हमारे जन-जीवन के नायक राजनीति के अतिरिक्त अपने निजी काम-काज की भी देखभाल करते हैं, और हमारे नागरिक निजी उद्योग-धन्धों में व्यस्त रहने पर भी सार्वजनिक

९. वहीं, पृष्ठ 8।
१०. Thucydides, *History of the Peloponnesian War*, ii, 34-46.

विषयों को समझने की क्षमता रखते हैं। दूसरे राष्ट्रों में सामुदायिक कर्तव्यों में भाग न लेनेवालों को महत्वाकांक्षाओं से रहित समझा जाता है, किन्तु हम ऐसे व्यक्तियों को निरर्थक मानते हैं। अथेंसवासी जिन कार्यों को स्वयं प्रारम्भ नहीं करते उनके भी गुण दोषों को सर्वत्र परखने में समर्थ होते हैं, इसलिये हम वादविवाद को कार्य के मार्ग में बाधा नहीं मानते, बल्कि यह समझते हैं कि कोई भी बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य तब तक भली-भाँति सम्पादित नहीं हो सकता जब तक कि करने से पहले उस पर वादविवाद और विवेचन नहीं कर लिया जाता। संक्षेप में, मैं कहता हूँ कि हमारा नगर सम्पूर्ण यूनानी जगत के लिये सर्वोत्तम पाठशाला है।

इन स्मरणीय पंक्तियों में पैरीक्लीज ने अथेंस के लोकतंत्र के सर्वोत्तम तत्वों का सारांश व्यक्त कर दिया है। यह तो स्पष्ट है इसमें बहुत कुछ अनकहा छोड़ दिया गया है जिसे आगे चलकर प्लैटो ने लोकतंत्र की निंदा करते समय कहा[११]। किन्तु जहाँ तक एक आदर्श को प्रस्तुत करने और सामुदायिक जीवन के गौरव को व्यक्त करने का सम्बन्ध है, इस वक्तव्य में अधिक कुछ जोड़ने की गुंजाइश नहीं रह जाती।

यूनानी राजनीतिक चिंतन का स्वभाव

यूनानियों के चिन्तन की मुख्य विशेषता यह थी कि उन्हें विश्व का नियंत्रण और नियमन करनेवाले आदि सिद्धांतों में विशेष रुचि थी। इसका सबूत एक बहुत पहले के एक यूनानी दार्शनिक के इस कथन से मिलता है कि मैं एक कारण-नियम को खोज निकालना पसन्द करूँगा, और यदि उसके बदले में मुझे फारस का राज्य भी मिले तो उसे ठुकरा दूँगा। यूनानियों की धारणा थी कि विश्व सृजनात्मक विवेक की उपज है। इसलिये उसको समझने के लिये दार्शनिक को केवल नियामक सिद्धांतों को ढूँढ़ निकालना है। इन सिद्धांतों के अनुसंधान के लिये उन्होंने सबसे पहले बाह्य जगत की ओर ध्यान दिया। किन्तु पाँचवी शताब्दी ई० पू० तक उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन आगया और स्वयं मनुष्य उनकी मानसिक उत्सुकता का विषय बन गया। यूनानियों को अपनी संस्कृति तथा गैर-यूनानी जातियों की संस्कृति के बीच गहरा भेद दिखाई दिया। अतः उन्होंने इस भेद के कारणों पर विचार करना आरम्भ किया। आगे चलकर स्पार्टा के प्रहार से अथेंस क्षत-विक्षत होगया और फिर मैसडोनियाँ के फिलिप की सेनाओं ने उसको धूल चटा दी। इन घटनाओं ने यूनानी विचारकों को कार्य-कारण संबंध के विषय में चिन्तन करने के लिये प्रोत्साहित किया, और फलतः उन विषयों की खोज आरम्भ हुई जिनसे मानव का जीवन शासित होता है।

---

११. पैरीक्लीज का "बहुमुखी प्रतिभा" का यह आदर्श प्लैटो को पसन्द नहीं आया; उसके विपरीत उसने यह आदर्श रक्खा कि प्रत्येक व्यक्ति उस विशिष्ट कार्य के सम्पादन में संलग्न रहे जिसमें विवेक द्वारा उसे नियोजित किया जाय।

इस प्रकार की खोज-बुद्धि और मानव-विवेक में आस्था के अतिरिक्त यूनानियों में एक और भी विशेष चीज थी। उनका विश्वास था कि संसार में ऐसी बहुत कम चीजें हैं जिन्हें नियति ने पहले से निश्चित कर रक्खा है और जो मनुष्य के अधिकार से बाहर हैं। बल्कि वे समझते थे कि "अदृश्य शक्तियों" के होते हुए भी मनुष्य में अपनी इच्छानुसार अपने समाज का स्वयं निर्माण करने की सामर्थ्य विद्यमान है। इसके विपरीत अन्य युगों में इन "अदृश्य शक्तियों" का मानव के मस्तिष्क पर कठोर नियंत्रण रहा है।

चूँकि यूनानी को उसके समाज ने सोचने और खोज करने की स्वतंत्रता दे रक्खी थी, इसलिये उसके मानसिक क्षेत्र का विस्तार लगभग असीम था। कैटलिन ने उन थोड़े से विषयों की सूची बनाई है जिन पर सबसे अधिक विवाद चला करता था। वह इस प्रकार है "लोकतंत्र, लिखने तथा सोचने की स्वतंत्रता, प्रावेक्षण, लोकतंत्र तथा विशेषज्ञ का संबंध, सौजनिकी (सुजनन विद्या), गर्भपात, अवकाश की समस्या, क्या चिकित्सा द्वारा जीवन को अधिक दीर्घ बनाना आवश्यक है, नग्नता, मनोविश्लेषण, क्रांति, सर्वहारा, वर्गसंघर्ष, लोकप्रिय अधिनायकतंत्र के बाद क्या होता है,"[13] इत्यादि। राजनीति के क्षेत्र में ही जिन विषयों पर विवाद हुआ, उनकी संख्या अगणित थी। किन्तु यहाँ पर हम उन थोड़े से प्रश्नों पर विचार करेंगे जिनका सबसे अधिक महत्व था।

यूनानियों का विचार था कि मनुष्य को प्राकृतिक नियमों तथा सम्यक् विवेक के अनुसार अपने जीवन का संचालन करना हिए। प्रकृतिदत्त शक्तियों का प्रयोग करना और अपने अन्तर्निहित गुणों का विकास करना मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। चूँकि उसे विवेक और बुद्धि मिली है इसलिये उसका ध्येय केवल जीवित रहना नहीं बल्कि सम्यक् जीवन बिताना होना चाहिए। अपने जीवन में उसे अपने विवेक द्वारा निर्धारित परमोत्कृष्ट आदर्शों का अनुसरण करना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की आवश्यकता है। मनुष्य स्वभाव से ही "राजनीतिक" प्राणी है। केवल देवता अथवा पशु बिना समाज के जीवन बिता सकते हैं। राज्य मनुष्य के उच्चतम विकास के लिये आवश्यक है, इसलिये मानना पड़ेगा कि वह भी उसी अर्थ में प्रकृतिजन्य है जिस अर्थ में मनुष्य स्वयं। राज्य के अस्तित्व के लिये इससे अधिक औचित्य की आवश्यकता नहीं। व्यक्ति और राज्य का जैविक सम्बन्ध है। उनके संयोग से प्रादुर्भूत सामाजिक समग्र जीवधारी के सदृश् होता है। अतः व्यक्ति और राज्य के हित परस्पर विरोधी नहीं हो सकते। राज्य का अपना सजीव व्यक्तित्व है; नागरिकों के व्यक्तित्व को वह अपने व्यापक जीवन में समेट कर लीन कर लेता है; इसीलिये राज-

---

13. George Catlin, *The Story of The Political Philosophers* (1939), p. 28.

नैतिक जीवन जीवन का परमोत्कृष्ट रूप है। "जब किसी प्राच्य देश का नागरिक अपने राज्य और उसके कानून की अधीनता स्वीकार करता है तो वह समझता है कि मैं एक बाहरी और विजातीय शक्ति के अधीन हूँ, किन्तु यूनानी समझता है कि मैं अपनी ही उच्चतर आत्मा का अनुसरण कर रहा हूँ, अपने को एक ऐसी इच्छा के सुपुर्द कर रहा हूँ जिसके निर्माण और निर्धारण में मैंने स्वयं भाग लिया है।"[१४]

यूनानियों की इस धारणा के अनुसार कि प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अभिन्न अंग है यह आवश्यक था कि हर नागरिक राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग ले। यूनानी जगत के छोटे-छोटे नगर-राज्यों में यह सम्भव भी था। चूँकि सब लोगों के लिये अपने जीवन के उच्चतम आदर्शों का साक्षात्कार करने के लिये राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करना आवश्यक समझा गया, इसलिये राज्य के स्वभाव के सम्बन्ध में चिंतन करते हुए यूनानी दार्शनिक तर्कतः लोकतंत्र के आदर्श पर जा पहुँचे, और चूँकि प्राचीन काल में परिवहन और संचार के साधनों की कठिनाई के कारण छोटे से भूखंड और सीमित जनसंख्या में ही लोकतंत्र सम्भव हो सकता था, इसलिये नगर-राज्य के आदर्श पर पहुँचना भी उनके लिये स्वाभाविक ही था। अतः उनका आदर्श राज्य एक ऐसा छोटा-सा और सुगठित समाज था जिसमें सब लोग एक दूसरे से परिचित हों और सामाजिक समस्याओं पर विचार करने के लिये सब लोग एक स्थान पर एकत्र हो सकें।

इसके अतिरिक्त, चूँकि व्यक्ति के लिये राज्य द्वारा ही अपने परमोत्कृष्ट आदर्शों को प्राप्त करना सम्भव था, इसलिये तर्कतः राज्य के कार्यों की कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती थी। जिस काम से भी व्यक्ति का परमहित होता वही राज्य का उचित कर्तव्य था, और यह भी हो सकता था कि राज्य जीवन की छोटी से छोटी चीजों को नियंत्रित करना आवश्यक समझता। आगे चलकर रोमन विचारकों ने वैयक्तिक विधि के सिद्धांत का सहारा लेकर यह विचार प्रस्तुत किया कि राज्य नागरिक के अधिकारों की रक्षा के लिये है, और अठारहवीं शताब्दी में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत के आधार पर कहा गया कि नागरिक के कुछ अधिकार हैं जिनका सम्मान करना राज्य का कर्तव्य है। किंतु इस प्रकार के विचारों के लिये यूनानियों के चिंतन में कोई स्थान न था। चूँकि राज्य और व्यक्ति एक ही थे इसलिये वैयक्तिक तथा सार्वजनिक मामलों में कोई भेद नहीं किया जा सकता था। यूनानियों के राजनीतिक सिद्धांत में राज्य तथा व्यक्ति के बीच के संबंधों को निर्धारित करनेवाली सार्वजनिक विधि की धारणा के लिये गुंजाइश नहीं थी। यूनानी लोकतंत्र ने राजनीतिक अधिकारों का सिद्धांत दिया, नागरिक अधिकारों का सिद्धांत नहीं।

14. W. W. Willoughby, *Political Theories of the Ancient World* (1903), p. 37.

यूनानियों का विधि संबंधी विचार विकास की अनेक मंजिलों में होकर गुज़रा। होमर तथा हिसोइड ने राज्य को एक धर्मसापेक्ष संगठन के रूप में चित्रित किया; जिसमें विधि तथा धर्म के बीच कोई भेद नहीं था, रूढ़ियों तथा परम्पराओं द्वारा शासन चलता था, और राजा के मुख द्वारा व्यक्त की हुई देवताओं की इच्छा सत्ता का स्रोत मानी जाती थी। राजकीय आदेश स्पष्ट प्रेरणाओं के रूप में जारी किये जाते थे, सामान्य सिद्धांतों से उनका कोई संबंध नहीं था। पूर्वजों से चली आई रूढ़ियों में लोगों की बड़ी श्रद्धा थी, यद्यपि कहीं-कहीं निरपेक्ष न्याय और विवेक का विचार भी देखने को मिलता था।

जब आगे चल कर राजतंत्र का स्थान अभिजाततंत्र ने ले लिया तो धर्मसापेक्षता का विचार क्षीण होने लगा। अभिजात वर्ग के सदस्य राजाओं की भाँति दैवी प्रेरणा का दावा नहीं कर सकते थे; और आगे चल कर जब उन्होंने अलिखित रूढ़ियों का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया तो लिखित नियमों की माँग उठ खड़ी हुई। अतः विधिसंहिताओं का प्रादुर्भाव हुआ। स्पार्टा में लिकूर्गस ने मूल कानूनों की रचना की। और एथेंस में ड्राको की आपराधिक विधिसंहिता का विकास हुआ जिसकी पर्ति बाद में सोलोन ने अपनी व्यावहारिक और राजनीतिक विधिसंहिता की रचना करके की। कानून का रूप धर्मनिरपेक्ष हो गया, धार्मिक धारणाओं का कानून के क्षेत्र से बहिष्कार कर दिया गया और मानवीय तत्व को पहले से अधिक महत्व प्राप्त हुआ।

फिर भी यूनानी इस विचार तक कभी नहीं पहुँच पाये कि कानून राज्य के एक विधायिक अंग द्वारा जान बूझकर बनाई हुई चीज है। अथेंस में जब लोकतंत्र शिखर पर था उस समय भी नये कानूनों को बनाना बड़ा कठिन था। परवर्ती यूनानी विचारकों की धारणा थी कि कानून एक पूर्ण व्यवस्था से रूप में मानव विवेक में विद्यमान रहता है। उसका प्रादुर्भाव राज्य की प्रकृति से ही स्वतः उसकी आवश्यकताओं के अनुसार होता है। उनका विश्वास था कि कानून के सामान्य सिद्धांत पूर्ण और स्थायी हैं, जनता की इच्छा के अनुसार उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।[१५] प्रकृति कानून का स्रोत है, मनुष्य का विवेक एक साधन है जिसके द्वारा प्रकृति की इच्छाओं का पता लगाया जा सकता है। अतः कानून में परिवर्तन की आवश्यकता तभी होती है जब कि राजनीतिक व्यवस्था की सामान्य प्रकृति में रूपान्तर हो जाता है। और राज्य का कर्तव्य कानूनों को क्रियान्वित करता है न कि उनका निर्माण करना। यूनानियों का विचार था कि राज्य का सबसे बड़ा कार्य न्यायिक है, अर्थात न्यायालयों को लोकप्रिय बनाना। यही वास्तव में अथेंस के लोकतंत्र की पराकाष्ठा थी।

१५. यह कथन पूर्णतया सत्य नहीं है, क्योंकि सोफिस्ट लोग इस चीज में विश्वास नहीं करते थे और उनका भी यूनानी विचारों पर प्रभाव था।

सोफिस्टों के विचार

राजनीतिक चिंतन के चिन्ह यूनानियों के प्राचीनतम साहित्य में मिलते हैं। होमर ने अपनी रचनाओं में एक पितृतंत्रीय शासन-प्रणाली का चित्रण किया है; उसके अंतर्गत राजाओं को देवताओं का वंशज माना जाता था, और वे निरंकुश सत्ता का प्रयोग करते और बहुसंख्यक जनता को घृणा की दृष्टि से देखते थे। हिसोइड तथा सप्तर्षियों की रचनाओं से प्रतीत होता है कि उस समय तक राजतंत्र के समर्थकों का पक्ष दुर्बल हो चुका था; इसलिये राजाओं के अधिकारों तथा कर्तव्यों दोनों पर ही बल दिया जाता, और शासकों तथा साधारण जन दोनों के कार्यों की समीक्षा के लिये एक ही मापदंड का प्रयोग किया जाता था। पहले से अधिक उदार राजनीतिक सिद्धांतों का विकास राजतंत्र के पराभव और अभिजाततंत्र के उदय का कारण भी था और परिणाम भी।

ई० पू० पाँचवी शताब्दी में, जो ईरानी युद्ध के साथ आरम्भ और पैलीपोनेसियाई युद्ध के साथ समाप्त हुई, यूनानियों को राजनीतिक जीवन के सभी पहलुओं का अनुभव होगया। इस काल में यूनान का ईरानी निरंकुशतंत्र से घनिष्ठ सम्पर्क हुआ और स्पार्टा के अल्पतंत्र तथा अथेंस के लोकतंत्र के बीच निर्मम संघर्ष चला; इन घटनाओं ने राजनीतिक चिन्तन को विशेष रूप से उद्दीप्त किया। यूनानियों की धार्मिक आस्था विलुप्त होने लगी; लोकतंत्र ने जनता की बुद्धि को तीव्र किया, किन्तु साथ ही साथ प्रशासन में गिरावट का खतरा उत्पन्न हो गया और लोकनीति में स्थिरता का अभाव दिखाई देने लगा। पुराने बन्धन विलुप्त होने लगे, चिंतन की स्वतंत्रता ने अधिक से अधिक क्रान्तिकारी विचारों को प्रोत्साहन दिया,[१६] और मानसिक जीवन में साधारण तौर पर उथल-पुथल मच गई। राजनीतिक शक्ति को हथियाने के लिये भी संघर्ष हुआ, जिसमें एक ओर पुराना भूस्वामी अभिजात वर्ग, और दूसरी ओर नया धनी व्यापारी-वर्ग था जिस पर विदेशी विचारों का प्रभाव था और जिसको नई चीजों में विशेष रुचि थी।

इस प्रकार एक ऐसा वातावरण उत्पन्न होगया जिसमें बकवासी नेताओं को अपने हथकंडे दिखाने का अच्छा मौका मिला। ऐसे अध्यापकों का एक वर्ग उठ खड़ा हुआ जो राजनीति की शिक्षा दिया करते और वक्तृता तथा विवाद द्वारा जनता के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने की कला सिखाया करते थे। वे सामान्यतया सोफिस्ट कहलाते थे।[१७]

१६. इस प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण ग्रीक नाटक है, विशेषकर प्रहसन।

१७. सोफिस्ट शब्द एक पेशे का द्योतक था, किसी दार्शनिक समुदाय का नहीं। उनकी पद्धति तथा दृष्टिकोण में एकता थी, विचारों में नहीं। उनमें सबसे अधिक विख्यात प्रोटेगोरस (Protagoras), गोर्गियास (Gorgias) और प्रोडीकस (Prodicus) थे।

उनके विचार उस समय की विघटनकारी प्रवृत्तियों के द्योतक थे, और उनका उद्देश्य ऐसी शिक्षा देना था जिससे युवक लोग व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करने के योग्य हो सकें। उन्होंने सार्वभौम सत्य तथा न्याय के निरपेक्ष सिद्धान्तों का खंडन किया। उन्होंने सिखाया कि "मनुष्य ही सब चीजों के लिये प्रमाण है," प्रत्येक व्यक्ति अपने विश्वासों और इच्छाओं के अनुसार भले-बुरे का निर्णय करने के योग्य है। यह घोषणा करके कि आचरण के कोई निश्चित नियम नहीं हो सकते, उन्होंने यूनानी दर्शन और आचारशास्त्र के इस आधारभूत सिद्धान्त का खंडन किया कि प्रकृति बुद्धियुक्त है। उन्होंने बतलाया कि आचरण के नियम अथवा कानून हर राज्य में अलग-अलग होते हैं। कभी-कभी तो उनमें इतना गहरा अन्तर देखने को मिलता है कि जिस चीज का कुछ कानूनों में निषेध होता है उसी का दूसरों में विधान रहता है। इसलिये कानून केवल परम्पराएँ हैं, प्रकृति के अपरिवर्तनशील नियम नहीं।

सोफिस्टों का विचार था कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी तथा शक्ति की दृष्टि से असमान होते हैं, इसलिये राजनीतिक सत्ता का आधार शक्ति है। राजनीतिक शासन का प्रादुर्भाव दो प्रकार से होता है: या तो शक्तिशाली लोग दुर्बलों का उत्पीड़न और शोषण करने के लिये आपस में समझौता कर लेते हैं, या दुर्बल लोग सबलों से अपनी रक्षा करने के लिये अपने को संगठित कर लेते हैं। इस मत को **'रिपब्लिक'** में थ्रेसीमेकस ने स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। विवाद में थ्रेसीमेकस सोफिस्टों का प्रतिनिधित्व करता है; सुकरात उससे न्याय की परिभाषा करने को कहता है। वह उत्तर देता है कि "हर जगह न्याय का एक ही सिद्धान्त है, और वह है शक्तिशालियों का हित"।[१८] इस प्रकार सोफिस्टों का विश्वास था कि शक्ति ही अधिकार है। उनकी यह भी धारणा थी कि स्वभाव से मनुष्य असामाजिक है, राज्य का आधार कृत्रिम और वैयक्तिक है, और राजनीतिक सत्ता का मूल उद्देश्य स्वार्थ-साधन है। सोफिस्ट लोग व्यक्तिवाद के सर्वप्रथम प्रतिपादक थे और उन्होंने ही इस विचार को जन्म दिया कि राज्य का आधार सामाजिक संविदा है। उन्होंने नैतिकता तथा कानून में भी भेद किया और बतलाया कि राजनीतिक सत्ता का जो स्वभाव है उसके कारण कानून बहुधा मनुष्यों को ऐसे कार्यों के करने को बाध्य करता है जो बुद्धि के प्रतिकूल होते हैं।

यह कहना कठिन है कि तत्कालीन यूनानी समाज ने इन विचारों को कहाँ तक स्वीकार किया। किन्तु इतना अवश्य प्रतीत होता है कि प्लेटो तथा परवर्ती विचारकों के मुकाबिले में सोफिस्टों के विचार अधिक प्रभावशाली और मानने योग्य थे। उपलब्ध साक्ष्य से स्पष्ट है कि पाँचवी शताब्दी ई० पू० तक इन विचारों की इतनी प्रगति हो चुकी थी कि सर्व-साधारण उनसे सहमत होने लगे थे। मैकिलवेन ने इसके अनेक उदाहरण

18. *Republic*, 339.

ढूँढ़ निकाले हैं ।[19] थ्यूसीडाइड्स ने अपने ग्रन्थ में अथेंस के राजदूतों के कथन को इन शब्दों में उद्धृत किया है, "हमें और आपको वही कहना चाहिए जो कि हम सोचते हैं, और जो कुछ सम्भव हो उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि हम दोनों ही इस बात को भली-भाँति जानते हैं कि मानवीय मामलों के विवाद में न्याय का प्रश्न तभी उठता है जब कि आवश्यकता का दबाव बराबर होता है, और शक्तिशाली जो कुछ ले पाते हैं ले लेते हैं और दुर्बल लोग वही देते हैं जो कि उन्हें बाध्य होकर देना पड़ता है।" इसके अतिरिक्त अरिस्टोफीनीज के **क्लाउडस** और जेनोफन के **मैमोरेबिलिया** में इसी प्रकार के अनेक अंश हैं जिन्हें मैकिलवेन ने इसी सम्बन्ध में उद्धृत किया है। किन्तु इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि सोफिस्टों के सिद्धान्त इतिहास की परीक्षा में भी खरे उतरे हैं। आधुनिक लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली का सार व्यक्तिवादी धारणाएँ ही हैं। वे पहले विचारक थे जिन्होंने सिखाया कि यही नहीं कि मनुष्य सब चीजों के लिये प्रमाण है बल्कि प्रत्येक व्यक्ति ही केवल वास्तविक प्रमाण है। सत्य का आधार वैयक्तिक है। एक आदमी जिसे सत्य समझता है उसके लिये वही सत्य है। निरपेक्ष आदर्शों और सिद्धान्तों की व्यवस्था का नाम सत्य नहीं है।[20] निष्कर्ष यह है कि सोफिस्टों को जितना यश मिलना चाहिए था उतना नहीं मिला है।

सुकरात

सुकरात तथा उसके शिष्य प्लेटो ने राजनीतिदर्शन के विकास में जो योग दिया उसको हमें उपर्युक्त विचारों को ध्यान में रखकर ही समझने का प्रयत्न करना चाहिए। उनका कहना था कि यूनानी समाज का जो सर्वोन्मुखी विघटन हो रहा है उसका उत्तर-दायित्व सोफिस्टों के इन विध्वंसकारी सिद्धान्तों पर ही है। उसे रोकने के लिये सामाजिक बन्धनों को पुनः कसने की आवश्यकता है और यह तभी हो सकता है जबकि लोग उन महान् सत्यों में पुनः विश्वास करने लगें जिनसे साधु जीवन सम्भव हो सकता है। लोगों को यह समझाने की आवश्यकता है कि सद्गुण अथवा साधुता का एक निश्चित रूप है जिसे जाना जा सकता है।[21] सुकरात और प्लेटो का यही उद्देश्य था। "सत्य" और "मत" के बीच यह संघर्ष, प्लेटो और सोफिस्टों के सिद्धान्तों के बीच यह विवाद, राजनीतिदर्शन के विवेचन का केन्द्रीय विषय है। इससे अधिक महत्व और किसी प्रश्न का नहीं है। क्या "सत्य" के ग्रहण करने से उत्पन्न सुरक्षा उस अनियंत्रित शक्ति और

19 McIlwain, op. cit, pp. 13—20.

२० इस प्रश्न के विवेचन के लिये, और विशेषकर सोफिस्टों और प्लेटो के विचारों के अन्तर को समझने के लिये देखिये : K. R. Popper, *The Open Society and Its Enemies*, rev. ed. (1950.)

२१. इस विषय का चौथे अध्याय में अधिक विस्तार से विवेचन किया गया है।

स्वतंत्रता से अधिक मूल्यवान नहीं है जो वैयक्तिक "मत" के पीछे दौड़ने से प्राप्त होती है ? यह प्रश्न अभी हल नहीं हुआ है, किन्तु जहाँ भी इस प्रश्न पर चिन्तन किया गया हैं वहीं राजनीतिदर्शन की सबसे अधिक सार्थकता प्रकट हुई है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में ब्रिटिश अनुभववाद और जर्मन विचारवाद के बीच जो संघर्ष चला और वर्तमान काल में पूर्व और पश्चिम के बीच जो विवाद चल रहा है, उसके सम्बन्ध में भी उपर्युक्त कथन निश्चय ही चरितार्थ होता है।

इस उद्देश्य को प्राप्त करने में सुकरात (४७०-३९९ ई० पू०) ने अपने बाद के विचारकों का मार्ग दर्शन किया। सुकरात के विषय में हमारी जानकारी बहुत कम है। उसकी पद्धति तथा निम्नांकित विचारों के सम्बन्ध में तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं। किन्तु इससे अधिक हम उसके सिद्धान्तों के बारे में कुछ भी नहीं जानते।[२२] उसने लिखा कुछ भी नहीं क्योंकि वह लिखने को आवश्यक ही नहीं मानता था। जिन लोगों और समस्याओं में उसकी रुचि थी वे स्पष्ट रूप से उसके सामने विद्यमान थीं। उसका उद्देश्य अथेंसवासियों के कल्याण का संवर्धन करना था, और यह काम लिखने की सामग्री और पुस्तकों के बीच जीवन बिताने की अपेक्षा निजी उपदेशों और पारस्परिक विचार-विनिमय के द्वारा अधिक अच्छा हो सकता था। सुकरात के विचारों को समझने और उनकी सराहना करने के लिये यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वह निरन्तर बाज़ार में घूमा करता और जो भी उसके प्रश्नों का उत्तर देने को तैयार होता उससे बातें करता रहता था। यदि आप उसके उस चित्र को भी सामने रक्खें जो उसके बुरे से बुरे आलोचकों ने प्रस्तुत किया है तो भी आप देखेंगे कि वह वास्तव में इतिहास के महापुरुषों में गिने जाने के योग्य है ? उसका एक चित्र कैटलिन ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।[२३] "सुकरात का पिता मूर्तिकार और उसकी माता पेशेवर दायी थी ; वह सैटर (एक यूनानी वन देवता जिसकी आकृति मनुष्य की और कान तथा पूँछ घोड़े के से थे—अनु०) की भाँति कुरूप था और उसकी चाल लड़खड़ाती हुई बतख की सी थी; और चाहे वह सच्चा ही क्यों न रहा हो उसकी संगत और बातचीत से लोग ऊब जाते थे। वह कभी घर पर नहीं बैठता था और न अपने परिवार अथवा कामकाज की देखभाल करता था (चुगलखोरों का कहना था कि उसका किसी अन्य स्त्री से अनुचित सम्बन्ध था), मानो उसका अधिकतर समय जलपानगृहों में बीतता था और देहात में वह शायद ही कभी जाता था।

२२. उसके अधिकतर विचारों के लिये हमें उसके शिष्य प्लेटो के सम्भाषणों का सहारा लेना पड़ता है। इस कारण से यह कहना कठिन है कि जो सिद्धान्त उसके बतलाये जाते हैं उनमें से वास्तव में उसके कितने हैं, और कितने प्लेटो के हैं।

23. op. cit. pp. 30-31. By permission from the *Story of the Political Philosophers* by George Catlin. Copyright, 1939. (Mc Graw-Hill Book Company, Inc.)

वह उन राजनीतिज्ञों में था जो जलपानगृहों में बैठकर लम्बी चौड़ी हाँका करते हैं और जिनका वास्तविक जीवन से का कोई सम्बन्ध नहीं होता ; उसकी आदत थी कि अपरिचित लोगों को भी बाज़ार में पकड़ कर रोक लेता और यदि उसकी बात सुनने के इच्छुक न भी होते तो भी वह उनसे अशिष्ट और उलझन में डालने वाले प्रश्न पूछ बैठता। उसकी प्रश्न पूछने की उत्सुकता शान्त करने लिये कोई भी व्यक्ति उपयुक्त था। बिना संकोच के वह हर किसी से भिड़ जाता, चाहे वह सैनिक होता चाहे वेश्या और चाहे पुरोहित। वह इतना जबरदस्त शराबी था कि पीने में अपने सभी मित्रों को परास्त कर देता था।" अरिस्टोफेनीज़ ने भी उसकी इससे अधिक प्रशंसा नहीं की है। अपने नाटकों में उसने दिखाया है कि सुकरात हर चीज़ से घृणा करता और उसका मखौल उड़ाया करता था, अश्रद्धालु था, चतुर और चैतन्य होते हुए भी निराश तथा खिन्न रहा करता, सदैव अपने में ही व्यस्त रहता, और उसके मस्तिष्क में वे सिर-पैर के विचार भरे रहते थे।[२४]

वास्तव में ऐसा प्रकट होता है कि दूसरों के मामलों में अनावश्यक हस्तक्षेप करना सुकरात का स्वभाव था। किन्तु इस सबके होते हुए भी उसने तथा उसके शिष्यों ने हमारी मानसिक परम्पराओं के निर्माण में जितना योग दिया है उतना उनके पूर्वगामी अथवा परवर्ती विचारकों में से किसी ने भी नहीं दिया है। अपने समय की राजनीतिक अराजकता और नैतिक उच्छृंखलता से दुखी होकर सुकरात ने सिखाया कि कानूनों और रूढ़ियों की विविधता तथा अव्यवस्था के पीछे नैतिकता के सामान्य तथा सार्वभौम नियम सन्निहित है। उसने अनुभव किया कि यूनानियों के पुरातन आदर्शों और विश्वासों की पुनः स्थापना करना असम्भव है, इसलिये वह सोफिस्टों से इस बात में सहमत था कि सत्यविषयक धारणाओं को वैयक्तिक विवेक की कसौटी पर कसना चाहिए, धर्म अथवा परम्परागत रूढ़ियों को उनका आधार बनाना उचित नहीं है। किन्तु उसका यह भी विश्वास कि सत्य और न्याय के आधारभूत सिद्धांतों को खोज निकालना आवश्यक है, मनुष्य स्वभाव से सामाजिक प्राणी है, राज्य मनुष्य की आवश्यकताओं का अनिवार्य और वांछनीय परिणाम है और यदि विवेक को उसके कानूनों का आधार बनाया जाय तो वे (कानून) सार्वभौम विवेक के अनुरूप ठहरेंगे। उसने राजनीतिक शिक्षा की माँग की, अपने समय के प्रचलित लोकतंत्र का, जिसके अन्तर्गत सभी मनुष्य समान समझे जाते और अधिकारियों का चुनाव लौटरी से होता था, खंडन किया और कहा कि राज्य का शासन अभिजातवर्ग के हाथों में होना चाहिए।

इन सिद्धांतों को सिखाने में सुकरात ने एक विशेष पद्धति का प्रयोग किया जिसका आगे चलकर उसके नाम से सम्बन्ध हो गया, और जो आज सुकराती पद्धति के नाम से विख्यात है। वह कुछ मित्रों को अपने पास इकट्ठा कर लेता, प्रारम्भ में एक-

२४. वहीं, पृष्ठ ३8

दो हँसी-मजाक की बातें कहता और फिर कोई ऐसा प्रश्न उठा देता जिसका समुचित हल नहीं मिला था। उदाहरण के लिये वह कभी-कभी पूछ बैठता : क्या छोटा भला आदमी होने से बड़ा बुरा आदमी होना अच्छा नहीं है ? प्रश्न उठाकर कहता कि मुझमें इतनी बुद्धि नहीं है कि इसका उत्तर दे सकूँ। इस प्रकार उसके मुँह से उसके अज्ञान की बनावटी बात सुनकर श्रोतागण अपना-अपना मत प्रकट करने लगते। इस भाँति जब उनके दृष्टिकोण खुले रूप से सामने आजाते तो सुकरात अपना कार्य आरम्भ कर देता और उन लोगों के दृष्टिकोणों के निष्कर्षों के संबंध में प्रश्न करने लगता। बढ़इयों, चर्मकारों आदि के सरल उदाहरण देकर वह उनके प्रस्तावों की समीक्षा करता। इस आरम्भिक पूछ-ताछ से अन्य नये प्रश्न उठ खड़े होते और अन्त में घंटों के विवाद के उपरांत समस्या का परिसीमन हो जाता और अरस्तू के शब्दों में समस्या का सार अथवा एक "सार्वभौम परिभाषा" निकल आती।[२५] चूँकि सुकरात ने स्पष्ट परिभाषा और तर्कयुक्त चिन्तन पर इतना बल दिया इसीलिये उसे राजनीति-दर्शन का जनक और चिंतनमूलक आचारशास्त्र का संस्थापक माना जाता है।

पठनीय ग्रन्थ

Barker, Ernest, *Greek Political Theory : Plato and his Predecessors*, 3rd. ed. (London, Methuen, 1947) Chaps. 2-5.

The Political Thought of Plato and Aristotle (New York, Putnam, 1906), Introduction and Chap. 1.

Burn, A. R., *Pericles and Athens* (New York, Macmillan 1949).

Catlin, George, *The Story of Political Philosophers* (New York, McGraw, 1939), Chap. 1.

Conford, F. M., *Before and After Socrates* (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1932)

Glotz, Gustave, *The Greek City and its Institutions*, trans. by N. Mallinson (London, Kegan Paul, 1929)

Grote, G., *A Histoty of Greece*, 12 Vols. (London, Everyman, 1939)

Jaegar, Werner *Paideia : The Ideals of Greek Culture*, trans. Gilbert Highet, 3 Vols. (New York, Oxford 1939—45), Bk. II.

25. Metaphysics, 1078b.

McIlwain, C. H., *The Growth of Political Thought in the West* (New York, Macmillan, 1932), Chap. 1.

Myres, J. L., *The Political Ideas of the Greeks* (New York, Abingdon, 1947)

Popper, K. R., *The Open Society and Its Enemies*, rev. ed. (Princeton, Princeton Univ. Press, 1950)

Prentice, W. K., *The Ancient Greeks* (Princeton, Princeton Univ. Press, 1940), Chap. 6.

Sabine, G. H., *A History of Political Theory*, rev. ed. (New York, Holt, 1950) Chaps. 1—2.

Taylor, A. E., *Socrates* (New York, Appleton, 1933)

Willoughby, W. W., *Political Theories of the Ancient World* (New York, Longmans, 1903), Chaps. 4—6.

Zimmern, A. E., *The Greek Commonwealth*, 5th ed. (Oxford, Oxford Univ. 1931)

अध्याय ४

प्लेटो

प्लेटो का जीवन

प्लेटो का, जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन अथेंसवासियों को मानसिक अराजकता और राजनीतिक पराभव के गर्त में डूबने से[1] बचाने में लगाया, जन्म ४२७ ई० पू० अथेंस में हुआ था। माता के पक्ष में उसका सम्बन्ध सोलोन से था; और उसके पिता का परिवार भी उतना ही प्रसिद्ध था। चूँकि उसका पालन-पोषण अभिजातवर्गीय वातावरण में हुआ था, इसलिये उस काल में अल्पतंत्रवादियों और लोकतंत्र के समर्थकों के बीच राजशक्ति के लिये जो अनेक संघर्ष हुए उनमें उसने प्रारम्भ से ही अल्पतंत्र के पक्ष का समर्थन किया। प्लेटो के एक पत्र से पता चलता है कि उसकी प्रतिगामी दल के एक सदस्य के रूप में राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने की महती आकांक्षा थी। ४०४ ई० पू० जिस समय पैलीपोनेसियाई युद्ध का अन्त हुआ, प्लेटो की आयु बाईस-तेईस वर्ष की रही होगी; उसी समय एक विद्रोह हुआ जो 'तीस के विद्रोह' के नामसे विख्यात है। प्लेटो ने उसमें सक्रिय भाग लेने का संकल्प किया। किन्तु इस प्रतिक्रियावादी उपद्रव के उठ खड़े होने पर तुरन्त ही जो बर्बरतापूर्ण अत्याचारों का ताँता बँध गया उसने प्लेटो का मन खट्टा कर दिया और वह राजनीतिक जीवन से विमुख होने लगा। ३९९ ई० पू० जब दूसरे गुट, लोकतंत्रवादियों, ने उसके मित्र और गुरू सुकरात को मृत्युदंड दिया, तब तो अथेंस की राजनीति के प्रति उसकी

१. सिनिकों ने, जिनका प्रादुर्भाव सोफिस्टों के बाद हुआ था, पहले से ही समाज-विरोधी दर्शन का प्रचार करना आरम्भ कर दिया था। उनकी सलाह थी कि बुद्धिमान आदमी को राजनीतिक जीवन से उसी प्रकार बचना चाहिए जिस प्रकार ताऊन से, और सामाजिक जीवन की कृत्रिमता को त्याग देना चाहिए। डायोजीनीज़ ने जो सिनिकों में सबसे प्रसिद्ध था, राज्य से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, अपने को विश्व का नागरिक घोषित किया, वस्त्र त्याग दिये और एक नाँद में रहने लगा। एक जनश्रुति है कि एक बार सिकन्दर महान् उससे मिलने गया और सहानुभूति दिखलाते हुए उससे पूछा कि मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ। डायोजीनीज़ ने उत्तर दिया कि "कृपा करके सामने से हट जाइये और धूप आने दीजिये।" डायोजीनीज़ के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि एक बार उसने एक किसान को चुल्लू से पानी पीते देख कर अपनी एकमात्र सम्पत्ति लकड़ी के कमंडल को भी फेंक दिया।

घृणा पराकाष्ठा को पहुँच गई।[2] इसके बाद उसने अथेंस के राजनीतिक जीवन में फिर कभी सक्रिय भाग नहीं लिया।

सुकरात की मृत्यु के उपरान्त लम्बे समय तक प्लेटो नैराश्य में डूबा रहा और विदेशों की यात्रा करता रहा। अनुमान तो यह लगाया जाता है कि उसने ईरान, मिस्र, अफ्रीका, इटली और सिसली का भ्रमण किया। किन्तु निश्चयपूर्वक हम इतना ही जानते हैं कि वह इटली और सिसली गया था।

इटली में उसका सम्पर्क टेरेंटम में स्थित पाइथागोरस के अनुयायियों की बस्ती से हुआ। इस सम्पर्क का प्रभाव यह हुआ कि गणित के सम्बन्ध में उसके जो विचार थे उनका रूप सुनिश्चित हो गया। रैखिकी के, जिसको उस समय सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध किया जा रहा था, प्रमाणों की निश्चितता का प्लेटो पर विशेष प्रभाव पड़ा। उसके मन में प्रश्न उठा कि जब रैखिकी में सत्य का रूप प्रदर्शित किया जा सकता है तो राजनीति में क्यों नहीं।

इसी पर्यटन के दौरान में प्लेटो की सिराकूज़ के अत्याचारी शासक डायनोसियस प्रथम से भेंट हुई। इस शासक का प्लेटो पर विशेष अनुराग था। वह इतना सर्वशक्तिमान था कि उसकी इच्छा ही कानून समझी जाती थी। फिर भी उसने सिराकूज़ में साहित्य को प्रोत्साहन देने के लिये बहुत कुछ किया था, और वह स्वयं भी नाटककार था। प्लेटो ने सोचा कि जिस दार्शनिक-राजा की खोज में मैं घूम रहा हूँ शायद वह मुझे इस व्यक्ति के रूप में मिल गया है। अतः उसने उसको बताना आरम्भ कर दिया कि एक न्यायशील शासक के क्या कर्तव्य होने चाहिए; किन्तु उसने अपनी सीख आरम्भ ही की थी कि डायनोसियस उससे ऊब गया और उसे दास के रूप में बेच दिया। किन्तु सौभाग्य से उसे फिरौती देकर[3] शीघ्र ही मुक्त करा लिया गया। अथेंस लौटकर उसने अपनी अकादमी की स्थापना की[4] और अपना बाद का अधिकांश जीवन वहीं बिताया।

Letter VII.

प्लेटो का जो मूल्य लगाया गया वह भी एक दिलचस्पी की चीज है। डायोजोनीज़ लेरियस (Diogenes Laertius) ने उल्लेख किया है कि प्लेटो को मुक्त करने के लिये बीस मीना माँगे गये थे। एक एटिक मीना (Attic mina) का मूल्य लगभग १६ डालर था, इस प्रकार प्लेटो को छुड़ाने के लिये ३२० डालर देने पड़े थे। Diogenes Laertius, iii. 19-21.

अकादमी की स्थापना ३८६ ई० पू० की गई थी। वह अथेंस के एक बाहरी भाग में जैतूनों के कुंज के बीच स्थित थी। उस स्थान का नाम अकादमी था, इसीलिये उसका यह नाम पड़ा। यह उन विद्यापीठों में प्रथम थी जिन्होंने अथेंस के सैनिक पराभव के बाद भी उसकी ख्याति कायम रक्खी। अपने बाद के विद्यापीठों के लिये उसने एक आदर्श का काम किया।

प्लेटो के लिये सिसली की यह यात्रा अन्तिम नहीं थी। जब वह सिराकूज में था, उस समय उसका डायोनीसियस प्रथम के बहनोई डायोन से परिचय होगया था। डायोनीसियस की मृत्यु के उपरान्त डायोनीसियस द्वितीय सिंहासन पर बैठा और डायोन ने उसके प्रतिराज के रूप में कार्य भार सँभाला। प्लेटो युवक डायोनी-सियस से बहुत प्रभावित हुआ था, और उसने आशा की थी कि उसके शासन-काल में शायद कुछ महान कार्य सम्पादित होंगे। यही कारण था कि जब डायोन ने प्रार्थना की तो नये शासक की शिक्षा में सहायता देने के लिये ३६७ ई० पू० प्लेटो ने पुनः सिराकूज़ के लिये प्रस्थान किया। किन्तु वहाँ पहुँचकर प्लेटो को घोर निराशा हुई। डायोनीसियस द्वितीय न तो उसकी कोई सलाह मानता और न अध्ययन में ही मन लगाता। दरबार की राजनीति भी प्लेटो को अपने काबू के बाहर दिखाई दी, और अन्त में उसे अपनी विफलता स्वीकार करनी पड़ी। वह पुनः अथेंस लौट गया; उसे दुःख तो बहुत हुआ था किन्तु आशा की किरण फिर भी शेष रही।

इस आशा के कारण ही अपनी पहले की विफलताओं के बावजूद प्लेटो कई वर्ष तक अपने मित्र डायोन से पत्र व्यवहार करता रहा, और पाँच वर्ष उपरान्त एक बार पुनः प्रयत्न करने के उद्देश्य से सिराकूज़ गया। किन्तु इस बार भी उसे सफलता नहीं मिली और अन्त में उसने यही कह कर सन्तोष किया कि मैंने अपने दायित्व को निभाने के लिये अपनी सामर्थ्य भर अधिक से अधिक किया। प्लेटो के सामने सबसे बड़ी चिनौती यह थी कि राजनीतिक शक्ति और सत्य के प्रेम को एक ही व्यक्ति में कैसे संयुक्त किया जाय। यद्यपि वह एक दार्शनिक था, फिर भी उसने इस चिनौती का मुकाबिला किया। अपने प्रयत्नों से उसने सिद्ध कर दिया कि वह कोरा 'उपदेश देनेवाला व्यक्ति'[5] नहीं था।

३४७ ई० पू० अस्सी वर्ष की आयु में प्लेटो ने शरीर-त्याग किया। उसके जीवन के बाद के वर्षों में उसकी ख्याति चारों ओर फैल गई थी, और उसका बड़ा सम्मान था। उसकी अकादमी ने अथेंस के विद्यापीठों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त कर लिया था। जिस प्रकार वह स्वयं सुकरात का उत्तराधिकारी था, उसी प्रकार इस महान् परम्परा में अरस्तू उसका उत्तराधिकारी बना। अरस्तू के सम्बन्ध में तो हम अगले अध्याय में लिखेंगे। यहाँ पर हमें प्लेटो के संवादों और उनमें निहित उसके राजनीतिदर्शन का परिशीलन करना है।

प्लेटो के संवाद

राजनीतिक सिद्धान्त तो प्लेटो के लगभग सभी संवादों में बिखरे पड़े हैं, किन्तु

5. Letter VII, 328 C.

उसके तीन संवाद ऐसे हैं जिनका अन्यों की अपेक्षा इस विषय से सीधा सम्बन्ध है वे हैं: **रिपब्लिक, स्टेट्समेन** और **लाज़**[6]।

इन तीनों में **रिपब्लिक** सबसे अधिक विख्यात है, और उसका सम्मान भी सबसे अधिक है। इसकी रचना प्लेटो ने उस समय की जबकि उसकी मानसिक शक्तियाँ अपने शिखर पर थीं। इसमें प्लेटो ने बतलाया है कि आदर्श के रूप में शासन की सर्वोत्कृष्ट व्यवस्था क्या होनी चाहिए। यहाँ पर हम मुख्यतः इसी सम्वाद का विवेचन करेंगे। **स्टेट्समेन**[7] एक छोटी सी पुस्तिका है। इसकी रचना **रिपब्लिक** तथा **लॉज** के बीच के संक्रमणकाल में हुई थी। इसका प्रचार भी अधिक नहीं है। **रिपब्लिक** में प्लेटो ने संरक्षकों के वैयक्तिक शासन को सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। आगे चलकर उसके विचारों में परिवर्तन होने लगा, और **स्टेट्समेन** में उसने विधिमूलक शासन को अच्छा बतलाया। जब उसने **लॉज़** लिखा उस समय तक उसके विचारों का परिवर्तन पूर्ण हो चुका था। इसकी रचना प्लेटो ने अपने अन्तिम वर्षों में सिराकूज के अनुभव के बाद की थी। इसमें उसने अपूर्ण समाज के व्यावहारिक दोषों और सीमाओं को स्वीकार कर लिया है, और यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि व्यावहारिक दृष्टि से शासन का सर्वोत्तम रूप क्या हो सकता है। **रिपब्लिक** के आदर्श का प्लेटो ने खंडन तो कभी नहीं किया। किन्तु अव्यावहारिक समझ कर उसे अलग रख दिया है, और उसके स्थान पर एक ऐसी समाज-व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया है जो उसमें रहनेवाले व्यक्तियों से अधिक पूर्ण नहीं हैं।

रिपब्लिक के आदि सिद्धान्त

रिपब्लिक में जो आदि सिद्धांत अथवा आधारभूत विचार प्रतिपादित हैं उनको प्लेटो ने सरल और स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया है। तर्क बड़े पेचीदा हैं, और सादृश्यों की भरमार है, इसलिये प्रथम बार पढ़ने पर पाठक उलझन में पड़ जाता है और आदि सिद्धांत उसकी पकड़ में नहीं आते। किन्तु अधिक अच्छा परिचय होने पर, अन्य वस्तुओं की भाँति **रिपब्लिक** भी पहले से अच्छी मालूम होने लगती हैं। थोड़ा-मनन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि **रिपब्लिक** के मुख्य सिद्धांतों को थोड़ी-सी अभिधारणाओं के चतुर्दिक बड़ी सफाई के साथ संजोकर रक्खा गया है।

६. अन्य संवादों में **एपोलोजी** और **गोर्गियास** राजनीतिदर्शन के विद्यार्थियों के लिये अधिक दिलचस्प सिद्ध होंगे। **एपोलोजी** सुकरात की मृत्यु के थोड़े समय बाद ही लिखी गई थी, और उसमें सुकरात का समर्थन किया गया है। इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति की अन्तःकरण की स्वतंत्रता का सम्मान करना चाहिए। **गोर्गियास** में सोफिस्टों के सन्देहवाद पर आक्रमण किया गया है। इसमें अलौकिक कानूनों और निरपेक्ष अधिकारों की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

७. **स्टेट्समेन** का **पोलीटीक्स** नाम से भी उल्लेख किया जाता है।

उन्हें समझ लेने पर उनसे नि:सृत अन्य विचारों को ढूँढ़ निकालना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।

रिपब्लिक की प्रमुख अभिधारणा यह है कि सद्गुण का ज्ञान सम्भव है। तात्पर्य यह है कि परमार्थ अथवा निरपेक्ष सत्य का अस्तित्व है, और हम उसका पता भी लगा सकते हैं। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है कि 'सत्'[८] की वास्तविक सत्ता है, और जिनकी बुद्धि अत्यन्त कुशाग्र है वे उसका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अतः सद्गुण (सत्) का ज्ञान हो सकता है।

यही अभिधारणा अन्य सब सिद्धांतों का आधार है। किंतु यह स्वयं एक वृहत्तर समस्या से निसृत हुई है। समस्या यह है कि स्वभाव प्रधान है अथवा परिस्थितियाँ। यह प्रश्न **रिपब्लिक** के प्रकाशन के सौ वर्ष पहले से यूनानी दार्शनिकों को तंग करता आया था। सरल भाषा में प्रश्न इस प्रकार है : क्या मूल्य अथवा अर्हा परिस्थितियों पर निर्भर रहती है, अथवा संसार में ऐसी भी वस्तुएँ हैं जिनका सार्वभौम मूल्य होता है जो आस-पास की भिन्न और परिवर्तनशील परिस्थितियों से निर्धारित नहीं होता ? क्या मनुष्य की समस्याओं को हल करने के लिये वास्तविक ज्ञान उपलब्ध हो सकता है ? अथवा हमें व्यक्तियों के अपने-अपने निर्णयों का सहारा लेना पड़ेगा ? यहाँ प्लेटो का सोफिस्टों से तथा उन सब लोगों से मतभेद था जो उसकी राय में यूनानी सभ्यता की जड़ें खोद रहे थे। उसका कहना था कि परमार्थ सत्यों[९] का अस्तित्व है और उनको जान लेना भी सम्भव है, यद्यपि उनको वे थोड़े से लोग ही जान सकते हैं जिनकी सूझ-बूझ अपने समसामयिक लोगों से अधिक गहरी और प्रखर होती है।

प्लेटो के राजनीतिदर्शन की दूसरी मुख्य प्रस्थापना यह है कि तत्वतः मनुष्य असमान हैं। वे संयम, साहस, विवेक और न्याय इन चार प्रमुख गुणों की क्षमता में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। कुछ व्यक्तियों में साहस की प्रधानता होती है इसलिये वे राज्य की रक्षा का काम दूसरों से अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं, इसी प्रकार कुछ लोगों का स्वभाव विवेक-प्रधान होता है और इस कारण वे शासन के लिये अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होते हैं। अतः लोकतंत्र एक ढकोसला और भ्रांति है। उसका आधार समता का सिद्धांत हैं जिसका कोई अस्तित्व नहीं है; फलतः व्यक्तिगत मत को सच्चा ज्ञान समझ लिया जाता है।

प्लेटो को सबसे अधिक चिढ़ अथेंसवासियों के "सुन्दर बहुमुखी क्षमता" के उस आदर्श से थी जिसकी अभिव्यक्ति पेरीक्लीज ने अपने **अन्त्येष्टि अभिभाषण** में की थी। प्लेटो का कथन था कि शासन-कार्य एक विज्ञान ही नहीं अपितु सब विज्ञानों में

---

८. यहाँ सत् का अर्थ सत्य से है।
९. प्लेटो इन सत्यों का सामूहिक रूप से 'शिव का विचार' इस नाम से उल्लेख करता है।

सर्वाधिक कठिन है। कोई व्यक्ति हर आदमी को चिकित्सक बनाने की सलाह नहीं देता क्योंकि ऐसा करना असम्भव होगा, किन्तु लोकतंत्र उससे भी अधिक असम्भव आदर्श के लेकर चलता है। उसके मूल में यह अभिधारणा है कि हर आदमी समान योग्यता के साथ दूसरों पर शासन कर सकता है। उसकी अभिधारणा है कि सभी लोगों में शासन की जटिलताओं को समझने की सूझ-बूझ होती है। यही नहीं, लोकतंत्र में इससे भी बड़ा दोष यह है कि उससे गुटबंदी और विद्रोह को प्रोत्साहन मिलता है। अथेंस में सरकार पर अधिकार जमाने के लिये विभिन्न गुटों में निरन्तर संघर्ष चला करता था जिसके कारण नगर अनेक बार विप्लवों में फँस चुका था; अतः प्लेटो को क्रांति और हिंसा से जितना भय था उतना और किसी चीज से नहीं था। कदाचित इसीलिये उसने समरूपता और नियंत्रित जीवन पर इतना बल दिया। उसकी राय में अथेंस के जीवन में स्थिरता की सबसे बड़ी कमी थी, और उसी की स्थापना करना उसका मुख्य उद्देश्य था। उसने लोकतांत्रिक मनुष्य का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है : "एक क्षण मद्य के नशे में चूर है, तो दूसरे क्षण परहेजगार है; कभी कठोर खेल कूद में संलग्न रहता है और कभी उनसे एकदम विमुख हो जाता है, और फिर सब कुछ छोड़-छाड़ कर दर्शन का अध्ययन करने लगता है; आज राजनीतिज्ञ है और खड़े होकर बिना सोचे समझे बकवास करने लगता है, और फिर कल योद्धा बन जाता है"[१०] ऐसा व्यक्ति कभी किसी बात पर दृढ़ नहीं रह सकता और फलतः उसे कभी वास्तविक सुख उपलब्ध नहीं हो सकता। सुख जीवन की ऐसी "उच्चतर व्यवस्था" पर निर्भर होता है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति कोई ऐसा काम करता है जिसके लिये वह सर्वाधिक योग्य होता है।

विवेकसम्पन्न अभिजातवर्ग का शासन

प्लेटो का कथन है कि इस श्रेष्ठतर व्यवस्था के आधार पर संगठित सरकार का जो रूप होना चाहिए वह पूर्वोक्त आदि सिद्धान्तों से निकाला जा सकता है। जब हमने यह मान लिया है कि सद्गुण का ज्ञान सम्भव है अर्थात् सत्य को जाना जा सकता है, और थोड़े से लोग ही इस प्रकार के विवेक से सम्पन्न होते हैं तो तर्कतः यह निष्कर्ष निकला कि शासन की बागडोर एक विवेकसम्पन्न अभिजातवर्ग के हाथों में होनी चाहिए। अधिक स्पष्ट भाषा में इसका अर्थ यह हुआ कि दार्शनिक ही राजा हों।

प्लेटो की प्रस्थापना थी कि शासकों का एक विशेष वर्ग हो—उसने उनका नाम संरक्षक रक्खा—और उसके सदस्यों को अपने पूर्ण विवेक के अनुसार निरंकुश

10. Ernest Barker, *The Political Thought of Plato and Aristotle*, (1906), p. 88.

सत्ता के साथ[११] शासन करने दिया जाय; उन पर कानूनों का किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो। वे हर समस्या का उसके गुण-दोषों के आधार पर परीक्षण करें और उपयुक्त हल निकालें जैसे कि चिकित्सक हर रोगी के लिये अलग-अलग औषधि निश्चित करता है। उसका कथन था कि कानून तो अपने स्वभाव से ही सामान्य होते हैं और इसलिये औसत अथवा सामान्य विषयों में ही काम आसकते हैं। किन्तु साधारण लोगों की समस्याएँ औसत अथवा सामान्य प्रकार की कदापि नहीं होतीं। हर समस्या दूसरी से भिन्न होती है, चाहे वह भिन्नता ब्यौरे की क्यों न हो। अतः आवश्यकता होती है कि उसका हल भी विशेष प्रकार का हो।

कानून का अर्थ होता है सामान्य नियम; वास्तव में उनकी परिभाषा ही यह है। सामान्यता उनका मूल तत्व है और यही उनका मुख्य दोष भी है। सामान्यता का अभिप्राय है औसत, अतः सामान्य नियम उन अपवादों की पूर्ति नहीं कर सकते जो सदैव उत्पन्न होते रहते हैं। यह काम तो वे पूर्ण बुद्धिसम्पन्न शासक ही कर सकते हैं जो सदैव अपने निरंकुश विवेक से काम लेते हैं। इन जटिल नियमों के पक्ष में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि वे काम चलाने का भद्दा-भौड़ा तरीका होते हैं। वे उस बुद्धि की नमनीयता के मुकाबिले में बहुत घटिया होते हैं जो सच्चे अर्थ में न्याय कर सकती है, जो बिना किसी भूल-चूक के हर व्यक्ति को उसका प्राप्य प्रदान करती है, न कि वह जो किसी "औसत आदमी" को मिलना चाहिए क्योंकि औसत आदमी न कभी हुआ है और न होगा। इसलिये प्लेटो की निगाह में विवेक—यदि वह बुद्धियुक्त विवेक है—जटिल कानूनों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है।[१२]

यद्यपि प्लेटो संरक्षकों को अधिक से अधिक शक्तियाँ देने के पक्ष में है, किन्तु वह यह नहीं चाहता कि वे विलासिता का जीवन बिताएँ अथवा किसी प्रकार के विशेषा-

११. संरक्षकों को सारी शक्ति सौंप कर प्लेटो ने राजनीतिक सिद्धान्त की एक अत्यधिक जटिल समस्या का हल ढूँढ़ निकाला। उसने विवेक तथा सत्ता का संयोग स्थापित कर दिया। लोकतंत्र के विरुद्ध एक तर्क यह है कि उसके अन्तर्गत "विवेकसम्पन्न" व्यक्तियों का "सत्ताधारियों" पर कोई प्रभाव नहीं रहता। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति के हाथों में बड़ी सत्ता रहती है किन्तु उस पद के लिये कुशाग्र बुद्धि का व्यक्ति शायद ही कभी चुना जाता हो। हम इस स्थिति को यह समझकर स्वीकार कर लेते हैं कि लोकतंत्र में ऐसा होना आवश्यक है। किन्तु प्लेटो इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं था। जीवन भर उसका यह अडिग विश्वास रहा कि शक्ति तथा सत्य का प्रेम—इन दोनों का एक साथ रहना आवश्यक है। विवेक तथा सत्ता के संयुक्त होने पर कुछ भी प्राप्त करना असम्भव नहीं है।

12. C. H. McIlwain, *The Growth of Political Thought in the West*, (1932), p. 27, मैकमिलन कम्पनी की आज्ञा से।

धिकारों का उपभोग करें। संरक्षकों के जीवन का तो एक ही उद्देश्य है अर्थात् सम्पूर्ण राज्य के कल्याण का संवर्धन करना; अतः प्लेटो चाहता है कि वे अन्य सभी कामों को छोड़ कर केवल इसी एक विषय में विशेषज्ञता प्राप्त करें।

वर्गों की विशेषज्ञता

प्लेटो ने शासक वर्ग की इस विशेषज्ञता के सिद्धान्त के आधार पर ही आदर्श समाज के अन्य वर्गों की रचना की। उसका कथन था कि जिस प्रकार संरक्षक अपने काम के विशेषज्ञ हों उसी प्रकार सम्पूर्ण राज्य का इसी सिद्धान्त के अनुसार संगठन होना चाहिए, तभी वास्तविक अर्थ में न्याय की स्थापना हो सकती है।

प्लेटो का कहना था कि समाज की उत्पत्ति लोगों की पारस्परिक आवश्यकताओं के कारण होती है। मनुष्यों को विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता होती है, किन्तु वे उन सब को स्वयं उत्पन्न नहीं कर सकते। अतः वे जिन चीजों को सबसे अच्छा उत्पन्न कर सकते हैं उनके बदले में दूसरों से अपने काम की अन्य चीजें ले लिया करते हैं, और इस प्रकार अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। धीरे-धीरे विशेषज्ञता और श्रमविभाजन की यह प्रक्रिया उत्तरोत्तर जटिल होती जाती है, और फलतः उच्च कोटि की पारस्परिक निर्भरता स्थापित होने लगती है।[१३] यह अन्तर्निर्भरता वर्गों के बीच हुआ करती है (अथवा अधिक उपयुक्त यह कहना होगा कि होनी चाहिए,) अर्थात् एक वर्ग दूसरों पर निर्भर होता है। ये वर्ग तीन प्रकार के होते हैं, और उनका प्रादुर्भाव इसलिये होता है कि सब मनुष्यों को तीन स्वाभाविक प्रकारों अथवा कक्षाओं में विभक्त किया जा सकता है। सबसे पहले वर्ग में वे लोग आते हैं जो पूर्णरूपेण वासनाओं अथवा इच्छा से अनुप्राणित होते हैं। इन्हें शिल्पकार कह सकते हैं। इन्हें भौतिक वृत्तियों के अनुसरण से ही सबसे अधिक आनन्द मिलता है। दूसरा वर्ग उन लोगों का होता है जिनमें शूरत्व अथवा साहस की प्रधानता रहती है। उन्हें योद्धा अथवा सहायी कह सकते हैं। उनका विशेष कार्य रक्षकों के रूप में समाज की सेवा करना है। और तीसरा वर्ग जिसका पहले उल्लेख हो चुका है, उन लोगों का है जिनमें विवेक प्रधान होता है। यही वह संरक्षक वर्ग है जिसका काम शासन करना है।[१४] प्लेटो का कथन है कि जब इनमें से प्रत्येक वर्ग अपने अनुरूप कार्यों का अनुसरण करता है और दूसरों का पूरक बनकर

१३. प्लेटो ने इस प्रक्रिया का जो विश्लेषण किया उसके तथा श्रम-विभाजन के सम्बन्ध में यथेच्छाकारिता (laissez faire) सम्बन्धी विचारों के दिलचस्प अन्तर को समझने के लिये देखिये। G. H. Sabine, *A History of Political Theory*, rev. ed. (1950), p. 49.

१४. प्लेटो ने पहले **रिपब्लिक** में योद्धाओं तथा शासकों दोनों का संरक्षकों के नाम से उल्लेख किया है, किन्तु बाद में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि केवल शासकों को ही संरक्षकों का नाम दिया जाना चाहिए, 414।

एक परिपूर्ण समग्र की रचना में सहायक होता है और तभी न्याय की स्थापना होती है।[१५]

न्याय

न्याय की धारणा प्लेटो के राजनीति-दर्शन की पराकाष्ठा है। उसकी दृष्टि में न्याय उपर्युक्त वर्गों का सन्तुलित सम्बन्ध मात्र नहीं है ; वह तत्वतः ऐसी उचित व्यवस्था है कि यदि लोगों में पर्याप्त विवेक हो[१६] तो वे सभी इसे स्वेच्छा से स्वीकार कर लेंगे। प्लेटो का विश्वास था कि उसके प्रस्तावों के औचित्य को भली-भाँति समझ लेने पर शिल्पकार अथवा श्रमिक भी अपने स्वभावानुकूल कार्यों में नियोजित होना ही पसन्द करेंगे।

प्लेटो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य देना ही न्याय नहीं है; वह उससे भी कुछ अधिक है। उसने न्याय का एक ऐसा विशाल और व्यापक आदर्श प्रस्तुत किया कि जिसके अन्तर्गत बुराई का बदला भलाई से दिया जाना चाहिए। और इस प्रकार उसने पहले से ही ईसा मसीह के विचारों की भूमिका तैयार कर दी। प्लेटो का विश्वास था कि जब प्रत्येक व्यक्ति उसी काम को करेगा जिसे वह सबसे अच्छा कर सकता है तो उसे एक विशेष प्रकार का सृजनात्मक आनन्द उपलब्ध होगा और उससे उसकी आत्मा का पूर्ण विकास निश्चित हो जायगा। आत्मा की नैतिक परिपूर्णता की यह धारणा ही **रिपब्लिक** का प्राण है; और इसीलिये अनेक भाष्यकारों ने निष्कर्ष निकाला है कि प्लेटो ने जो कुछ लिखा है उसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। उन का विश्वास है कि वास्तव में तो उसका उद्देश्य मनुष्य की आत्मा के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करना था, राज्य का तो उसने अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिये प्रयोग मात्र किया है। किन्तु इस प्रकार का भेद करना युक्तिसंगत नहीं है। आजकल हम लोग निजी तथा सार्वजनिक चीजों के बीच के द्वैत अथवा संघर्ष को बहुत महत्व देते हैं, किन्तु प्लेटो को इससे कोई प्रयोजन नहीं था। उसकी राय में जो सिद्धान्त एक के लिये सत्य थे वे दोनों के लिये सत्य थे। अतः जब उसने न्याय की तुलना स्वास्थ्य की अवस्था से और अन्याय की रोग से की तो उसका अभिप्राय व्यक्ति और राज्य दोनों के स्वास्थ्य और रोग से था। उसका कहना था कि एक व्यक्ति तभी स्वस्थ कहा जा सकता

१५. वहीं, पृष्ठ 435।

१६. प्लेटो का विचार था कि शिल्पकारों में विवेक नहीं होता, इसलिये उसका सुझाव था कि उनका सहयोग प्राप्त करने के लिये एक "आवश्यक झूठ" का सृजन किया जाय। धातुओं के सादृश्य का प्रयोग करके एक झूठ गढ़ लिया जाय। इस आधार पर उसने संरक्षकों को सोने का, योद्धाओं को चाँदी का और श्रमिकों को लोहे का प्रतिनिधि माना। जिस प्रकार लोहा और पीतल सोने की तुलना में घटिया धातुएँ हैं वैसे ही श्रमिक वर्ग को शासक वर्ग से नीचे स्तर का मानना चाहिये। प्लेटो का कहना था कि शायद इस विचार को लोगों के मन में बिठलाने के लिये बहुत प्रचार करना पड़े किन्तु अन्तोगत्वा यह तर्क जनसाधारण के हृदय में अवश्य घर कर लेगा। वहीं, 'पृष्ठ 414-415'।

है जबकि उसकी वासनाएँ और शूरत्व (साहस) दोनों ही उसके विवेक के नियन्त्रण में हों और उसी प्रकार राज्य के स्वास्थ्य का अर्थ है कि उसके विभिन्न तत्व उपरोक्त सिद्धान्त के आधार पर संगठित हों।

न्याय के इस सिद्धांत के विरुद्ध **रिपब्लिक** में दो प्रतिद्वन्दी सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है। पहले अध्याय के मध्य में थ्रेसीमेकस नाम का एक सोफिस्ट विवाद में सम्मिलित हो जाता है और कहता है कि सबल का हित ही न्याय है, न इससे कुछ अधिक है और न कम। शक्ति ही अधिकारों का आधार है। अतः सरकार शासकों के हित के लिये होती है, शासितों के कल्याण के लिये नहीं। और यदि इसको अन्याय कहा जाय तो अन्याय न्याय से अच्छा है।

इस तर्क के उत्तर में प्लेटो कहता है कि जिस प्रकार चिकित्सक का काम रोगी को अच्छा करना और गड़रिये का अपनी भेड़ों की रक्षा करना है, उसी प्रकार शासक का कर्त्तव्य है कि निःस्वार्थ भाव से अपनी प्रजा के कल्याण में संलग्न रहे। और अन्याय न्याय से अच्छा है—इसका वह यह उत्तर देता है कि अन्त में न्यायी व्यक्ति अन्यायी के मुकाबिले में अधिक अच्छा और सुखी होगा क्योंकि अन्यायी व्यक्ति के आचरण में अन्त-र्विरोध होता है, इसलिये वह कभी सुखी नहीं हो सकता।

न्याय के तीसरे सिद्धांत का प्रतिपादन ग्लाउकन ने किया। यद्यपि वह कुछ हद तक प्लेटो के दृष्टिकोण से समझौता करने को तैयार है, फिर भी उसका विश्वास है कि न्याय एक निरूढ़ि मात्र है, उसका आधार कोई प्राकृतिक नियम नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अन्याय करना पसन्द करेगा, यदि उसे यह आश्वासन हो जाय कि उसको छोड़कर अन्य किसी आदमी को अन्याय नहीं करने दिया जायगा। किंतु वह यह देखकर घबड़ाता है कि दूसरे लोग भी अन्याय का आचरण करते हैं जिससे स्वयं उसकी भी हानि होती है। अतः सभी को अन्याय का शिकार होने का भय रहता है। इससे बचने का एकमात्र मार्ग यह है कि सब लोग परस्पर समझौता करलें कि कोई भी व्यक्ति अन्याय नहीं करेगा और न दूसरों को करने देगा।[१७] इस समझौते के आधार पर ही सरकार का निर्माण होता है; किंतु फिर भी उसका रूप एक निरूढ़ि का ही रहता है, वह कोई प्राकृतिक नियम नहीं बन जाता, जैसा कि प्लेटो का विश्वास था।

ग्लाउकन के तर्क का उत्तर देना कठिन है। प्लेटो पर यह सिद्ध करने का दायित्व आजाता है कि न्याय एक सार्वभौम सिद्धांत है और हर परिस्थिति में मंगलमय

१७. यह आश्चर्य की बात है कि राजनीतिक दर्शन में मौलिक विचार कितने कम हैं अथवा हो सकते हैं। आगे के विकास में हाब्स ने चिंतन को एक नई मोड़ दी, किंतु वास्तव में उसने इस आधारभूत धारणा में नया कुछ भी नहीं जोड़ा।

जीवन के लिये आवश्यक है। यह सिद्ध करने के लिये प्लेटो आदर्श राज्य के स्वभाव के सविस्तार निरूपण द्वारा न्याय के स्वभाव की मीमांसा करता है और यह एक ऐसा काम है कि **रिपब्लिक** का शेष भाग इसी में खप जाता है। यदि राज्यस्थ न्याय का पता लग जाय और यह सिद्ध हो जाय कि वह सार्वभौम दृष्टि से कल्याणकारी है तो ग्लाउकन के दृष्टिकोण की भूल स्पष्ट हो जायगी।

इस प्रकार प्लेटो के सामने दो मुख्य समस्याएँ हैं : न्याय का अनुसंधान करना और उसके निरपेक्ष मूल्य को सिद्ध करना। अनुसंधान की जो पद्धति प्लेटो ने अपनाई है उसका पारिभाषिक नाम **अवशेषी पद्धति** है। इसका अर्थ यह है कि किसी समस्या से सम्बन्धित जितने तत्व हैं उनमें से सबकी छटनी करके एक तत्व को पृथक कर लिया जाय। प्लेटो अपने राज्य के सम्पूर्ण सद्‌गुणों को गिना देता है। ये सद्‌गुण हैं : संयम, साहस, बुद्धि और न्याय। फिर वह पहले तीन गुणों को लेता है और उनमें से प्रत्येक का स्थान निश्चित कर देता है, और अंत में न्याय अपना कार्य करने के लिये शेष रह जाता है।

न्याय का कार्य अन्य गुणों के कामों से भिन्न है। पहले तीनों सद्‌गुण के विशिष्ट रूप हैं,[१८] किन्तु न्याय का रूप भिन्न है। वह अन्य सब गुणों का "आदि कारण और स्थिति" है और सब में व्याप्त है।[१९] यह वह इच्छा है जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म (अपने विशिष्ट कर्तव्य) में संलग्न रहता है और दूसरों के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करता।[२०]

इस प्रकार न्याय का पता लग गया। अब यह सिद्ध करना है कि वह एक सार्वभौम सत्य है। प्लेटो का कहना है कि न्याय का विरोधी गुण है दूसरों के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करने का स्वभाव जिससे संघर्ष को प्रोत्साहन मिलता और सर्वनाश[२१] का मार्ग

---

१८. विशिष्ट इस अर्थ में कि प्रत्येक का सम्बन्ध एक विशेष वर्ग से होता है। संरक्षक का गुण है बुद्धि, योद्धा का साहस और श्रमिक का संयम; किन्तु प्लेटो यह भी कहता है कि संयम सब गुणों का समन्वय भी है। इस दृष्टि से न्याय की भाँति वह भी विशिष्ट न होकर एक समान्य गुण है।

19. *Republic*, 433.

20. Barker, op. cit., p. 116.

21. *Republic*, 433. जब कोई मोची अथवा अन्य व्यक्ति, जिसे प्रकृति ने शिल्पकार होने के लिये बनाया है, धन, शक्ति अथवा अपने अनुयायियों की संख्या अथवा अन्य किसी लाभ से उन्मत्त होकर योद्धाओं के वर्ग में सम्मिलित होने के लिये अनधिकार प्रयत्न करता है, अथवा कोई योद्धा विधायक अथवा संरक्षक का पद जिसके वह योग्य नहीं है, पाना चाहता है और जब एक व्यक्ति दूसरे के औजारों और काम-काज को संभालने लगता है, अथवा एक ही व्यक्ति शिल्पकार, विधायक और योद्धा तीनों के काम साथ-साथ करने लगता है तो आप शायद मुझसे इस बात में सहमत होंगे कि इस प्रकार की अदला-बदली और एक दूसरे के काम में हस्तक्षेप से राज्य का नाश हो जायगा।

तैयार होता है। इसके अतिरिक्त अन्य गुण न्याय द्वारा "संरक्षित" होने पर ही पनप सकते हैं।

ये प्लेटो के राज्यविषयक दर्शन के आधारभूत सिद्धान्त हैं। अब इन सिद्धान्तों के अन्य दिलचस्प पहलुओं पर विचार करना है।

संरक्षकों का जीवन

प्लेटो ने संरक्षकों के लिये जो जीवन-प्रणाली निर्धारित की वह एक बड़ी दिलचस्पी की चीज़ है। **रिपब्लिक** में उनकी शिक्षा, पारिवारिक संबंध और सम्पत्ति संबंधी अधिकारों, अथवा उनके अधिकारों के अभाव, की विशद मीमांसा की गई है। संरक्षकों की शिक्षा पर इतनी सावधानी से विचार किया गया है कि अनेक विद्वानों ने **रिपब्लिक** को शिक्षा-शास्त्र का ही ग्रंथ मान लिया है। रूसो का, जिसने स्वयं शिक्षा सिद्धांतों के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है, विश्वास था कि **रिपब्लिक** शिक्षा शास्त्र का महानतम् ग्रंथ है। निःसंदेह प्लेटो ने शिक्षा पर यथासम्भव अत्यधिक बल दिया है। उसका विश्वास था कि यही एक ऐसा साधन है जिससे कि अपूर्ण समाज का सुधार हो सकता है। जहाँ हर उपाय विफल हो जाता है वहाँ शिक्षा सफल हो सकती है बशर्ते कि उसके लिये समुचित समय दिया जाय।

शिक्षा की प्रणाली के संबंध में प्लेटो का प्रस्ताव था कि शिल्पकारों तथा संरक्षकों दोनों ही वर्गों की संतानों को सरकार की ओर से अनिवार्य शिक्षा दी जाय। प्रशिक्षण को उसने दो भागों में विभक्त किया। पहले भाग का संबंध मस्तिष्क से था और उसको उसने "संगीत" का नाम दिया। इसमें कविता तथा अन्य प्रकार के साहित्य का अध्ययन और गायन तथा वादन सम्मिलित थे। पाठ्यक्रम में कोई हानिकारक चीज न सम्मिलित होने पाये, इसके लिये उसकी सलाह थी कि चुनी हुई वस्तुओं की पहले से सावधानीपूर्वक परीक्षा करली जाय। प्रशिक्षण के दूसरे भाग का संबंध शरीर के विकास से था। उसको उसने "जिम्नास्टिक" नाम दिया। इसमें स्वानुशासन तथा अन्य सद्‌गुणों की शिक्षा सम्मिलित थी। प्लेटो का कहना था कि यह दुहरी शिक्षा प्रौढ़ता के आगमन तक जारी रहनी चाहिये। इस समय परीक्षा ली जाय, और जो सबसे अधिक योग्यता का परिचय दें उन्हें आगे की शिक्षा के लिये चुन लिया जाय और शेष सबको शिल्पकार वर्ग में सम्मिलित करके उनके अनुरूप काम-काज में लगा दिया जाय।

प्लेटो ने शिक्षा का दूसरा काल बीस से तीस वर्ष की आयु तक निश्चित किया। इसके लिये योग्यता की शर्त को पूरा करने पर पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों को ही चुना जा सकता था और पाठ्यक्रम पहले से अधिक ऊँचा रखने का विधान था। हेतुविद्या, ज्योतिष तथा गणित उच्च शिक्षा के मुख्य विषय थे। प्लेटो ने नियम रक्खा कि तीस वर्ष की आयु में पुनः छँटनी की जाय; और शिक्षा के अन्तिम चरण में दर्शन

के अध्ययन पर ध्यान दिया जाय और विद्यार्थियों को द्वन्द्वात्मक चिन्तन का अभ्यास कराया जाय। अन्त में जो हर प्रकार के श्रेष्ठ सिद्ध होंगे उन्हें पन्द्रह वर्ष तक प्रशासन तथा युद्ध के वास्तविक अनुभव की अग्नि-परीक्षा में होकर गुज़रना पड़ेगा। और फिर जो हर परीक्षा में खरे उतरेंगे वे पचास वर्ष की आयु में संरक्षकों का मुकुट धारण करेंगे। प्लेटो लिखता है: "अब वह समय आ गया है जब कि वे अपनी आत्मा के नेत्रों को ऊपर उठाएँ और सार्वभौम ज्ञान के प्रकाश का दर्शन करें" और राज्य में पूर्ण न्याय तथा व्यवस्था स्थापित करने के भार को सँभालें।[२२] संरक्षकों के पद पर कार्य करते समय भी उन्हें चिंतन तथा मनन के लिये समय दिया जायगा। किंतु जब उनकी बारी आयेगी तो उन्हें प्रशासन-कार्य में भी डट कर परिश्रम करना पड़ेगा। वे सार्वजनिक कल्याण के लिये शासन करेंगे, यह समझकर नहीं कि हम कोई वीरतापूर्ण कार्य कर रहे हैं, बल्कि केवल कर्तव्य की भावना में प्रेरित होकर; और जब हर पीढ़ी के लोगों में से वे अपने ही समान व्यक्तियों को तैयार करके उन्हें राज्य के शासन का भार सौंप देंगे, तब वे परमानन्द के लोक को प्रस्थान करेंगे और वहीं निवास करेंगे; और नगर निवासी सार्वजनिक स्मारक खड़े करके और बलि चढ़ाकर उन्हें समादृत करेंगे।[२३]

पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में प्लेटो का प्रस्ताव था कि शिल्पकारों को एक-पत्नीत्व के नियम के अनुसार विवाह करने और अपना निजी परिवार बसाने का अधिकार होना चाहिये, किन्तु संरक्षकों को यह सुविधा न दी जाय। उसका कहना था कि संरक्षक वर्ग के सदस्य[२४] तभी सफलतापूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन कर सकते हैं जब कि वे पूर्णरूप से स्वार्थ रहित हों। उन्हें अपनी सन्तान के प्रति पक्षपात करने का अधिकार देना भी अनुचित होगा।[२५] अन्यथा इस बात का डर रहेगा कि सन्तान के मोह में फँसकर वे राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों को भुलादें। इसका इलाज यही है कि पारिवारिक सम्बन्धों को सामूहिक रूप दे दिया जाय। पत्नियों, पतियों और बच्चों सभी पर पूरे वर्ग का अधिकार हो और सभी का उनमें साझा हो। इससे अन्य लाभ भी होंगे। स्त्रियों को पारिवारिक जीवन के दैनिक झंझटों से मुक्ति मिल जायगी और वे संरक्षक वर्ग में अपना उचित स्थान गृहण कर सकेंगी। इसके अतिरिक्त यथासम्भव अच्छी से अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के लिये अनुरूप माता-पिता के संयोग का आयोजन करना

२२. वहीं, 540
२३. वहीं।
२४. पारिवारिक सम्बन्धों और सम्पत्ति के अधिकारों का विवेचन करते समय प्लेटो ने योद्धाओं को भी संरक्षकों के वर्ग में गणना की।
२५. प्लेटो चाहता था कि यदि शिल्पकारों के बच्चे योग्य हों तो उन्हें अधिक से अधिक ऊपर पहुँचने का अधिकार होना चाहिये, और इसी प्रकार यदि संरक्षकों के बच्चे शासन-कार्य के योग्य न निकलें तो उन्हें निम्नतम वर्गों में भेज दिया जाय।

सरल होगा। यह अन्तिम विचार प्लेटो को बहुत पसन्द था। उसका विश्वास था कि उचित अभिजनन से संरक्षकों के वर्ग में, जो पहले से ही चुना हुआ है, एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जायगा और ऐसे लोग उत्पन्न होंगे जो बुद्धि तथा पौरुष में बहुत ही श्रेष्ठ सिद्ध होंगे।

प्लेटो केवल विवाह की प्रथा के ही विरुद्ध नहीं था। उसने निजी सम्पत्ति की प्रथा का भी विरोध किया। उसका कहना था कि आखिरकार विवाह और परिवार भी निजी सम्पत्ति के ही रूप हैं और सम्पत्ति की भाँति उनसे भी लालच और ईर्ष्या को प्रोत्साहन मिलता है। संरक्षकों के जीवन का एक ही उद्देश्य है—अर्थात् राज्य के कल्याण का संवर्धन करना। यदि निजी सम्पत्ति से इस उद्देश्य की पूर्ति में बाधा पड़े तो उसका भी उन्मूलन कर देना चाहिये। अतः प्लेटो का प्रस्ताव था कि संरक्षकों को किसी भी प्रकार से सम्पत्ति रखने का अधिकार न दिया जाय। उन्हें बैरकों में रहना और साथ-साथ भोजन करना चाहिये। उन्हें जिन चीजों की आवश्यकता होगी उनकी पूर्ति शिल्पकार करेंगे। असभ्य तथा अकृतिम जीवन की प्रशंसा करने में प्लेटो रूसो का पूर्वगामी था।[२६]

सरकार के रूप

प्लेटो ही पहला व्यक्ति था जिसने कल्पना की कि जब सरकारों का पतन होने लगता है तो वे विकृति की अनेक अवस्थाओं में हो कर गुज़रती और अन्त में अपने सर्वोत्तम रूप को त्याग कर निकृष्टतम रूप धारण कर लेती हैं। उसने विकृति की अवस्थाओं का चक्र भी प्रस्तुत किया। उसने शुद्ध अभिजाततंत्र को, जिसमें न्याय की भावना से अनुप्राणित विवेकसम्पन्न लोग शासन करते हैं, मूर्धन्य स्थान दिया। उससे नीचे उसने शूरतंत्र (टिमोक्रेसी) को रक्खा। इसमें शासकवर्ग न्याय के नहीं बल्कि यश और सम्मान की भावना के वशीभूत रहता है। इसके बाद तीसरा स्थान अल्पतंत्र को दिया। इस प्रणाली के अन्तर्गत निजी सम्पत्ति की प्रथा का उदय होता है और राजनीतिक शक्ति धनिक वर्ग के हाथों में आ जाती है। धीरे-धीरे जब जनता की शक्ति बढ़ने लगती है तो लोकतंत्र का उदय होता है। इसमें लोग स्वतंत्रता का दुरुपयोग करते हैं जिसके परिणामस्वरूप अराजकता फैल जाती है। अत्याचारी शासन पतन के चक्र की अन्तिम सीढ़ी है। यह व्यवस्था न्याय से सर्वाधिक दूर होती है। जनता के झगड़ों और गुटबन्दियों के कारण एक शक्तिशाली शासक की आवश्यकता पड़ती है, और यही इस प्रणाली के उदय का कारण होता है। सब यूनानियों की भाँति प्लेटो अत्याचारी शासन को सरकार का निकृष्टतम रूप मानता था।

२६. **रिपब्लिक** के इस भाग से स्पष्ट है कि प्लेटो के चिन्तन पर स्पार्टा का प्रभाव था। सामूहिक भोजन की पद्धति, बैरकों का जीवन और आर्थिक समस्याओं से निवृत्ति—यह सब कुछ स्पार्टा की संस्थाओं के अनुकरण पर ही ढाला गया है।

स्टेट्समेन तथा लॉज

स्टेट्समेन में प्लेटो ने आदर्श राज्य के विषय में ही नहीं लिखा है बल्कि यह भी बतलाने की चेष्टा की है कि यथासम्भव सर्वोत्तम राज्य का रूप क्या हो सकता है। यहाँ पर वह एक ओर आदर्श शासक तथा राज्य सम्बन्धी निरपेक्ष विज्ञान को लेता है और दूसरी ओर राजनीतिज्ञ को और व्यावहारिक प्रशासन की पद्धतियों को, और इन दोनोंके भेद को स्पष्ट करता है। वह **रिपब्लिक** में प्रतिपादित इस विचार को कि आदर्श शासन सर्व-विवेकसम्पन्न दार्शनिक ही हो सकता है और राजनीति का उद्देश्य सद्गुण और न्याय की शिक्षा देना है, अधिक निश्चित और तर्कसंगत ढँग से विकसित करता है। यदि एक आदर्श शासक उपलब्ध हो सके तो फिर कानूनों की कोई आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि ऐसा व्यक्ति तभी सफल हो सकता है जबकि उस पर किसी प्रकार का कोई अंकुश न हो। किन्तु सर्वज्ञानसम्पन्न व्यक्तियों का मिलना कठिन है इसलिये लिखित कानूनों और रूढ़ियों का महत्व है। कानून और रूढ़ियाँ समाज के व्यावहारिक विवेक और अनुभव की अभिव्यक्ति करती हैं, अतः अपूर्ण शासन-प्रणालियों में जो सर्वत्र देखने को मिलती हैं, कानूनों का परिपालन करना अत्यन्त आवश्यक है।

इन अवधारणाओं के आधार पर प्लेटो ने सरकारों का एक नया वर्गीकरण प्रस्तुत किया जिसका आधार है सत्ता का प्रयोग करनेवाले व्यक्तियों की संख्या और उन पर कानूनी नियंत्रण की सीमा। यदि सरकार कानूनों के अधीन रह कर कार्य करे तो राजतंत्र सर्वोत्तम है, लोकतंत्र निकृष्टतम, और अभिजाततंत्र मध्यम श्रेणी का। यदि सरकार कानूनों के नियंत्रण से मुक्त हो तो ऐसी अवस्था में लोकतंत्र सबसे अच्छा है, अत्याचारी शासन सबसे बुरा और अल्पतंत्र मध्यम श्रेणी का। इस प्रकार एक व्यक्ति का शासन सर्वश्रेष्ठ भी हो सकता है और निकृष्टतम भी। भलाई अथवा बुराई की सम्भावनाओं की दृष्टि के अभिजाततंत्र और अल्पतंत्र का स्थान बीच में हैं। कानून के अधीन लोकतंत्र सबसे बुरी प्रणाली है, किन्तु उसकी स्वाभाविक दुर्बलता और अयोग्यता के कारण कानूनी नियंत्रण के अभाव में उसके अन्तर्गत उत्पीड़न की सबसे कम सम्भावना रहती है।

लॉज की रचना करते समय प्लेटो व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में और भी आगे बढ़ जाता है। चूँकि मानव-चरित्र की अपूर्णता के कारण आदर्श राज्य सम्भव नहीं है और चूँकि ऐसी स्थिति में कानूनों के बिना काम नहीं चल सकता, इसलिये प्लेटो ऐसी कानूनी व्यवस्था का सुझाव देता है जिससे विद्यमान परिस्थितियों में अधिक लाभ हो सके। वह अपने पुराने सिद्धान्तों में थोड़ा सा संशोधन कर देता है और निजी सम्पत्ति तथा पारिवारिक जीवन की अनुमति दे देता है, यद्यपि इन चीजों पर कठोर सरकारी नियंत्रण को वह अब भी आवश्यक समझता है। शिक्षा को वह अब भी प्राथमिक महत्व देता है, यद्यपि उस पर दंडाधीशों के उतने कठोर नियंत्रण के पक्ष में नहीं है, और

नागरिकों के मानसिक और कलात्मक जीवन को जटिल बन्धनों में रखने की सलाह देता है। शासन-सत्ता को वह केवल विवेकसम्पन्न लोगों के हाथों में नहीं सौंपना चाहता। बल्कि वह समाज को भौमिक सम्पत्ति के आधार पर चार वर्गों में विभक्त करता है और निर्देश देता है कि राज्य प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति की सीमा निश्चित करे। प्लेटो का प्रस्ताव है कि शासन-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये जो अति राजतंत्र और अति लोकतंत्र दोनों के ही दोषों से मुक्त हो। अत्याचारी शासक की शक्ति पर नियंत्रण होना चाहिये और साथ ही साथ इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि लोकतंत्र की स्वतंत्रता अराजकता का रूप न धारण करले। प्रत्येक नागरिक को शासन के काम में कुछ न कुछ भाग दिया जाय, किन्तु उसके दायित्व का अनुपात उसकी योग्यता के आधार पर निश्चित किया जाय। अन्त में **लॉज** में प्लेटो ने प्रशासन-व्यवस्था के ब्यौरे का सविस्तार वर्णन किया है जिसमें लोकतंत्रीय और अभिजाततंत्रीय तत्वों का समन्वय, और नियंत्रण तथा सन्तुलन की विशद व्यवस्था है। आगे चलकर प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने सन्तुलित और सुव्यवस्थित शासन-व्यवस्था के इस सिद्धान्त को ही अपने ग्रन्थ **पोलिटिक्स** की आधार शिला बनाया। अगले अध्याय में हम उसी की समीक्षा करेंगे।

पठनीय ग्रन्थ

Barker Ernest, *Greek Political Theory: Plato and his Predecessors*, 3rd. ed. (London, Methuen, 1947)
The Political Thought of Plato and Aristotle (New York, Putnam, 1906)

Bluck, R. S., *Plato's Life and Thought* (London, Routledge 1949),

Cornford, F. M., *Before and after Socrates* (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1932)

Crossman, R. H. S., *Plato Today* (New York, Oxford, 1939)

Grube, G. M. A., *Plato's Thought* (London, Methuen, 1935)

McIlwain, C. H., *The Growth of Political Thought in the West* (New York, Macmillan, 1932), Chap. 2.

Nettleship, R. L., *Lectures on the Republic of Plato* (London, Macmillan, 1937)

Pater, Walter, *Plato and Platonism* (London, Macmillan, 1910)

Popper K. R., *The Open Society and its Enemies*, rev. ed. (Princeton, Princeton Univ. Press, 1950)

Robin, Leon, *Greek Thought* (New York, Knopf, 1928)

Sabine, G. H., *A History of Political Theory*, rev. ed. (New York, Holt, 1950) Chaps. 3—4.

Taylor, A. E., *Plato : The Man and His Works*, 5th ed. (New York, Dial Press, 1948)

अध्याय ५

अरस्तू एवं यूनान का पराभव

महानतम दार्शनिक

राजनीतिदर्शन के इतिहास में अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०)[1] का मूर्धन्य स्थान है। मध्ययुग में उसका **महानतम दार्शनिक** के नाम से उल्लेख किया जाता था। उसकी तर्क-शक्ति की इतनी धाक थी कि लोग उसको **बाइबिल** के समान प्रमाण मानते थे। तेरहवीं शताब्दी में उसके ग्रन्थों के पुनः प्रकाश में आने से सभ्यता के इतिहास में एक नये युग का आरम्भ हुआ।[2] सन्त टौमस एक्विनास ने अरस्तू के बहुत से विचारों को अपने ग्रन्थ **सुम्मा थियोलोजिका** में समाविष्ट कर के अपने समकालीन लोगों के सामने प्रस्तुत किया जिसके परिणामस्वरूप मध्ययुगीन चिंतन की संकीर्णता दूर हुई और उसमें एक नये उद्देश्य का समावेश हुआ।[3] आधुनिक ज्ञान को जिन आधारभूत प्रवर्गों में विभक्त किया जाता है[4] उनका श्रेय भी अरस्तू को ही है। इसी प्रकार आजकल के अनेक सर्वसाधारण में प्रचलित पद और परिभाषाएँ उसी की देन हैं।

१. अरस्तू के राजनीतिक विचार मुख्यतया उसके ग्रन्थ **पोलिटिक्स** में मिलते हैं। **निकोमाकीअन एथिक्स** (Nicomachean Ethics) नाम की पुस्तक में भी कुछ ऐसा विवेचन है जिसका अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक प्रश्नों से सम्बन्ध है। प्राचीन साहित्य में **दी कोंस्टीटयूशनस** नाम के एक अन्य ग्रन्थ का उल्लेख आता है जिसमें अरस्तू ने डेढ़ सौ से भी अधिक संविधानों का विश्लेषण किया था। इस ग्रन्थ के केवल कुछ अंश उपलब्ध है जिनमें सबसे महत्वपूर्ण **कोंस्टीस्टशन आव अथेंस** (अथेंस का संविधान) है। **पोलिटिक्स** को अरस्तू अधूरा ही छोड़ गया था, इसलिये उसमें असंगतियाँ बहुत है, अनेक चीजें बार बार दुहराई गई हैं और बहुत सी चीजें छूट गई हैं। पिछली अनेक शताब्दियों में पुस्तक कितने ही हाथों से गुजरी और कितने ही उसके संस्करण हुए, अतः पांडुलिपि में अनेक आकस्मिक भूलें आगई हैं जिनसे आधुनिक विद्यार्थी की कठिनाइयाँ और भी बढ़ जाती हैं।

२. अरस्तू की अधिकतर रचनाएँ अरबों के द्वारा पहले तेरहवीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में पहुँची, किन्तु **ओर्गानॉन** (Organon) नामक ग्रन्थ के कुछ अंशों का वहाँ बहुत पहले से अध्ययन-अध्यापन चला आया था।

३. देखिये A. G. and R. W. Carlyle, *A History of Medieval Political Thory in the West* (1921), Vol. V. pp. 10-14.

४. अरस्तू के प्रवर्गों में तर्क शास्त्र, तत्वदर्शन अथवा "आदि दर्शन", भौतिकविज्ञान, मनोविज्ञान, जीवशास्त्र, राजनीति, नीतिशास्त्र और साहित्य सम्मिलित थे।

अरस्तू का जन्म थ्रेस में स्थित स्टेगिरा में हुआ था। उसका पिता मैसीडन के फिलिप के पिता अमिन्तास द्वितीय का दरबारी चिकित्सक था। चूँकि चिकित्सक का पेशा अरस्तू के परिवार में अनेक पीढ़ियों से होता आया था, इसलिये यह कहना गलत न होगा कि अपने परवर्ती जीवन में उसने जीवविज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति में जो अभिरुचि दिखलाई उसके लिये वह अपने पारिवारिक वातावरण का ही ऋणी था। किंतु उसके यौवन के सम्बन्ध में निश्चित रूप से बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। ३६७ ई० पू० से पहले की उसकी गतिविधियों का कुछ पता नहीं है। उस वर्ष सत्रह साल की आयु में वह प्लेटो की अकादमी में अध्ययन के लिये अथेंस गया।

अगले बीस वर्षों में गुरु तथा शिष्य के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होगया। ३४७ ई० पू० गुरु का देहावसान हो गया। प्लेटो अरस्तू को अपने "पुत्रों" में सबसे अधिक प्रतिभावान समझता था। और अरस्तू ने प्लेटो के विषय में लिखा है कि "वह ऐसा व्यक्ति था कि बुरे लोगों को उसकी प्रशंसा तक करने का अधिकार नहीं है—वह एकमात्र अथवा पहला व्यक्ति था जिसने स्वयं अपने जीवन तथा अपने वार्तालाप की युक्तियों से स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दिया कि सुखी होने का अर्थ है अच्छा और भला होना"[५] अपने छात्र जीवन के बाद के वर्षों में अरस्तू ने प्लेटो के आदर्श को सामने रख कर अनेक सम्भाषण लिखे।[६] किन्तु दुर्भाग्य से वे सब लुप्त होगये हैं।

अरस्तू प्लेटो के उत्तराधिकारी के रूप में स्वयं अकादमी का अधिष्ठाता बनना चाहता था, किन्तु इस विषय में उसे निराश होना पड़ा। प्लेटो की मृत्यु के उपरान्त यह सम्मान उसके भतीजे स्पेउसिप्पुस को प्राप्त हुआ, अतः अरस्तू को अथेंस छोड़ना पड़ा। अगले वर्षों में ३४७ से ३३५ ई० पू० तक, अरस्तू अपनी रुचि के अनेक विषयों में संलग्न रहा। पहले वह अतार्निउस के अत्याचारी शासक हर्मिआस के आश्रय में रहा और उसकी भतीजी से विवाह कर लिया, और फिर मैसीडन के फिलिप के दरबार में चला गया, और वहाँ कुछ समय तक सिकन्दर के अध्यापक के रूप में कार्य किया।

इतिहास के उन दो अत्यधिक विख्यात नायकों (अरस्तू और सिकन्दर) का यह सम्बन्ध छः वर्ष तक रहा, किन्तु उनका एक दूसरे पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। कारण यह था कि अरस्तू अपने चिन्तन में नगर-राज्य की सीमाओं को लाँघने में असमर्थ था अथवा ऐसा करना नहीं चाहता था। इसके विपरीत सिकन्दर को एक साम्राज्य बनाने की धुन थी इसलिये अपने गुरु की सलाह पर उसने कभी ध्यान नहीं दिया।[७]

5. Ernest Barker, *The Politics of Aristotle* (1946), p. XIV.
६. एक सम्भाषण का नाम था **ऑन जस्टिस** (On justice) ; उसका **प्लेटो की रिपब्लिक** के साथ तुलनात्मक अध्ययन करना बहुत ही मनोरंजक होता।
7. Barker, op. cit., pp. XXII, note..

अरस्तू के जीवन का अन्तिम काल ३३५ ई० पू० से आरम्भ हुआ। उस वर्ष वह लौट कर अथेंस गया और **लिकीउम** नामक अपने विद्यापीठ की स्थापना की। वहाँ उसने बीस वर्ष तक व्याख्यान देने और लिखने का कार्य किया। इस काल में **लिकीयम** की खूब प्रगति हुई। अरस्तू के व्याख्यानों को बड़ी सफलता मिली, और उसके विद्यापीठ का अनुसन्धान कार्य जितना आगे बढ़ा उतना पहले कभी सम्भव नहीं हो सका था। पूर्वी देशों के विजय-अभियान में सिकन्दर के साथ जो अनेक वैज्ञानिक और दार्शनिक गये उनके द्वारा लिकीउम को अनेक विषयों पर ऐसी जानकारी उपलब्ध हुई जिसका पहले नितान्त अभाव था।

किन्तु अरस्तू की सफलता क्षणिक सिद्ध हुई। ३२३ ई० पू० सिकन्दर की मृत्यु का समाचार अथेंस पहुँचा जिसके फलस्वरूप मैसीडन के प्रभुत्व के विरुद्ध युद्ध की ज्वाला फूट पड़ी। और चूँकि अरस्तू को सिकन्दर का मित्र समझा जाता था, इसलिये उसे नगर छोड़कर भागना पड़ा। एक वर्ष उपरान्त यूबोइया के द्वीप में स्थिति चालक्सि में उसका देहान्त होगया।

उसकी रचनाओं की विशेषताएँ और पद्धति

यद्यपि हमारी दिलचस्पी का विषय मुख्यतया अरस्तू की **पालिटिक्स** ही है, किंतु यह उसकी उन रचनाओं में से केवल एक है जिनके कारण उसे इतनी ख्याति मिली है। अरस्तू का तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, तत्वज्ञान और प्राकृतिक विज्ञानों से भी उतना ही अच्छा परिचय था जितना कि राजनीतिशास्त्र से। उसके ज्ञान के विस्तार को देखकर ऐसा लगता है कि उसके मस्तिष्क की विशालता का मुकाबिला शायद कभी कोई नहीं कर पाया है। अपने अध्ययन में उसने उद्गमन[८] पद्धति का प्रयोग किया है। आप चाहें तो उसे "वैज्ञानिक" पद्धति कह सकते हैं। आजकल इस पद्धति के पाँच सोपान माने जाते हैं। सर्वप्रथम, किसी विद्यमान स्थिति के सम्भावित कारणों के विषय में एक उपकल्पना प्रस्तुत की जाती है। दूसरे, उसके सम्बन्ध में विस्तारपूर्ण खोज करके जानकारी एकत्र की जाती है। तीसरे, उस जानकारी का वर्गीकरण किया जाता है, अथवा यों कहिये कि प्रत्यक्ष कार्य-कारण सम्बन्ध के आधार पर उसको संगठित कर लिया जाता है। चौथे, इन कार्य-कारण संबंधों की बुनियाद पर

किंतु यह सत्य है कि अरस्तू इस धारणा से पूर्ण मुक्ति कभी न पा सका कि निरपेक्ष विज्ञान के रूप में राजनीति का उद्देश्य मनुष्य का परम मंगल है। **पॉलिटिक्स** के अध्याय २, ३, ७ और ८ से इस मत की पुष्टि होती है। किंतु जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती गई और प्लेटो के विचारों से दूर होता गया वैसे-वैसे वह इस प्रकार के अध्ययन को छोड़कर वास्तविक राज्यों के कार्यों तथा उनको अनुप्राणित करनेवाली शक्तियों के विश्लेषण में अधिक दिलचस्पी लेने लगा। इसी में उसकी प्रतिभा का असली रूप प्रकट हुआ।

सामान्य नियम निरूपति कर लिये जाते हैं। और अंत में ये नियम कैसे कार्य करते हैं इस संबंध में पूर्व सूचना देने का प्रयत्न किया जाता है। इस पद्धति का अनुगमन करके अरस्तू ने दिखा दिया कि उसमें तथा प्लेटो में गहरा मतभेद था। प्लेटो ने पूर्ण अथवा निरपेक्ष सत्य के सम्बन्ध में पहले से एक अभिधारणा कायम करली थी और उसी को हर चीज का मापदंड मानता था। जो भी तथ्य उसके सामने आते उनको वह उसी कसौटी पर कसता और तदनुसार ही उनके विषय में अपना निर्णय देता। इसके विपरीत अरस्तू अपनी उपकल्पनाओं अथवा पूर्वावधारणाओं का विद्यमान परि-स्थितियों अथवा पूर्वानुभव से मुकाबिला करता और तब उनके सम्बन्ध में निर्णय देता था।

इस प्रकार अरस्तू ने वास्तविक शासन-प्रणालियों का तुलनात्मक और वैज्ञानिक अध्ययन करके अपनी विवेचना में उद्‌गमन पद्धति का अनुकरण किया। इतिहास तथा निरीक्षण पर आधारित होने के कारण उसके विवेचन स्पष्ट और निश्चित हैं, और काव्यात्मक सजावट से अपेक्षाकृत मुक्त हैं। उसने राजनीति अभिधारणाओं को नैतिक अभिधारणाओं से पृथक किया और एक स्ततंत्र राजनीति विज्ञान के विकास की सम्भा-वना उत्पन्न की। उसने समझ लिया कि शासन का ऐसा कोई रूप नहीं हो सकता जो सब परिस्थितियों में श्रेष्ठतम सिद्ध हो सके, बल्कि संविधानों को हर जाति के लोगों की आवश्यकताओं के अनुकूल ढालना चाहिए।

परम्पराओं के प्रति आदरभाव

बार्कर ने लिखा है कि चूँकि अरस्तू को "उद्‌गमन पद्धति से सोचने की आदत थी अतः उसके लिये चीजों को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखना भी स्वाभाविक हो गया था, फलस्वरूप वह परम्पराओं का आदर करता और सामान्य लोगों के निर्णय को स्वीकार करने के लिये तैयार रहता था।"[९]

प्लेटो की न परम्पराओं में आस्था थी और सामान्य लोगों की राय में। उसे विश्वास था आविष्कार में और सर्वज्ञान-सम्पन्न संरक्षकों में। किंतु इस विषय में अरस्तू का अपने गुरु से आधारभूत मतभेद है। वह प्लेटो के विचारों में जो अधिक नये हैं उनकी इसलिये आलोचना करता है कि उसकी राय में उनमें मानव जाति की संचित सूझ बूझ का अभाव है। वह लिखता है: "हमें याद रखना चाहिये कि युग-युग के अनुभव की अपेक्षा करना हमारे लिये हितकर नहीं हो सकता; यदि ये चीजें (प्लेटो के नये विचार) अच्छी होतीं तो पिछली अगणित शताब्दियों में वे अज्ञात न रहीं होतीं[१०] उसे संरक्षक वर्ग पर अथवा बुद्धिसम्पन्न अभिजात वर्ग पर भी प्लेटो की अपेक्षा कम भरोसा है, क्योंकि यदि बुद्धि मानव जाति की रूढ़ियों, अनुभवों और कानूनों में

9. Barker, op. cit., p. XXVIII.
10. *Politics*, 1264a

संचित हो सकती है तो फिर उसके लिये इन चीजों को छोड़कर अन्यत्र खोज करने की आवश्यकता नहीं है ।[11]

इसके अतिरिक्त अरस्तू की राय में यह असम्भव है कि सर्वाधिक बुद्धिमान शासक का ज्ञान इन रूढ़िगत कानूनों से अच्छा हो सके ।[12] जबकि प्लेटो को **मनुष्यों के शासन पर भरोसा था अरस्तू कानून के शासन पर** अथवा जिसे आजकल सांविधानिक शासन कहते हैं, भरोसा करता था । इस बात को वह मानने के लिये तैयार था कि कानूनों से भी पूर्ण न्याय की स्थापना करना कदाचित सम्भव न हो सके क्योंकि उनका सम्बन्ध सामान्य से होता है । किन्तु उनकी यह सामान्यता भी एक ऐसा गुण है जिससे निजी महत्वाकांक्षाओं और इच्छाओं से प्रभावित हुए बिना सबके साथ निष्पक्ष व्यवहार किया जा सकता है और यही वास्तव में अच्छे शासन का सार है ।[13]

कानून की सर्वोच्चता और सांविधानिक शासन की वांछनीयता में यह विश्वास अरस्तू की उन अभिधारणाओं में से एक है जिसके लिये उसे सबसे अधिक याद किया जाता है और जिनके लिये बाद की पीढ़ियाँ उसकी सबसे अधिक ऋणी हैं । शताब्दियों से हम इस बात पर गर्व करते आते हैं कि हमारी "सरकार कानूनों पर आधारित है, शासकों की इच्छाओं पर नहीं" और अपने इस युग में राजाओं और अधिनायकों की आज्ञाओं और आदेशों पर चलने वाली सरकारों के परिणामों को देखकर हम सांविधानिक शासन महत्व को समझते जा रहे हैं ।

राज्य का स्वभाव और उत्पत्ति

अपने पूर्वगामी विचारकों की भाँति अरस्तू भी इस बात में विश्वास करता था कि मनुष्य राज्य में कह कर ही अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है । उसका तर्क था कि अपने अन्तर्भूत स्वभाव से ही मनुष्य राजनीतिक जीवन बिताने के लिये उत्पन्न हुआ है । अतः यह कहना सर्वथा उचित है कि राज्य मनुष्यों को प्राकृतिक शक्तियों के विकास और स्वाभाविक आवश्यकताओं, और इच्छाओं की पूर्ति के लिये एक प्राकृतिक और आवश्यक संस्था है । और सर्वोत्तम राज्य उसे कहा जायगा जिसमें सभी नागरिकों के लिये यथासम्भव पूर्ण राजनीतिक जीवन बिताना सम्भव हो सके ।

11. G. H. Sabine, *A Histry of Political Theory*, rev. ed. (1950) pp. 95—96.
12. Ibid.
१३. एक स्थल पर अरस्तू ने लिखा है कि "यदि कोई आदमी विधि का शासन चाहता है तो समझिये कि वह बुद्धि और विवेक का शासन पसन्द करता है, किन्तु जो मनुष्य का शासन चाहता है वह शासन में पशुत्व के तत्व को समाविष्ट कर देता है; क्योंकि इच्छा जंगली पशु के सदृश है, वासनाओं से शासकों का मस्तिष्क विकृत हो जाता है, चाहे वे श्रेष्ठ से श्रेष्ठ व्यक्ति ही क्यों न हों ।" *Politics*, 1287a 28-32.

अरस्तू के अनुसार मनुष्य अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति के लिये जो उपाय करते हैं उन्हीं से राज्य भी उत्पत्ति हुई है। मानव जाति को कायम रखने के के लिये स्त्री और पुरुष का, और जीवन निर्वाह की सामग्री के उत्पादन के लिये स्वामी और दास का जो संयोग हुआ उसी ने परिवार को जन्म दिया। जब तक लोग जीवित रहने मात्र से और अपनी अत्यन्त प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सन्तुष्ट रहे तब तक परिवार से काम चलता रहा। जब उनमें पहले से पूर्ण और समृद्ध जीवन बिताने की इच्छा उत्पन्न हुई, तो परिवारों को मिलाकर ऐसे आकार-प्रकार के नगरों अथवा राज्यों का निर्माण कर लिया गया जो हर दृष्टि से स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर हो सकते थे। यह राज्य ही मानव सम्बन्धों का पूर्णतम विकसित रूप है; और मनुष्य, जो कि स्वभाव से राजनीतिक सामाजिक प्राणी है, राज्य में रह कर ही अपने जीवन के परमोद्देश्य को प्राप्त कर सकता है। बिना सामाजिक जीवन के मनुष्य जंगली पशु के समान होगा। इसी अर्थ में अर्थात् एक विचार के रूप में राज्य मनुष्य से पहले का है। जिस चीज ने मनुष्य को बौद्धिक प्राणी बनने में और निम्नकोटि के प्राणियों से भिन्न होने में सहायता दी वह वाक्शक्ति तथा अपने साथियों के साथ सुव्यवस्थित सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता थी। इस प्रकार राज्य का व्यक्ति से पहले प्रादुर्भाव हुआ है, क्योंकि राज्य का सदस्य होकर ही मनुष्य पशु से ऊपर उठ सकता और सही अर्थ में मनुष्य बन सकता है।

इसलिये राज्य का उद्देश्य मनुष्य की उच्चतर नैतिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है; और राज्य के अन्तर्गत परिवार शारीरिक जरूरतों को पूरा करने के लिये बना है। इस प्रकार उपयोगिता के आधार पर ही अरस्तू ने दासता को उचित और प्राकृतिक ठहराया। चूँकि मनुष्य शारीरिक और मानसिक दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं इसलिये प्रकृति ने कुछ को स्वामी और कुछ को दास होने के लिये बनाया है। जिन व्यक्तियों में उच्चकोटि की मानसिक प्रतिभा है वे शासन के लिये बनाये गये हैं; और जिनमें बुद्धि की मात्रा कम किन्तु शारीरिक बल अधिक है वे दूसरों के आदेशों का पालन करने के लिये हैं। ऐसी स्थिति में यदि स्वामी अपनी सत्ता का दुरुपयोग न करें तो दासता दोनों के लिये ही लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। युद्ध-बन्दियों का दास बनाया जाना तभी उचित ठहराया जा सकता है जबकि विजय से विजेताओं की बौद्धिक श्रेष्ठता का प्रमाण मिलता हो, किन्तु यदि योग्य मनुष्य केवल भाग्य के परिणामस्वरूप युद्ध में हार जायँ तो उन्हें दास बनाना अनुचित होगा। उस समय के सभी यूनानी बौद्धिक दृष्टि अपने को अपने पड़ोसियों के मुकाबिले में श्रेष्ठ समझते थे। अरस्तू उनसे इस बात में सहमत था। अतः उसने कहा कि यूनानियों को दास बनाना कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता।

अन्य यूनानियों की भाँति अरस्तू भी धनोपार्जन से सम्बन्धित उद्यमों और पेशों

को निम्नकोटि का मानता था। उसका कहना था कि उत्पादन परिवार के जीवन का एक आवश्यक अंग है। किन्तु सबसे नीची कोटि का काम है और केवल दासों और विदेशियों के अनुरूप है। नागरिकों को, जिनका मुख्य काम सार्वजनिक जीवन में संलग्न रहना है, आर्थिक मामलों की चिन्ताओं और पतनकारी प्रभावों से मुक्त रहना चाहिये। उसने कृषि, पशुपालन, शिकार और मछली मारने को प्राकृतिक उद्यम बतलाया और उनको व्यापार तथा वाणिज्य के मुकाबिले में श्रेष्ठ ठहराया; ब्याज पर धन उधार देना उसकी निगाह में सर्वथा अनुचित था। अरस्तू पहला व्यक्ति था जिसने राजनीतिक संस्थाओं के आर्थिक आधार की ओर भी ध्यान दिया, और यद्यपि उसके विचारों में कुछ संभ्रम था फिर भी वह इस आधारभूत सिद्धान्त पर पहुँच गया कि किसी समाज में धन की जो विशेषताएँ और उसके वितरण की जो प्रणाली होती है उससे उसकी शासन प्रणाली का रूप बहुत कुछ निर्धारित होता है, और किसी जाति के उद्योग-धंधों का उसकी राजनीतिक प्रवृत्तियों और योग्यता पर प्रभाव पड़ता है, और क्रान्तियों का अर्थ होता है अति धनिकों तथा सम्पत्ति विहीन लोगों के बीच संघर्ष।

अरस्तू ने प्लेटो के कुछ विचारों की आलोचना भी की, विशेषकर उसके राज्य की अतिशय एकता के सिद्धान्त और उसको प्राप्त करने के लिये प्रतिपादित साम्यवादी योजनाओं की। अरस्तू का मत था कि राज्य के भीतर वांछनीय एकता स्थापित करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्तियों की चारित्रिक भिन्नताओं को कठोर अनुशासन द्वारा कुचल दिया जाय, यह उद्देश्य तो विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के समुचित संगठन द्वारा भी पूरा किया जा सकता है। अतः वह अनिवार्य राजकीय प्रशिक्षण और शिक्षा के पक्ष में तो था किन्तु साथ ही साथ उसका विश्वास था कि पारिवारिक सम्बन्धों और निजी सम्पत्ति के उन्मूलन से—जिसका प्लेटो ने समर्थन किया था—लोगों के जीवन में संकीर्णता आ जायगी और बहुमूल्य सामाजिक बन्धनों की स्थापना में बाधा पड़ेगी।

अरस्तू ने राज्य के कामों पर जिन प्रतिबन्धों का समर्थन किया उनके पीछे यह धारणा नहीं थी कि व्यक्ति के कुछ अन्तर्भूत अधिकार हैं जिनका राज्य को उल्लंघन नहीं करना चाहिये। फिर भी उसे नागरिकों के व्यक्तिगत कल्याण की चिन्ता थी; सामाजिक समग्र के कल्याण के आदर्श के पीछे वह नहीं पड़ा। वह राज्य को नागरिकों के समूह के कल्याण का साधन मानता था और विश्वास करता था कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये काफी मात्रा में वैयक्तिक स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिये। चूँकि मनुष्यों की योग्यताएँ और आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं इसलिये उनकी शक्तियों का अधिकतम विकास उसी व्यवस्था के अन्तर्गत सम्भव हो सकता है जिसमें उन्हें अपने जीवन-संचालन की कुछ स्वतंत्रता हो।

अरस्तू की परिभाषा के अनुसार नागरिकों के सामूहिक निकाय का नाम राज्य है, और नागरिक वह व्यक्ति है जो सरकार के कामकाज में भाग लेता है। चूँकि अरस्तू

के विचार यूनानी जीवन के वास्तविक तथ्यों पर आधारित थे इसलिये उसका विश्वास था कि नागरिकता का अर्थ सभाओं तथा जूरियों के काम में भाग लेना अथवा राजनीतिक अधिकारों का सक्रिय प्रयोग करना है। वह उसी व्यक्ति को नागरिकता का अधिकारी मानता था जिसमें शासन करने और शासित होने की योग्यता विद्यमान हो। इसलिये उसका कहना था श्रमिक वर्ग को नागरिकता के अधिकार नहीं दिये जाने चाहिये क्योंकि उसको दूसरों के आदेशों पर इतना अधिक निर्भर रहना पड़ता है कि उसमें शासन करने की योग्यता का विकास ही नहीं हो पाता।

अरस्तू के चिंतन में हमें राज्य तथा सरकार के बीच स्पष्ट भेद देखने को मिलता है। उसके अनुसार राज्य समस्त नागरिकों के समूह का नाम है, और सरकार में केवल वे लोग आते हैं जो राज्य की व्यवस्था तथा नियमन करते, पदों को धारण करते और उच्चतम शक्ति का प्रयोग करते हैं। इसीलिये **सरकार** के सर्वोत्तम रूप का विवेचन करते समय उसने राज्य के विभिन्न प्रशासकीय अंगों के बीच राजनीतिक शक्ति के उचित वितरण को ही महत्व दिया और जब उसने **राज्य** के सर्वोत्तम रूप की विवेचना की तो भौगोलिक स्थिति, जलवायु, साधनों और नागरिकों की संख्या तथा चरित्र पर विचार किया। शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को भी उसने स्पष्ट रूप से व्यक्त किया और सरकार के व्यवस्थापक, कार्यपालक और न्यायिक अंगों के संगठन तथा कर्तव्यों की उचित कमी आदि।

सरकारों का वर्गीकरण

अरस्तू से पहले अनेक लोग सरकारों के वर्गीकरण का प्रयत्न कर चुके थे। एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों तथा अनेक व्यक्तियों के शासन में जो अन्तर होता है उसको पिंडार, हिरोडोटस, थ्यूसीडाइड्स और प्लेटो ने भली-भाँति समझ लिया था। अरस्तू का वर्गीकरण उसके इन पूर्वगामियों के विचारों पर ही आधारित था, किंतु वह अधिक सही और स्पष्ट है और इसीलिये बिना किसी तात्विक परिवर्तन के आज तक चला आ रहा है। उसने दो आधारों को लेकर सरकारों का विश्लेषण किया है। पहला आधार उन व्यक्तियों की संख्या है जिनमें कि राज्य की प्रभुत्व-शक्ति निहित होती है, और दूसरे का सम्बन्ध उन उद्देश्यों से है जिनकी प्राप्ति के लिये सरकारों का संचालन किया जाता है। दूसरे आधार को लेकर उसने शुद्ध तथा भ्रष्ट सरकारों के अन्तर को स्पष्ट किया। यदि शासक वर्ग समस्त नागरिकों के कल्याण को में ध्यान रख कर कार्य करता है, तो उसकी सरकार को शुद्ध अथवा निर्दोष कहा जायगा और यदि वे निजी स्वार्थों के लिये राजकीय शक्ति और साधनों का उपयोग करते हैं तो उनकी सर-कार भ्रष्ट मानी जायगी।

उसका वर्गीकरण इस प्रकार है : वह राज्य जिससे एक व्यक्ति सबके हित के लिये शासन करता है राजतंत्र है। यदि राजा मनमाने ढंग से अपने न्याय के लिये

शासन चलाता है तो यह प्रणाली अत्याचारी शासन में परिणत हो जाती है। जिस राज्य में थोड़े से व्यक्ति सामूहिक कल्याण के लिये शासन करते हैं वह अभिजाततंत्र है। यदि ये थोड़े से व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिये शक्ति का प्रयोग करते अथवा बुद्धि तथा देश-भक्ति के मुकाबिले में धन को प्रधानता देते हैं तो वह राज्य अल्पतंत्र का रूप ले लेता है। जिस राज्य में शासन-शक्ति सम्पूर्ण जनता के हाथों में है और वह उसका प्रयोग सार्वजनिक कल्याण के लिये करती है तो उसे पॉलिटी कहेंगे। किन्तु यदि बहुसंख्यक लोग अपने को दूसरों से भिन्न समझकर केवल गरीबों के हितों को सामने रख कर शासन चलाते हैं तो पॉलिटी का पतन हो जाता है और लोकतंत्र का रूप धारण कर लेती है। शुद्ध रूप आदर्श हैं और यदि परिपूर्ण मनुष्य उपलब्ध हो सकें तो वे ही वांछनीय हैं, किन्तु राजतंत्र और अभिजाततंत्र में शुद्ध रूपों का मिलना व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव है। व्यावहारिक जीवन में भ्रष्ट रूप ही देखने को मिलते हैं। इनमें अत्याचारी शासन तथा अतिलोकतंत्र सबसे बुरे हैं। केवल पॉलिटी ही ऐसी प्रणाली है जिसमें आदर्श तथा व्यवहार का समन्वय सम्भव हो सकता है।

सरकार का सर्वोत्तम रूप कौनसा हो सकता है इस बात का निर्णय करते समय अरस्तू ने इस बात पर बल दिया कि राजनीतिक संस्थाएँ सम्बन्धित जनता के चरित्र तथा आवश्यकताओं के अनुरूप होनी चाहिए। अतः आदर्श राज्य आदर्श परिस्थितियों में ही सम्भव हो सकता है। अरस्तू का विश्वास था कि यदि श्रेष्ठ गुणोंवाले व्यक्ति उपलब्ध हो सकें तो राजतंत्र और अभिजाततंत्र सरकार के सर्वोत्तम रूप हैं। किन्तु मनुष्य का जैसा स्वभाव है उसको देखते हुए वह मध्यम प्रकार के लोकतंत्र को अच्छा समझता था।

सत्ता का आधार

यूनानी जगत में दो राजनीतिक सम्प्रदायों के बीच तीव्र विवाद चला करता था। एक सम्प्रदाय के लोग धनी अथवा बुद्धिमान व्यक्तियों के हाथों में राज-सत्ता सौंपने के पक्ष में थे, और दूसरे संख्या को प्रभुत्व का आधार बनाना चाहते थे। अरस्तू का कहना था कि चूँकि राज्य का उद्देश्य अच्छे जीवन का संवर्धन करना है इसलिये राजनीतिक शक्ति उन लोगों के हाथों में होनी चाहिए जो राज्य के कल्याण में सबसे अधिक योग देते हों। सम्पूर्ण जनता का सद्गुण और योग्यता समाज के किसी अंग अथवा गुट की योग्यता और सद्गुण से अधिक होती है इसलिये अन्तिम सत्ता बहुसंख्यक नागरिकों के ही हाथों में होनी चाहिए। अपनी सभाओं द्वारा वे आधारभूत प्रश्नों का निर्णय करें, दण्डाधीशों को चुनें और उनके सरकारी कामों के लिये उनसे जवाब तलब करें। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि धन के महत्व को ध्यान में न रक्खा जाय। सम्पत्ति के स्वामियों को भी शासन में भाग लेने का समुचित अवसर दिया जाना चाहिए क्योंकि

गुण और योग्यता का सम्पत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। एडमंड बर्क की भाँति अरस्तू का भी विश्वास था कि जो लोग सर्वाधिक योग्य होते हैं वे सबसे अधिक धनी भी हो जाते हैं।[१४]

अरस्तू ने ज़ोर देकर कहा कि राज्य के लिये स्थिरता तथा संयम का विशेष महत्व है। उस काल के लोकतन्त्र में अतिवादी प्रवृत्तियों का बड़ा ज़ोर था, इसको वह भली-भाँति समझता था; इसीलिये उसने यूनानी नगरों की गुटबन्दी तथा दलों के उग्र संघर्ष की बड़ी भर्त्सना की। उसका विश्वास था कि यूनानी लोगों के लिये नगर-राज्य ही सबसे अच्छा है। उसका क्षेत्रफल अपेक्षाकृत छोटा और जनसंख्या सीमित होती थी इसलिये लोग एक दूसरे से भली-भाँति परिचित होते थे और राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग ले सकते थे। अरस्तू का यह भी मत था कि नगर समुद्र के काफी निकट होना चाहिए जिससे आवश्यकता की वस्तुएँ बाहर से प्राप्त करने में कठिनाई न हो, किन्तु इतना निकट होना भी ठीक नहीं है कि व्यापार तथा सामुद्रिक हितों का आवश्यकता से अधिक विकास हो सके। अति धन और अति ग़रीबी दोनों ही अवांछनीय हैं क्योंकि इससे धनिकों में अहंकार और ग़रीबों में दास मनोवृत्ति की वृद्धि होने लगती है। एक शक्तिशाली मध्यवर्ग राज्य का सबसे अच्छा आधार सिद्ध होगा क्योंकि वह स्थिरता तथा व्यवस्था का सबसे बड़ा समर्थक होता है। राज्य के पूर्णतया स्वावलम्बी होने के लिये जिन विभिन्न उद्यमों की आवश्यकता हो उनको भी प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए किंतु नागरिकों के वर्ग में केवल प्रशासक, योद्धा और पुरोहित ही सम्मिलित किये जायँ। वे भूमि के स्वामी हों जिससे कि उन्हें नागरिकता के कर्तव्यों के परिपालन के लिये पर्याप्त अवकाश मिल सके। राज्य में इतनी शक्ति होनी चाहिये कि वह अपना बचाव कर सके, किन्तु आक्रामक युद्ध अनुचित है। इसके अतिरिक्त अरस्तू ने नागरिकों की शारीरिक, मानसिक और नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में भी सविस्तार लिखा है।

यूनानी नगरों की सरकारों में आये दिन परिवर्तन होते रहते थे, इसलिये अरस्तू ने क्रान्ति के विषय पर भी पर्याप्त ध्यान दिया। परिवर्तन का सामान्य क्रम इस प्रकार था: पहले राजतंत्र, फिर अल्पतंत्र, उसके बाद अत्याचारी शासन और अन्त में लोकतंत्र। अरस्तू के अनुसार ये परिवर्तन सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों के कारण हुआ करते थे। उसने समकालीन राजनीतिक बुराइयों का बहुत ही विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण किया और

---

१४. अरस्तू का अन्तिम निष्कर्ष यह था कि प्रभुत्व बहुसंख्यक लोगों के हाथों में होना चाहिए क्योंकि सामूहिक रूप से वे ही बहुसंख्यक सम्पत्ति के स्वामी होते हैं। उसका अभिप्राय यह है कि कुल मिलाकर जिनकी सम्पत्ति सबसे अधिक हो उन्हीं का प्राधान्य होना चाहिये। स्पष्ट है कि इसका अर्थ केवल बड़ी सम्पत्ति के स्वामियों का शासन नहीं हो सकता। अरस्तू ग़रीब जनता की सम्पत्ति को भी सम्मिलित कर लेता है जिसका योग बहुत हो जाता है। देखिये *Politics*, VI, 3.

बतलाया कि गुटों के पारस्परिक संघर्षों का मुख्य कारण यह है कि नागरिकों के विभिन्न वर्गों की राजनीतिक योग्यता और उन्हें प्राप्त वास्तविक सत्ता के बीच भारी भेद पाया जाता है। उसने कहा कि सभी मनुष्य समता के इच्छुक होते हैं, और जब वे देखते हैं कि जो विशेषाधिकार दूसरों को मिले हुए हैं उनसे हम वंचित हैं, तो उनमें यह भावना पैदा होने लगती है कि हमारे साथ अन्याय हो रहा है। अतः राज्य की सुरक्षा के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि राजनीतिक शक्ति का वितरण उचित प्रकार से किया जाय। उसकी समझ में ऐसा मिश्रित शासन सबसे अधिक टिकाऊ होता है जिसमें लोकतंत्रीय तथा अल्प-तंत्रीय तत्वों का समावेश रहता है। उसने विभिन्न प्रकार की सरकारों को कायम रखने और क्रान्तियों को रोकने के लिये अनेक उपाय बतलाये।

राजनीतिक चिन्तन को अरस्तू की जो देन है उसका महत्व इसलिये और अधिक है कि उससे हमें यूनानी सांविधानिक जीवन की स्थिति के सम्बन्ध में वास्तविक जानकारी उपलब्ध होती है। उसने राजनीतिक अनुसन्धान की एक तर्कसंगत पद्धति की स्थापना की और राज्य-विषयक एक पृथक विज्ञान के विकास की सम्भावना उत्पन्न की। यद्यपि अरस्तू के कार्य का आधार यूनानी जगत की परिस्थितियाँ थीं फिर भी उसने ऐसे अनेक गम्भीर सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित किये जो हर देश और काल की परिस्थितियों में क्रियान्वित किये जा सकते हैं। उसने इस चीज को भी भली-भाँति समझा कि राजनीतिक संगठन और कार्यों पर आर्थिक परिस्थितियों और भौगोलिक स्थिति का गहरा प्रभाव पड़ता है। अन्त में, उसने विवेक द्वारा शासित और अच्छे जीवन को अपना उद्देश्य माननेवाले राज्य के लिये नागरिक-जीवन का एक बहुत ऊँचा आदर्श प्रस्तुत किया। उसका विश्वास था कि राज्य का उद्देश्य ज्ञान का विस्तार करना, सद्गुणों की वृद्धि करना और न्याय की स्थापना करना है, न कि अपने क्षेत्र का विस्तार करना अथवा लोगों को धनी बनाना।

चूँकि अरस्तू के चिन्तन की पृष्ठभूमि यूनानी जीवन की परिस्थितियाँ थीं इसलिये उसके विचारों में तज्जनित दोष भी स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। वह यह मानकर चला कि यूनानी अन्य जातियों से श्रेष्ठ हैं, दासता आवश्यक है, नगर-राज्य राजनीतिक संगठन का नैसर्गिक रूप है और श्रमिक वर्ग नागरिकता के कर्तव्यों का परिपालन करने के योग्य नहीं हो सकता। यद्यपि उसके लिखने के समय तक स्वतंत्र-नगर-राज्यों का युग समाप्त हो चुका था, किन्तु वह इस चीज़ के महत्व को न समझ पाया, और मकदूनिया के साम्राज्य में उसे ऐसे कोई गुण नहीं दिखाई दिये जो कि किसी राज्य में होने चाहिए। वह नगर को ही राजनीतिक इकाई का उचित रूप मानता था, और उसकी पुनः स्थापना करना तथा उसको स्थायी बनाना ही उसका मुख्य उद्देश्य था।

एपीक्यूरी तथा स्टॉइक सम्प्रदाय

अरस्तू की मृत्यु के सोलह वर्ष पहले यूनानी नगरों की स्वाधीनता का अन्त

हो चुका था । सिकन्दर की विजयों तथा आगे चलकर उसके उत्तराधिकारियों के उसके साम्राज्य को आपस में बाँट लेने के परिणामस्वरूप सैनिक साम्राज्य राजनीतिक संगठन का सामान्य रूप बन गया । सिकन्दर के सबसे दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में कुछ यूनानी नगरों ने एतोलियायी और अखाई संघ स्थापित किये और काफी मात्रा में स्वायत्तता का उपभोग करते रहे और इस प्रकार उन्होंने संघ-शासन के सिद्धान्त के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया । किन्तु ये संघ रोम की शक्ति के सामने न टिक सके, और यूनानी राजनीतिक संस्थाएँ रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत केवल स्थानीय शासन की किस्मों के रूप में जीवित रहीं ।

यूनानी राजनीतिक चिन्तन का यूनान की संस्थाओं से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था कि एक के पराभव से दूसरे का पतन अनिवार्य हो गया । प्लेटो तथा अरस्तू यूनानी राजनीति दर्शन के महानतम प्रतिनिधि थे । जब वे उठ गये और राजनीतिक दृष्टि से भी यूनान का महत्व जाता रहा तो ई० पू० तीसरी तथा दूसरी शताब्दियों के विचारकों ने राजनीति दर्शन की उपेक्षा करके अन्य चीजों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया । फलस्वरूप इस काल की राजनीतिक रचनाओं में न तो मौलिकता है और न भावात्मक (अस्तिमूलक) प्रभाव डालने की शक्ति ।[१५] उनका जो कुछ प्रभाव था वह अभावात्मक था । स्टॉइक तथा एपीक्यूरी इस काल के दो मुख्य सम्प्रदाय थे । पहले की स्थापना जीनो और दूसरे की एपीक्यूरस ने की थी । दोनों का उपदेश था कि मनुष्य को राजनीति से यथासम्भव कम से कम सम्बन्ध रखना चाहिये । नागरिक स्वाधीनता के लुप्त हो जाने तथा शासन में जनता का हाथ न रहने के कारण यूनानियों की देशभक्ति इतनी कमजोर हो गई थी कि उनके लिये "बाजार के जीवन" से, जिसका उन्हें अभ्यास था, विमुख होना बड़ा सरल हो गया ।

अब दर्शन का उद्देश्य उन साधनों की खोज करना रह गया था जिनसे व्यक्ति को सुख की प्राप्ति हो सके; सार्वजनिक कल्याण से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा । विचारक लोग राज्य को छोड़कर नागरिक की ओर ध्यान देने लगे ; और उनकी यहाँ तक धारणा बन गई कि वैयक्तिक कल्याण और सामाजिक कल्याण के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है और न अच्छे जीवन के लिये राज्य की कोई आवश्यकता है । सार्वभौमिकता का, जो कि इस युग के जीवन की एक विशेषता थी, चिंतन पर भी गहरा प्रभाव पड़ा । देशभक्ति का स्थान व्यक्तिवादी और सार्वभौम आदर्शों ने ले लिया । यूनानी तथा विदेशी

१५. इस काल का बहुत-सा साहित्य लुप्त हो चुका है । उसके सम्बन्ध में हम केवल अनुमान लगा सकते है । जनश्रुति चली आरही है कि सिकन्दरिया के पुस्तकालय में उस काल में रचे गये राजनीतिक साहित्य के हज़ारों ग्रन्थ विद्यमान थे । किन्तु पाँचवी शताब्दी ई० के प्रारम्भ में सम्राट थियोडोसियस ने गैर-ईसाई ज्ञान को नष्ट करने के उद्देश्य से उस पुस्तकालय को जलवा दिया था ।

और राज्य तथा राज्य के बीच के भेदभाव मिटने लगे और लोग अपने को या तो विश्व के नागरिकों के रूप में देखने लगे अथवा अपने-अपने स्वार्थों में मग्न पृथक व्यक्तियों के रूप में।

इस प्रकार हमें इस युग में दो मुख्य प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं—एक, व्यक्ति का अपने निजी जीवन की समस्याओं में संलग्न रहना और दूसरे विश्वबन्धुत्व एवं समता के आदर्शों पर बल। इनके फलस्वरूप राजनीतिदर्शन में एक निर्णायक परिवर्तन आगया। प्रो० कार्लायल का कथन है कि "राजनीतिदर्शन में पूर्णता की दृष्टि से इतना आश्चर्यजनक परिवर्तन अन्य किसी युग में देखने को नहीं मिलेगा।"[१६] सार्वजनिक कल्याण की भावना तथा असमानता प्लेटो तथा अरस्तू के राजनीतिदर्शन का सार थी। अब उन्हीं का खंडन किया गया।

एपीक्यूरी तथा स्टॉइक दोनों ही सम्प्रदायों के विचारक इस बात में एक मत थे कि वैयक्तिक सुख ही जीवन का उद्देश्य है। किन्तु सुख की परिभाषा तथा उसकी प्राप्ति के साधनों के सम्बन्ध में उनमें मतभेद था। एपीक्यूरियों का उपदेश था कि मनुष्य को संयत ढंग से अपनी प्रत्येक इच्छा की तुष्टि करनी चाहिये, उस इच्छा का सम्बन्ध चाहे इन्द्रियों से हो और चाहे बुद्धि से। इसके विपरीत स्टाइक लोग संवेगों के दमन पर ज़ोर देते और कहते कि मनुष्य को अपनी अनैतिक इच्छाओं को बिवेक के आधीन रखना चाहिये।

एपीक्यूरी व्यक्तिगत स्वार्थ को राज्य का आधार मानते थे। उनकी परिभाषा के अनुसार कानून व्यक्तियों के बीच एक समझौता है जिसे वे अपने स्वार्थ के लिये करते हैं; मुख्य उद्देश्य होता है हिंसा तथा अन्याय से बचना। इन विचारों में सामाजिक संबिदा के सिद्धान्त का बीज विद्यमान है। एपीक्यूरियों का यह भी विश्वास था कि राजनीतिक जीवन एक बोझ है और कोई बुद्धिमान आदमी उसमें तब तक भाग नहीं लेगा जब तक कि ऐसा करना उसके स्वार्थ के लिये नितान्त आवश्यक न हो जाय। उनका उपदेश था कि जो भी सरकार शान्ति और व्यवस्था कायम रख सके उसी की अधीनता व्यक्ति को स्वीकार कर लेनी चाहिये। सुयोग्य निरंकुश शासन उतना ही अच्छा है जितना कि लोकतंत्र। कहना न होगा कि जब यूनान पर सिकन्दर का और फिर रोम का अधिकार हुआ तो यह सिद्धान्त उन नई परिस्थितियों के अनुरूप सिद्ध हुआ।

स्टॉइकों का कहना था कि प्रकृति सार्वभौम कानून का मूर्तरूप है। विवेक जो कि कानून का सृजनात्मक स्रोत है प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करता है। इसलिये प्रकृति का कानून स्थिर तथा अपरिवर्तनशील है। मनुष्य का विवेक विश्व में महानतम

16. A. J. & R. W. Carlyle, *History of Medieval Political Theory in the West* (1903), Vol. 1, p. 8.

दैवी तत्व है। प्रकृति उस तत्व के साथ गति मिलाकर काम करती है। कानून प्रकृति की इस प्रक्रिया का ही द्योतक है। प्राकृतिक कानून का सिद्धान्त इसी रूप में रोमक विधि तथा मध्ययुगीन चिन्तन के द्वारा आधुनिक युग को प्राप्त हुआ।

किन्तु स्टॉइकों का अभिप्राय यह नहीं था कि प्रत्येक व्यक्ति का स्वतंत्र निर्णय प्राकृतिक कानून का स्रोत है; वे मानव जाति के सामान्य निर्णय को प्राकृतिक कानून का स्रोत मानते थे। उनका यह भी मत था कि विवेक सम्पन्न होने के नाते सभी मनुष्य समान हैं, वे एक ही प्राकृतिक कानून के अधीन हैं और समान अधिकारों का उपभोग करते हैं। इन विचारों के आधार पर एक ऐसे राजनीतिक सिद्धान्त का निर्माण हुआ जो विश्वबन्धुत्व को अपना आदर्श मानता था। सभी मनुष्य भाई-भाई हैं और एक विश्व राज्य के नागरिक हैं। सार्वभौम प्राकृतिक कानून तथा सार्वभौम नागरिक स्टॉइकों के आदर्श थे। यह स्पष्ट है कि जो समाज दासता पर आधारित था उसमें इन धारणाओं का कितना अधिक महत्व था।

स्टॉइकों ने तो इन आदर्शों को दार्शनिक तथा मानवतावादी दृष्टिकोण से विकसित किया था किन्तु उनको व्यावहारिक राजनीति में क्रियान्वित करने के लिये भी परिस्थितियाँ शीघ्र ही अनुकूल होगई। सिकन्दर के साम्राज्य ने यूनानी तथा विदेशी का भेदभाव मिटा दिया। तुच्छ सामाजिक और नागरिक भेदभाव भी नष्ट होगये और विभिन्न जातियों के लोग वास्तव में एक राजनीतिक व्यवस्था के सदस्य बन गये। रोमन साम्राज्य की स्थापना होने पर सार्वभौम कानून और सार्वभौम नागरिकता भी वास्तविकता में परिणत होगये। रोमन विधिविज्ञों ने प्राकृतिक कानून के विचार को तथा सब मनुष्यों पर लागू होनेवाले न्याय के सिद्धान्तों को अंगीकार कर लिया। विश्वबन्धुत्व के आदर्श को ईसाइयत ने अपनाकर विस्तृत किया और आधुनिक पीढ़ियों को हस्तान्तरित कर दिया, जिसके बड़े गम्भीर परिणाम हुए।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का यूनानी सिद्धान्त

यूनानी जगत की परिस्थितियाँ अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ियों तथा सिद्धान्तों के विकास के अनुकूल थीं। यूनानी लोग अपने तथा गैर-यूनानियों के बीच स्पष्ट भेद मानते थे, और स्वीकार करते थे कि यूनानियों के अपने कानून हैं जो शेष संसार पर लागू नहीं किये जा सकते। यहूदी जनजातियों की भाँति यूनानी नगरों का अपना एक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र था जो आस-पास की दुनियाँ से पृथक तथा भिन्न था; समान स्वार्थों के बन्धन उन्हें परस्पर बाँधे हुए थे, उनकी नस्ल, धर्म तथा संस्कृति एक थी। किन्तु नगरों की स्वायत्तता की भावना राष्ट्रीय एकता की चेतना से अधिक प्रबल थी, अतः अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों की एक वैज्ञानिक संहिता का निर्माण न हो सका।

नगरों के पारस्परिक सम्बन्धों का आधार नीति अथवा अवसर विशेष की आवश्यकता हुआ करती थी। डैल्फौसी संघ (डैल्फौसी पंथ को माननेवाले नगरों का संघ)

की तरह के धार्मिक संघ देलियायी परिसंघ की तरह के राजनीतिक परिसंघ तथा अखाई और एतोलियायी संघ स्थापित किये गये थे। कभी-कभी किसी एक नगर का राजनीतिक और सैनिक नेतृत्व स्वीकार कर लिया जाता था। मकदूनिया के नेतृत्व में यूनान के एकीकरण से पहले स्पार्टा, अथेंस और थीब्स इस प्रकार के नेतृत्व को धारण कर चुके थे। प्रमुख नगरों के बीच शक्ति-सन्तुलन कायम रखने का भी प्रयत्न किया जाता था।

युद्ध आये दिन होते रहते थे और उसका रूप बहुधा कठोर एवं निर्मम हुआ करता था। लूट के माल को विजेता लोग आपस में बाँट लेते थे, और युद्ध-बन्दी मार डाले जाते अथवा दास बनाकर बेच दिये जाते थे, यद्यपि आगे चलकर यूनानियों की इन परिपाटियों में सुधार हुआ और मानवता के सिद्धान्तों की दिशा में कुछ प्रगति हुई। विदेशियों के साथ व्यवहार करने के कोई ऐसे सिद्धान्त नहीं थे जिनका परिपालन करना आवश्यक समझा जाता। स्थाई रूप से बसे हुए विदेशियों के अपने कोई अधिकार नहीं थे। जो अधिकार उन्हें मिलते वे किसी ऐसे यूनानी के द्वारा मिलते थे जो उनका संरक्षक बनना स्वीकार कर लेता था। कुछ रूढ़ियाँ तथा नियम ऐसे थे जिनका सामान्यतया पालन किया जाता था। उदाहरण के लिये राजदूतों की अनतिक्रम्यता, शरण पाने का अधिकार, मृतकों की अन्त्येष्टिक्रिया के लिये विराम सन्धियां, बड़े धार्मिक समारोहों के अवसर—जैसे औलम्पिक खेल-कूद—पर युद्ध को स्थगित करना। लोकप्रिय सभाओं का बहुधा यह भी काम हुआ करता था कि वे वापिस आये हुए राजदूत की रिपोर्ट सुनतीं और उसकी आलोचना करतीं, बाहर जाने वाले राजदूतों को निर्देश देतीं और विदेशी राजदूतों के प्रस्तावों पर विचार करतीं।

यूनानियों ने विवाचन द्वारा झगड़ों को निपटाने के सिद्धान्त में निश्चित योग दिया। विवादग्रस्त पक्ष अपने धार्मिक, व्यापारिक और भूमि सम्बन्धी झगड़ों को रज़ामन्दी से व्यक्तियों, अन्य नगरों अथवा धार्मिक औरेकिलों को निर्णय के लिये सुपुर्द कर दिया करते थे।[१७] कभी-कभी झगड़ों को विवाचन के लिये देने की शर्त पहले से ही सन्धियों में लिख दी जाती थी। सामुद्रिक कानूनों के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रगति हो चुकी थी। यूनानी इतिहास के प्रारम्भिक युग में समुद्री डकैती को सम्माननीय माना जाता था किन्तु बाद में वैध तथा शान्तिमय व्यापार ने उसका स्थान ले लिया। रहोड्स के व्यापारिक नगर ने तीसरी शताब्दी ई० पू० में ही सामुद्रिक कानूनों की एक संहिता विकसित करली थी जिसको समुद्रों की सुरक्षा चाहनेवाले सभी यूनानी नगरों ने एक

१७. देखिये J. H. Ralston, *International Arbitration from Athens to Locarno* (1929).

समाज्ञापक के रूप में स्वीकार कर लिया। र्‌होड्‌स की इस सामुद्रिक विधि[१८] ने मध्य-युग की व्यापारिक विधि-संहिताओं के लिये आधार का काम किया।

जहाँ तक यूनानी जगत के बाहर की जातियों से सम्बन्धों का प्रश्न था, परवर्ती युग के यूनानियों ने कुछ अर्धनिश्चित से नियम बना लिये थे और उनकी बाध्यता को स्वीकार करने लगे थे। यूनानियों और ईरानियों के परस्पर व्यवहार के सम्बन्ध में "सम्पूर्ण मानव जाति के कानूनों"[१९] का उल्लेख किया गया। सार्वभौम कानून के विचार की उत्पत्ति कैसे भी हुई हो, इसमें सन्देह नहीं कि इस बात को स्वीकार करना एक प्रगतिशील कदम था कि विभिन्न धर्मों और नस्लों के लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध नितान्त नियमविरुद्ध नहीं है।

पुरानी दुनियाँ के लोगों ने अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का नियमन करने के लिये दो तरीकों का प्रयोग किया। पहला था बलपूर्वक शान्ति स्थापित करना और एक विश्वराज्य का निर्माण करना। प्राच्य साम्राज्यों ने इस तरीके से काम लिया था किन्तु वे असफल रहे। केवल रोम को कुछ शताब्दियों के लिये इस आधार पर सामान्य शान्ति कायम रखने में सफलता मिली। किन्तु उसे इसका भारी मूल्य चुकाना पड़ा। उसकी सृजनात्मक प्रतिभा कुंठित होगई, सभ्य जीवन का ह्रास हुआ, और अन्त में भयंकर आन्तरिक संघर्ष फूट पड़ा। दूसरा तरीका यूनानियों का था। इसके अन्तर्गत स्वतंत्र राज्यों की एक व्यवस्था कायम की गई जिसका उद्देश्य शक्ति-सन्तुलन को बनाये रखना था। ये राज्य सन्धियों द्वारा अपने झगड़ों का निपटारा कर लिया करते थे। किन्तु इस तरीके से शान्ति स्थापित नहीं हो सकी; बल्कि आये दिन युद्ध होते रहे। किन्तु इसने सक्रिय राजनीतिक जीवन के एक ऐसे युग को जन्म दिया जिसमें कि अनेक आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विचारों की उत्पत्ति हो सकी।

यूनानी राजनीतिक चिन्तन की देन

यूनानियों, विशेषकर अथेंस, के नागरिक आदर्शों ने जिस सभ्यता को जन्म दिया उसकी समानता आज तक संसार का कोई नगर नहीं कर पाया है। उन्होंने जैसी गम्भीर देशभक्ति उत्पन्न की और जैसा शैक्षिक प्रभाव डाला वैसा किसी आधुनिक राज्य में भी देखने को नहीं मिलता। नगर व्यक्ति का ही विराट रूप था, उसके जीवन का अभिन्न और तात्विक अंग था। उसके कानूनों को, जो नैतिकता के सम्पूर्ण क्षेत्र का आलिंगन करते थे, सर्वोच्च विवेक की अभिव्यक्ति माना जाता था। इस प्रकार नगर राज्य, धर्मसंघ और पाठशाला तीनों का काम करता था।

18. R. D. Benedict, *"The Historical Position of the Rhodian Sea Law,"* Yale Law Review, Vol 18 (February, 1909), pp. 223—242.
19. Herodotns, vii. 36; Thucydides, i. 67.

धार्मिक भावनाओं का नागरिक भक्ति के साथ संयोग था। नागरिक लोग सभाओं और न्यायालयों में तथा प्रशासकीय पदों पर काम करके निजी अनुभव द्वारा शिक्षा प्राप्त कर लिया करते थे। राज्य की सदस्यता ही व्यक्तियों के अस्तित्व का आधार थी, राज्य से पृथक उनका अपना कोई अस्तित्व नहीं माना जाता था। वे राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग लेते, और जीवन को सार्थक बनानेवाली जो भी चीजें थी उन्हें राज्य से ही प्राप्त करते थे।

यूनानी राजनीतिक चिन्तन की मुख्य देन स्वतंत्रता तथा समता के आदर्श थे। यूनानियों की स्वतंत्रता एक ऐसी चीज़ थी जिससे वे अपने से पहले के प्राच्य राज्यों और बाद के रोमन साम्राज्य से एकदम भिन्न दिखाई पड़ते थे। स्वतन्त्रता का प्रेम उनके जीवन में अनेक प्रकार से व्यक्त होता था। पहले, यूनानियों का आग्रह था कि प्रत्येक नगर एक स्वायत्त इकाई हो और बाह्य नियंत्रण से पूर्णतया मुक्त हो। जब इरानियों ने पूर्व की निरंकुशता को यूनानी जगत पर लादने के उद्देश्य से आक्रमण किया तो उसका प्रतिरोध करने में अथेंस ने अगुआई की। ईस्खीलुस अपने एक नाटक की गायक मंडली से कहलवाता है कि अथेंसवासी "किसी को अपना स्वामी नहीं कहते।"[२०] और अथेंस के अरिस्तिदियों के कहने से यूनान की स्वतन्त्रता का उत्सव मानने के लिये प्लातिया में "स्वतन्त्रता के खेलों"[२१] की स्थापना की गई। नगर की स्वतन्त्रता के इस प्रेम के कारण यूनानी जगत में एकता न स्थापित हो सकी; किन्तु उस युग में जबकि संचार और परिवहन के साधन अविकसित थे और प्रतिनिधि प्रणाली की कल्पना नहीं हुई थी; लोकतन्त्र तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता उन राज्यों में ही सम्भव हो सकती थी जो जनसंख्या तथा क्षेत्रफल की दृष्टि से छोटे थे।

दूसरे, अथेंस ने विचारों की तथा विचारों के व्यक्त करने की स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन दिया। दर्शन तथा राजनीति के क्षेत्र में आलोचना की प्रवृत्ति को कुछ हद तक सहन किया जाता था। शारीरिक परिश्रम का बोझ दासों के सिर पर था, इसलिये नागरिक लोग जीवन की तुच्छ चिन्ताओं से मुक्त रह कर अभौतिक विषयों में अपना ध्यान लगाते और समझते कि साहित्य, कला और विज्ञान का पोषण करना राज्य के लिये सर्वथा उचित है। प्राच्य जगत के मुकाबिले में यूनान का बौद्धिक जीवन मतवादों, अन्धविश्वासों और बाह्य नियंत्रण से अपेक्षाकृत मुक्त था, और यूनानियों की बौद्धिक उपलब्धियाँ इतिहास को उनकी स्थाई देन थीं। आज जिसे हम पश्चिमी भावना कहते हैं और जो प्राच्य भावना से बिलकुल भिन्न है वास्तव में हमें यूनानियों से ही विरासत में मिली है।

अन्त में, यूनानियों ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता के आदर्श की दिशा में भी कुछ प्रगति

20. Aeschylus, *Persae*, 244.
२१. एलूथेरिया के उत्सव

की। वे अत्याचारों तथा अल्पतंत्रीय शासन व्यवस्थाओं को सबसे बुरा मानते थे क्योंकि उन्हें चलाने के लिये विस्तृत गुप्तचर व्यवस्था की और व्यक्तियों के जीवन पर असह्य नियन्त्रण लगाने की आवश्यकता पड़ती थी। अरस्तू का उपदेश था कि मनुष्य की उच्चतम शक्तियों के विकास के लिये पर्याप्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता होती है, और एपीक्यूरियों का विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी निजी इच्छाओं की पूर्ति को प्रमुख स्थान देना चाहिये। किन्तु वे इस धारणा तक निश्चित रूप से नहीं पहुँच पाये कि व्यक्ति एक नैतिक इकाई होता है और उसका कल्याण स्वयं एक साध्य है। वे मानते थे कि राज्य की अपनी इच्छा होती है किन्तु वे यह नहीं समझ पाये कि व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा राज्य की इच्छा से पृथक हो सकती है। यूनानी नागरिक अपने को अपने नगर के कानूनों के सामने वैसे ही समर्पित कर देता था जैसे कि प्रकृति की शक्तियों के समक्ष। वह दोनों को ही प्राकृतिक और अपरिहार्य मानता था। यूनान के दार्शनिक सत्ता तथा स्वतन्त्रता के स्वभाव को स्पष्ट रूप से कभी नहीं समझ पाये और न इस निष्कर्ष तक ही पहुँच सके कि उनके बीच संघर्ष होने पर भी उनमें तात्विक समरूपता होती है।

यूनानियों की राज्य विषयक धारणा का आधार व्यक्ति एवं समाज का सम्बन्ध था, प्रभु और प्रजा का सम्बन्ध नहीं। यूनानी चिन्तन से स्वतंत्र, तथा अन्तर्भूत शक्तियों का उपयोग करने वाले प्रभु का धारण शायद ही कहीं मिल सके। अन्तिम सत्ता कानूनों में निहित मानी जाती थी; व्यक्तियों में नहीं। समाज के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध प्राकृतिक कानूनों पर आधारित व्यवस्था द्वारा नियंत्रित और संचालित होते थे, और सरकार विभिन्न रूप के समाज के स्व-चालित जीवन की अभिव्यक्ति का तरीका मात्र थे। मध्ययुग से आज तक राजनीतिक सिद्धान्त में प्रभुत्व के प्रश्न का विवेचन होता आया है, उसको उचित ठहराने, उसको कानूनी रूप देने तथा उसकी शक्तियों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। इन धारणाओं का यूनानी राजनीतिक चिन्तन में कोई महत्व नहीं था।

यूनानी लोग अपनी स्वतंत्रता की धारणा को व्यावहारिक जीवन में क्रियान्वित करने में सदैव सफल नहीं हुए। हर व्यक्ति का सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का जो अधिकार था वह हर एक के लिये अपने पड़ौसी के जीवन में हस्तक्षेप करने का बहाना बन गया था। चाटुकारों तथा राजकीय भेदियों की भरमार थी। व्यक्तियों की स्वतंत्रता ने अतिशय अहंकार और ईर्ष्या का पोषण किया। स्वतंत्रता तथा समता के आदर्शों से अयोग्य तथा साधारण योग्यता के लोगों को प्रोत्साहन मिलता था। जहाँ हर व्यक्ति को राजकीय मामलों में समान अधिकार था वहाँ कोई दूसरों की अच्छी राय की कद्र करने के लिये तैयार नहीं था, फलस्वरूप बकवासी लोगों को सरलता से आगे बढ़ने का अवसर मिल जाता था। अथेंस के लोकतंत्रवादियों का अपने नेताओं पर ही सन्देह रहता था।

सुकरात को उन लोगों के कारण मृत्यु-दंड मिला जो साधारण जनता की राय से सहमत न होनेवालों के शत्रु थे। जिस आदमी में असाधारण योग्यता होती उसे सदैव सामाजिक बहिष्कार का डर लगा रहता था।

इसके अतिरिक्त अथेंस ने, जो कि स्वतंत्रता का प्रमुख समर्थक था, अपनी जनता के एक बड़े अंग को और अपने अधीन राज्यों की जनता को स्वतंत्रता से वंचित कर रक्खा था। उसके मित्रों तथा शत्रुओं का आरोप था कि एक साम्राज्य का निर्माण करने के प्रयत्नों में उसने एक अत्याचारी नगर का रूप धारण कर लिया है। ४०४ ई० पू० उसका जो पराभव हुआ उसका भी यही कारण बतलाया गया था कि उसने स्वतंत्रता को अपने तक ही सीमित रखने का प्रयत्न किया था। अतः यूनानी स्वतंत्रता आधुनिक जगत को केवल एक आदर्श के रूप में मिली है, एक व्यावहारिक व्यवस्था के रूप में नहीं। परवर्ती युगों की जातियों द्वारा लोकतंत्र तथा व्यक्तिवाद के रूप में संवर्धित और विकसित स्वतंत्रता का यह यूनानी आदर्श एक बहुमूल्य राजनीतिक देन सिद्ध हुआ। आज का जगत यूनानियों से इस बात में सहमत है कि हर नागरिक को स्वतंत्र विकास का अवसर और राज्य के कामों में हाथ बँटाने का अधिकार होना चाहिये।

पठनीय ग्रन्थ

Bailey, Cyril, *The Greek Atomiss and Epicurus* (Oxford, Clarendon Press, 1928)

Barker, Ernest, *The Politics of Aristotle* (Oxford, Clarendon Press, 1946).

Carlyle, A. J. & R. W. *A History of Medieval Political Theory in the West*, 6 Vols. (London, Blackwood, 1903—1936), Vol. 1, Chap. 1.

Cherniss, H. F, *Aristotle's Criticism of Plato & the Academy* (Baltimore, Johns Hopkins Press, 1944).

Jaeger, Werner, *Aristotle : Fundamentals of the History of His Development*, trans. by Richard Robinson (Oxford, Clarendon Press, 1934).

McIlwain, C. H., *The Growth of Political Thought in the West* (New York, Macmillan, 1932), Chap. 3.

Popper, K. R., *The Open Society and Its Enemies*, rev. ed. (Princeton, Princeton Univ. Press, 1950) Chap. 2.

Ralston, J. H., *International Arbitration from Athens to Locarno* (Stanford, Stanford Univ. Press. 1929).

Robin, Leon, *Aristotle* (Paris, Presses Universitaires de France, 1944).

La Pensee Hellenique des Origine a Epicure (Paris, Presses Universitaires de France, 1942)

Sabine, G. H., *A History of Political Theory,* rev. ed. (New York, Holt, 1950).

Sinclair T. A., *A History of Greek Political Thought* (London, Routledge and Kegan Pal, 1952) Chaps. 11--12.

अध्याय ६

रोमन राजनीतिक चिन्तन

रोमन राजनीतिक संस्थाएँ

राजनीतिक चिन्तन के साहित्य में रोम का कोई योगदान नहीं है। किन्तु उसकी राजनीतिक संस्थाओं और विधि-व्यवस्था ने राजनीतिक विकास पर बहुत भारी प्रभाव डाला; और उसके पतन के बाद भी कई शताब्दियों तक राज्यविषयक धारणा उन संस्थाओं पर आधारित रही जिनकी स्थापना रोम ने की थी। पहले-पहल रोम का उदय एक नगर-राज्य के रूप में हुआ था, निकटवर्ती पहाड़ियों पर बसनेवाली जनजातियों ने अपना एक संघ बनाकर उसका निर्माण किया था। उसकी सरकार राजतंत्रीय ढँग की थी; एक राजा, एक सलाहकार परिषद (सीनेट) और एक सभा (कौमिट क्यूरियाट) जिसका मुख्य काम राजा का चुनाव करना था, उसके प्रमुख अंग थे। प्रारम्भ में थोड़े-से अभिजात वर्गीय परिवारों के सदस्यों (**पात्रीसिई—अमीरों**) का ही राजनीतिक सत्ता में कुछ साझा था। परवर्ती राजाओं के समय में **सामान्यजनों (प्लेबिस)** ने भी राजनीतिक अधिकारों की माँग की जिसके परिणामस्वरूप सौ सदस्यों की एक नई सभा **(कौमियाता सेंचुरियाता-शतसभा)** की स्थापना हुई जिसमें सामन्त तथा साधारण लोग दोनों ही भाग लेते थे।

यूनानी नगरों की भाँति रोम में भी प्रारम्भ में लोगों का झुकाव लोकतंत्रीय शासन प्रणाली की ओर था। ५०० ई० पू० के लगभग अन्तिम राजा को निकाल भगाया गया, और गणतंत्र की स्थापना की गई। तदुपरान्त दो शताब्दियों तक **अमीरों और सामान्य जनों** के बीच राज्य पर अधिकार करने के लिये संघर्ष चलता रहा जिसके परिणामस्वरूप अन्त में दोनों वर्गों का एकीकरण होगया और दोनों को समान राजनीतिक और नागरिक अधिकार मिल गये। इस प्रक्रिया में सरकार में भी निर्णायक परिवर्तन होगये। राजा की सैनिक और असैनिक सत्ता दो कोंसलों में जिनका चुनाव **शतसभा** करती थी निहित कर दी गई। आगे चलकर **प्रइतोर और सेंसौर** (प्रावेक्षक) नाम के कुछ अन्य अधिकारियों की स्थापना की गई; उनका काम कोंसलों को प्रशासकीय और न्यायिक कार्यों में सहायता देना था और संकट काल में अस्थाई अधिनायकतंत्र स्थापित करने की भी व्यवस्था की गई। प्रारम्भ में **अमीरों** को भी इन पदों पर नियुक्त होने का अधिकार था किन्तु धीरे-धीरे **सामान्यजनों** को भी यह अधिकार मिल गया। इसी बीच में **सामान्यजनों** ने अपनी एक सभा **कौंसिलिउम प्लेबिस** (लोकपरिषद) बना ली, और

अपने अधिकारियों को चुनने लगे जिनका प्रमुख **ब्राइब्यून** था। उसको जनता की ओर से शासन-कार्य में हस्तक्षेप करने और कौंसलों के कार्यों को रद करने का अधिकार था।

धीरे-धीरे दोनों वर्गों का एकीकरण हो जाने पर **सामान्यजनों** की संस्थाएँ भी नगर की सरकार का अंग बन गईं। **सामान्य जनों** की सभा का नाम बदल कर **कौमियाता त्रिबूता** रख दिया गया और वही प्रमुख कानून बनाने वाली संस्था बन गई। **शत सभा कौंसलों** का चुनाव करती, सरकारी कार्यों के लिये उन्हें उत्तरदायी ठहराती, आपराधिक मामलों में अन्तिम न्यायालय का कार्य करती और शान्ति तथा युद्ध के प्रश्नों का निर्णय करती। **अमीरों** की पुरानी सभा कौमियाता क्यूरियाता औपचारिक रूप से कायम रही और कुछ धार्मिक मामलों का नियंत्रण करती थी। किन्तु सीनेट का अभिजात वर्गीय रूप बना रहा और उच्च प्रशासकीय पदों पर काम करनेवाले व्यक्ति ही उसके सदस्य होते रहे। सिद्धान्ततः उसका काम केवल परामर्श देना था किन्तु व्यवहार में उसके हाथों में बड़ी शक्तियाँ थी : वित्तीय मामलों और राजनीतिक तथा सामाजिक विशेषाधिकारों का नियमन करना उसके हाथों में था, वैदेशिक मामलों और मित्रों तथा अधीन राज्यों के साथ सम्बन्धों का वही नियंत्रण करती, इसलिये साम्राज्य की वृद्धि के साथ उसकी शक्तियाँ भी बढ़ती गईं।

जब **अमीरों** और **सामान्यजनों** का संघर्ष समाप्त होगया और राज्य की गण-तंत्रीय व्यवस्था सन्तोषजनक ढँग से कार्य करने लगी, तब रोमवासियों ने विदेशों को जीतने और राज्य-क्षेत्र के प्रसार की ओर ध्यान दिया। यूनानी नगरों का मुख पूर्व की ओर था इसलिये उनका पहला सम्पर्क पुरानी सभ्यताओं के साथ हुआ था और उन्हें अपना अस्तित्व बनाये रखवे के लिये प्रतिरक्षात्मक युद्ध लड़ने पड़े। उनकी अतिरिक्त जन-संख्या उपनिवेशी बनकर बाहर चली गई थी और नये नगरों की स्थापना की जो कि लग-भग स्वतंत्र होगये। इन परिस्थितियों में नगर-राज्य यूनानी जगत में सरकार का सामान्य रूप बना रहा। सिकन्दर ने आकर उसे समाप्त किया। रोम का मुख पश्चिम की ओर था इसलिये पहले वह दुर्बल जातियों के सम्पर्क में आया और उनको जीतकर आत्मसात कर लिया, उसके उपनिवेशी मूल नगर के नियंत्रण में बने रहे और उसके राज्य का विस्तार करते रहे। इस प्रक्रिया का परिणाम यह हुआ कि नगर में लोकतांत्रिक विकास बन्द होगया, और रोम के राज्य-क्षेत्र के प्रसार के साथ-साथ स्वेच्छाचारी ढँग की साम्रा-ज्यीय व्यवस्था धीरे-धीरे स्थापित होगई।

रोम का विस्तार इटली के निकटवर्ती राज्यों की विजय से प्रारम्भ हुआ। इनमें से कुछ को रोमन लोगों ने मित्र मान लिया और उनको स्थानीय शासन में काफी स्वायत्तता का उपभोग करने दिया। अन्य राज्यों की शासन-सत्ता रोम से भेजे गये उपनिवेशियों के एक समूह को अथवा प्रीफेक्ट कहलानेवाले एक रोमन अधिकारी को सौंप दी गई। रोम के शासन में भाग लेने का अधिकार राजधानी में रहनेवाले नागरिकों तक

ही सीमित रहा, किन्तु कुछ मित्रों को भी सीमित ढँग की नागरिकता प्रदान कर दी गई, और एक भयंकर विद्रोह के उपरान्त ९१ ई० पू० में पो नदी के दक्षिण की लगभग सभी जातियों को पूर्ण नागरिकता देदी गई।

पश्चिम में कार्थेज ही अकेला रोम का प्रतिद्वन्दी था। रोम ने युद्धों में उसको परास्त करके उसकी शक्ति को नष्ट कर दिया, अपनी सामुद्रिक शक्ति की स्थापना करली और समुद्र पार राज्य क्षेत्र प्राप्त कर लिया। दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य तक सिकन्दर के यूनानी-प्राच्य साम्राज्य के अनेक भाग रोम के आधिपत्य में आगये। पहली शताब्दी ई० पू० के अन्त तक पश्चिम तथा उत्तर की बर्बर जातियों पर रोम की सत्ता स्थापित होगई, और फरात नदी से ब्रिटिश द्वीप समूह तक और सहारा से राइन-डेन्यूब तक के प्रदेशों पर उसका अधिकार हो गया। लगभग सम्पूर्ण सभ्य पश्चिमी जगत एक राजनीतिक व्यवस्था में आबद्ध हो गया। रोम से हर दिशा के लिये सड़कें बनाई गईं जिनसे व्यापारिक मार्ग स्थाई हो गये, प्रान्तों का राजधानी से सम्पर्क कायम हुआ और व्यवस्था बनाये रखना सम्भव हो सका।

साम्राज्य की एकता कायम रखने के लिये एक प्रभावकारी केन्द्रीयकृत प्रशासन व्यवस्था का निर्माण किया गया। विजित राज्य-क्षेत्र को प्रान्तों में बाँटा गया; हर प्रान्त के शासन के लिये एक रोमन अधिकारी नियुक्त किया गया जो **प्रोकोंसल** अथवा **प्रोप्रइतोर** कहलाता और जिसको राजनीतिक तथा असैनिक मामलों में सम्पूर्ण शक्ति मिली होती थी।

प्रान्तों की जनता को उसके अत्याचारों से बचाने का एकमात्र उपाय यह था कि उसका सेवा-काल समाप्त होने पर रोम की सरकार उसके कार्यों की पुनरीक्षा कर सकती तथा आवश्यकता होने पर उस पर महाभियोग चला सकती थी। यद्यपि रोम में संविधान का गणतन्त्रीय रूप कायम रहा, किन्तु ईसामसीह के जीवनकाल के लगभग जूलियस सीज़र और ऑगस्टस के कार्यों के फलस्वरूप व्यवहार में एक प्रकार के सैनिक निरंकुशतंत्र की स्थापना हो गई। सेना तथा रोम के मतदाताओं को नियंत्रण में करके और एक व्यक्ति, सम्राट, के हाथों में सब महत्वपूर्ण अधिकारियों की शक्तियों को केन्द्रित करके इस काम को पूरा किया गया। लोकप्रिय सभाओं के हाथों में से धीरे-धीरे सभी महत्व-पूर्ण काम निकल गये। आपराधिक मामलों में उनका जो क्षेत्राधिकार था वह जाता रहा, अधिकारियों के चुनने के अधिकार को वे खो बैठी और कानून बनाने में भी उनका कोई हाथ नहीं रहा। सीनेट की महत्वपूर्ण स्थिति बनी रही, साधारणतया उसके प्रस्ताव ही कानून का रूप धारण कर लेते थे। किन्तु सीनेट का रूप निर्धारित करने में सम्राट का प्रभाव मुख्य था; उसी के प्रस्तावों से नये कार्यों का अभिक्रम (पहल) होता और अन्त मैं उसकी आज्ञप्तियों को ही कानून माना जाने लगा। लैटिन के राज्य भाषा बनने और सारे साम्राज्य में एक सामान्य कानून-व्यवस्था की स्थापना होने पर एकीकरण की यह प्रक्रिया पूरी हो गई।

दूसरी शताब्दी ईस्वी के अन्त तक साम्राज्य के सभी प्रान्तों को रोम की नागरिकता प्राप्त होगई। इस प्रकार साम्राज्य का नगर-राज्यीय आधार विलुप्त हो गया और राज्य के सभी नागरिक समता की बुनियाद पर सम्राट की प्रजा बन गये। इस काल में पुराने कानूनी सिद्धान्त को जिसके अनुसार रोम को जनता सम्राट की शक्तियों का स्रोत मानी जाती थी, चिनोती दी गई और सम्राट की सत्ता की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया।[1] कुछ समय तक स्वयं सम्राट की एक देवता के रूप में पूजा होती रही। बाद में जब ईसाईमत को राजधर्म मान लिया गया तो उस समय यह भी विचार इस रूप में कायम रहा कि सम्राट ईश्वर के प्रतिनिधि की हैसियत से पृथ्वी पर शासन करता है। ३०० ईस्वी के लगभग डायोक्लेतियन और कॉन्सटेंटाइन के प्रशासकीय सुधारों के द्वारा गणतन्त्रीय रोम की कानूनी कल्पनाएँ निश्चित रूप से त्याग दी गईं और साम्राज्यीय व्यवस्था को स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार एक लोकतान्त्रिक नगर-राज्य ने स्वेच्छाचारी विश्व-साम्राज्य का रूप धारण कर लिया और यूनान के लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता और स्थानीय स्वाधीनता के आदर्शों को छोड़कर रोम के एकता व्यवस्था, सार्वभौम कानून और विश्व नागरिकता के आदर्शों पर बल दिया जाने लगा।

रोम के राजनीतिक चिन्तन का स्वभाव

सामान्य तौर पर रोमवासी अपने दार्शनिक विचारों के लिये यूनानियों के ऋणी थे, विशेषकर स्टॉइक सिद्धान्त उन्हें अधिक प्रिय थे। रोम की राजनीतिक संस्थाओं की रचना जानबूझ कर और निश्चित उद्देश्य को लेकर नहीं की गई थी। अपने शत्रुओं को एक दूसरे से लड़ाना[2] और नये जीते हुए प्रदेशों को सीधे अपने अधीन रखना रोमन लोगों की नीति थी। इस नीति की आवश्यकताओं, तथा जो परिस्थितियाँ समय-समय पर उनके सामने आई उनको ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपनी साम्राज्यीय व्यवस्था का निर्माण किया, किसी सामान्य योजना अथवा सिद्धान्त के अनुसार नहीं। साम्राज्यीय व्यवस्था के पूर्ण हो जाने पर भी किसी रोमन लेखक ने राजनीतिदर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरूपण करने का प्रयत्न नहीं किया, जैसा कि अरस्तू ने यूनानी जगत के लिये किया था। किन्तु जब उन्होंने यूनानियों से लिये हुए कुछ विचारों को अपने राजनीतिक जीवन की वास्तविकता पर लागू किया तो उनको पहले से अधिक निश्चित रूप प्रदान कर दिया, और अपनी शासन तथा कानून-व्यवस्था में अनजाने कुछ ऐसे सिद्धान्तों का अनुसरण

१. किन्तु ए० जे० कार्लाइल ने अपने अमर ग्रन्थ में लिखा है कि लोकप्रभुत्व के सिद्धान्त का छठी शताब्दी ईस्वी तक प्रचार रहा। उनका कहना है कि वास्तव में इस सिद्धान्त का लोप कभी नहीं हुआ था; अन्त में उसका ट्यूटन जाति के विधि तथा राजनीतिक सत्ता के उस सिद्धान्त में समावेश हो गया जो राज्य की सम्पूर्ण जनता को छोड़कर अन्य किसी विधायी सत्ता से परिचित नहीं था। *History of Medieval Political Theory in the West* (1903), Vol. I, pp. 63-70.

२. रोमन लोगों का 'फूट डालो और शासन करो' का सिद्धान्त।

किया जो यूनानी चिन्तन के मुकाबिले में अधिक प्रगतिशील थे। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानवकृत कानून का विचार था। इस विचार के आधार पर राजनीति तथा नीतिशास्त्र का पृथक्करण किया गया, सामान्य समाज से भिन्न राज्य की निरपेक्ष धारणा का निरूपण हुआ और विधिकर्ता के रूप में राज्य के कानूनी व्यक्तित्व और राजनीतिक प्रभुत्व के सिद्धान्त का विकास हुआ।

रोमन विचारकों ने न तो व्यक्ति को राज्य में पूर्णतया विलीन करने की बात सोची जैसा कि प्लेटो ने किया था, और न एपीक्यूरियों की भाँति राज्य को अनावश्यक ही माना। उन्होंने राज्य और व्यक्ति को एक दूसरे से पृथक किया और हर एक के निश्चित अधिकार और कर्तव्य निर्धारित किये। उनका मत था कि राज्य सामाजिक जीवन को कायम रखने के लिये एक आवश्यक और प्राकृतिक ढाँचा है। किन्तु साथ ही साथ उन्होंने राज्य को छोड़कर व्यक्ति को कानूनी चिन्तन का केन्द्र माना और कहा कि राज्य के अस्तित्व का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना है। इस प्रकार वे इस सिद्धान्त पर पहुँचे कि राज्य एक विधिक व्यक्ति है जिसकी सत्ता की निश्चित सीमाएँ हैं; और हर नागरिक एक विधिक व्यक्ति है जिसके अपने अधिकार हैं जिनकी अन्य व्यक्तियों तथा स्वयं सरकार के अवैध आक्रमणों से रक्षा की जानी चाहिए। इसी धारणा के आधार पर रोमक विधि-व्यवस्था का विस्तृत ढाँचा खड़ा किया गया।

इस कानून का तत्व स्पष्ट है। वह हमें गेउस और उल्पियन के ग्रन्थों तथा जस्टिन की विधिसंहिता में मिलता है। किन्तु इसका स्रोत निश्चित नहीं है। विरोधी विश्वासों की वजह से तथा सिद्धान्त और व्यवहार में भेद होने के कारण प्रश्न और भी अधिक जटिल हो जाता है। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, रोमन साम्राज्यवाद के युग में कुछ लोग दैवी अधिकारों पर आधारित निरंकुशवाद का समर्थन करते थे। किन्तु साथ ही साथ इस परम्परागत सिद्धान्त के अनुयायी भी विद्यमान थे कि अन्तिम रूप से सत्ता सम्पूर्ण जनता में निवास करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्राटों को अपनी सत्ता नागरिकों से मिलती थी और वे उन्हीं के प्रति जवाबदेह माने जाते थे। किन्तु व्यवहार में इस मत के माननेवाले भी स्वीकार करते थे कि सम्राट की इच्छा में वही शक्ति है जो कानून में। सम्राट अपनी आज्ञप्तियों द्वारा जनता के कार्यों को रद्द कर सकता था और वही एक मात्र विधिकर्ता[3] माना जाता था। उल्पियन निम्नलिखित शब्दों में इस मत का समर्थन करता है :

सम्राट की इच्छा में वही शक्ति है जो कि कानून में, क्योंकि राजा के कानून

Carlyle, op. cit., Vol. 1, p. 70.

के बन जाने पर जनता अपनी सम्पूर्ण शक्ति और सत्ता उसको हस्तान्तरित कर देती और उसमें निहित कर देती है।[4]

इस कथन की समीक्षा करते हुए कार्लाइल लिखते हैं कि "इन वाक्यों से, जिसमें शुद्ध लोकतांत्रिक आधार पर स्थापित अपरिमित वैयक्तिक सत्ता का विरोधाभासपूर्ण वर्णन किया गया है, अधिक उल्लेखनीय वाक्य बहुत कम मिलेंगे। सम्राट की इच्छा को कानून माना गया है, किन्तु इसलिये कि प्रजा स्वयं ऐसा ही चाहती है।"[5]

शक्ति के हस्तान्तरण का आधार संविदा का विचार था। इस विचार का रोमन विधि-सिद्धान्त के विकास में महत्वपूर्ण स्थान था। यूनानियों की भाँति रोमन लोग भी राज्य को इतना स्वाभाविक मानते थे कि उनकी दृष्टि में उसके औचित्य को सिद्ध करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। अतः उनके राजनीतिक चिन्तन में उस सामाजिक संविदा के सिद्धान्त का कोई स्थान नहीं था जिसके अनुसार लोगों ने अपने प्राकृतिक अधिकारों को त्याग कर एक राज्य की स्थापना की। किन्तु इसके विपरीत उन्होंने सरकारी संविदा के सिद्धान्त का विकास किया जिसके अनुसार जनता ने अपनी सत्ता लोकअधिकारियों को सौंप दी। जब एक बार जनता ने किसी अधिकारी को चुन लिया तो अपने वैध कर्तव्यों की परिधि के भीतर उस अधिकारी की शक्ति पूर्ण थी, फिर जनता को दी हुई शक्तियों को वापिस लेने का अधिकार नहीं रह जाता था। रोमन विचारकों ने क्रान्ति के अधिकार को नहीं स्वीकार किया। उनके सरकारी संविदा का सिद्धान्त हॉब्स से मिलता था न कि लॉक से; हॉब्स की भाँति उन्होंने भी स्वेच्छाचारी शासन को उचित ठहराने के लिये इस सिद्धान्त का प्रयोग किया।

रोम के प्रारम्भिक काल में विधि के निर्माण के लिये भी संविदा का ही प्रयोग किया गया था। नये कानून संविदा के रूप में बनाये जाते थे। लोकअधिकारियों तथा जनता की सभाओं के बीच समझौता होता था। अधिकारी कानूनों को प्रस्तावित करते और सभाएँ उनका अनुसमर्थन करती अथवा रद्द कर देतीं। कानून प्रभु द्वारा प्रजा पर थोपा गया आदेश नहीं था, बल्कि राज्य के विभिन्न अंगों के बीच एक समझौता था जिसका संपादन आपसी बातचीत द्वारा होता था। इसी प्रकार रोम के धार्मिक चिन्तन में भी संविदा के सिद्धान्त का महत्व था। उनकी पूजा एक प्रकार की सौदा थी। पुजारी कुछ धार्मिक अनुष्ठानों को करने का वचन देता और देवता उसके बदले में उसे कुछ लाभ पहुँचाते। अन्त में, रोमन विचारकों का ख्याल था कि व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का स्वभाव भी समझौते जैसा ही है, और इसी धारणा के आधार पर उन्होंने अपने वैयक्तिक कानून के बड़े अंश की रचना की।

---

4. *Digest,* 1. 4. 1.
5. Carlyle, op. cit, Vol. 1. p. 64.

रोमक विधि-सिद्धान्त

रोम के विधि-सिद्धान्त का विकास धीरे-धीरे हुआ। उसके प्रारम्भिक कानून धार्मिक विनियमों, परम्परागत नियमों और न्याय की लोकप्रिय धारणाओं का सम्मिश्रण थे। अन्य आदिम जातियों की भाँति रोमन लोग भी धर्म को सत्ता का एक महत्वपूर्ण तत्व मानते थे। जिन अपराधों से सार्वजनिक व्यवस्था भंग होती उन्हें राज्य के विरुद्ध अपराध नहीं माना जाता था, बल्कि ऐसा खयाल किया जाता था कि अपराधी ने देवताओं को चोट पहुँचाई है। यूनान की भाँति वहाँ भी धीरे-धीरे उन नियमों, जो देवताओं के प्रत्यक्ष आदेश माने जाते थे और उन सिद्धान्तों के जो मनुष्यों की रूढ़ियों में अन्तर्निहित थे, बीच भेद स्पष्ट होने लगा। किन्तु इस विचार का कि राज्य कानून बना सकता है, नितान्त अभाव था, और ४५० ई० पू० के लगभग जब बारह अभिलेखों के रूप में रोमन विधि-संहिता तैयार की गई तो केवल रोम की परम्परागत रूढ़ियों को ही निश्चित रूप दे दिया गया।

फिर भी बारह अभिलेखों की स्थापना से रोम के विधिक चिन्तन का एक नया युग आरम्भ हुआ। इससे धार्मिक तत्व का महत्व कम हो गया, कानून के उल्लंघन को देवताओं की अवज्ञा नहीं बल्कि राज्य के विरुद्ध अपराध माना जाने लगा, और रूढ़ियों को कानून का मुख्य स्रोत मानने की बात भी समाप्त होगई। इसके बाद यह धारणा दृढ़ होती गई कि कानून राज्य की इच्छा का ही नाम है, उसको उत्पत्ति मनुष्य से हुई है और वही सम्पूर्ण सत्ता का स्रोत है। राजनीति का धर्म पर नियन्त्रण बढ़ता गया, कानून धर्मनिरपेक्ष होते गये और पुरोहित लोग राज्य के अभिकर्ता मात्र रह गये। सिद्धांततः रोम के वैयक्तिक कानून का सम्पूर्ण क्षेत्र बारह अभिलेखों के अन्तर्गत आ जाता था और यदि कोई परिवर्तन करना होता तो वह या तो अभिलेखों की नये सिरे से व्याख्या करके किया जाता अथवा रोमन जनता की औपचारिक अनुमति के आधार पर स्पष्ट परिनियम बना कर। इस प्रकार राज्य के विधायक अंगों द्वारा नये कानून बनाये गये, पहले अमीरों और सामान्य जनों की सभाओं द्वारा और बाद में सीनेट तथा सम्राटों द्वारा। इस प्रक्रिया द्वारा धीरे-धीरे यह सिद्धान्त दृढ़ होता गया कि रोम का विधि-विकास राज्य की इच्छा का प्रतीक है, उसी से उसका निरूपण होता और उसी से उसे संमोदन मिलता है।

रोम के विस्तार के साथ-साथ अनेक नये विचारों का समावेश हुआ जिन्होंने रोमक विधि के क्षेत्र का विस्तार किया, उसकी भावना को उदार बनाया, विशेषकर उसको एक विश्वव्यापी साम्राज्य के शासन के अनुरूप बना दिया और उसमें ऐसी क्षमता उत्पन्न करदी कि रोम के पतन के बाद वह यूरोप की कानूनी व्यवस्था का आधार बन सकी।

व्यावहारिक विधि-निकाय जो बारह अभिलेखों के आधार पर विकसित हुआ

संकीर्ण तथा औपचारिक था। उसमें प्रारम्भिक धार्मिक विचारों तथा रोम की विशेष परिस्थितियों के अवशेष विद्यमान थे और अनेक ऐसी औपचारिक जटिलताएँ थी जिनसे न्याय का हनन होता था। किन्तु विभिन्न अधिकारियों के आदेशों और विधि-वेत्ताओं के उत्तरों और सम्राटों के संविधानों ने अनन्यता और जटिलता की संकीर्ण दीवालों को तोड़ डाला। उनके कार्यों से कानून का प्रसार हुआ और उसका रूप अधिक बुद्धिसंगत बन गया। और इस प्रक्रिया से धीरे-धीरे **सार्व राष्ट्रीय विधि** तथा **प्राकृतिक** विधि की धारणाओं का विकास हुआ।

चौथी शताब्दी ई० पू० में गणतन्त्र की स्थापना होने पर प्रशासकीय कार्यों का जब वितरण किया गया तो न्यायिक शक्तियाँ **प्रेइतोर** नामक अधिकारी को सौंप दी गई। कानून को लागू करते समय इस अधिकारी को बहुधा कानून का निर्वचन भी करना पड़ता था; और ऐसा करने में नये सिद्धान्तों को स्थापित करना भी अनिवार्य हो जाता था। इसके अतिरिक्त अपने सेवा काल के आरम्भ में **प्रेइतोर** लोग आज्ञाएँ जारी करते जिनमें उन सिद्धान्तों का उल्लेख रहता था जिन्हें वे अपने प्रशासन कार्य में कार्यान्वित करना चाहते थे। ये आज्ञाएँ पूर्वोदाहरणों का रूप ले लेतीं और उनके उत्तराधिकारी इनको स्वीकार कर लेते। इस प्रकार समय-समय पर होनेवाले परिवर्तनों के फलस्वरूप रोम के कानूनी सिद्धान्तों और व्यवहार में धीरे-धीरे रूपान्तर और प्रसार होता रहा।

जब विजित जातियों पर रोम का शासन स्थापित हुआ, वैदेशिक व्यापार में वृद्धि हुई और रोम में बसनेवाले विदेशियों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती गई तो तीसरी शताब्दी ई० पू० में विदेशियों से सम्बन्धित मुकद्दमों का निर्णय करने के लिये एक अतिरिक्त **प्रेइतोर** नियुक्त किया गया। चूँकि रोमन दंडाधीश विदेशी कानून लागू नहीं कर सकते थे, इसलिये इस **प्रेइतोरों** को बाध्य होकर अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप एक कानूनी व्यवस्था का विकास करना पड़ा। इसके लिये उन्होंने रोम तथा रोम द्वारा शासित इटली की अन्य जातियों में सामान्य रूप से प्रचलित कानूनी सिद्धान्तों को चुन लिया और उनका एकीकरण करके एक नई विधि-व्यवस्था रचली जो **सार्वराष्ट्रीय विधि** (सब राष्ट्रों में विद्यमान) के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमें मुख्यतया दो चीजें सम्मिलित थीं—प्राकृतिक न्याय के वे सिद्धान्त जिनका ज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के फलस्वरूप रोम में प्रचार होने लगा था, और विजित जातियों की रूढ़ियाँ तथा कानूनी धारणाएँ। न्यायाधीश को इस बात की स्वतंत्रता थी कि कानून को लागू करते समय अपनी न्याय की भावना के अनुसार उसमें आवश्यकतानुकूल परिवर्तन करले। इस प्रकार से विकसित सिद्धान्त पारिभाषिक जटिलताओं से मुक्त थे, देखने में ऐसा लगता था कि विभिन्न जातियों ने स्वतः तथा स्वाभाविक रूप से उनकी रचना की थी, और वे न्याय के निरपेक्ष सिद्धान्तों पर आधारित थे, इसलिये लोग सोचने लगे थे कि **सार्वराष्ट्रीय विधि** शुद्ध विवेक के अनुकूल है और सार्वभौम रूप से मान्य है। फलस्वरूप उसने प्राकृतिक विधि के विचार

ः विकास में भी योग दिया और अन्त में उसी के साथ उसका तादात्म्य कर दिया ाया। इस रूप में **सर्वराष्ट्रीय विधि** को धीरे-धीरे **रोमक विधि** की सामान्य व्यवस्था ं समाविष्ट कर लिया गया और विशेषकर उस समय जबकि पुराना व्यावहारिक कानून ामय की आवश्यकताओं के मुकाबिले में उत्तरोत्तर पिछड़ने लगा।

आगे चलकर सम्राटों ने विद्वान विधिवेत्ताओं को साम्राज्य के सब भागों से आये हुए विवादग्रस्त मामलों की कानूनी अपीलों का उत्तर देने का अधिकार दे दिया, अन्त ं ऐसे उत्तरों का वही महत्व होगया जो कि कानून का था। विभिन्न कानूनी आदर्शों के वेशाल पुंज में से विधिवेत्ताओं को ऐसे सामान्य सिद्धान्त ढूंढने पड़ते थे जो कि सम्पूर्ण ाम्राज्य में लागू किये जा सकते। इसके लिये उन्हें न्याय तथा अधिकारों के अन्त्य स्वभाव के सम्बन्ध में बड़ी सावधानी से विचार करना पड़ता था। अपनी सुनिश्चित और ाही परिभाषाओं और तर्क-संगत वर्गीकरण द्वारा उन्होंने धीरे-धीरे विधि-दर्शन की एक वैज्ञानिक व्यवस्था का निर्माण कर लिया; जस्टिन की विधि-संहिता उनकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि थी। न्याय तथा विवेक के सिद्धान्तों को क्रियान्वित करते समय वे स्टॉइकों के प्राकृतिक विधि के सिद्धांत से बहुत प्रभावित हुए। यूनानी दर्शन के प्रभाव और विधि-वेत्ताओं के कार्यों के कारण रोमन राजनीतिक चिन्तन का यह एक सर्वस्वीकृत सिद्धांत बन गया कि कानून के विशिष्ट नियमों के पीछे निरपेक्ष सम्यकता के आधारभूत सिद्धान्त छिपे रहते हैं, उन सिद्धान्तों का आधार प्रकृति की सत्ता है, और मानव विवेक उनका निर्वचन करता है। सम्पूर्ण सभ्य जगत के व्यावहारिक मामलों को सुलझाने में विधि-वेत्ताओं को स्टॉइकों के मानव भ्रातृत्व और सार्वभौम कानून के आदर्शों से विशेषकर वहुमूल्य सहायता मिली।

सार्वराष्ट्रीय विधि और प्राकृतिक विधि के विधिचिन्तन में समाविष्ट होजाने से रोमक विधि इतनी संकीर्ण और जटिल नहीं रह गई कि केवल एक नगर के विशिष्ट निवासियों पर ही लागू की जासकती, बल्कि उसने विधिशास्त्र की एक ऐसी विस्तृत और सामान्य व्यवस्था का रूप धारण कर लिया जिससे कि एक विश्व-व्यापी साम्राज्य की सरकार का काम चल सकता था, और उसमें इतनी उदारता आगई कि वह शता-ब्दियों तक विभिन्न प्रकार के राज्यों के विधिशास्त्र के आधार के रूप में काम देती रही। रोमन विधिशास्त्र से **प्राकृतिक विधि** का विचार मध्ययुग के साहित्य में पहुँच गया। उस युग के विचारकों ने उसका ईसाइत के उस सार्वभौम दैवी कानून की धारणा के साथ तादात्म्य स्थापित कर दिया जिसे स्वयं ईश्वर मनुष्यों के हृदय में आरोपित करता है। रोमन कैथोलिक चर्च का संगठन तथा उसके धार्मिक कानून रोम के कानूनी सिद्धान्तों पर आधारित थे। मध्य युग के अन्त में जब **रोमक विधि** का नये सिरे से अध्ययन आरम्भ हुआ तो रोम के इस सिद्धान्त को कि राजा की इच्छा ही कानून का स्रोत होती है[6] रोम के

6. *Institutes of Justinian*, i. 2. 6.

दूसरे सिद्धान्त से जिसके अनुसार राजा को प्रजा का अभिकर्ता माना जाता था, पृथक करके राष्ट्रीय राजा के प्रभुत्व के सिद्धान्त का आधार बनाया गया। दूसरी ओर राजा की सत्ता के विरोधियों ने विधिवेत्ताओं के इन स्टॉइक सिद्धान्तों को कि प्राकृतिक विधि के अनुसार सब मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न होते हैं[७] और सबको समान प्राकृतिक अधिकार प्राप्त होते हैं,[८] पुनर्जीवित किया और उनके आधार पर सामाजिक संविदा और प्राकृतिक अधिकारों के उस सिद्धान्त का निर्माण किया जिसने आगे चलकर क्रान्ति तथा लोकतंत्र को जन्म दिया। अन्त में, सार्वराष्ट्रीय विधि और प्राकृतिक विधि की धारणाओं ने ग्रोशस द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया।

पोलीबिउस

रोम की शासन-प्रणाली के सिद्धान्तों का विवेचन करने का तब तक प्रयत्न नहीं किया गया जब तक कि वह संसार का सबसे बड़ा राज्य नहीं बन गया, और इस दिशा में पहला कदम उठाने वाला पोलीबिउस नाम का एक यूनानी था। पोलीबिउस (२०४–१२२ ई० पू०)[९] उन राजनीतिज्ञों में से था जिन्होंने उस समय अखाई संघ की नीति का संचालन किया जिस समय रोम ने मकदूनियाँ की शक्ति को नष्ट करके यूनान पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। संघ के अधिकांश नेताओं का झुकाव रोम के पक्ष में था, किन्तु उसने रोम के प्रति निषेधात्मक नीति का समर्थन किया। अपनी विजय के उपरान्त रोमन लोग पोलीबिउस को बन्धक बना कर इटली ले गये। वहाँ उसका रोम के संविधान और तत्कालीन राजनीतिज्ञों से सम्पर्क हुआ। रोम की सरकार ने उसे अनेक बार राजदूत बनाकर यूनान भेजा। उसने अपना अधिकांश समय यात्रा में तथा अपने ग्रन्थ **रोम का इतिहास** के लिये सामग्री एकत्र करने में बिताया।

जब पोलीबिउस ने अपने ग्रन्थ की रचना की उस समय तक रोम का गणतंत्रीय संविधान अपने विकास के शिखर पर पहुँच चुका था, और राज्य के क्षेत्र तथा हितों के विस्तार से उत्पन्न जटिल परिस्थितियों के मुकाबिले में भी अडिग बना रहा था। उसके इतिहास का उद्देश्य रोम की महानता के कारणों पर प्रकाश डालना था। वह यह दिखाना चाहता था कि विश्व की शासन-शक्ति रोम के हाथों में कैसे आगई थी और साम्राज्य के विस्तृत प्रदेशों पर नियंत्रण कैसे रक्खा जाता था। इसके लिये उसने राज्य की उत्पत्ति का एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया और सरकार के विभिन्न प्रकारों तथा राजनीतिक परिवर्तनों के प्राकृतिक क्रम-चक्र का वर्णन किया। तदुपरान्त उसने रोम

7. वहीं., 1. 2. 2.
8. Ulpian, *Digest*, 1. 17. 32.
९. पोलिबिउस के राजनीतिक सिद्धान्त उसके *History of Rome* नामक ग्रन्थ में, विशेषकर अध्याय ६ में मिलते हैं। *History* नामक ग्रन्थ के चालीस अध्यायों में से केवल प्रथम पाँच उपलब्ध हैं, शेष पैंतीस के खंड मात्र मिलते हैं।

के संविधान का विश्लेषण किया और यह निष्कर्ष निकाला कि चूंकि रोम के संविधान में विभिन्न शासन-प्रणालियों के तत्वों का समावेश है और सरकार के अंगों के बीच पारस्परिक नियंत्रण और सन्तुलन की व्यवस्था है इसलिये उसके पतन की आशंका नहीं है, जैसा कि सरल प्रकार के राज्यों के सम्बन्ध में अनिवार्य हो जाता है।

पोलीबिउस ने यूनानियों के उस वर्गीकरण को मान लिया जिसके अनुसार सरकारों को राजतंत्र, अभिजाततंत्र और लोकतंत्र में विभक्त किया गया था और कहा कि इनमें से प्रत्येक प्रकार की सरकार के शुद्ध और विकृत दोनों ही रूप हो सकते हैं। उसका विश्वास था कि एक प्राकृतिक क्रम से ये प्रकार एक के बाद एक आते रहते हैं, और हर प्रकार की सरकार में उसके पतन के बीज विद्यमान रहते हैं। उसके अनुसार शासन का सबसे पहला रूप राजतंत्र था। एक व्यक्ति ने शक्ति के बल पर एक समूह पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। किन्तु जब लोगों ने धीरे-धीरे विवेक और अनुभव से सरकार की आवश्यकता और उपादेयता को समझा, और उनमें न्याय तथा नैतिकता की भावनाओं का उदय हुआ तब वे स्वेच्छा से सरकार की आज्ञाओं का पालन करने लगे, और राजतंत्र के रूप में सही अर्थ में सरकार की स्थापना हुई। किन्तु जब राजा स्वेच्छाचारी हो गया और अन्यायपूर्वक शासन करने लगा तो इस प्रकार की सरकार विकृत हो गई और अत्याचारी शासन का रूप धारण कर लिया। विख्यात तथा गुणवान नेताओं ने षड़यंत्र रचे और अत्याचारी के शासन को उलट कर अभिजाततंत्र की स्थापना की। परन्तु कालान्तर में अभिजाततंत्र के अन्तर्भूत दोष विकसित होने लगे, जनता का उत्पीड़न होने लगा और अल्पतंत्र कायम होगया। जनता ने अत्याचारियों के विरुद्ध विद्रोह किया, राज्य की शक्ति पर अधिकार कर लिया और कुछ समय तक सम्पूर्ण समाज के हितों को ध्यान में रखते हुए लोकतंत्रीय ढँग से शासन किया। किन्तु कलह और झगड़े शुरू हो गये, धनिकों ने मूर्ख जनता को भ्रष्ट किया, अन्याय तथा असन्तोष की वृद्धि हुई और अन्त में भीड़ का शासन स्थापित हो गया। भीड़ के अत्याचारों के परिणामस्वरूप साहसी नेता का उदय हुआ, और जनता के समर्थन से वह स्वेच्छाचारी शासक बन बैठा और फिर नये सिरे से चक्र प्रारम्भ हो गया।

पोलीबिउस का विश्वास था कि शासन में स्थिरता बनाये रखने और इन क्रमिक परिवर्तनों को रोकने के लिये आवश्यक है कि सभी प्रणालियों के अच्छे तत्वों को संयुक्त कर लिया जाय। स्पार्टा में लिकूर्गुस आंशिक रूप से ऐसा करने में सफल हुआ था, और उससे भी अधिक अच्छे ढंग से रोम ने अपने अनुभव से इस कार्य को पूरा किया था। रोम के संविधान में कोंसल राजतन्त्रीय तत्व के प्रतिनिधि थे, सीनेट तत्वतः अभिजाततन्त्रीय थी और सभाओं का स्वरूप लोकतंत्रीय था। इसके अतिरिक्त इनमें से प्रत्येक अंग का दूसरों पर कुछ न कुछ नियन्त्रण था, इसलिये कोई भी सब की अनुमति के बिना सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता था। इस प्रकार नियंत्रण

श्रौर सन्तुलन की एक विशद व्यवस्था स्थापित होगई। यद्यपि प्लेटो श्रौर अरस्तू के ग्रन्थों में इस सिद्धान्त की उपादेयता की धारणा मिलती है फिर भी यूनानी लोग सामान्यतया सरल शासन व्यवस्था को जिसमें अन्य प्रणालियों का थोड़ा-सा अंश विद्यमान हो पसन्द करते थे। पोलीबिउस पहला लेखक था जिसने मिश्रित शासन-प्रणाली तथा सांविधानिक संगठन में नियन्त्रण श्रौर सन्तुलन के सिद्धान्त की उपादेयता का स्पष्ट रूप से वर्णन किया। परवर्ती युगों के सिद्धान्तों श्रौर व्यवहार में इन धारणाश्रों का समावेश किया गया, श्रौर थोड़े से परिवर्तन के साथ आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में भी उनकी मान्यता विद्यमान है।

पोलीबिउस का खयाल था कि रोम का राज्य एक निष्पक्ष दर्शक की भाँति है, उसका दृष्टिकोण निर्लिप्त तथा बुद्धिपरक है। उसका कहना था कि स्वार्थ मनुष्यों के कार्य-कलाप के पीछे प्रेरक तत्व का काम करता है, राजनीतिज्ञों को चाहिये कि स्वार्थों का स्वाभाविक राजनीतिक शक्तियों के रूप में प्रयोग करें, राजनीतिक जीवन से विभिन्न वर्गों के बीच इस प्रकार के स्वार्थों का सन्तुलन कायम होता है, श्रौर व्यक्तियों तथा वर्गों को काबू में रखने के लिये उनके बीच पारस्परिक नियंत्रणों की व्यवस्था कायम रखना आवश्यक है। उसका दृष्टिकोण कुछ वैसा ही है जैसा कि आगे चल कर मैकियावली ने अपनाया।

सिसेरो

पोलीबिउस का ग्रन्थ जिसमें रोम के संविधान की प्रशंसा की गई थी पूरा भी नहीं हो पाया था कि उपद्रवों श्रौर गृहयुद्ध का युग आरम्भ हो गया जिसने गणतन्त्र का नाश कर दिया। जब तक विरोधी हितोंवाले वर्ग एक दूसरे के साथ कुछ रियायत करते रहे तब तक नियंत्रणों श्रौर सन्तुलन की व्यवस्था से लाभ होता रहा, किन्तु जब दलगत शत्रुता के कारण गतिरोध उत्पन्न होगया श्रौर क्रान्ति उमड़ पड़ी तो उस व्यवस्था का चलना ही असम्भव होगया। साम्राज्य के विस्तार के फलस्वरूप जो आर्थिक परिवर्तन हुए उन्होंने धनी सामन्तों श्रौर सर्वहारा के बीच गहरी खाई खोद दी। सामन्तों का सीनेट पर श्रौर सर्वहारा का सभाश्रों पर अधिकार था। इन संस्थाश्रों की पारिस्परिक शत्रुता ने गृह-युद्ध को जन्म दिया जिसमें ग्राची, मेरिउस, सूला पॉम्पियाई श्रौर सीज़र जैसे व्यक्तियों ने शक्ति श्रौर प्रतिष्ठा प्राप्त करली। इस काल में राजनीतिक चिंतन का अभाव रहा। किन्तु सिसेरो (१०६-४३ ई० पू०)[१०] ने इन परिवर्तनों को रोकने का प्रयत्न किया श्रौर रोमन नागरिकों को पुरानी प्रशासन-प्रणाली को कायम रखने के लिये प्रेरणा दी। इसके लिये उसने राज्य तथा कानून के स्वभाव के सम्बन्ध में रोमन श्रौर यूनानियों के

१०. सिसेरो के राजनीतिक विचार मुख्यतया *De Republica, De Legibus,* श्रौर *De Officiis* में मिलते हैं।

श्रेष्ठतम सिद्धांतों को स्पष्ट और प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत किया। उसने अन्य चिन्तकों के अच्छे अच्छे विचारों को चुना और प्लेटो की भाँति उन्हें एक संवाद के रूप में गूँथ कर रख दिया,[११] और इस प्रकार अपने समय के राजनीतिदर्शन के सारांश को एक ऐसे ढंग से व्यक्त किया जैसा कि उसका समसामयिक अन्य कोई विद्वान नहीं कर पाया था।

सिसेरो के राजनीतिदर्शन के तीन मुख्य तत्व हैं। प्राकृतिक कानून और प्राकृतिक समता में विश्वास तथा यह धारणा कि राज्य मनुष्य के लिये एक स्वाभाविक संस्था है।

शायद सिसेरो का सबसे अधिक नाम इसलिये है कि उसने प्राकृतिक विधि के विचार का पुन: नये ढंग से विवेचन किया। प्लेटो से उसने सीखा कि न्याय और सम्यकता के सिद्धांत सनातन है और स्टाइकों के इस सिद्धांत को ग्रहण किया कि सर्वोच्च सार्वभौम कानून प्रकृति में विद्यमान है। इनके आधार पर उसने निरपेक्ष विवेक और प्राकृतिक कानून की धारणाओं का मानव विवेक और राज्य के कानून के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसका विश्वास था कि राजनीतिक मामलों में भी नैतिकता के सिद्धान्तों का उसी प्रकार व्यवहार किया जा सकता है जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में, और "प्रकृति के अनुकूल सम्यक विवेक ही सच्चा कानून है; वह सार्वभौम रूप से मान्य, अपरिवर्तनशील और शास्वत होता है।"[१२] संक्षेप में मनुष्य के सब कानूनों और रूढ़ियों के पीछे एक सर्वोच्च सनातन कानून विद्यमान रहता है, और यदि राज्य में न्याय की स्थापना करनी है तो सब चीजों को उसी के समरूप होना पड़ेगा।[१३]

सिसेरो ने प्राकृतिक कानून का जो भाष्य किया वह निरूपण की स्पष्टता के कारण प्रथम श्रेणी में गिना जाने लगा। और उसी स्पष्टता के कारण उसके प्राकृतिक समता सम्बन्धी विचारों को जो ख्याति मिली वह उक्त भाष्य के मुकाबिले में अधिक कम नहीं थी। इस विषय में उसका प्लेटो और अरस्तू से मतभेद था, क्योंकि वह स्टॉइकों की भाँति मानता था कि मनुष्यों में परस्पर भेद कम होता है और समानता अधिक।[१४] चूँकि प्रकृति ने सभी मनुष्यों को विवेकसम्पन्न बनाया है इसलिये उनके प्रकार में भेद नहीं होता, मात्रा का अन्तर भले ही हो।" वास्तव में किसी नस्ल का

११. सिसेरो तथा प्लेटो में अन्य उल्लेखनीय समानताएँ भी हैं। सिसेरो का सबसे विख्यात ग्रन्थ **डी रिपब्लिका** प्लेटो की **रिपब्लिक** का ही अनुकरण है। उसका भी बुनियादी उद्देश्य राज्य में न्याय की खोज करना है। कनिष्ठ सिपियो अफ्रीकनस (Scipio Africanus the younger) सुकरात का प्रतिरूप है।
12. *De Republica*, iii. 22.
13. Carlyle, op cit., Vol. 1, p. 17.
14. *De Legibus*, i. 10. 24.

कोई ऐसा मनुष्य नहीं होगा जो अच्छा पथप्रदर्शक मिलने पर सद्गुण को प्राप्त न कर सके।"[१५] प्राकृतिक समता के इस सिद्धान्त के आधार पर सिसेरो ने दास-प्रथा का खंडन किया। दासों को सम्पत्ति मात्र नहीं समझना चाहिये। उनका भी अधिकार है कि उनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार किया जाय और उनके व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता का सम्मान हो।[१६]

राज्य के सम्बन्ध में सिसेरो की धारणा थी कि वह मनुष्य की सामाजिक मूल-प्रवृत्तियों की स्वाभाविक उपज है। इसके अतिरिक्त, राज्य के काम-काज में भाग लेना जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य और काम है जिसकी कि मनुष्य आकांक्षा कर सकता है। "क्योंकि मनुष्य के लिये अन्य कोई कार्य ऐसा नहीं है जिससे उसके गुणों का इससे अधिक देवत्व की सीमा तक विकास हो सके।"[१७] इस प्रकार सिसेरो ने प्रारम्भिक यूनानियों और बाद के स्टॉइकों[१८] के इस विचार का अनुसरण किया कि राज्य एक विवेक मूलक और वांछनीय संस्था है, न कि स्वार्थों पर आधारित एक कृत्रिम रचना।

इसके अतिरिक्त सिसेरो ने सरकारों का वर्गीकरण किया और प्रत्येक प्रकार के गुण-दोषों का विवेचन किया। इस विषय में उसने पोलीबिउस का अनुसरण किया और बतलाया कि सरकार के तीन सरल रूप होते हैं: राजतंत्र, अभिजाततंत्र और लोक-तंत्र। हर प्रकार की सरकार में कुछ गुण होते हैं किन्तु प्रत्येक पतनशील होती है जिससे उसका रूप विकृत हो जाता और क्रान्तियों का चक्र प्रारम्भ होजाता है। इनमें से सिसेरो राजतंत्र को सर्वोत्तम, अभिजाततंत्र को उससे घटिया और लोकतंत्र को सबसे बुरा मानता था। किन्तु उसे सरकार का मिश्रित रूप पसन्द था जिसमें हर रूप की श्रेष्ठताएं सम्मिलित हों। उसका विश्वास था कि स्थिरता और सुशासन के लिये सरकार के विभिन्न अंगों में पारस्परिक नियंत्रण और सन्तुलन की व्यवस्था का होना आवश्यक है,

15. वही, i. 10. 32.
16. *De Officiis*, i, 13. 41.
17. *De Republica*, i, 7, 12.
१८. सिसेरो के समय तक स्टॉइक सिद्धान्तों में व्यापक संशोधन हो चुका था। जीनो और क्रिसीपुस का दर्शन मूलतः निषेधात्मक था; किन्तु अगली पीढ़ी के पेनेतिउस आदि दार्शनिकों ने नये सिरे से विवेचन करके उनके निषेधात्मक तत्व को बहुत कुछ दूर कर दिया था। सेबाइन का कथन है, "पेनेतिउस के काम का महत्व यह था कि उसने स्टाइकवाद को एक ऐसे नये ढंग से प्रस्तुत किया कि वे अभिजात-वर्गीय रोमन लोग भी उसे आत्मसात कर सके जो दर्शन से नितान्त अपरिचित होते हुए भी यूनान के उस ज्ञान के बड़े प्यासे थे जो रोम द्वारा उत्पादित ज्ञान-विज्ञान से एक दम भिन्न था।··· आत्म निर्भरता के स्थान पर उसने लोक सेवा, मानवता, सहानुभूति और दयालुता के आदर्शों का प्रतिपादन किया।"
(G. H. Sabine, A *History of Political Theory*, rev. ed. (1950), p. 133.

और वह रोम की गणतन्त्रीय व्यवस्था को इसका सर्वोत्तम उदाहरण मानता था।[१९]

डी रिपब्लिका के बाद जिसमें उपर्युक्त विचार मिलते हैं सिसेरो ने **डी लेगीबुस** की रचना की। इस ग्रन्थ पर भी प्लेटो का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। किन्तु प्लेटो ने अपने **लॉज** में **रिपब्लिक** के आदर्शों में संशोधन करके उन्हें अधिक व्यावहारिक बनाया, इसके विपरीत सिसेरो ने **डी लेगीबुस** में अपनी **डी रिपब्लिका** की विचारधारा को ही आगे विकसित किया। उसका आग्रह था कि सम्पूर्ण व्यवहार-विधि का आधार प्राकृतिक विवेक के सिद्धान्त होने चाहिये; जो कानून प्रकृति के कानून के विरुद्ध होते हैं उन्हें वास्तव में कानून नहीं कहा जासकता। पन्द्रह शताब्दियों के बाद तक यूरोपीय चिंतन में इस विचार का प्रभाव दिखाई पड़ता था। सिसेरो ने रोमन नागरिकों को देशभक्ति और न्याय के आदर्शों पर चलने के लिये प्रेरित किया। इस धारणा को लेकर कि सब मनुष्य सम्यकता के प्राकृतिक सिद्धान्तों के आधीन हैं उसने स्टॉइकों की भाँति विश्वनागरिकता का उपदेश दिया। इन सिद्धान्तों के आधार पर प्लेटो की भाँति सिसेरो ने एक विशद सांविधानिक और व्यावहारिक विधि-संहिता की रचना की जिसे वह प्राकृतिक कानून के सिद्धांतों के समरूप समझता था। इस संहिता के कुछ खंड मात्र उपलब्ध हैं।

सिसेरो के विचारों में मौलिक तत्व बहुत कम था। उसका मुख्य काम यूनानी विचारों को रोम के चिंतन में समाविष्ट करना था, किंतु ऐसा करने में उसने उन विचारों के महत्व में स्पष्ट परिवर्तन कर दिया। स्टॉइकों का विश्वनागरिकता का सिद्धान्त यूनानियों के राजनीतिक महत्व के पराभव का प्रतीक था, किंतु रोम में वही आदर्श एक वास्तविक विश्व-साम्राज्य का सिद्धांत और रोमन नागरिकों के इस गौरवपूर्ण आत्म-विश्वास का, कि उन्हें एक विशेष ऐतिहासिक कार्य सम्पादन करना था, प्रतीक बन गया। सिसेरो ने प्राकृतिक कानून को एक ऐसी विधि-व्यवस्था की रचना का आधार बनाया जो सारे संसार में लागू की जा सकती थी। उसका सिद्धांत था कि चूँकि सब मनुष्यों के अधिकार समान हैं इसलिये प्रकृति ने उन्हें सार्वभौम सिद्धांतों द्वारा शासित होने के लिये बनाया है।[२०] अतः रोमन साम्राज्य का एक सन्तोषजनक आधार था, क्योंकि रोमन

---

१९. किंतु इस सम्बन्ध में उसने एक चेतावनी भी दी। उसका आग्रह था कि राज्य की बागडोर सँभालनेवाली सरकार और स्वयं राज्य—इन दोनों के भेद को सदैव ध्यान में रखना चाहिये। अन्त में जाकर सत्ता सामूहिक रूप से सम्पूर्ण जनता में निहित होनी चाहिये और सरकार उसके अभिकर्ता की हैसियत से काम करे। तभी सांविधानिक शासन-प्रणाली अत्याचारों से मुक्त रह सकती है।

२०. सिसेरो ने प्रकृति शब्द का सदैव एक निश्चित अर्थ में प्रयोग नहीं किया। सामान्यतया वह उसका प्रयोग एक सच्ची और विवेकसम्पन्न व्यवस्था के अर्थ में करता था। कभी-कभी ऐसा लगता है कि उससे उसका अभिप्राय आदिम, अविकसित व्यवस्था से है। (देखिये: *De Officiis* 1. 7. 12) सिनेका ने इस धारणा का निरूपण किया था कि संगठित राजनीतिक जीवन से पहले मनुष्य का जो आदिम भोलापन था उसका कारण प्रकृति की अवस्था का जीवन था। (देखिये: Carlyle

लोगों को ईश्वर ने अपना कार्य पूरा करने के लिये नियुक्त किया था। चूँकि सिसेरो के समय में राजनीतिक गुटों में पारस्परिक संघर्ष चल रहे थे और देशभक्ति की भावना क्षीण हो रही थी, इसलिये समसामयिक राजनीति पर उसकी रचनाओं का बहुत ही कम प्रभाव पड़ा, किंतु उसके न्याय तथा प्राकृतिक कानून के विचार रोमन विधिक चिंतन में समा गये और परवर्ती विधिवेत्ताओं और प्रारम्भिक ईसाई लेखकों को बहुत प्रभावित किया। और उसका विश्व एकता और सार्वभौम कानून तथा सत्ता का सिद्धांत सम्पूर्ण मध्ययुग में राजनीतिक चिंतन का केन्द्रीय सिद्धांत बना रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का रोमन सिद्धान्त

अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों का रोमन सिद्धान्त यूनानियों के सिद्धान्त के मुकाबिले में अधिक आदिम और आरम्भिक किस्म का था। रोमन लोग उस पहले के सिद्धान्त को मानते थे कि युद्ध राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का स्वाभाविक रूप है। किन्तु अपनी शान्ति-सन्धियों से वे केवल युद्ध का अन्त करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे बल्कि अपने भूतपूर्व शत्रुओं के साथ किसी न किसी प्रकार का स्थाई मैत्री-सम्बन्ध कायम करने का भी प्रयत्न करते थे। प्रारम्भ में रोम ने अपने पड़ोसी राज्यों के साथ समानता का व्यवहार किया, किन्तु बाद की सन्धियों में कुछ ऐसी शर्तें जोड़ दी जिनसे रोम की प्रमुखता स्थापित हो गई और वे राज्य उसके अधीन बन गये। रोम में यूनानी नगर-राज्यों के मुकाबिले में विदेशियों के साथ अधिक उदारता का व्यवहार किया जाता था, और रोम की वैदिशिक नीति के पीछे स्वार्थ साधन अधिक चतुराईपूर्ण ढँग से छिपा रहता था। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में न्याय और वैधता को आँकने में वे सदैव अपने ही मापदंड से काम लेते थे। उस युद्ध को वे न्यायपूर्ण मानते थे जिसकी घोषणा रोम के धार्मिक अनुष्ठानों और विधिक विहिताचारों के साथ होती थी।

रोमन साम्राज्य के निर्माण और विस्तार में कूटनीति से भी उतना ही काम लिया गया था जितना कि सैनिक बल से। रोम की नीति थी : विभिन्न राष्ट्रों में फूट-डालना, शक्तिशाली राष्ट्रों को हराने में दुर्बलों की सहायता करना और अन्त में दोनों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेना। वह अपने साधनों का मितव्ययता के साथ प्रयोग करता और जहाँ तक सम्भव हो सकता अपने मित्रों के साधनों से काम लेता। इसके अतिरिक्त वह सन्धियों को बहुधा छल-कपट द्वारा अपने लाभ के लिये तोड़ने का प्रयत्न करता और न्याय के बहाने अन्याय का आचरण करता। अपने विश्व-साम्राज्य की स्थापना के बाद भी रोम को अपने पड़ोसियों के साथ युद्ध और शान्ति के सम्बन्ध चलाने पड़ते थे। भारत, सिथिया, मीड्स और आइबेरिया के राजदूतों का स्वागत किया जाता था।

op. cit, Vol. 1, Chap. 2) इस विचार ने बाद में हॉब्स, लॉक और रूसो के सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धांत के रूप में विशेष महत्व प्राप्त कर लिया।

उत्तरी सीमा पर जर्मनों के साथ युद्ध होते रहते थे। कुछ भी हो, रोम ने इन जातियों के साथ कभी समानता का व्यवहार नहीं किया। रोमन सिद्धान्त के अनुसार रोमन साम्राज्य ही केवल वैध राज्य था, और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से अन्य राज्यों के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकार किया जाता था। सार्वराष्ट्रीय कानून इन्हीं जातियों के साथ बरता जाता था जो रोम की मित्र थीं। अन्य जातियों के साथ किसी प्रकार के वैध सम्बन्ध नहीं स्वीकार दिये जाते थे।

चूँकि रोम ने लगभग सम्पूर्ण सभ्य संसार को एक व्यवस्था के अन्तर्गत बाँध लिया था इसलिये उसके साम्राज्य की स्थापना से महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कायम होना असम्भव हो गया, फिर भी उसने बाद के अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। उसने एक सर्वनिष्ठ नागरिकता की स्थापना की, बलपूर्वक शान्ति स्थापित रक्खी और अनेक राष्ट्रों पर निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था लागू की, इसका परिणाम यह हुआ कि राज्यों के बीच पृथकत्व की दीवालें टूट गईं और इस विचार का लोप हो गया कि विदेशी लोग प्राकृतिक दृष्टि से ही घटिया कोटि के और शत्रु हैं। धीरे-धीरे लोग एक सार्वभौम कानून को मानने और एक जाति को अन्य सबसे श्रेष्ठ समझने के अभ्यस्थ हो गये ; इन धारणाओं का मध्य युग में विशेष प्रभाव रहा और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास के लिये आवश्यक सिद्ध हुईं। इस दिशा में सार्वराष्ट्रीय कानून—ऐसे नियम और परिपाटियाँ जिनके सम्बन्ध में विभिन्न जातियाँ एक मत हैं—का भी उतना ही महत्व था। बाद के रोमन विधिवेत्ताओं ने सार्वराष्ट्रीय कानून के सामान्य सिद्धान्तों का प्राकृतिक कानून के साथ तादात्म्य स्थापित किया और उनको सब राष्ट्रों पर लागू किये जाने योग्य सार्वभौम सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार किया। मध्ययुग के अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय कानून के संस्थापकों ने इन विचारों को ले लिया, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में उनका प्रयोग किया, और अन्त में इन विचारों ने इस आधुनिक धारणा को जन्म दिया कि सब राष्ट्र एक ही परिवार के सदस्य हैं और उन्हें निश्चित विधिक सिद्धान्तों के आधार पर अपने पारस्परिक सम्बन्धों को चलाना चाहिये।

रोमन राजनीतिक चिन्तन का योगदान

यूनान तथा रोम के राजनीतिक आदर्श एक दूसरे के पूरक थे, जहाँ एक कमजोर था वहाँ दूसरा शक्तिशाली था। यूनानियों के स्वतंत्रता और लोकतंत्र के विचारों के विरुद्ध रोमन लोगों ने विधि-व्यवस्था और एकता के विचारों पर बल दिया। यूनानियों की कमज़ोरी यह थी कि वे एकता की स्थापना करने में विफल रहे; राज्यों की आन्तरिक कलह और उनके पारस्परिक युद्धों के कारण उन्हें अपनी स्वाधीनता से हाथ धोना पड़ा। रोम ने अपनी घर की जनता को एक सूत्र में बाँधा, और पश्चिमी जगत पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, किन्तु ऐसा करने में उसने वैयक्तिक स्वतंत्रता को कुचल दिया और गणतंत्रीय नगर को एक निरंकुश साम्राज्य में परिवर्तित कर दिया। अपने व्यवस्था

और एकता के आदर्शों को पूरा करने, और शान्ति तथा विश्व कानून की स्थापना करने के लिये रोम को यूनान के स्वतंत्रता और लोकतंत्र की धारणाओं को बाध्य होकर नष्ट करना पड़ा, और एक अत्यधिक केन्द्रीकृत और सर्वशक्तिमान राज्य की स्थापना करनी पड़ी। जिस प्रकार यूनान में स्वतंत्रता ने विकृत होकर अराजकता का रूप धारण कर लिया वैसे ही रोमन साम्राज्य में व्यवस्था अत्याचार में परिवर्तित होगई। स्वाभाविक विकास रुक गया, हर नई चीज को सन्देह की दृष्टि से देखा और नापसन्द किया गया और यथास्थिति को बनाए रखना भी एक मात्र उद्देश्य बन गया।

किन्तु स्वतंत्रता और लोकशासन का यूनानी आदर्श छोटे और समान राज्यों में ही व्यवहृत किया जा सकता था। उस आदर्श के पीछे बाहर के लोगों को अपने से अलग रखने की भावना और अभिजातवर्गीय दृष्टिकोण छिपा रहता था। आधुनिक लोकतंत्रात्मक राष्ट्रीय राज्यों के विकास से पहले रोम का कार्य आवश्यक था। स्थायी ईर्ष्या और तुच्छ वर्गगत भेदभाव को मिटाना और मानवभ्रातृत्व और कानून के समक्ष मानव समता के आदर्शों को राजनीतिक जीवन में प्रतिष्ठित करने की जरूरत थी। लोकतंत्र और स्वतंत्रता को व्यापक और सन्तोषजनक आधार पर स्थापित करने से पहले दो चीजों की आवश्यकता थी : पृथकत्व की उस भावना को दूर करना जो "बर्बर" और "चुने हुए लोग" आदि शब्दों में निहित थी, और दासता की सार्वभौम व्यवस्था का उन्मूलन करना। रोम की सार्वभौम सत्ता और स्टॉइकों तथा ईसाइयों की मानवभ्रातृत्व की धारणा ने आधुनिक दृष्टिकोण की नींव डाली। ये आदर्श रोम के पतन के बाद भी जीवित रहे, नर्जागरण से उनको बल मिला, और कान्ति के युग में उनको राजनीतिक संस्थाओं के रूप में क्रियान्वित किया गया।

इसके अतिरिक्त रोम ने राज्यीय और औपनिवेशिक प्रशासन के बहुमूल्य सिद्धान्त भी प्रदान किये। साम्राज्य के अन्तर्गत प्रान्तों को पर्याप्त मात्रा में स्वशासन का अधिकार मिला हुआ था, इससे रोमन शान्ति सैनिक साम्राज्यवाद न रहकर कुछ अच्छी चीज बन गई। अधीन जातियाँ भी साम्राज्य द्वारा स्थापित व्यवस्था के मूल्य को स्वीकार करती थीं, और जब रोमन व्यवस्था छिन्न-भिन्न होगई तो उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि कोई बहुमूल्य चीज खो गई है। जिन जातियों पर रोम का आधिपत्य रह चुका था उनमें से ऐसी कोई नहीं निकली जिसने सभ्यजीवन की धारणाओं को पूर्णतया भुला दिया हो, और राजधानी के भ्रष्ट और अव्यवस्थित हो जाने के बहुत बाद तक प्रान्त फलते-फूलते रहे। रोम नगर के नष्ट होजाने पर भी उसके नाम को लोग शक्ति के प्रतीक के रूप में याद करते रहें। उसकी भाषा तथा कानून का दुनिया भर में प्रचार होचुका था; जिन बर्बर लोगों ने साम्राज्य को जीता वे रोमन पोशाक के चिथड़ों से अपने को विभूषित करना एक गौरव की बात समझते थे, चर्च ने अपनी सत्ता तथा संगठन का निर्माण रोमन साम्राज्य के नमूने पर ही किया, रोमन शब्द सीज़र (साम्राट) और इंपीरियम (निरं-

कुश सत्ता) दीर्घकाल तक राजनीतिक चिन्तन पर छाये रहे। रोमन आदर्श लोगों के हृदय में ऐसी दृढ़ता से समा गये थे कि विश्व की एकता का सिद्धांत और पश्चिमी जगत पर सार्वभौम कानून को लागू करनेवाली एकल सर्वशक्तिमान सत्ता का आदर्श शताब्दियों तक जीवित रहे, यद्यपि वास्तविक परिस्थितियाँ इसके एक दम प्रतिकूल थीं।

पठनीय ग्रन्थ

Bowle, John, *Western Political Thought* (New York, Oxford, 1945), Bk. 1, Chap. 6.

Cains, Huntington, *Legal Philosophy from Plato to Hegel* (Baltimore, Johns Hopkins Press, 1949), Chap. 4.

Carlyle, A. J. and R. W., *A History of Medieval Political Theory in the West.*, 6 Vols. (London, Blackwood, 1903-1936), Vol. 1, Parts I & II.

Cowell, F. R., *Cicero & the Roman Republic* (London, Pitman, 1948).

Glover, T. R., *Springs of Helles* (New York, Macmillan, 1946), Chap. 6.

Haskell, H. J., *This was Cicero* (New York, Knof, 1942).

Mayer, J. P., *Political Thought* (New York, Viking, 1939), Chap. 2.

McIlwain, C. H., *The Growth of Political Thought in the West*, (New York, Macmillan, 1932), Chap. 4.

Rand, E. K., *The Building of Eternal Rome* (Cambridge, Harward Univ. Press, 1943).

Sabine, G. H., *A History of Political Theory*, rev. ed. (New-York, Holt, 1950).

Schulz, Fritz, *History of Roman Legal Science* (Oxford, Clarendon Press, 1948).

Syme, Ronald, *The Roman Revolution* (Oxford, Clarendon Press, 1939).

अध्याय ७

मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ

रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत ईसाईयत

मध्य युग के प्रारम्भ में राजनीतिक जीवन में दो नये तत्वों का समावेश हुआ। पहला, ईसाइत के सिद्धान्त जिनका रोमन दर्शन और संस्थाओं के सम्पर्क से विकास हुआ था, और दूसरा, ट्यूटन बर्बरों के राजनीतिक विचार जिन्होंने रोमन साम्राज्य को उलट दिया था। ट्यूटन लोगों के विचार संस्थाओं के रूप में विकसित हुए, और मध्य युग के अन्त से पहले राजनीति दर्शन पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसके विपरीत ईसाई धर्म की स्थापना और ईसाई चर्च के विकास ने मध्ययुगीन राजनीतिक जीवन पर अत्यन्त गहरा प्रभाव डाला।

ईसाइत का उदय ठीक उस समय हुआ जबकि राजतन्त्र के अन्तर्गत रोम का पुनः संगठन पूरा हो चुका था। उसने इस स्टॉइक सिद्धान्त को आत्मसात कर लिया था कि सब मनुष्य ईश्वर की निगाह में समान है, और मनुष्य के व्यक्तित्व को सबसे अधिक मूल्यवान ठहराया था। उसका प्रादुर्भाव एक ऐसी जाति के बीच हुआ था जो साम्राज्य के एक उपेक्षित भाग में रहती और जिससे सब घृणा करते थे; और जब तक रोम शक्तिशालो रहा उसकी प्रगति धीमी रही और वह समाज के निम्न वर्गों को ही आकृष्ट कर सकी। जैसे ही साम्राज्य का पतन हुआ, उसका प्रचार तेजी से होने लगा और चौथी शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ तक रोमन जगत के प्रमुख वर्गों ने उसे अंगीकार कर लिया और कानूनी तौर पर उसे रोम के पुराने धर्म के समकक्ष स्थान मिल गया। जब सम्राट कॉंस्टेंटाइन ने उसे साम्राज्य का सरकारी धर्म घोषित कर दिया तो उसने शीघ्रता से पतनशील गैर-ईसाई धर्मों पर विजय प्राप्त कर ली और चौथी शताब्दी के अन्त तक रोमन जगत का एक मात्र वैध धर्म बन गई। उसके अनुयायियों के उत्साह के कारण उन ट्यूटन बर्बरों में भी उसका प्रवेश हो गया जो शीघ्र ही रोमन साम्राज्य का नाश करने वाले थे। इस प्रकार सम्राट की सत्ता पर ईसाइत के संमोदन की मुहर लग गई और यह विश्वास दृढ़ता से स्थापित हो गया कि रोमन सत्ता संसार पर शासन करने के लिये ईश्वर द्वारा स्थापित की गई है और चिरस्थाई है। ये विचार मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन में आधारभूत तत्वों के रूप में विद्यमान रहे।

प्रारम्भ में चर्च का संगठन लोकतांत्रिक आधार पर किया गया किन्तु उन चर्चों

को जो महत्वशाली नगरों में स्थित थे और उनको जिनकी स्थापना संदेहवाहकों ने की थी कुछ प्रमुखता मिली हुई थी। रोम के चर्च तथा उसके बिशप को विशेष रूप से प्रमुख माना जाता था। ईसाइयत रोमन साम्राज्य का सरकारी धर्म बनने के बाद तुरन्त ही राजनीति में फँस गई। धार्मिक विषयों में अन्तिम सत्ता सम्राट के हाथों में आगई, और चर्च का संगठन सरकार की व्यवस्था के नमूने पर किया गया। किन्तु साम्राज्य के जीवन की अन्तिम शताब्दियों में चर्च अधिकारियों ने सम्राट की बहुत सी शक्ति स्वयं हथिया ली। अधिकतर सम्राट दुर्बल थे, और चर्च के प्रमुख अधिकारी योग्य व्यक्ति थे, और इसके अतिरिक्त पतन और अव्यवस्था के उस काल में चर्च के सिद्धान्त विशेष रूप से आकर्षक सिद्ध हुए।

पश्चिमी साम्राज्य के पतन के साथ-साथ रोम की राजनीतिक संस्थाएँ नष्ट हो गईं अथवा उनमें गम्भीर परिवर्तन हो गये, किन्तु चर्च का संगठन ज्यों का त्यों कायम रहा। अतः चर्च परम्पराओं का प्रतिनिधि और पोषक बन गया, आक्रमणों के बाद के अराजकता के युग में उसने एकता के सिद्धान्त पर बल दिया, और शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखने के लिये उसे राजनीतिक सत्ता पर भी अधिकार करना पड़ा और यह अधिकार दिन पर दिन बढ़ता गया। बिशप लोग बर्बरों के राज्यों में राजकीय अधिकारी बन बैठे और कुछ महत्वशाली नगरों में तो शासन सत्ता ही वास्तव में उनके हाथों में आगई। जब चर्च पर इस प्रकार राजनीतिक कार्यों का भार आ पड़ा तो उसके संगठन में सत्ता का और भी अधिक केन्द्रीयकरण हो गया। पूर्वी साम्राज्य आक्रमणों के बाद भी जीवित रहा इसलिये वहाँ चर्च को राज्य की अधीनता में ही रहना पड़ा। उसने अपनी शक्ति दार्शनिक चिन्तन में और धर्मशास्त्रों के गूढ़ प्रश्नों का हल ढूँढ़ने में लगाई, पश्चिम के चर्च की भाँति उसके सामने बर्बरों को ईसाई बनाने और उन पर नियन्त्रण कायम करने की समस्या नहीं थी, क्योंकि वहाँ की राजनीतिक संस्थाएँ छिन्न-भिन्न नहीं हुईं थीं।

पोपतन्त्र का उदय

जब कोंस्टेंटाइन ने ईसाई धर्म अंगीकार किया उस समय चर्च का एक श्रेणी-बद्ध संगठन के रूप में परिवर्तन होना आरम्भ हो गया था। पादरी लोग सांसारिक जनों से पृथक होने लगे थे, उनका एक अलग वर्ग बनने लगा था जिसके स्पष्ट अधिकार और विशेषाधिकार थे और जो शक्ति तथा पदों के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में विभक्त होने लगा था। किसी नगर का जो प्रमुख चर्च-अधिकारी होता वही उसका बिशप बन जाता था। महत्वशाली नगरों के बिशप प्रान्तों के अन्य बिशपों पर अपना आधिपत्य जमाने लगे। और अन्त में राजधानी के बिशप ने एक धार्मिक राजतंत्र की स्थापना करके इस प्रक्रिया को पूरा कर दिया। जब ईसाइयत साम्राज्य का सरकारी

धर्म बन गई तो रोम का बिशप धार्मिक विषयों में सम्राट का विधिक सलाहकार बना दिया गया, और जो धार्मिक प्रश्न सम्राट के निर्णय के लिये आते उन्हें बहुधा वही तै करता था। यह विश्वास चला आया था कि रोम के चर्च की स्थापना संत पीटर ने, जो ईसामसीह के प्रमुख संदेहवाहक थे, की थी, अतः रोम का बिशप उनका उत्तराधिकारी माना गया; और यह उसकी प्रमुखता का सैद्धांतिक आधार बन गया। इसके अतिरिक्त पश्चिम के प्रांतीय चर्चों की स्थापना रोमन चर्च के तत्वावधान में हुई थी, उससे उनको आर्थिक सहायता मिलती थी और वे रोम के बिशप की आधीनता स्वीकार करते थे। रोम का चर्च बर्बरों में ईसाइयत का प्रचार करने के लिये प्रचारकों को भेजा करता था, इसलिये बर्बरों के लिये उस चर्च को जहाँ से उनके धर्मगुरु आते थे, प्रमुख मानना स्वाभाविक था।

चर्च के सिद्धांतों और व्यवहार में जो परिवर्तन हुए उनसे चर्च की एक शक्तिमान और केन्द्रीयकृत संगठन बनने की गति तीव्र होगई। अपनी पहली दो शताब्दियों में ईसाइयत एक सरल तथा आध्यात्मिक धर्म बनी रही। किंतु जब राज्य ने ईसाइयत को अंगीकार कर लिया तो उसको मानना एक फैशन हो गया, फलतः जो लोग आध्यात्मिक भावनाओं से अनभिज्ञ थे किंतु नाम के लिये ईसाई हो गये थे उन्होंने ईसाइयत में अनेक गैर-ईसाई विचारों का समावेश कर दिया। जब ट्यूटन बर्बरों को ईसाई बनाया गया तो चर्च के व्यवहार और विश्वासों में और भी अनेक परिवर्तन आगये। अन्त में पूर्वी चर्च में जो दार्शनिक चिंतन आरम्भ हुआ उनके कारण सिद्धांतों में अनेक मतभेद उठ खड़े हुए। अतः परम्परानिष्ठता और नास्तिकता के अन्तर को स्पष्ट रूप से निश्चित करने की आवश्यकता हुई। परिणामस्वरूप चर्च के अनुष्ठानों और सिद्धांतों की रक्षा तथा नियमन के लिये चर्च की एक सरकार कायम होगई और रोमन कानून के आधार पर धार्मिक कानूनों की एक विशद व्यवस्था का निर्माण किया गया। चौथी शताब्दी में जब एरियस के अनुयायियों ने परम्परागत सिद्धान्तों के खिलाफ विद्रोह करके चर्च में एक उपद्रव खड़ा कर दिया तो चर्च की एक महापरिषद ने रोम के बिशप को अन्य बिशपों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार दे दिया। और पाँचवी शताब्दी में पश्चिमी सम्राट ने रोम के बिशप को सर्वोच्च घोषित कर दिया और धार्मिक विषयों में उसे अपील का विधिक न्यायालय बना दिया।

रोम की ऐतिहासिक स्थिति से उत्पन्न प्रभाव और विचार ही रोम के बिशप को पोप के पद पर प्रतिष्ठित करने के मुख्य कारण थे। चूँकि रोम राजनीतिक जगत की राजधानी था इसलिये यह तर्कसंगत जान पड़ता था कि उसी को धार्मिक दुनियाँ का केन्द्र माना जाय। जब चर्च ने अपने संगठन का निर्माण आरम्भ किया तो उसके लिये रोम की साम्राज्यीय व्यवस्था का अनुकरण करना स्वाभाविक था; और बर्बरों की विजय के उपरान्त जब रोम के लोगों के लिये वास्तविक प्रशासन कार्य में अपनी राज-

नैतिक और विधिक प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर न रहा तो रोमन जगत के योग्यतम व्यक्तियों ने चर्च का आश्रय लिया और पोप के अधीन एक धार्मिक साम्राज्य के सृजन में अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया। यह विश्वास कि रोम का साम्राज्य ईश्वर ने स्थापित किया है और चिरस्थाई है बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। उसने तथा ईसाइयत के इस विचार ने कि संसार में ईसामसीह के राज्य का शासन कायम होनेवाला है, इस आध्यात्मिक धारणा को जन्म दिया कि संगठित चर्च तथा पोप के अधीन एक विश्व-साम्राज्य की स्थापना करना आवश्यक है।

जब सम्राट का दरबार रोम से उठकर कुस्तुन्तुनियाँ चला गया तो रोम के बिशप की सत्ता को आच्छादित करनेवाला उसके निकट कोई न रहा। परिणामस्वरूप रोम के बिशप को अपने मुख्य प्रतिद्वन्द्वी कुस्तुन्तुनियाँ के बिशप के मुकाबिले में अधिक स्वतंत्रता के साथ काम करने का अवसर मिल गया, और वह धार्मिक सिद्धान्तों की शुद्धता को अधिक स्थिरता के साथ कायम रखने में सफल हुआ, जबकि पूर्वी बिशप को निरन्तर क्रान्ति से त्रस्त दरबार के विचारों और आदेशों के अनुसार काम करना पड़ता था। रोम से सम्राट की अनुपस्थिति के कारण बिशप नगर का सबसे महत्वशाली अधिकारी बन गया, और स्थानीय प्रशासन की काफी शक्ति उसके हाथों में आगई। इस प्रकार रोम का बिशप जिसके हाथों में पहले से ही विस्तृत धार्मिक शक्तियाँ थी, एक छोटे से राज्य का स्वतंत्र शासक भी बन बैठा।

सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ से पहले रोम और फिर सम्पूर्ण इटली के राजनीतिक मामलों का प्रबन्ध करना पोप के कार्यों का एक निश्चित अंग हो गया। पूर्वी साम्राज्य पर मुसलमानों के आक्रमणों के कारण कुस्तुन्तुनियाँ में रहनेवाला सम्राट पश्चिमी प्रदेशों के शासन की ओर समुचित ध्यान नहीं दे सका, इसलिये व्यवहार में पोप हर प्रकार की उच्चतर राजनीतिक सत्ता के नियंत्रण से पूर्णतया मुक्त हो गया। लगभग इसी समय पूर्वी और पश्चिमी चर्चों का अन्तिम रूप से पृथक्करण होगया। चूँकि चर्च और सरकार के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध था इसलिये जब साम्राज्य का विभाजन हुआ तो चर्च भी रोम तथा कुस्तुन्तुनियाँ के दो पृथक केन्द्रों में संगठित होगया। यूनानी-प्राच्य जगत तथा रोमन जगत के बीच भाषा और सभ्यता के जो भेद थे उन्होंने पृथक्करण की इस प्रक्रिया को और भी तीव्र कर दिया। सिद्धान्तों के भेदों ने भी दोनों चर्चों को एक दूसरे से अलग किया और जब आठवीं शताब्दी में मूर्ति-पूजा के प्रश्न पर विवाद उठ खड़ा हुआ तो यूनानी और रोमन ईसाइयत की सभी विरोधी प्रवृत्तियाँ ऊपर उभड़ आई और एक संकट उत्पन्न होगया। अन्त में दोनों चर्च अलग होगये और एक करने के अनेक प्रयत्नों के बावजूद पृथक रहे। इस प्रकार रोम का पोप धार्मिक तथा राजनीतिक दोनों ही विषयों में पूर्व के नियंत्रण से मुक्त हो गया, और निर्विरोध पश्चिमी चर्च का प्रमुख स्वीकार कर लिया गया।

जब लोम्बार्ड के राजाओं ने रोम के नगर को अपने राज्य में मिलाने का प्रयत्न किया तो पोप ने दृढ़ता से उनका विरोध किया, और जब उसे सफलता की आशा न रही तो संत पीटर के नाम पर फ्रैंकों से जिन्होंने रोमन ईसाइयत अस्वीकार करली थी और जिनके साथ पोप की बहुत पहले से मित्रता चली आ रही थी, सहायता के लिये प्रार्थना की। फ्रैंकों के शक्तिशाली शासक चार्ल्स मार्टल ने, और बाद में उसके पुत्र पेपिन ने इस प्रार्थना को सुना और लोम्बार्डों को उन प्रदेशों से मार भगाया जिन पर उन्होंने अधिकार कर लिया था और इटली की जिस भूमि पर पहले पूर्वी सम्राटों का आधिपत्य था उसको जीत लिया और पोप को अर्पित कर दी। इस प्रकार पोप को राजनीतिक सत्ता पर जिसका व्यवहार में वह बहुत पहले से उपभोग करता आया था, कानून की छाप लग गई। पोप ने इस एहसान का शीघ्र ही बदला चुका दिया। पैपिन ने फ्रैंकों की राजशक्ति पर अनुचित तरीके से अधिकार कर लिया था, पोप ने उसका सम्मोदन किया, अभिषेक करके पैपिन की स्थिति की पुष्टि कर दी, और जब फ्रैंकों का राज्य पश्चिमी यूरोप के एक बड़े क्षेत्र पर स्थापित होगया तो उसने पैपिन के पुत्र शार्लमेन को अभिषिक्त कर दिया। इस प्रकार ८०० ई० में मध्ययुगीन साम्राज्य की स्थापना हुई और राज्य तथा चर्च का वह सम्बन्ध आरम्भ हुआ जो शताब्दियों तक राजनीतिक चिन्तन का मुख्य विषय बना रहा।

प्रारम्भ में पोप की जो स्थिति थी उसमें मुख्य दोष उसके निर्वाचन की प्रणाली थी। पहले उसको पादरीगण तथा रोम के लोग चुनते थे, और नये बिशप के चुनाव के समय बहुधा सार्वजनिक दंगे और रक्तपात हुआ करता था। साम्राज्य के पतन के बाद इस पद का नियन्त्रण नगर पर शासन करनेवाले शक्तिशाली परिवारों के हाथों में चला गया। जब उसका राजनीतिक महत्व हो गया, तो उसको लेकर इन परिवारों में संघर्ष होने लगे और प्रतिद्वन्दी सामन्ती गुट अपनी इच्छानुसार पोपों को नियुक्त और अपदस्थ करने लगे। इस प्रकार की गुटबन्दी और संघर्षों का परिणाम यह हुआ कि चरित्र की दृष्टि से बदनाम लोग हिंसा और घूस द्वारा पोप के पद पर आसीन होने लगे। दुर्बलता का यह कारण ग्यारहवीं शताब्दी में दूर हुआ जब कि चर्च परिषद ने एक निर्वाचक मण्डल को पोप को चुनने का अधिकार दे दिया। पहले इस मंडल में रोम के प्रमुख पादरी सम्मिलित होते, बाद में इसके क्षेत्र का विस्तार कर दिया गया। इस प्रकार पोप स्थानीय राजनीति के प्रभाव से मुक्त हो गया, और एक ऐसा मार्ग तैयार हो गया जिससे महान व्यक्ति पोप के पद पर प्रतिष्ठित हुए जिन्होंने उस पद को शक्ति और प्रतिष्ठा के उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया।

प्रारम्भिक काल के चर्च में राजनीतिक चिन्तन

ईसाइयत के प्रवर्तक को राजनीतिक सिद्धान्तों में अधिक दिलचस्पी नहीं थी। उसने निम्न तथा उत्पीड़ित वर्गों को उपदेश दिया और धनी तथा शक्तिशाली लोगों

के महत्व का तिरस्कार किया। श्रेष्ठ नियम (मत्ती की अंजील, ७।१२) के सिद्धान्तों पर जोर देते समय उसने व्यक्ति की नैतिक भावना को उत्तेजित किया और इस प्रकार राजशक्ति के महत्व को कम किया। ईसा के आध्यात्मिक राज्य, जिसकी स्थापना करना उसका उद्देश्य था, और सांसारिक राज्यों के बीच के अन्तर को बड़ी सावधानी से समझाया। लोगों ने उसको रोमन अधिकारियों से भिड़ाने का प्रयत्न किया, किन्तु इससे वह सदैव बचता रहा और आग्रह के साथ कहता रहा कि मुझे सांसारिक विषयों से कोई प्रयोजन नहीं है। संदेहवाहकों की रचनाएँ भी इसी भावना से ओतप्रोत थीं। उन्होंने सभी सत्ताधारियों की आज्ञाओं का नम्रतापूर्वक पालन करने का उपदेश दिया, राज्य को पृथ्वी पर ईश्वर की इच्छा को पूरा करने का साधन ठहराया, और निर्विरोध दूसरों के प्रहारों को सहने तथा अकिंचन भाव से जीवन बिताने पर ज़ोर दिया। राज्य की अवज्ञा करने की केवल तभी इजाजत दी गई जब कि उसने चर्च के उपदेशों में हस्तक्षेप किया। उस समय मनुष्य की अपेक्षा ईश्वर की आज्ञाओं को पालन करने का आदेश दिया गया जिसके परिणाम स्वरूप शहीदों ने निष्क्रिय प्रतिरोध किया।

साथ ही साथ राजनीतिक सिद्धांत के कुछ ऐसे तत्व थे जिन्हें प्रारम्भिक ईसाई लेखकों ने अपने समय की प्रचलित विचारधाराओं में से ले लिया था, और जिनका महत्व उस समय बढ़ गया जब कि ईसाइयत का प्रचार उच्च वर्गों में हुआ और जब स्टॉइक दर्शन का उस पर प्रभाव पड़ा। नवीन इच्छापत्र (न्यू टैस्टामेंट) में प्राकृतिक कानून, मानव समता और सरकार के स्वभाव के संबंध में महत्वपूर्ण विचार मिलते हैं।

ग़ैर-यहूदियों का उल्लेख करते हुए सन्त पाल ने कहा कि वे "स्वभाव से ही विधि-विहित काम करते हैं।"[1] इस कथन में यह धारणा निहित है कि कुछ प्राकृतिक कानून हैं जो मनुष्यों के हृदय में अंकित हैं और जिन्हें विवेक द्वारा जाना जा सकता है। प्राकृतिक कानून के इस स्टॉइक विचार को प्रारम्भिक ईसाई लेखकों ने अपना लिया, और आगे चल यह मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन का एक महत्वपूर्ण तत्व बन गया।

सन्देहवाहकों ने भी परवर्ती यूनानी दार्शनिकों के विश्वनागरिकता के उन विचारों को अपना लिया जिनमें मनुष्यों की समता पर जोर दिया गया था। इन विचारों ने कि ईश्वर विश्व का पिता है और ईसाइयत के अन्तर्गत सब वर्गों के लोग एक हैं, सारे संसार में मानव स्वभाव की एकरूपता और मानव समता की धारणा को जन्म दिया। किन्तु दासता के संबंध में स्टॉइक दार्शनिकों की भाँति प्रारम्भिक ईसाइयों के भी विचार सर्वथा संगतिपूर्ण नहीं थे। उनका कहना था कि ईश्वर के समक्ष दास और स्वतंत्र में कोई भेद नहीं है, दासता मनुष्य के शरीर पर भले ही नियंत्रण कायम करले, वह उसकी आत्मा को नहीं बाँध सकती। सन्त पाल ने कहा कि "न कोई दास है और न कोई स्वतंत्र क्योंकि

1. Romans 2 : 12—14.

ईसा मसीह के लिये सब एक हैं"[२] फिर भी एक मानव संस्था के रूप में दासता को स्वीकार कर लिया गया; और अवैध नहीं माना गया। बल्कि दासों को अपने स्वामियों की वफादारी से सेवा करने और "सब विषयों में उनकी आज्ञा मानने"[3] की सलाह दी गई।

अन्त में, नये इच्छापत्र में राज्य के स्वभाव के संबंध में एक निश्चित सिद्धांत प्रतिपादित किया गया[४] जो राजनीतिक चिंतन के परवर्ती इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। राज्य के संबंध में बतलाया गया कि वह एक दैवी संस्था है और उसे अपनी सत्ता ईश्वर से प्राप्त हुई है। राज्य की आज्ञाओं का पालन करना एक धार्मिक कर्तव्य और राजनीतिक आवश्यकता है। राज्य का अस्तित्व न्याय की व्यवस्था बनाए रखने के लिये है। इसलिये वह एक पवित्र चीज है, उसका शासक ईश्वर का सेवक है अतः उसके आदेशों का पालन आवश्यक है। संदेहवाहकों ने इन विचारों को केवल इसलिये नहीं व्यक्त किया कि वे रोमन सरकार तथा चर्च के सम्बन्धों को ठीक-ठाक रखना चाहते थे, बल्कि इसलिये भी कि उन्हें प्रारम्भिक ईसाई समुदायों की अराजकतावादी प्रवृत्तियों के प्रभाव को रोकने की भी चिन्ता थी। तात्विक दृष्टि से ईसाइयों का राज्यविषयक सिद्धान्त परवर्ती स्टॉइकों के इस विचार पर आधारित था कि सरकार मानवजाति के समुचित विकास के लिये आवश्यक है। ईसाई लेखकों ने राज्य के सम्बन्ध में एपीक्यूरियों के बजाय[५] स्टॉइकों के विचारों को अपनाकर और उनमें इस धारणा को जोड़कर कि मानवसमाज ईश्वरीय व्यवस्था पर कायम है, अगले हजार वर्षों के राजनीतिक चिन्तन की नींव डाल दी।

सन्देहवाहकों के बाद चर्च के जो प्रारम्भिक लेखक हुए उन्होंने इन विचारों को आगे विकसित किया। उन्होंने प्राकृतिक कानून की उस धारणा को जिसका निर्माण सिसेरो ने किया था और जिसको संत पाल ने सुझाया था, अपना लिया और सिखाया कि प्रकृति ने सभी मनुष्यों को स्वतंत्र और समान बनाया है। किन्तु यह धारणा उन्हें दासता को वैध तथा एक आवश्यक व्यवस्था मानने से न रोक सकी। उनका कहना था कि प्रकृति की अवस्था में सब मनुष्य समान थे, किंतु जब उससे मनुष्य का पतन हुआ तो उसे पाप लग गया, उस पाप के लिये दंड के हेतु राज्य आवश्यक है। साथ ही साथ चर्च ने स्वामियों को दासों के साथ अच्छा व्यवहार करने के लिये उत्तरदायी ठहराया और दास प्रथा के सबसे बुरे दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार चर्च के लेखकों ने राज्य को एक दैवी संस्था के रूप में स्वीकार कर लिया। उन्होंने सिखाया

२. Gal. 3: 28.
3. Col. 3: 22.
४. देखिये Romans 13. 1–7; Titus 3: 1—2; Peter 2: 13—17.
५. प्रारम्भिक काल में चर्च में एपीक्यूरियों के इस देशद्रोही और विघटनकारी सिद्धान्त के स्पष्ट चिन्ह मिलते थे कि सम्यक् जीवन के लिये राज्य अनावश्यक है।

कि सरकार की अंत्य सत्ता का स्रोत ईश्वर को ही, जो कि सब वस्तुओं का रचयिता है, समझना चाहिये,[६] और शासक की सत्ता को पवित्र मानना चाहिये। किन्तु इन लेखकों ने यह भी कहा कि सरकार ईश्वर विहित तो है किंतु इसकी उत्पत्ति वास्तव में पाप के फलस्वरूप हुई है; जब मनुष्य अपनी मूल निर्दोषिता को खो बैठा और पतित अवस्था को प्राप्त हुआ तो उसको नियंत्रण में रखने के लिये बल-प्रयोग आवश्यक होगया। संक्षेप में, सरकार मनुष्य की दुष्टता का एक ईश्वरीय इलाज है।[७] इस प्रकार इन प्रारम्भिक लेखकों की निगाह में राज्य एक आवश्यक बुराई थी। विचारों के इस परिवर्तन ने राज्य के महत्व को कम किया और उसकी तुलना में चर्च की शक्ति को बढ़ाया।

जैसे ही ईसाइयत रोमन साम्राज्य का सरकारी धर्म बन गई, धीरे-धीरे उसने एक अर्ध-राजनीतिक संगठन का निर्माण कर लिया, सम्पत्ति और शक्ति प्राप्त कर ली और एक सुव्यवस्थित धर्मविद्या की रचना कर डाली, वैसे ही उसके राजनीतिक विचारों में परिवर्तन आने लगा। चर्च राज्य के समान अधिकारों और प्रतिष्ठा को धारण करने लगा। रोम के बिशप आध्यात्मिक और नैतिक मामलों में सम्राटों के भी आचरण का नियंत्रण करने लगे, और चर्च के लेखकों ने दावा किया कि चर्च के कुछ ऐसे अधिकार हैं जिनमें सम्राट को भी हस्तक्षेप करने का हक नहीं है। यद्यपि इन लेखकों ने[८] राजनीतिक शासक को "ईश्वर का प्रतिनिधि" स्वीकार किया, और उनकी रचनाओं में राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धांत का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है, किंतु धीरे-धीरे धार्मिक सत्ता और सांसारिक सत्ता के बीच स्पष्ट भेद किया जाने लगा। चर्च की आत्मचेतना पहले से अधिक बढ़ गई और वह अपने क्षेत्र में पहले से अधिक स्वतंत्रता का दावा करने लगा; और राजनीतिक सत्ता के महत्व को कम बताने और उसकी तुलना में चर्च की आध्यात्मिक सत्ता को ऊँचा समझने की प्रवृत्ति का विकास हुआ।

६. चर्च के प्रारम्भिक लेखकों और रोमन विधिवेत्ताओं में यही मुख्य अन्तर था। अर्थात् ईसाई लेखक ईश्वर को शासन की सत्ता का स्रोत मानते और रोमन लेखक सभी प्रकार की सत्ता का अंत्य स्रोत जनता को समझते थे। परवर्ती मध्ययुगीन चिन्तन में इन दो सिद्धांतों के अन्तर की ओर विशेष ध्यान दिया गया।

७. इस विषय के अधिक विस्तृत विवेचन के लिये देखिये A. J. और R. W. Carlyle, *A History of Medieval Political Theory in the West* 1903, Vol. 1, Chap. 11

८. देखिये Gregory the Great, *Regula Pastoralis* iii, 4; *Libri Moralium in Job*, xxii. 24,
"मध्ययुग में तथा उसके बाद जिन विचारकों ने शासक की निरपेक्ष और दायित्वहीन सत्ता के धार्मिक सिद्धांत का समर्थन किया उन्हें अपने पक्ष में सबसे शक्तिशाली तर्क ग्रीगरी महान के सिद्धांतों में ही मिले" "Carlyle, op. cit., Vol. I, p. 153.

मिलान के ग्रम्ब्रोज, संत ग्रगस्ताइन ग्रौर ग्रीगरी महान[९] की रचनाग्रों में विकास की ये धाराएँ देखने को मिलती हैं।

सन्त ग्रगस्ताइन

यद्यपि सन्त ग्रगस्ताइन (३५४-४३० ई०) की रचनाएँ उसी काल की हैं जिसकी चर्च के प्रारम्भिक लेखकों की जिनकी समीक्षा हम ग्रभी ऊपर कर चुके हैं, ग्रौर उनका दृष्टिकोण भी वही है, फिर भी उनमें ग्रनेक ऐसे विचार हैं जिनकी ग्रोर विशेष ध्यान देना ग्रावश्यक है। सन्त ग्रगस्ताइन संक्रमण काल में हुग्रा। प्राचीन क्लासीकल युग का ग्रन्त ग्रौर ईसाइयत के युग का श्रीगणेश हो रहा था; चर्च तथा ग़ैर ईसाई राज्य के बीच शत्रुता का काल समाप्त होने को था, ग्रौर ईसाई चर्च-राज्य के ग्रन्तर्गत एकता का युग ग्रारम्भ होनेवाला था।

४१० ई० में जब गौथ जाति के ग्रामणकारियों ने रोम को लूट लिया तो ग़ैर ईसाई धर्म के ग्रनुयाइयों ने कहना ग्रारम्भ किया कि रोम का पतन इसलिये हुग्रा है कि सरकार ने पुराने देवताग्रों की पूजा छोड़ कर ईसाइयत को ग्रपना लिया है। इस ग्रारोप का उत्तर देने के लिये उत्तर ग्रफ्रीका में स्थित हिप्पो के बिशप संत ग्रगस्ताइन ने तेरह वर्ष लगाकर ग्रपनी पुस्तक **ईश्वर का नगर**[१०] लिखी जो पाँचवीं शताब्दी में रचित ग्रन्थों में सबसे ग्रधिक प्रभाशाली सिद्ध हुई। उसने पुराने रोमन धर्म का खंडन किया ग्रौर रोम के इतिहास का सर्वेक्षण करके सिद्ध किया कि पुराने देवता भी विपदाग्रों से रोम की रक्षा करने में ग्रसमर्थ रहे थे, ग्रौर कहा कि यदि शासक ग्रौर जनता सामान्य रूप से ईसाइयत को ग्रंगीकार करलें तो राज्य की रक्षा हो सकती है। ग्रन्थ के इस भाग की शैली बड़ी उग्र है। इसके बाद उसने सांसारिक नगर को छोड़ कर ग्राध्यात्मिक नगर का वर्णन किया। ग्राध्यात्मिक नगर से उसका ग्रभिप्राय केवल स्वर्ग से नहीं था जिसे ईसाई लोग ग्रपना चिर निवास समझते ग्रौर पाने की कामना करते थे, बल्कि उसका कहना था कि पृथ्वी पर सच्चे ईसाइयों का समुदाय भी ग्राध्यात्मिक नगर है। इस प्रकार उसने चर्च को ईश्वर का नगर बतलाया।

ग्रपने ग्रादर्श नगर का चित्र खींचने में ग्रगस्ताइन ने जानबूझ कर प्लेटो का ग्रनुकरण किया,[११] ग्रौर प्लेटो के दर्शन को सिसेरो के सिद्धांतों तथा ईसाइयत की धर्म

९. चर्च के प्रारम्भिक लेखकों की रचनाग्रों के ग्रँग्रेजी ग्रनुवाद *The Anti-Nicene Fathers* ग्रौर *Nicene and Post-Nicene Fathers* नाम की जिल्दों में उपलब्ध हो सकते हैं।

१०. इसका सर्वोत्तम प्रचलित संस्करण मॉडर्न लाइब्रेरी ग्रन्थमाला का है।

११. उसने एक नगर के रूप में राज्य की कल्पना की इससे उस पर यूनानी प्रभाव स्पष्ट होता है। ग्रगस्ताइन का विश्वास था कि सुखपूर्वक संसार का शासन तभी हो सकेगा जब कि समाज छोटे-छोटे राज्यों के रूप में संगठित हो, किंतु चर्च

विद्या से जोड़ दिया। उसने कहा कि दास प्रथा उचित है क्योंकि वह मनुष्य के उस पतन का फल है जिसके कारण समाज की कृत्रिम संस्थाएँ आवश्यक हो गईं हैं। अतः दासता मनुष्य के पापों का ईश्वरीय इलाज है और उनके लिये दंड भी। उसने सिसेरो की इस धारणा की आलोचना की कि राज्य न्याय का मूर्त रूप है, और बतलाया कि गैर-ईसाई राज्यों में न्याय का अस्तित्व ही सम्भव नहीं हो सकता। इसलिये राजकीय सत्ता न्याय की स्थापना नहीं करती, न्याय की स्थापना का काम तो धार्मिक सत्ता का है जो सत्ता के प्रयोग में राज्य से स्वतन्त्र होती है। इस विषय में अगस्ताइन ने चर्च के प्रारम्भिक लेखकों के दृष्टिकोण को त्याग दिया, और रोमन लेखकों के कानून और न्याय को राज्य का मूल आधार मानने के सिद्धांत को भी स्वीकार नहीं किया। अगस्ताइन की निगाह में राज्य के दोनों ही काम थे : दंड देना और सुधार करना। उसका मत था कि मनुष्यों को अपने स्वभाव से ही सामाजिक संस्थाएँ बनाने की प्रेरणा मिलती है। प्रारम्भ में वे सब समान थे और स्वेच्छापूर्वक न्याय और विवेक के नियमों का पालन करते थे, किन्तु पाप के फलस्वरूप कुछ मनुष्यों को दूसरों की आधीनता में रखना आवश्यक हो गया। अगस्ताइन ने राज्य को ईश्वर-कृत माना, और **डोनेटिस्टों** का जो राज्य को शैतानी संस्था मानते और सब प्रकार के राजकीय बन्धनों से स्वतन्त्र होने का दावा करते थे, विरोध किया। उसका कहना था कि शासक पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है, इसलिये उसका अधिकार है कि प्रजा उसकी आज्ञाओं का पालन करे, किन्तु ईश्वर के वास्तविक राज्य का यह स्वभाव नहीं है। जब राज्य के सम्बन्ध में अगस्ताइन के ये विचार थे तो उसके लिये यह मानना भी स्वाभाविक था कि सांसारिक राज्य आत्मा के अविनाशी राज्य तथा परलोक के राज्य के मुकाबिले में घटिया है। अगस्ताइन की निगाह में राज्य और चर्च का भेद आधारभूत भेद नहीं था, बुनियादी भेद तो दो समाजों के बीच था, दुष्टों का समाज और ईश्वरीय लोगों का समाज। पृथ्वी पर ये दोनों समूह मिले-जुले रहते हैं, और चर्च वास्तव में नहीं, प्रतीक के रूप में ईश्वरीय नगर का प्रतिनिधि है। अगस्ताइन की धारणा थी कि ईश्वर का नगर "ईसाई चर्च-राज्य है जिसमें गैर-ईसाई सम्मिलित नहीं किये जा सकते, और उस राज्य में सर्वोच्च शक्ति धार्मिक संगठन के नेताओं के हाथों में होती है।"[१२]

अगस्ताइन के **ईश्वर का नगर** का ईसाई चिंतन पर शताब्दियों तक आधिपत्य रहा। उसने "पुराने रोम के पतनशील जगत के मुकाबिले में ईश्वर के चुने हुए लोगों के अविनाशी समधिराज्य (कौमनवेल्थ) का आदर्श प्रस्तुत किया और बहुत आवेशपूर्ण

के सम्बन्ध में उसके विचार साम्राज्यवादी थे। वह चाहता था कि चर्च का एक नेता के अधीन एक विश्वव्यापी संगठन होना चाहिये।

१२. J. N. Figgis, *Political Aspects of St. Augustine's City of God* (1921), p. 79.

काव्यात्मक शैली में उस चर्च के जिसका उद्देश्य ईश्वर के राज्य को प्राप्त करना है पृथ्वी पर आदर्शों और कार्यों का निरूपण किया।"[13] टॉमस एक्विनास, दान्ते, विकलिफ और ग्रोशस ने अपनी रचनाओं के लिये **ईश्वर का नगर** से बहुत सी सामग्री प्राप्त थी। शार्लमेन को—जिसके साम्राज्य-निर्माण का उद्देश्य एक ऐसे राज्य की स्थापना करना था जिसमें ईश्वर की इच्छानुसार शासन हो—यह पुस्तक बड़ी प्रिय थी। और ब्राइस का कथन है कि यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि पवित्र रोमन साम्राज्य का निर्माण **ईश्वर का नगर** की नींव पर ही हुआ था।[14]

अगस्ताइन के कार्य का महत्व यह था कि उसने चर्च को उसके इतिहास के एक घोर संकट के काल में एक सुनिश्चित और व्यवस्थित विचारधारा प्रदान की, उसके अस्तित्व को स्पष्टता और अपनापन दिया और उसके उद्देश्य को आत्मचेतना-मूलक बनाया। जब चर्च ने अपने प्रशासकीय ढाँचे को विकसित करके सांसारिक कार्यों की ओर अधिक ध्यान तो उसके लिये शक्ति के उस शिखर पर पहुँचना निश्चित हो गया जिसका प्रतिनिधित्व आगे चलकर पोप ने किया।

ट्यूटन लोगों के राजनीतिक विचार

रोमन साम्राज्य को उलट देनेवाले ट्यूटन आक्रमणकारियों ने रोम की पतनशील जनता में एक नये, शक्तिशाली और स्वस्थ जनसमूह को ही नहीं मिला दिया, बल्कि वे अपने साथ कुछ नये राजनीतिक विचार और संस्थाएं भी लाये जो रोमन जगत में प्रचलित विचारों और संस्थाओं से बिलकुल भिन्न थीं। उनकी दृष्टि में वैयक्तिक स्वतंत्रता का विशेष मूल्य था, और राज्य की तुलना में वे व्यक्ति को अधिक महत्व देते थे। व्यक्तिगत योद्धा की गर्व की भावना इस चीज़ की प्रतीक थी। उनके आपराधिक न्याय की धारणा में भी यही चीज व्यक्त होती थी। अपराधी को दंड देना लोकसत्ता का काम नहीं था, जिस व्यक्ति को क्षति पहुँचती वह स्वयं दंड के काम को अपने हाथों में ले लेता था। जब ट्यूटन राज्यों ने अपराधियों को स्वयं दंड देना आरम्भ कर दिया तब भी उन्होंने स्वतंत्र व्यक्ति की स्वाधीनता में हस्तक्षेप नहीं किया। वे जुर्माने का दंड देते और जुर्माने का एक भाग क्षतिग्रस्त व्यक्ति को दे दिया जाता जिससे कि उसका उस मामले से सम्बद्ध अधिकार पूरा हो जाता। इसके अतिरिक्त उनकी सभी प्रारम्भिक सरकारों में लोकतांत्रिक तत्व मौजूद थे। लोकजीवन की इकाई व्यक्ति या राज्य नहीं।

इन विचारों का ईसाइयत के सिद्धांतों से जिन्होंने व्यक्ति को स्वतंत्रता और उसके सर्वोच्च मूल्य पर बल दिया, सरलता से मेल होगया। यद्यपि मध्ययुग में आर्थिक तथा धार्मिक जीवन से इन विचारों का बहुत कुछ लोप होगया, क्योंकि व्यक्ति को उसके निगम,

13. L. Thorndike, *History of Medieval Europe*, rev. ed. (1928), p. 416.
14. James Bryce, *The Holy Roman Empire*, rev. ed. (1932) p. 94, note

श्रेणी, समुदाय अथवा धार्मिक संघ ने जिसका भी वह सदस्य होता, अपने में लीन करके उसके स्वतंत्र अस्तित्व का अन्त कर दिया, किंतु सामन्ती व्यवस्था के राजनीतिक संगठन में ये विचार कुछ अंश में जीवित बने रहे। और पुनर्जागरण तथा धर्मसुधार के युग में हुए बौद्धिक परिवर्तनों तथा ट्यूटन संस्थाओं को धीरे-धीरे आधुनिक शासन-प्रणाली में समाविष्ट करने के फलस्वरूप वैयक्तिक स्वतंत्रता और वैयक्तिक अधिकारों के ये सिद्धांत आधुनिक युग की पीढ़ियों तक आ पहुँचे। इंगलैंड में तो तेरहवीं शताब्दी में ही **महान् अधिकार पत्र** के रूप में नागरिक स्वतंत्रता के विचार मूर्तरूप धारण कर चुके थे; आगे के युग में इस अधिकार पत्र ने अन्य अनेक अधिकार पत्रों के लिये आदर्श का कार्य दिया।

ट्यूटन लोगों की लोकतांत्रिक संस्थाओं में अन्तर्निहित राजनीतिक सिद्धांतों का विशेषकर बड़ा महत्व था। यद्यपि रोमक विधि तथा शासन-प्रणाली के प्रभाव से और विजित जनता पर अपना आधिपत्य कायम रखने की सैनिक आवश्यकताओं से बाध्य होकर ट्यूटन नेताओं ने शीघ्र ही अपनी सरकार का केन्द्रीयकरण कर लिया और स्वेच्छाचारी सत्ता स्थापित करली, फिर भी उनकी प्रारम्भिक राजनीतिक पद्धतियों के चिन्ह विद्यमान रहे और उन्होंने अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों की लोकतांत्रिक तथा वैयक्तिक भावनाओं के विकास में योग दिया।

आरम्भ के ट्यूटन लोगों में दो प्रकार की लोक सभाएँ हुआ करती थीं। एक राष्ट्रीय सभा होती थी जिसमें जनजाति के सभी स्वतंत्र सदस्य सम्मिलित हुआ करते थे। वह मुखियाओं का चुनाव करती, अपने समक्ष प्रस्तुत किये गये प्रस्तावों के पक्ष अथवा विपक्ष में निर्णय देती, और कभी-कभी महत्वपूर्ण मुकद्दमों की सुनवाई के लिये न्यायाधिकरण का काम करती थी। इसके अतिरिक्त स्थानीय प्रशासन इकाइयों में स्थानीय प्रतिनिधि सभाएँ होती थीं जो स्थानीय प्रश्नों का निर्णय करतीं और विशेषकर न्यायिक निकायों के रूप में कार्य किया करती थीं। ये संस्थाएँ महाद्वीप में मध्ययुग के अन्त तक जीवित रहीं; बाद में जब रोमक विधि का पुनरुत्थान हुआ तो एक नई न्यायिक व्यवस्था का निर्माण किया गया। इंगलैंड में इनके नमूने पर लोक-सभा का विकास हुआ और इस प्रकार स्थानीय प्रतिनिधित्व का सिद्धांत राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के निर्माण में अपना लिया गया। इस तरह एक ऐसी शासन-प्रणाली का आरम्भ हुआ जिसमें स्थानीय स्व-शासन और केन्द्रीय नियंत्रण के दोनों सिद्धांतों का समन्वय था, और जिसके द्वारा विस्तृत क्षेत्रों पर लोक नियंत्रण स्थापित करना सम्भव होगया। ऐतिहासिक युग में शासन-तंत्र के विकास में इससे अधिक मूल्यवान और कोई योगदान नहीं है, केवल संघ प्रणाली जो इसी प्रकार के सिद्धांत पर आधारित है, इसका एकमात्र अपवाद है।

प्रारम्भिक ट्यूटन जनजातियों में स्वतंत्र नागरिकों को अपने राजा का चुनाव करने का अधिकार प्राप्त था। किन्तु पित्रागति के सिद्धांत को मानने की एक सामान्य प्रवृत्ति थी, और जब विजय के उपरान्त राजा लोग शक्तिशाली हो गये तो

यह प्रवृत्ति और भी अधिक दृढ़ हो गई। जर्मनी में चुनाव का सिद्धांत कायम रहा, और शताब्दियों तक सम्राट का एक निर्वाचक मंडल द्वारा चुनाव होता रहा। चूँकि मध्ययुगीन जर्मन सम्राटों के हाथों में शासन की वास्तविक शक्ति शायद ही कभी रही हो, इसलिये चुनाव के इस सिद्धांत का कोई विशेष महत्व नहीं था। इंगलैंड में राजपद तो पित्रागत हो गया, किन्तु यह विचार कि राजा की सत्ता का अन्त्य स्रोत जनता ही रहा, जीवित रहा, और अवांछनीय राजा को अपदस्थ करने के अधिकार का वास्तव में प्रयोग होता रहा। अन्त में, १६८८ की क्रांति और हनोवर वंश के सिंहासनारूढ़ होने से यह सिद्धांत स्पष्ट रूप से स्थापित हो गया कि जनता के प्रतिनिधियों को सिंहासन प्रदान करने का अधिकार है, और इस प्रकार नाममात्र का राजतंत्र वास्तव में गणतंत्र में परिवर्तित हो गया। इस प्रकार ट्यूटन जाति के निर्वाचित राजतंत्र के सिद्धांत ने आधुनिक सांविधानिक सरकार के सिद्धांत के विकास में योग दिया।

आक्रमणकारियों का विधिविषयक विचार भी रोमन सिद्धांत से भिन्न था। ट्यूटन जातियों का खयाल था कि व्यक्तियों के कानूनी अधिकार इसलिये हैं कि वे व्यक्ति हैं, न कि इसलिये कि वे राज्य के सदस्य हैं। उनकी विधि उनके जीवन का अंग थी जिसे वे जहाँ जाते ले जाते, उसे वे न बदल सकते थे और न त्याग सकते। रोमक विधि का आधार क्षेत्रीय था, इसलिये वह साम्राज्य में रहनेवाले सभी व्यक्तियों पर लागू होती थी, इसके विपरीत ट्यूटन विधि का आधार वैयक्तिक था, हर व्यक्ति को अधिकार था कि उसके वाद का निर्णय उसी के कानून के अनुसार हो। अतः विजय के उपरान्त रोमन जनता रोमक विधि-व्यवस्था द्वारा शासित होती रही, और ट्यूटन शासकों तथा न्यायाधीशों के लिये उससे परिचित होना आवश्यक हो गया। इस स्थिति का फल यह हुआ कि ट्यूटन लोगों के विधिक सिद्धान्तों पर रोमक विचारों का प्रभाव पड़ा, और कुछ ही पीढ़ियों बाद रोमक सिद्धान्तों द्वारा लेटिन भाषा में तैयार की हुई ट्यूटन विधि-संहिताएँ प्रकाशित होने लगीं।[१५]

रोमन साम्राज्य में विधि विशद तथा वैज्ञानिक संहिताओं के रूप में संग्रहीत हो चुकी थी, और लोगों का खयाल था कि इसमें सभी प्रकार के विवादों के निर्णय की क्षमता है। किन्तु इससे आगे की प्रगति कठिन हो गई। ट्यूटन विधि भद्दी-भोंड़ी और अवैज्ञानिक तो थी, किन्तु उसकी घोषणा न्यायालयों के रूप में कार्य करनेवाली लोकसभाएँ किया करती थीं। ये सभाएँ जनजातीय रूढ़ियों की घोषणा करती जिससे वे कानून का काम दे सकें, और नये विवादों के निर्णय में जनता की न्याय भावना से काम लेती थीं, इस प्रकार उन्होंने पूर्वोदाहरण कायम किये, और एक स्वाभाविक प्रक्रिया

१५. ये थीं *Leges Barbarorum* जिसमें *the Lex Salica*, the *Lex Ripuariorum* the, *Lex Wisigothorun*, the *Lex Burgundium* और the *Lex Saxonum* मुख्य थीं।

द्वारा निरन्तर प्रसारशील अलिखित अथवा रूढ़ि-विधि (कॉमन लॉ) की स्थापना की। मध्य युग के अन्त में जब यूरोपीय महाद्वीप पर रोमक विधि अपना ली गई तो विधि शास्त्र की व्यवस्था लगभग पूर्णतया नष्ट हो गई। रोमन विधिक सिद्धांतों के प्रभाव को कारण कानून पर से लोक नियंत्रण उठ गया, और विधिकारी शक्ति प्रभुत्वसम्पन्न राजाओं के हाथों में केंद्रित हो गई। इंगलैंड में रूढ़ि-विधि पर रोमन विधिक सिद्धान्तों का प्रभाव तो पड़ा, किन्तु उसका परिवर्तन होता रहा, विधिक व्यवस्था लचीली बनी रही और न्यायालय अपने को सरकार की कार्यपालक और विधाई शाखाओं के नियंत्रण से मुक्त बनाये रखने में सफल रहे। इंगलैंड से रूढ़ि-विधि की व्यवस्था संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटिश साम्राज्य के स्वायत्त उपनिवेशों में जा पहुँची।

ट्यूटन जातियों में वैयक्तिक भक्ति की भावना बड़ी प्रबल थी। युवा योद्धाओं का समूह किसी नेता के साथ हो लेता, वह उनका भरण-पोषण करता, और वे युद्ध में उसका अनुगमन करते। इस भावना ने मध्ययुग में सामन्ती व्यवस्था के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। यह तो हुआ कि ट्यूटन जातियों ने मुख्यतया विजित जातियों के विचारों को अपना लिया, जिस साम्राज्य को उन्होंने उलट दिया था उसके चिर अस्तित्व को वे एक अस्पष्ट ढँग से स्वीकार करते रहे और अंत में पवित्र रोमन साम्राज्य के स्थायित्व के सिद्धान्त को भी मान लिया, फिर भी राजनीतिक चिंतन को उनकी जो विशेष देन थी उसका सर्वथा लोप कभी नहीं हुआ। वह कायम रही, और विशेषकर इंगलैंड में, और बाद में उन विचारों के उदय में जो स्पष्टतया आधुनिक थे महत्वपूर्ण योग दिया।

सामन्ती व्यवस्था

राजनीतिक संस्थाओं की दृष्टि से मध्यकाल की केवल यही विशेषता नहीं थी कि उसमें एक ऐसे शक्तिशाली धार्मिक संगठन का निर्माण हुआ जिसके हाथों में विस्तृत राजनीतिक सत्ता आगई, प्रत्युत एक विशेष बात यह ही थी कि समाज के दो रूपों के बीच संघर्ष हुआ—एक पितृसत्ताक, जनजातीय ढँग की समाज-व्यवस्था जिसे ट्यूटन बर्बर अपने साथ लाये थे, और दूसरी साम्राज्योय राज्य-व्यवस्था जिसका प्रतिनिधि रोमन साम्राज्य था। इस संघर्ष के फलस्वरूप एक समन्वयात्मक ढंग के समाज-संगठन का प्रादुर्भाव हुआ, उसी को सामन्ती व्यवस्था कहते हैं। प्रारम्भ में इस व्यवस्था के संगठन में वैयक्तिक और जनजातीय तत्वों का प्राधान्य था, और क्षेत्रीय राज्य के तत्वों की न्यूनता। किंतु दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के आते-आते राज्य के विचार का पुनः उदय हुआ, और मध्ययुग के अंत तक उसकी विजय पूर्ण हो गई, और जनजाति तथा चर्च दोनों ही राजनीतिक शक्ति पर अधिकार बनाये रखने में विफल रहे।

ट्यूटन आक्रमणकारी योद्धा थे, और एक सैनिक नेता के अधीन संगठित होकर

कार्य किया करते थे। उनकी एकता और संगठन के दो मुख्य आधार थे—भाईचारे के सम्बन्ध और वैयक्तिक भक्ति की भावना। उनका संगठन विकेन्द्रीयकृत था, उसमें स्थानीय स्वतंत्रता पर अधिक बल दिया जाता था। आर्थिक विकास की दृष्टि से वे नीची अवस्था में थे, उद्योग और वाणिज्य में उनकी अधिक रुचि नहीं थी, किंतु भूमि प्राप्त करने के लिये वे सदैव इच्छुक रहा करते थे। विजय तथा पश्चिमी साम्राज्य के बिघटन के युग में उनके गिरोहों ने बड़ी-बड़ी सेनाओं के रूप में संगठित होकर कार्य किया और उनके नेताओं ने साम्राज्य के बड़े भागों पर शासन करने की कोशिश की। इस कार्य में फ्रेंक शासकों को सबसे अधिक सफलता मिली। फ्रेंक राजा शार्लमेन ने ईसाइयत का पक्ष लिया और पुराने रोमन धर्म तथा इस्लाम दोनों से ही उसकी रक्षा की और प्राचीन रोमन साम्राज्य के एक विशाल खंड पर अपनी साम्राज्यीय सत्ता कायम कर ली। तब पोप ने औपचारिक रूप से उसे रोमन सम्राट का उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया। किंतु राज्य-निर्माण के इन प्रयत्नों को प्रेरित करनेवाली महत्वाकांक्षाएँ इतनी असीम थी कि उनके पूरा होने की सम्भावना कम थी, अतः शार्लमेन की मृत्यु के कुछ ही समय बाद उसका साम्राज्य चकनाचूर होगया। स्थानीय अधिकारी और बड़े-बड़े भूस्वामी स्वतंत्र होगये, और उसके परिणामस्वरूप अराजकता का जो युग आरम्भ हुआ उसमें समाज को विघटन से बचाने और व्यवस्था तथा सुरक्षा कायम रखने के लिये राजनीतिक सम्बन्धों को छोड़कर अन्य प्रकार के बन्धनों को स्थापित करना आवश्यक होगया।

इस प्रकार के बन्धनों को कायम करने में चर्च के अतिरिक्त लोगों के आपसी वैयक्तिक सम्बन्धों तथा एक विशेष प्रकार की भूमि-व्यवस्था से जिससे शासकों का सम्बन्ध हुआ करता था, विशेष सहायता मिली। भूमि पर काम करनेवाले किसानों को सुरक्षा की आवश्यक होती जो उन्हें भूमि के स्वामी सामन्तों से मिल सकती थी, किन्तु इसके बदले में किसानों को भूमि से बँधा रहना पड़ता तथा कुछ अन्य शर्तें माननी पड़ती थी। जो लोग स्वतंत्र रूप से जीविकोपार्जन न कर पाते वे इस शर्त पर किसी बड़े आदमी की शरण में चले जाते कि वह उनका भरण-पोषण करेगा और वे उसकी सेवा करते रहेंगे। योद्धा लोग किसी शक्तिशाली नेता के निजी मित्र और अनुयायी बन जाते। राजा तथा बड़े-बड़े सामन्त अपने अनुयायियों को जागीरें दे दिया करते और उसके बदले में जागीरदार अपने स्वामियों की सेवा, विशेषकर सैनिक सेवा किया करते। चर्च भी इस व्यवस्था में सम्मिलित होगया, और इस प्रकार भूमि-प्रथा के आधार पर वैयक्तिक और स्थानीय सम्बन्धों की एक जटिल व्यवस्था कायम होगई।

सामन्ती व्यवस्था का आधार तत्वतः वैयक्तिक, निजी तथा गैर-राजनीतिक था। जिसमें भी बाहुबल और योग्यता होती वह लड़ाइयाँ लड़ता, अपनी मुद्रा चलाता और न्याय करने के लिये कचहरी करता। इस व्यवस्था के अन्तर्गत लोग अपने स्वामियों को

सहायता और सामग्री देते, कर नहीं; स्थाई सेनाएँ नहीं थीं, सामन्त लोगों को सैनिक सेवा करनी पड़ती थी ; लोग दरबार में हाजिरी दिया करते थे, संसद की रचना करके कानून नहीं बनाते थे ; उनका दर्जा भूमिधर सेवकों का था, नागरिकों का नहीं। उस समय आधुनिक राष्ट्रीयता और प्रादेशिक प्रभुत्व का स्थान वैयक्तिक आधिपत्य और आश्रित भूधृति (डिपेंडेंट लैंड टिन्योर) की व्यवस्था ने ले लिया था। सामन्ती अधिपति की शक्ति स्पष्ट रूप से सीमित थी। एक संविदा द्वारा अधिपति और सेवक के सम्बन्ध निर्धारित होते थे, संविदा व्यक्त भी हो सकती थी और समवबुद्ध भी। सामन्ती क्षेत्र छोटे-छोटे और बिखरे हुए हुआ करते थे, यद्यपि निकटवर्ती क्षेत्रों को संयुक्त करने तथा भौगोलिक और नस्लगत आधार पर उन्हें संगठित करने के प्रयत्न भी होते रहते थे। सामन्ती व्यवस्था की प्रकृति ही ऐसी थी कि उससे एक निश्चित क्षेत्र में शासन करनेवाली निरपेक्ष सत्ता की धारणा के विकास में बाधा पड़ी। उसका सिद्धांत था कि अधिपतियों के अधीन अधिपति हों, और उनमें से कोई भी पूर्णरूप से प्रभुत्वसम्पन्न न हो। मध्य युग के लोग प्रभुत्व तथा विधि की आधुनिक धारणाओं से नितान्त अपरिचित थे। विधि मुख्यतया रूढ़ि ही थी और स्थानीय अथवा राष्ट्रीय जीवन का अंग समझी जाती थी। वह न तो किसी विधिकर्त्ता का आदेश थी और न किसी समुदाय की इच्छा। कानून बनाने का अर्थ था मनुष्य के आचरण के लिये पहले से स्वीकृत नियमों का प्रख्यापन मात्र करना।

यद्यपि सामन्ती व्यवस्था ने आधुनिक संस्थाओं को महत्वपूर्ण तत्व प्रदान किये, और अन्त में आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण भी सामन्ती क्षेत्रों का एकीकरण और उनमें सत्ता का केन्द्रीयकरण करके हुआ, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि जब तक सामन्ती विचारों का आधिपत्य रहा तब तक राजनीतिक प्रगति असम्भव थी। किंतु साथ ही साथ यह कहना भी अनुपयुक्त होगा कि सामन्ती सिद्धांत पूर्णतया अराजकतावादी था। सामन्ती वैयक्तिक सम्बन्ध भक्ति और संविदा के निश्चित विचारों पर आधारित थे, और अधिपति तथा सेवक दोनों के लिये उस विधि की रक्षा और परिपालन करना आवश्यक था जो उनके पारस्परिक अधिकारों और कर्तव्यों को निर्धारित करती थीं। इसके अतिरिक्त इस धारणा का भी दृढ़ता के साथ विकास होता गया कि स्वतंत्र व्यक्ति के अपने निकटतम अधिपति के प्रति जो कर्तव्य हैं उनके अतिरिक्त सीधे राजा के प्रति भक्ति भी उसका धर्म है, और इस विचार ने ही राष्ट्रीय राज्यों के विकास की गति को वेग प्रदान किया। सामन्ती सिद्धांत ने सिखाया कि विधि का परिपालन करना राजा तथा प्रजा दोनों का ही कर्तव्य है ; यह धारणा भी महत्वपूर्ण थी कि भूमि के स्वामी को शांति तथा युद्ध में समाज की सेवा करनी चाहिए।

पवित्र रोमन साम्राज्य

सामन्ती अराजकता के सम्पूर्ण युग में साम्राज्य का आदर्श कायम रहा, और

यह धारणा जीवित रही कि एक सम्राट होना चाहिए जिसकी सत्ता की पुष्टि रोम के पोप द्वारा की जाय। इस आदर्श का समर्थन पोपों ने किया क्योंकि उन्हें इटली के राजाओं के विरुद्ध संघर्षों में एक शक्तिशाली सांसारिक शासक की सहायता आवश्यक की थी। जर्मनी के उन महत्वाकांक्षी शासकों ने जिनका शार्लमेन के साम्राज्य के एक भाग पर अधिकार था और जो सम्पूर्ण भाग को पुनः हस्तगत करना चाहते थे, इस आदर्श को जीवित रक्खा। दसवीं शताब्दी में जर्मन राजा औटो ने इटली को अपने राज्य में मिला लिया और पोप ने उसे सम्राट घोषित कर दिया। उसके अभिषेक के समय से पवित्र रोमन साम्राज्य का श्रीगणेश हुआ।

रोमन जगत अपनी मृत्यु के समय मध्य युग को विश्व-साम्राज्य और विश्व-चर्च के आदर्शों को विरासत के रूप में सौंप गया था। रोमन शासन ने अपनी सर्वनिष्ठ विधि तथा राजभाषा द्वारा राजनीतिक एकता स्थापित की थी। ईसाइयत ने अपने इस विश्वास द्वारा कि ईश्वर की निगाह में सब मनुष्य समान हैं, आध्यात्मिक एकता का निर्माण किया था। रोमन साम्राज्य तथा ईसाई चर्च की प्रादेशिक सीमाएँ एक थीं इसलिये ये दोनों विश्व-एकता के सार्वभौम आंदोलन के अंग प्रतीत होते थे। जब चर्च के भीतर पोप ने राजा का पद प्राप्त कर लिया और पश्चिम में पुनः एक सम्राट की प्रतिष्ठा होगई तो ऐसा लगा कि विश्व-एकता की प्रक्रिया पूरी होगई है। जिस काल में व्यवस्था का एकमात्र अर्थ सत्ता के सामने समर्पण करना था, उसके सिद्धांत की माँग थी कि चर्च तथा राज्य दोनों का संगठन राजतंत्रीय ढँग से होना चाहिए। इस प्रकार पवित्र रोमन चर्च और पवित्र रोमन साम्राज्य एक ही चीज के दो भिन्न रूप थे, और ईसाइयत के संस्थापक की द्वैध ईश्वरीय और मानवीय प्रकृति का प्रतिनिधित्व करते थे। आध्यात्मिक प्रमुख होने के नाते पोप मनुष्य की आत्माओं पर शासन करता था। सम्राट लौकिक प्रमुख था और इस रूप में मनुष्य के कार्यों को शासित करता था। प्रारम्भ में पोप तथा सम्राट को बीच संघर्ष की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, पूर्ण एकता के लिये उनका पारस्परिक सहयोग नितांत आवश्यक था।

व्यवहार में सम्राटों का जर्मनी के कुछ प्रदेशों तथा इटली के प्रान्तों पर अधिकार था, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से वे इससे भी बड़े प्रदेश पर आधिपत्य का दावा करते थे। वे अपने को पुराने रोमन साम्राज्य का उत्तराधिकारी और यूरोप के अन्य राजाओं का सामन्ती अधिपति समझते थे। लेकिन उनमें इतनी शक्ति नहीं थी कि इस साम्राज्यीय आदर्श को कार्यान्वित कर सकते और सामन्ती आधिपत्य को वास्तविक प्रभुत्व के रूप में विकसित कर सकते। बल्कि उन्होंने जर्मनी और इटली को संयुक्त करने के जो प्रयत्न किये उनके परिणामस्वरूप सामन्ती व्यवस्था का और भी अधिक प्रचार हुआ और दोनों देशों में स्थानीय भेदभाव बढ़ते गये। सम्राट की शक्ति के विषय में जो सामन्ती धारणा थी उसके कारण वह वास्तविक सत्ता का प्रयोग न कर सका।

इटली के लोग जर्मनों को बर्बर समझते और उनसे घृणा करते थे, और विदेशी शासकों के विरुद्ध अनवरत विद्रोह करते रहते थे। पोप लोग सम्राटों के साथ मैत्री सम्बन्ध तो बनाये रखना चाहते थे, किन्तु उन्हें अपना स्वामी मानने को तैयार नहीं थे, और अपनी भूमि पर स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक शासन करना चाहते थे, इसलिये वे सम्राटों के इटली और जर्मनी को एक करने के प्रयत्नों का सदैव विरोध करते रहे, और अन्त में साम्राज्य की प्रमुखता के लिये सम्राटों के मुख्य प्रतिद्वन्दी बन गये। ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक इटली में सम्राट की सत्ता नाममात्र को रह गई, और पोप की लौकिक सत्ता के बढ़ जाने से राजनीतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया जो मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन का मुख्य विषय बना।

मध्ययुग का राजनीतिक चिन्तन तत्कालीन राजनीतिक संस्थाओं की वास्तविक स्थिति के निरीक्षण पर आधारित नहीं था, और न अतीत के उद्गमनात्मक अध्ययन से व्युत्पन्न हुआ था, उसका कुछ अंश यूनानी तथा रोमन जगत से विरासत में मिला था और कुछ ईसाई धर्म-विद्या के अधिभौतिक सिद्धान्तों से लिया गया था। उस समय के लोगों के मस्तिष्क पर पवित्र रोमन साम्राज्य के आदर्श का आधिपत्य था, और वास्तव में वे सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत रह रहे थे; ये दोनों व्यवस्थाएँ एक दूसरी की एकदम विरोधी थीं। "एक केन्द्रीयकृत थी और दूसरी स्थानीय; एक उच्च सिद्धान्त पर आधारित थी और दूसरी अराजकता की भद्दी-भौंड़ी उपज थी; एक के अन्तर्गत सम्पूर्ण शक्ति एक दायित्वहीन राजा के हाथों में केंद्रित थी, और दूसरी में राजा के अधिकार सीमित थे और उसके आदेशों का विरोध करने का भी हक था; एक का सिद्धान्त था कि ईश्वर की दृष्टि में समान होने के नाते सभी नागरिक समान माने जाने चाहिये, और दूसरी का सम्बन्ध एक सर्वाधिक गर्वीले अभिजातवर्ग से था जिसकी श्रेणियों का विभाजन इतना नपा-तुला था जितना कि यूरोप के जीवन में और कभी देखने को नहीं मिला।"[१९]

पठनीय ग्रन्थ

Barker, Ernest, "*Medieval Political Thought*," in F. J. C. Hearnshaw, ed., *The Social and Political Ideas of Some Great Medieval Thinkers* (London, Harrap, 1923) Chap. 1.

Bryce, James, *The Holy Roman Empire*, rev. ed. (New York, Macmillan, 1932).

19. Bryce, op. cit, p. 127.

Burleigh, John, *The City of God : A Study of St. Augustine's Philosophy* (London, Nisbet, 1949)

Carlyle, A.J. & R.W., *A History of Medieval Political Theory in the West*, 6 Vols. (London, Blackwood, 1903-1936), Vol. 1, Part III.

Cochrane, C. N., *Christianity and Classical Culture* (Oxford, Clarendon Press, 1940)

Coulton, G. G., *Studies in Medieval Thought* (London, Nelson, 1940), Chaps. 1-3.

Figgis, J. N., *The Political Aspects of St. Augustine's City of God.* (London, Longmans, 1921).

Grierke, Otto, *Political Theories of the Middle Ages*, trans. by F. W. Maitland (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1900) pp. 1-7.

La Monte, J. L., *The World of the Middle Ages* (New York, Appleton-Century-Crofts, 1949), Bk. 1.

McIlwain. C. H., *The Growth of Political Thought in the West* (New York, Macmillan, 1932) Chap. 5

Sabine, G. H., *A History of Political Theory*, rev. ed. (New York, Holt, 1950) Chaps. 10-11.

Thorndike, Lynn, *History of Medieval Europe*, rev. ed. (Boston, Houghton, 1928)

Troeltsch, Ernst, *Augustin die Christliche Antike, and des Mittelalter* (Berlin, Oldenbourg, 1915).

The Social Teachings of Christian Churches, trans. by Olive Wyon, 2 Vols. (New York, Macmillan, 1931), Chap. 1.

अध्याय ८

चर्च तथा राज्य के बीच संघर्ष

आध्यात्मिक सत्ता का लौकिक सत्ता के साथ सम्बन्ध

रोमन ईसाइयत के प्रारम्भिक काल में सम्राट को राज्य तथा चर्च दोनों का प्रमुख स्वीकार कर लिया गया था। किंतु साथ ही साथ यह भी स्वीकार किया जाता रहा कि चर्च को अनैतिक कामों के लिये आध्यात्मिक दंड देने का अधिकार है, इस अधिकार का प्रयोग उसने सम्राटों के विरुद्ध भी किया। जब चर्च की शक्ति बढ़ने लगी और सत्ता पोप के हाथों में केन्द्रित होने लगी तो अवज्ञाकारी सदस्यों को बहिष्कृत करने का अधिकार एक महत्वपूर्ण अस्त्र का काम देने लगा। इस दंड का दंडित व्यक्ति के लौकिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ता था, और इसी से इस सिद्धांत का विकास हुआ कि बहिष्कृत शासक अपनी प्रजा की भक्ति का अधिकारी नहीं रहता। इस संबंध में चर्च के लिये सामन्ती सिद्धांत बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। नवीं शताब्दी में पोप ने लोरेन के राजा को इसलिये बहिष्कृत कर दिया था कि उसने अपनी पत्नी को त्यागकर अपनी रखैल से विवाह कर लिया था। यद्यपि राजा के भाई, सम्राट, ने और अनेक शक्तिशाली बिशपों ने राजा का साथ दिया, फिर भी पोप की ही जीत हुई क्योंकि विवादग्रस्त नैतिक प्रश्न बड़ा ही स्पष्ट था। इस संघर्ष का केवल यही फल नहीं हुआ कि चर्च के भीतर पोप की स्थिति मजबूत होगई, बल्कि चर्च की ओर से उसने ऐसे अधिकारों का दावा किया जिनसे कि लौकिक शासकों के क्षेत्राधिकार पर भारी आक्रमण हुआ।

शार्लमेन के समय में चर्च और राज्य के संबंध चरम अवस्था को पहुँच गये, और आगे चलकर ओटो की अधीनता में पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना होगई, किंतु इस काल में भी सम्राट और पोप के संबंधों को सुनिश्चित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। उनसे सदैव यह आशा की जाती रही कि वे दोनों मिलजुल कर और एकता के साथ सार्वभौम चर्च-राज्य का शासन चलाएँगे। किंतु उस काल की सामन्ती राजनीतिक परिस्थितियों के कारण सम्राट के लिये वास्तविक प्रमुखता का प्रयोग करना असम्भव था, जब कि चर्च का संगठन रोमन साम्राज्यीय ढँग का था जिससे चर्च की सम्पूर्ण शक्ति धीरे-धीरे पोप के हाथों में केन्द्रित होगई। चर्च की सम्पत्ति की भी वृद्धि हुई, विशेषकर भू-सम्पत्ति की, फलस्वरूप चर्च अधिकारियों के लिये राजनीति में भाग लेना आवश्यक होगया। जिन योग्य व्यक्तियों के हाथों में चर्च का शासन था उनके लिये लौकिक मामलों

में भाग लेने के लोभ को संवरण करना कठिन था, इसके अतिरिक्त जो शासक इतना शक्तिशाली होता कि दूसरों पर अपना आधिपत्य जमा सकता वह सार्वभौम शक्ति का दावा करने लगता और इसके लिये पोप के संमोदन की याचना करता। अतः साम्राज्य के निर्माण के साथ-साथ सार्वभौम शक्ति के लिये पोप का दावा भी दृढ़ होता गया। अन्त में दो सत्ताधारी, सम्राट और पोप, आमने-सामने आखड़े हुए।

ग्यारहवीं शताब्दी में सम्राट तथा पोप की दो प्रतिद्वन्दी शक्तियों में स्पष्ट रूप से संघर्ष आरम्भ होगया। चर्च के पदों को खरीदने की भ्रष्टाचारमूलक प्रथा का अन्त करने तथा अपनी सत्ता और स्वतंत्रता की वृद्धि करने के निश्चित उद्देश्य से पोप ग्रीगरी सप्तम ने आदेश जारी किया कि कोई लौकिक शासक चर्च के किसी अधिकारी को उसके पद के प्रतीकों के युक्त न करें, नहीं तो उसे चर्च से बहिष्कृत कर दिया जायगा। इस आदेश का परिणाम यह हुआ कि चर्च के महत्वपूर्ण अधिकारियों को चुनने के जिस अधिकार का प्रयोग अब तक लौकिक शासक करते आये थे वह अब पोप के हाथ में आगया, और चूँकि चर्च के कब्जे में बड़ी-बड़ी जागीरें थीं, इसलिये महत्वपूर्ण सामन्ती विशेषाधिकार लौकिक सत्ता के हाथों से निकलकर धार्मिक अधिकारियों के हाथों में चले गये। सम्राट हैनरी चतुर्थ ने इस आदेश का पालन करने से इन्कार कर दिया और अधीन चर्च अधिकारियों की एक परिषद बुलाकर पोप को अपदस्थ घोषित कर दिया। बदले में पोप ने सम्राट को बहिष्कृत कर दिया और उसकी प्रजा को राजभक्ति की शपथ से मुक्त कर दिया। इस प्रकार एक संघर्ष आरम्भ होगया जो लगभग दो शताब्दियों तक चलता रहा, बीच-बीच में अनेक समझौते हुए, और शक्ति का उतार-चढ़ाव भी हुआ। इस संघर्ष में अन्त में पोप की विजय हुई और वह पश्चिमी ईसाई जगत का निर्विवाद प्रमुख बन गया, इसके विपरीत साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर सामन्ती क्षेत्रों और स्वतंत्र नगरों में विभक्त होगया। सम्राट का पद केवल नाम के लिये रह गया।

जिस संघर्ष में सम्राटों की हार हुई उसको आगे चलकर उदीयमान राष्ट्रीय राज्यों के शासकों ने अपने हाथों में लिया और जारी रक्खा। पोपतंत्र तेरहवीं शताब्दी में इन्नोसेंट तृतीय की अधीनता में अपनी लौकिक शक्ति के शिखर पर पहुँच गया। पोप इतना शक्तिशाली था कि उसने साम्राज्य के उत्तराधिकार संबंधी विवादों का निर्णय किया, फ्रांस के राजा को अपनी परित्यक्त पत्नी को पुनः अंगीकार करने के लिये बाध्य किया, इंगलैंड के राजा को अपना आधिपत्य स्वीकार करने को मजबूर किया, और स्पेन के ईसाई राज्यों के साथ ऐसा वर्ताव किया मानों वे उसके आश्रित राज्य थे। किन्तु चौदहवीं शताब्दी तक राजाओं ने अपनी शक्ति को सुसंगठित कर लिया, और उन सामन्तों की सामन्ती स्वतंत्रता तथा सत्ता को जिनसे पोपों को अपने संघर्षों में सहायता मिलती थी, निर्णायक रूप से कुचल दिया। राजशक्ति के केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया फ्रांस में विशेश रूप से सफल हुई, जिसका फल यह हुआ कि जब

पोप बोनीफेस ने फ्रांस के राजा को चर्च की सम्पत्ति पर कर लगाने से रोकने का प्रयत्न किया तो राजा सफलतापूर्वक पोप की आज्ञा का उल्लंघन कर सका, और दबमेंवह पोप को रोम से उठा कर अवियोंन ले गया और अपने नियंत्रण में रक्खा। इस घटना के परिणामस्वरूप चर्च में जो बड़ी फूट पड़ गई उससे पोप की स्थिति और भी अधिक कमजोर होगई, और उसके लिये फ्रांस, स्पेन और इंगलैंड के राजाओं के खिलाफ लौकिक शक्ति का प्रयोग करना दिन प्रति दिन कठिन होता गया। साम्राज्य के जर्मनी तथा इटली वाले भागों में पोप की राजनीतिक सत्ता का दिखावा बना रहा। पोपों की लौकिक शक्ति का उदय तथा पराभव और सम्राटों के साथ उनके संघर्ष—ये ही मुख्य विषय थे जिनके चतुर्दिक मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन चक्कर काटता रहा।

मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन का स्वभाव

मध्य युग के अधिकांश में राजनीतिक जीवन पर निश्चित उद्देश्य और जान-बूझ कर निरूपित किये गये सिद्धांतों का प्रभाव बहुत कम था। कुछ विचार सामान्य रूप से प्रचलित थे, वे या तो रोम की परम्पराओं के अवशेष थे, अथवा ईसाइत की शिक्षाओं से लिये गये थे अथवा सामन्ती संबंधों से उत्पन्न हुए थे। किंतु राजनीतिक संस्थाओं पर उन विचारों का अधिक व्यावहारिक प्रभाव नहीं था। यूनानी नगर-राज्यों के पराभव तथा आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों के उदय के बीच के काल में दर्शन तत्वत: अराजनीतिक ही रहा, केवल रोमक विधिशास्त्र के प्रभाव को इसका अपवाद कहा जा सकता है। व्यक्ति के लिये विश्व नागरिकता अथवा रहस्यवादी धार्मिक जीवन के आदर्श पर्याप्त थे। व्यक्तीकृत राज्य, जिसकी विशेषता थी युद्ध और राजनीति का कठिन जीवन, विलुप्त हो चुका था। विश्व-एकता और एकल साम्राज्यीय सत्ता के आदर्श पश्चिमी जगत के अराजकता और विकेन्द्रीयकरण के वास्तविक तथ्यों से मेल नहीं खाते थे। मध्य युग के सिद्धांत तथा संस्थाओं में यह जो भेद दिखाई पड़ता है उसका मुख्य कारण उस काल के चिंतन का सामान्य स्वभाव और प्रवृत्ति थी।

मध्ययुगीन चिंतन में ऐतिहासिकता, वैज्ञानिकता और आलोचनात्मक प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव था। उस काल के विचारक अंध-विश्वासों पर आधारित कुछ सामान्य मतवादों को मानकर चलते और उनके आधार पर निगमन रीति से तर्क करते तथा निष्कर्ष निकालते ; निरीक्षण, अनुसंधान और प्रयोग द्वारा उद्गमन पद्धति से विवेचना करना उन्हें नहीं आता था। विद्या और ज्ञान पर पादरियों का, विशेषकर मठों के भिक्षुओं का नियंत्रण था, और धर्मविद्या से सम्बन्धित प्रश्न चिंतन के केन्द्रीय विषय थे। श्रद्धा और विश्वासों का पुंज जिसका विकास तथा पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रमण संगठित चर्च ने किया था, ज्ञान का मुख्य आधार था। इस सामग्री का विद्वानों ने संकीर्ण मानसिक प्रक्रियायों द्वारा पिष्टपेषण किया अथवा बिना किसी बौद्धिक प्रमाण के अन्तर्मुखी मनन

द्वारा अंगीकार कर लिया। इस प्रकार चिंतन परम्पराओं की कठोर शृंखलाओं में जकड़ा हुआ था, और विरोधी विचारों को धर्मद्रोह समझकर कुचलने का प्रयत्न किया जाता था।

धार्मिक सत्ता का लौकिक सत्ता के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिये, यह प्रश्न ही मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन का मुख्य विषय था। विभिन्न अवसरों पर इस प्रश्न के स्थूल और कभी-कभी स्थानीय पहलू विवाद का केन्द्र बने ; किंतु सामान्यतया नवीं से तेरहवीं शताब्दी तक राजनीति में धर्म तथा पोप की सर्वोच्चता के एक सुनिश्चित सिद्धान्त का विकास करने की प्रवृत्ति ही प्रमुख थी। इस सिद्धांत का निर्माण करने में पुराने यूनानी और रोमन लेखकों को धर्म विरुद्ध समझकर त्याग दिया गया, इसका अपवाद केवल यही था कि कभी-कभी बिना सोचे-समझे ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर अपने मत की पुष्टि करने का प्रयत्न किया जाता था। भिक्षु लेखक बाइबिल को तथा प्रारम्भिक ईसाई लेखकों, विशेषकर संत अगस्ताइन और ग्रीगरी महान की रचनाओं को सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत मानते थे।

जब चर्च और राज्य के बीच संघर्ष तीव्र होने लगा तो **नये इच्छापत्र** की अपेक्षा पुराने का अधिक प्रयोग किया गया क्योंकि चर्च के लिये नये की नम्र प्रवृत्ति और उदासीन राजनीतिक दृष्टिकोण के मुकाबिले में पुराने का आक्रामक और धर्मतांत्रिक दृष्टि-कोण अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। यह मान लिया गया था कि इज्राइलियों के इतिहास में चर्च के जीवन का पूर्वाभास मिलता है। यही कारण था कि **पुराने इच्छापत्र** में इज्राइलियों के राज्य का जो स्वरूप चित्रित किया गया था उसने मध्ययुगीन राजनीतिक चिंतन पर निर्णायक प्रभाव डाला। अपने दावों को सिद्ध करने के लिये चर्च के लेखकों ने इज्राइलियों की अनेक चीजों का प्रयोग किया। उदाहरण के लिये विधि ईश्वर की प्रत्यक्ष इच्छा है, पुरोहित वर्ग का राजनीतिक सत्ता पर नियंत्रण और राजाओं की शक्तियों को सीमित करने वाली धर्मतांत्रिक परम्पराएँ। और चूँकि **पुराने इच्छापत्र** में कहा गया था कि जिन राजाओं ने पैगम्बरों की अधीनता स्वीकार की उन्हीं को सबसे अधिक सफलता मिली, अतः चर्च के लेखकों ने सुझाया कि लौकिक सत्ता का आध्यात्मिक सत्ता के अधीन होना शासन की उस योजना के अनुरूप है जिसकी रचना स्वयं ईश्वर ने की है।

मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन का आधार कुछ ऐसे विचार थे जिन्हें सभी पक्षों के समर्थक स्वीकार करते थे। पुराने रोम की प्रेतात्मा सभी लोगों के मस्तिष्क को घेरे थी, और साम्राज्यीय एकता का आदर्श सभी को मान्य था। सामान्यतया लोग चाहते थे कि समस्त यूरोप में केवल एक राज्य और एक चर्च हो, प्रत्येक में सत्ता केवल एक प्रमुख के हाथों में हो, और चर्च तथा राज्य दोनों का एकीकरण करके एक ही व्यवस्था का निर्माण किया जाय। उनका यह भी विश्वास था कि सब सत्ता का अन्त्य स्रोत ईश्वर ही है। मनुष्य एक सार्वभौम समाज में रहते हैं जो एक ओर रोमन साम्राज्य का अनुवर्तन है और दूसरी ओर एक दृश्यमान चर्च के रूप में ईसा का अवतार है।

रोम के सार्वभौम राजनीतिक साम्राज्य की स्थापना ईश्वर की इच्छा से इसलिये हुई थी कि उसके अन्तर्गत एक सार्वभौम चर्च की रचना की जा सके।

यद्यपि चर्च और राज्य दोनों एक ही समान थे फिर भी उस समाज की दो सरकारें थीं। दो पृथक व्यवस्थाओं के अस्तित्व और ईसाई लेखकों द्वारा लौकिक और आध्यात्मिक वस्तुओं के बीच किये गये भेद ने दो तलवारों (शक्तियों) के सिद्धान्त को जन्म दिया जिसका अभिप्राय था कि सत्ता का पोप और सम्राट के बीच सम्यक वितरण होना चाहिये। इस सिद्धान्त को पाँचवीं शताब्दी के अन्त में गैलासिउस ने सम्राट को अपने एक पत्र में इस प्रकार व्यक्त किया :

सच्चा राजा और सच्चा पुरोहित ईसा मसीह स्वयं था।......किन्तु वह मानव स्वभाव की दुर्बलता को समझता था और अपनी जनता के कल्याण की भी उसको बहुत चिन्ता थी, इसलिये उसने इन दो पदों को पृथक कर दिया और उनके कार्य तथा कर्तव्य अलग-अलग निश्चित कर दिये। अतः नित्य जीवन की प्राप्ति के लिये ईसाई सम्राट को धर्माधिकारी की सहायता की आवश्यकता होती है और लौकिक वस्तुओं के सम्बन्ध में धर्माधिकारी सम्राट पर निर्भर रहता है।[1]

इस अवतरण को प्रारम्भिक ईसाई लेखकों ने बराबर उद्धृत किया, और आत्मा तथा शरीर की दो तलवारों के प्रतीक द्वारा इसका समर्थन किया, इसलिये इसका सिद्धान्त का नाम दो तलवारों का सिद्धान्त पड़ा।

प्रारम्भ में लोगों की धारणा थी कि एकीकृत चर्च-राज्य में लौकिक और आध्यात्मिक सत्ता की यह एकता और सन्तुलन पृथ्वी पर शासन करने के लिये स्वयं ईश्वर ने स्थापित की है। हर शक्ति को अपने-अपने क्षेत्र में शासन करना है और दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप करने का किसी को अधिकार नहीं है। किन्तु दुर्भाग्यवश व्यवहार में द्वैध सत्ता का यह सिद्धान्त कार्य न कर सका। मध्ययुगीन जीवन की परिस्थितियाँ ऐसी थी कि लौकिक मामलों को आध्यात्मिक विषयों से पृथक रखना असम्भव हो गया। हर सत्ता दूसरे पर यह आरोप लगाती कि वह मेरे क्षेत्र में हस्तक्षेप करती है, और सिद्धान्तों की एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करने का प्रयत्न करती जिससे स्वयं उसकी शक्तियों के विस्तार को उचित ठहराया जा सकता। दोनों ही अपने-अपने दावों की पुष्टि करने और एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये ऐतिहासिक तथ्यों और बाइबिल के उद्धरणों का सहारा लेतीं।

चर्च की सर्वोच्चता के पक्ष में तर्क

नवीं और चौदहवीं शताब्दी के बीच के युग में चर्च की सर्वोच्चता के सिद्धान्त के प्रतिपादकों में मुख्य थे : लियों का बिशप अगोबार; रैंस का आर्कबिशप हिंकमार;

1. A. J. and R. W. Carlyle, *A History of Medieval Political Theory in the West* (1903), Vol. I, p. 190.

पोप निकोलस प्रथम; पोप ग्रीगरी सप्तम, लुटरवाख का मानेगोल्ट, संत बर्नार्ड; साल्सबरी का जॉन, संत टोमस एक्विनास; और पोप इन्नोसेंट तृतीय।[२] पोप ग्रीगरी तथा उसके सम्प्रदाय के सदस्यों ने न्याय के सिद्धांत को अपनी नीति का आधार बनाया। इस सिद्धांत में कई चीजें सम्मिलित थीं : चर्च पर पोप का प्रभुत्व, पादरियों की लौकिक शासकों के नियंत्रण से मुक्ति, और पोप का ईसामसीह की आज्ञाओं का उल्लंघन करने के अपराध के लिये राजाओं तक को दंड देने का अधिकार।

बारहवीं शताब्दी में चर्च के अधिकारियों की रचनाओं का एक संग्रह सम्पादित किया गया जो ग्रेशियन का देक्रेतुम (आज्ञप्ति) के नाम से विख्यात हुआ। उसमें पोप की सर्वोच्चता तथा चर्च के श्रेणी-क्रम का विधिक दृष्टिकोण से समर्थन किया गया। इससे पहले नवीं शताब्दी में ही **कौंसटेंटाइन का दान** नाम का एक प्रपत्र प्रकाशित हो चुका था जिसमें राजधानी को रोम से बाइजेंटिउम लेजाने और पश्चिमी भाग की सत्ता पोप को देने का उल्लेख था; किंतु चर्च के लेखकों ने इसका यह अर्थ लगाया कि कौंसटेंस्टाइन ने पश्चिम की सम्पूर्ण लौकिक सत्ता पोप को प्रदान कर दी थी। ग्रेशियन के संग्रह में यह प्रपत्र भी सम्मिलित था। इस आधार पर पोपों ने दावा किया कि लौकिक सत्ता पर हमारा अधिकार चौथी शताब्दी से ही चला आ रहा है। बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही इस प्रपत्र को जाली बतलाया गया किंतु मध्ययुग के अन्त से पहले लोगों को यह विश्वास नहीं हुआ कि यह जाली था। चर्च के योग्य समर्थकों ने पोप की सर्वोच्चता को सिद्ध करने के लिये कौंसटेंटाइन के दान के तर्क का सहारा नहीं लिया क्योंकि इससे तो उल्टा यही सिद्ध होता था कि पोप की शक्ति का स्रोत ईश्वर नहीं अपितु मनुष्य था।

चर्च की सर्वोच्चता के पक्ष में दिये गये तर्क मुख्यतया दो प्रकार के थे। कुछ का उद्देश्य चर्च के भीतर पोप को सर्वोच्च स्थान प्रदान करना था, और कुछ का उसको लौकिक सत्ता के मुकाबिले में श्रेष्ठ ठहराना। किंतु वे इतने मिले-जुले थे कि उनको एक दूसरे से पृथक करना कठिन था। पीटरी सिद्धांत और इसोदुरुस के जाली प्रपत्रों का पहला उद्देश्य था, किंतु अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने दूसरे की प्राप्ति में भी सहायता दी।

पीटरी सिद्धांत यह था कि रोम के चर्च की स्थापना संत पीटर की हड्डियों पर हुई थी, और उसको स्वर्ग की कुंजी सौंप दी गईं थीं ताकि वह पृथ्वी पर इस बात का निर्णय कर सके कि स्वर्ग में कौन बंधन में डाला जायगा और किसको मुक्ति मिलेगी। पोप अपने को पीटर का जिसने चर्च की नींव डाली और उसके लिये शहीद हुआ, उत्तराधिकारी मानता था, और इस हैसियत से दावा करता था कि मैं पीटर की शक्तियों का

२. चर्च के अधिकतर समर्थकों की रचनाएं मिग्ने (Migne) के Patrologa Latinia में मिलती हैं।

अधिकारी हूँ और वे शक्तियाँ लौकिक सत्ता की शक्तियों से कहीं अधिक विस्तृत हैं। इसोदोरस के प्रपत्र जाली थे जिन्हें नवीं शताब्दी के मध्य में फ्रांस में तैयार किया गया था, और कहा गया था कि ये प्रारम्भिक पोपों के प्रपत्र हैं। इनका उद्देश्य बिशपों को आर्कबिशपों के नियंत्रण से मुक्त करना और पोप की सत्ता में वृद्धि करना था; बिशपों को यह आशा थी कि पोप उनके कार्यों में इतना हस्तक्षेप नहीं करेगा जितना कि आर्क-बिशप करते थे। पोप की निरंकुशता को सिद्ध करनेवाले इन प्रपत्रों को सामान्यतया स्वीकार कर लिया गया था, और उन्हीं के फलस्वरूप चर्च में केन्द्रीयकृत राजतंत्र की स्थापना हुई जिससे चर्च विकेन्द्रीयकृत सामन्ती व्यवस्था के मुकाबिले में इतना शक्तिशाली होगया।

जिन तर्कों का उद्देश्य लौकिक सत्ता पर आध्यात्मिक सत्ता की सर्वोच्चता सिद्ध करना था, उनके दो मुख्य आधार थे। पहला आधार यह विश्वास था कि आध्यात्मिक सत्ता अपने स्वभाव से ही लौकिक सत्ता की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण तथा सम्माननीय है। पोप सिलवेस्टर ने बिशपों को यह स्मरण रखने की प्रेरणा दी कि उनकी टोपियों के मुकाबिले में राजाओं के मुकुटों का वही स्थान था जो सोने की तुलना में सीसे का।[3] पीटर डेमियन ने पोप को राजाधिराज और सम्राटों का सम्राट बतलाया और कहा कि सम्मान और प्रतिष्ठा में वह सभी मनुष्यों से श्रेष्ठ है।[4] यह विश्वास चर्च के उन उप-देशों का परिणाम था जिनमें इस लोक के मुकाबिले में परलोक को और शरीर की वस्तुओं की तुलना में आत्मा को चीज़ों को अधिक महत्वपूर्ण ठहराया गया था। पुरोहितों की सर्वोच्चता को सिद्ध करने के लिये बाइबिल के अनेक स्थल उदधृत किये गये और लौकिक सत्ता के मुकाबिले में आध्यात्मिक शासन की प्राथमिकता को सिद्ध करने के लिये शरीर और आत्मा तथा चाँद और सूर्य के वे उदाहरण दिये गये जो कि मध्ययुगीन दृष्टिकोण की विशेषता थे।

दूसरा तर्क यह था कि ईश्वर ने चर्च को नैतिक विषयों में शासकों के आचरण को नियंत्रित करने का अधिकार दे रक्खा है। जब चर्च के भीतर पादरियों और गैर-पादरियों का भेद स्पष्ट होगया तो लौकिक शासकों को चर्च के सभी कार्यों से पृथक कर दिया गया। उच्च पद पर आसीन होने के कारण शासकों में पाप की विशेष प्रवृत्ति हुआ करती थी, और जब कभी वे चर्च द्वारा स्थापित नैतिक आचरण के उच्च स्तर से नीचे गिरते तो पादरी लोग उनकी भर्त्सना अथवा निन्दा करने में कभी न हिचकिचाते। पुराने इच्छापत्र में ऐसे अनेक उदाहरण थे जब कि पैगम्बरों ने राजाओं के विरुद्ध ईश्वरीय क्रोध का आह्वान किया था। नये इच्छापत्र के पीटरी सिद्धान्त का यह अर्थ लगाया गया कि मनुष्यों के पारस्परिक झगड़ों का निबटारा करने का अधिकार पोप को मिला हुआ है।

---

3. Sylvester II, *De Informatione Episcoporum*.
4. Peter Damian, *Opusc*, xxiii, 1.

और ईसा मसीह के पीटर को दिये गये इस आदेश का कि "मेरी भेड़ों का भरण-पोषण करो" यह अर्थ किया गया कि पोप को राजाओं तथा प्रजा दोनों के आचरण का नियमन करने का सामान्य अधिकार है।

जब लौकिक शासक चर्च के विरुद्ध कोई अपराध करते तो उन्हें दंड देने के लिये शाप और बहिष्कार इन दो अस्त्रों का प्रयोग किया जाता था, और इसके पीछे धारणा यह थी कि आत्मा की तलवार के धारण करने के नाते चर्च को आध्यात्मिक दंड ही देना चाहिये। यदि कोई पापी शासक चर्च के इन आदेशों को मानने से इन्कार कर देता तो पोप लोग उसे सिंहासन से उतार देते और उसकी प्रजा को उसकी भक्ति की शपथ से मुक्त कर देते। चूँकि सामन्ती शपथ का आधार धार्मिक था इसलिये वह चर्च के क्षेत्राधिकार के भीतर आजाती थी। बाइबिल में ऐसे अनेक उदाहरण थे जिनसे चर्च के इस कार्य को उचित ठहराया जा सकता था विशेषकर जोरिमाया का उदाहरण जिसको ईश्वर ने राष्ट्रों और राज्यों के ऊपर नियुक्त किया था और उन्मूलन करने, गिराने और नाश करने का अधिकार देदिया था।[५] इसके अतिरिक्त पोप ने शार्लमैन का जो अभिषेक किया था उसका यह अर्थ लगाया गया कि पोप ने सम्राट को सत्ता प्रदान की थी, और जो कुछ पोप ने दिया था उसको वापिस लेने का भी उसे अधिकार था।

लौकिक सत्ता की सर्वोच्चता के पक्ष में तर्क

लौकिक शासकों ने चर्च की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का इस आधार पर विरोध किया कि चर्च की भाँति राज्य की भी उत्पत्ति ईश्वर से हुई थी, और राजा लोग दैवी उद्देश्य की पूर्ति के साधन होने के नाते केवल ईश्वर के प्रति जबावदेह थे। सन्त अगस्ताइन के विरोधी सिद्धान्त के वावजूद मध्ययुग के दोनों ही पक्षों—चर्च और राज्य—के लेखकों का विश्वास था कि राज्य का उद्देश्य नैतिक है और न्याय तथा धर्म की रक्षा करना उसका मुख्य काम है। वह मनुष्य की पापवृत्तियों को रोकने का एक साधन है, और इस अर्थ में लौकिक शासकों की सत्ता पवित्र है। सामान्य सिद्धान्त यह था कि राजाओं का शासन करने का अधिकार तभी तक दैवी है जब तक वे न्याय तथा धर्म के ईश्वरीय उद्देश्य को पूरा करते रहते हैं। मध्ययुग की रूढ़-विधि विवेक के प्राकृतिक सिद्धान्तों की प्रतीक मानी जाती थी, और राजाओं से आशा की जाती थी कि वे उसी विधि के अनुसार शासन करेंगे। राजा तथा प्रजा का सम्बन्ध सामन्ती आदर्शों पर आधारित इस पारस्परिक समझौते पर निर्भर रहता था कि वे कानून का परिपालन और न्याय की रक्षा करेंगे। किन्तु अनेक मध्ययुगीन लेखकों ने जिनमें कुछ चर्च जन[६] भी सम्मिलित थे, सिखाया कि राजा केवल ईश्वर के प्रति जबावदेह है और उसकी आज्ञाओं का पालन करना प्रजा का कर्तव्य है, उसका आचरण कैसा ही क्यों न हो।

५. Jerermiah I. II,
६. विशेषकर ग्रीगरी महान।

लौकिक शासकों की स्वतंत्रता के समर्थन में धर्मशास्त्रों से भी प्रमाण दिये गये। पुराने इच्छापत्र में ऐसा उल्लेख था कि राजाओं को सीधे ईश्वर से शासन करने की स्वीकृति मिली थी और उन्होंने दैवी इच्छा को पूरा करने के लिये निमित्त रूप में कार्य किया था। नये इच्छापत्र में सन्त पाल की निम्न घोषणा थी जो लौकिक सत्ता के लिये विशेषकर उपयोगी सिद्ध हुई : "जो भी शक्तियाँ हैं वे ईश्वर-विहित हैं। जो कोई शक्ति का प्रतिरोध करता है वह ईश्वर के अध्यादेश का प्रतिरोध करता है।"[7] किन्तु बाइबिल की अधिकतर की रचनाओं की प्रवृत्ति राजतंत्र के विरुद्ध थी, और लगभग सभी ऐतिहासिक अभिलेखों और प्रचलित परम्पराओं के रचयिता पुरोहित तथा भिक्षु थे, इसलिये इस दृष्टि से लौकिक सत्ता के समर्थकों का पक्ष कमजोर पड़ता था।

लौकिक सत्ता के समर्थन में ग्यारहवीं शताब्दी में जर्मन बिशपों ने जो सम्राट के अधीन थे और अपने को पोप के प्रभुत्व से मुक्त रखना चाहते थे, कुछ और तर्क दिये। किन्तु सम्राट के दावों का सबसे अच्छा समर्थन उस समय हुआ जब कि रोमक विधि का पुनः अध्ययन होने लगा। यद्यपि पश्चिमी यूरोप में रोम की व्यावहारिक विधि का ज्ञान पूर्णतया लुप्त कभी नहीं हुआ था, और उसके अनेक सिद्धान्त सामन्ती रूढ़ियों और वर्बरों की विधि-संहिताओं में समाविष्ट हो चुके थे, फिर भी शताब्दियों से विधि-शास्त्र के अध्ययन में लोगों की रुचि नहीं रही थी, और इसका मुख्य कारण यह था कि विधि को परम्पराओं का पुंज माना जाता था और वे लोकचेतना में इतनी दृढ़ता से समाई हुई थी कि उनके संग्रह और अध्ययन की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई थी। किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में इटली के उदीयमान नगरों की आवश्यकता के कारण जस्टिन की विधि-संहिता का पुनरुद्धार हुआ, और बोलोग्ना के विश्वविद्यालय में रोमक विधि का व्यवस्थित ढँग से अध्ययन होने लगा, और वहाँ से उसका प्रचार फ्रांस और स्पेन में हुआ। इस काल के विधिक लेखकों में इर्नेरिउस अर्कुसिउस, बार्तोलुस और बाल्दुस प्रमुख थे। "विधिवेत्ताओं के सिरमौर" बार्तोलुस का कथन था कि सम्राट पृथिवी पर देवता है, उसका प्रभुत्व अनुल्लंघनीय, और उसका विरोध करना पाप है। उसने प्रभुत्व के सिद्धान्त में जिसका आगे चलकर बोदाँ और ग्रोशस ने विकास किया महत्वपूर्ण योग दिया। उसने राज्यों को दो वर्गों में बाँटा : एक वे जो किसी अन्य राज्य को अपने से बड़ा स्वीकार करते हैं और दूसरे वे जो ऐसा नहीं करते। इस भेद के आधार पर उसने **स्वतंत्र राज्यों का परिवार** की धारणा और अन्तर्राष्ट्रीय विधि की नींव डाली। परवर्ती लेखकों ने प्रभुत्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के विषय में प्रायः उसका हवाला दिया।

इस प्रकार उन अनेक व्यक्तियों को बौद्धिक जीवन का नया क्षेत्र मिल गया

7. Romans 13 : 1 – 7.

जिनके सामने अपनी मानसिक प्रतिभा के विकास के लिये धर्मशास्त्र को छोड़कर अन्य कोई मार्ग ही न था; और विधि की शिक्षा पाये हुए गैर-पादरी जन पादरियों के स्थान पर राजाओं और राजकुमारों के सलाहकार बन गये। लोग विधिक और राजनीतिक अधिकारों के सिद्धान्तों के विषय में चिन्तन करने लगे। राजाओं को अपने सामन्तों के विरुद्ध संघर्षों में और नगरों को सामन्ती प्रतिबन्धों से मुक्ति पाने में रोम के विधिशास्त्रीय सिद्धान्तों से बड़ी सहायता मिली। रोमक विधि एक अत्यधिक केन्द्रीकृत राज्य-व्यवस्था की उपज थी, और उसके पीछे सम्राट की विधिक निरंकुशता की धारणा निहित थी। अतः मध्ययुगीन सम्राट के दावों के समर्थन के लिये ऐसे तर्क मिल गये जो पूर्व मध्यकालीन तर्कों से एकदम भिन्न थे। बारहवीं शताब्दी में फ्रैडरिख बारवरोसा का समर्थन प्राप्त करके विधिविज्ञों ने दावा प्रस्तुत किया कि सम्राटों को पुराने रोमन सम्राटों की अखंड साम्राज्यीय सत्ता विरासत में मिली है। इस प्रकार जो सत्ता चाटुकार रोमन विधिविज्ञों ने अपने निरंकुश शासकों में आरोपित की थी वह मध्ययुगीन सम्राट को हस्तान्तरित कर दी गई और उसके इटली तथा जर्मनी के समर्थकों ने उत्साह के साथ इस चीज का अभिनन्दन किया। पोप के दावों का खंडन करने के लिये इस पुराने सिद्धान्त का पुनरुद्धार और प्रयोग किया गया कि जो सम्राट चाहता है वही कानून है। रोमक विधि में बतलाया गया था कि सम्राट सम्पूर्ण सभ्य जगत का शासक है; अतः मध्ययुगीन जर्मन सम्राटों ने चर्च के नियंत्रण से स्वतन्त्रता का और लौकिक शासकों के ऊपर अपने आधिपत्य का दावा किया।

साम्राज्यीय ऐश्वर्य बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में फ्रैडरिख द्वितीय के शासन काल में अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया। फ्रैडरिख अपने युग का अत्यधिक प्रभावशाली व्यक्ति था। वह साम्राज्य की स्वतंत्रता की रक्षा करने में ही सफल नहीं हुआ, बल्कि उसने आध्यात्मिक और लौकिक दोनों ही क्षेत्रों में सर्वोच्चता प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया। पोप ने उसकी जो निन्दा की उसकी उसने तनिक भी परवा नहीं की और अपने को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि घोषित किया। यद्यपि पोप के गुमाश्ते साम्राज्य के सभी भागों में उसके विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियाँ करते रहे और पोप के भड़काने से जर्मनी के तथा इटली के नगरों के स्वार्थी शासक उसके विरोध में लगे रहे, फिर भी फ्रैडरिख साम्राज्यीय सत्ता की प्रतिष्ठा कायम रखने के लिये निरन्तर संघर्ष करता रहा।

फ्रैडरिख की मृत्यु के उपरान्त उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों ने उसकी सफलताओं पर पानी फेर दिया, और चर्च ने उसको धर्मद्रोही घोषित करके उसके यश को आच्छादित कर दिया। उसका अक्षम्य अपराध यह था कि उसने मिस्र के सुल्तान के साथ समानता तथा न्याय की शर्तों के आधार पर मैत्री सन्धि करली थी। अतः दान्ते

ने भी जो उसके राजनीतिक स्वतन्त्रता के कायम रखने के प्रयत्नों से सहानुभूति रखता था, अपनी पुस्तक इनफर्नो (नरक) में उसकी गणना विधर्मियों में की।

फ्रांस, स्पेन और इंगलैंड के उदीयमान राष्ट्रीय राज्यों के शासकों ने भी विधिविज्ञों की सहायता का स्वागत किया क्योंकि उससे उन्हें चर्च तथा सामंतों के विरुद्ध अपनी सत्ता को दृढ़ करने में बल मिला। किंतु उन्होंने इस तर्क का विरोध किया कि रोमन सत्ता का उत्तराधिकारी होने नाते जर्मन सम्राट को उनके राज्यों पर किसी प्रकार का आधिपत्य प्राप्त था। अधिकतर मामलों में वे सम्राट की अलंकारिक उच्चता को स्वीकार करने को तैयार थे; किंतु वास्तविक राजनीतिक शक्ति वे अपने ही हाथों में रखना चाहते थे। वास्तविक राजनीतिक शक्ति के लिये यह उत्सुकता उन तत्वों में से एक थी जिन्होंने आधुनिक राजनीतिक चिंतन का श्रीगणेश किया।

यद्यपि रोम के राज्य-विषयक सिद्धांत के पुनरुद्धार का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि शासकों की सत्ता मज़बूत हुई और निरंकुश राजतंत्र की स्थापना में सहायता मिली, फिर भी रोमक विधि के अध्ययन से राजनीतिक स्वतंत्रता की प्रगति में बाधा नहीं पड़ी। रोमक विधिशास्त्र का सिद्धांत था कि राजनीतिक सत्ता का अन्त्य स्रोत जनता ही है, और इस सिद्धांत का ट्यूटन जातियों की इस धारणा से मेल बैठ गया कि कानून सम्पूर्ण राष्ट्र से निसृत होता है। अनेक विधिवेत्ताओं का कथन था कि जनता को यह अधिकार है कि जो सत्ता उसने सम्राट को दे रक्खी है उसे वह किसी भी समय वापिस लेले, सम्राट विधायक शक्तियों का प्रयोग केवल सीनेट की सलाह से कर सकता है और उसे जनता की सम्पत्ति पर निरपेक्ष अधिकार नहीं प्राप्त है। ये विचार मध्ययुग के अंत में लोकतांत्रिक सिद्धातों के रूप में पुनः प्रकट हुए।

संत बर्नार्ड और साल्सबरी का जॉन

बारहवीं शताब्दी के जिन लेखकों ने चर्च तथा राज्य के सम्बन्धों की समीक्षा की उनमें क्लैयरवो का संत बर्नार्ड (१०९१-११५३)[८] और साल्सबरी का जॉन (१११५ (?)-११८०)[९] दो प्रमुख थे। संत बर्नार्ड अपने युग का सबसे अधिक प्रभावशाली चर्च जन था, यद्यपि उसने चर्च के सम्मानों को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और कभी पोप नहीं बना। उसने विवेक के मुकाबिले में श्रद्धा को श्रेष्ठ माना और चर्च के प्रारम्भिक विचारकों की सान्यासिक और आध्यात्मिक भावना को पुनः जाग्रत करने का प्रयत्न किया। उस समय पश्चिम में जिन लौकिक

८. संत बर्नार्ड के राजनीतिक विचार उसकी रचना *On Reflection* में मिलते हैं जिसे उसने पोप को लिखकर भेजा था। देखिये (John Mobillon, *Life and Works of St. Bernard Abbott of Clairvaux* (1889-96)

९. साल्सबरी के जॉन के राजनीतिक विचार उसके ग्रंथ *Policraticus* में मिलते हैं।

विद्याओं का उदय होरहा था उनसे उसे कोई सहानुभूति नहीं थी, और इसलिये उसने सांसारिक विषयों में चर्च की जो प्रवृत्ति बढ़ रही थी उसकी निंदा की। उसने प्रशासनीय और गैर-आध्यात्मिक विषयों में पोप के हस्तक्षेप का विरोध किया क्योंकि उसका विश्वास था कि सांसारिक विषयों में इतना समय नष्ट करना पोप जैसे उच्च स्थितिवाले व्यक्ति को शोभा नहीं देता था। उसका कथन था कि इस प्रकार के कार्य स्वभाव से ही पतन की ओर ले जाते हैं, इसलिये उनका सम्पादन राजनीतिक अधिकारियों के लिये ही छोड़ देना चाहिये।

सन्त बर्नार्ड का धार्मिक शक्ति की सर्वोच्चता में पक्का विश्वास था, किंतु वह चाहता था कि उसका कार्य आध्यात्मिक विषयों तक ही सीमित रहे। पोप का अपने राज्यक्षेत्रीय हितों की रक्षा के लिये शक्ति का प्रयोग करना चाहिये अथवा नहीं, इस विषय में संत बर्नार्ड ने दो तलवारों के सिद्धांत का अर्थ यह लगाया कि चर्च आत्मा तथा शरीर दोनों की तलवारों का स्वामी है, पहले का प्रयोग पुरोहित को करना चाहिये, और दूसरे का पुरोहित के कहने पर और सम्राट की आज्ञा से सैनिक को। पोप का दरबार चर्च की सम्पत्ति का प्रबंध करने और धर्म-युद्धों के संचालन में सक्रिय भाग ले रहा था, और भ्रष्टाचार तथा कुचक्रों का केंद्र था। सुधारवादी संत बर्नार्ड ने इस सब की घोर भर्त्सना की और कहा कि पोप के महल में जस्टिन की विधि का बोलबाला है न कि भगवान ईसा के सिद्धांतों का।

साल्सबरी के जॉन का दृष्टिकोण भी बड़ा ही स्पष्ट और निर्भीक था। बर्नार्ड की भाँति उसने भी चर्च की सर्वोच्चता का समर्थन किया, किन्तु साथ ही साथ उसने चर्च पर यह भी आरोप लगाया कि वह धन के लोभ तथा अन्य पापवृत्तियों से प्रेरित होकर अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है।

जॉन अँग्रेज था, किन्तु उसकी शिक्षा-दीक्षा पेरिस में हुई थी। उस समय पेरिस यूनान तथा रोम की संस्कृति का, जिसका पुनः उदय होरहा था, केन्द्र था। अतः जॉन को उदार और विस्तृत दीक्षा मिली, जो कि उसके परवर्ती ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित है। पेरिस को छोड़ कर वह इंगलैंड गया, और वहाँ कैन्टरबरी के आर्कबिशप टॉमस बैकिट के सचिव के रूप में कार्य किया। इस हैसियत से उसने हैनरी द्वितीय के विरुद्ध बैकिट के संघर्ष में सक्रिय भाग लिया। बाद में वह शात्र का बिशप बना दिया गया और वहीं उसने अपना शेष जीवन बिताया।

अपने ग्रन्थ पॉलीक्रातीकुस में जो ११५९ में पूरा हुआ, जॉन ने सामान्य राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। विषय-वस्तु की दृष्टि से इसका उस युग के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा विस्तार अधिक है। इसमें लेखक ने सिसेरो की शैली में तत्कालीन राजनीति दर्शन का व्यापक चित्र प्रस्तुत किया है।[१०]

---

१०. इस ग्रन्थ का विशेष महत्व है क्योंकि इसकी रचना अरस्तू के ग्रन्थों की पुनप्राप्ति

आगे आनेवाले सन्त टामस एक्विनास की भाँति जॉन ने भी बतलाया कि सुव्यवस्थित समाज वही है जिसमें विभिन्न अंगों के कार्यों का उचित बटवारा हो; प्रत्येक अंग का निर्माण ठीक ढँग से हो और उसको उचित शक्ति प्राप्त हो। पहले उसने उन बाधाओं की कटु आलोचना की जिनसे राज्य के स्वस्थ जीवन में विघ्न पड़ता है, तदुपरान्त उसने एक आदर्श शासन-व्यवस्था का चित्र खींचा जो कि इस दिशा में सन्त अगस्ताइन के बाद पहला प्रयत्न था। उसका विश्वास था कि आदर्श राज्य के लिये लौकिक सत्ता का आध्यात्मिक सत्ता के अधीन होना आवश्यक है। जहाँ तक सरकार के रूप का सम्बन्ध था उसने केवल राजतंत्र को ही लिया, और राज्य की समीक्षा रोमन साम्राज्य और पुराने इच्छापत्र के धर्मतांत्रिक राज्यों को ध्यान में रख कर की। उसने इस पुराने सिद्धांत पर बल दिया कि मनुष्यों का वास्तविक शासक विधि ही है, और विधि को उसने ईश्वरीय इच्छा का नित्य और अपरिवर्तनशील सिद्धांत बतलाया। अतः उसके मतानुसार धर्म ही राजनीतिक जीवन का वास्तविक आधार है। उसका कहना था कि धर्म का अवतार होने के नाते चर्च मनुष्य जाति का सर्वोच्च शासक है, और राजा का जो विधि का मूर्तरूप है, दूसरा स्थान है।

राज्य के विरुद्ध चर्च का समर्थन करते हुए उसने घोषणा की कि "विधि द्वारा की गई प्रत्येक आलोचना (निन्दा) निरर्थक है यदि उस पर ईश्वरीय कानून की छाप नहीं लगी है ; और राजा के कानून अथवा अध्यादेश का कोई मूल्य नहीं होता यदि वह चर्च की शिक्षाओं के अनुकूल नहीं हैं।"[११]

इसी आधार को लेकर जॉन ने अपने प्रसिद्ध राजहत्या के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।[१२] उसका कहना था कि जिस राजा का आचरण धर्म-विरुद्ध होता है वह अत्याचारी हो जाता है और उसका बध कर देना चाहिये। किन्तु अत्याचारी की हत्या ऐसे शिष्ट ढँग से की जाय कि धार्मिक भावनाओं को ठेस न पहुँचे ; विष का प्रयोग

(१३ वीं शताब्दी में) से पहले हुई थी। इस पुनर्प्राप्ति को मध्ययुग के इतिहास में एक परिवर्तनकारी घटना माना गया है। (C. H. McIlwain, *The Growth of Political Thought in the West* (1932) pp. 338 ff.) अन्त में तो उसका प्रभाव क्रान्तिकारी हुआ इसमें संदेह नहीं। किन्तु यदि हम Policraticus की तुलना अगली शताब्दी के टॉमस एक्विनास की रचनाओं से करें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि अरस्तू के प्रकाश में आने से राजनीतिक चिंतन के विकास का क्रम सहसा टूट नहीं गया, जैसा कि कुछ लोगों ने मान लिया है। देखिये G. H. Sabine, *History of Political Theory*, rev. ed. (1950), pp. 245—256.

11. *Policraticus*, IV, 6.

१२. जॉन मध्ययुग का प्रथम लेखक था जिसने राजहत्या को अपने दर्शन का अभिन्न अंग माना। किन्तु अन्य लेखकों ने अप्रत्यक्ष रूप से इसका समर्थन किया था। देखिये McIlwain, op. cit , p. 322.

उचित नहीं है, क्योंकि धर्मशास्त्रों में इसका विधान नहीं मिलता। अत्याचारी से मुक्ति पाने का सबसे अच्छा तरीका तो प्रार्थना है, किन्तु यदि इसमें सफलता न मिले तो जनता को तलवार का सहारा लेने का अधिकार है।

इस बात का उपदेश करके कि राजाओं को ईश्वरीय कानून के अनुकूल न्याय तथा धर्म का संवर्धन करना चाहिए जॉन ने रोम तथा चर्च के प्रारम्भिक लेखकों की परम्पराओं को स्थायित्व प्रदान किया। इसके अतिरिक्त अत्याचारी शासकों के हटाने को युक्तिसंगत ठहराकर उसने सांविधानिक शासन-प्रणाली के विकास में भी योग दिया।

सन्त टॉमस एक्विनास

तेरहवीं शताब्दी की विशेषता यह थी कि उस काल में पोप की शक्ति शिखर पर पहुँच गई, और अनुसन्धानमूलक दर्शन में विचारकों ने अधिक दिलचस्पी दिखाई। इस युग का योग्यतम लेखक सन्त टॉमस एक्विनास हुआ (१२२७-१२७४)।[१३] उसका मुख्य उद्देश्य था विवेक और ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान के बीच समन्वय स्थापित करना अर्थात् चर्च के सिद्धांतों और यूनान तथा रोम बुद्धिपरक दर्शन में जो पुराने ज्ञान के पुनः अध्ययन से प्रकाश में आगया था, मेल कायम करना। उसके समय में लोगों की तीव्र इच्छा थी कि ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान तथा अन्त्य कारणों के सिद्धांत पर आधारित ज्ञान का पूर्ण रूप से एकीकरण किया जाय। इस भावना का टॉमस सबसे अच्छा प्रतिनिधि था। यद्यपि उसकी पद्धति मध्ययुगीन थी और उसकी राजनीति अरस्तू और सिसेरो की राजनीति थी जिसमें सन्त अगस्ताइन तथा बाइबिल के सिद्धांतों के आधार पर कुछ संशोधन कर दिया गया था, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उसने राजनीति को पुनः एक विज्ञान का रूप दिया। एक्विनास ने उत्तर मध्यकाल के बुद्धिपरक राजनीतिक चिन्तन का समारम्भ किया, जिसमें धर्मशास्त्रों के पुराने धर्मतांत्रिक तर्कों का उन सामान्य सिद्धांतों के साथ समन्वय देखने को मिलता है जो राजनीतिक समाजों के मूल स्वभाव से व्युत्पादित किये गये थे और अरस्तू की **राजनीति (पॉलिटिक्स)** पर आधारित थे। उसने ऐतिहासिक भावना का परिचय दिया और तत्कालीन राजनीतिक संस्थाओं से भी सामग्री उपलब्ध की। कई दृष्टि से उसके विचार विशेष रूप से प्रगतिशील और संयत थे।

१३. टॉमस एक्विनास के राजनीतिक विचार उसके ग्रन्थ *De Regimine Principum* में मिलते हैं। इस ग्रन्थ की केवल प्रथम पुस्तक और द्वितीय पुस्तक के छः अध्याय एक्विनास के लिखे हुए हैं और शेष भाग उसके शिष्य लूका के टालमी का है। एक्विनास ने *Commentories on the Politics of Aristotle* भी लिखी, किन्तु इसमें स्वयं उसके राज्य विषयक सिद्धांत बहुत कम है। विधि तथा न्याय के सम्बन्ध में उसके विचार उसके *Summa Theologica*, Vols. II, III. में मिलते हैं।

सन्त एक्विनास के अनुसार विधि "विवेक का वह अध्यादेश है जिसे लोक हित के लिये ऐसे व्यक्ति ने प्रख्यापित किया हो जो समाज के कल्याण के लिये जिम्मेदार हैं।"[१४] यूनानियों की धारणा थी कि विधि प्रकृति और विवेक में निहित है, इसके विपरीत टॉमस ने विधि के निर्माण में मानव इच्छा को महत्व दिया और इस प्रकार मानवकृत विधि के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि राज्य की प्रभु-शक्ति द्वारा निरूपित वास्तविक नियमों का नाम ही विधि है। किन्तु तत्वतः वह विधि को सार्वभौम अपरिवर्तनशील और प्राकृतिक मानता था, और यह भी कहता था कि यदि मानव-कृत विधि न्याय के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध हो तो उसे विधि की विकृति ही समझना चाहिए। रोमक विधि के अध्ययन के पुनः आरम्भ होने से लोगों के मन में प्राकृतिक कानून के लिये, जिसकी न सम्राट अवहेलना कर सकता था और न पोप, पुनः श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। इस धारणा के विकास का बड़ा महत्व था, क्योंकि इसने राज्य की सत्ता को ही परिसीमित नहीं किया बल्कि राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करनेवाले साम्याधिकार (ईक्विटी) के नियमों के निर्माणों में भी सहायता दी।

सन्त टॉमस ने विधि के विभिन्न प्रकारों का भी विवेचन किया। उसने विधि के चार प्रकार बतलाये। मानव-विधि का स्तर सबसे निम्न है। इसके अन्तर्गत रूढ़ियाँ और मनुष्यों के बनाए हुए कानून सम्मिलित होते हैं। मानव-विधि के बाद दैवी विधि आती है। उसमें ईश्वर द्वारा उद्भासित विधिसंहिताएँ शामिल रहती हैं जैसे मूसा के कानून, और मनुष्य से आशा की जाती है कि वह उनके अनुसार आचरण करेगा। दैवी विधि के ऊपर प्राकृतिक विधि का स्थान है। उसका सम्बन्ध ईश्वर के विवेक से है जो सभी सृजी हुई वस्तुओं में व्याप्त रहता है। आत्मरक्षा की प्रवृत्ति, यौन सम्भोग, सन्तान की शिक्षा, और समाज में रहकर जीवन बिताने की इच्छा, इसके उदाहरण हैं।[१५] इन सबसे ऊपर शाश्वत विधि का स्थान है। वही विश्व की अन्तिम वास्तविकता है। वह ईश्वर का "दैवी विवेक है जिससे सब कार्यों और गतिविधियों का संचालन होता है"[१६] वह स्वयं सत्य है।[१७]

सन्त टॉमस ने अरस्तू की इस धारणा को कि मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है, राजनीतिक सत्ता का आधार बनाया, और उसके साथ राज्य की दैवी उत्पत्ति

---

१४. Summa theologica, ii. i 90. 4.
१५. वहीं ii. 94. 4.
१६. वहीं ii. 93. 1.
१७. वहीं ii. 93. 1.

के सिद्धान्त का संयोग कर दिया जो सन्त पाल के इस कथन पर आधारित था कि "ईश्वर की शक्ति को छोड़ कर अन्य कोई शक्ति नहीं है।" यूनानी आदर्श के विपरीत, एक्विनास का विश्वास था कि नगर राज्य इतने छोटे और दुर्बल होते हैं कि अपनी रक्षा करने में असमर्थ रहते हैं, अतः वह बड़े-बड़े राज्यों को ही अच्छा समझता था। एकता का प्रेम मध्ययुगीन जीवन की विशेषता थी, और टॉमस भी उससे प्रभावित था; इसलिये उसे लोकतंत्र की अपेक्षा राजतंत्र पसन्द था, क्योंकि उसका विश्वास था कि लोकतंत्र फूट और झगड़ों को जन्म देता है। इसके अतिरिक्त उसका कहना था कि जिस तरह विश्व पर एक ईश्वर और शरीर पर एक हृदय का शासन होता है वैसे शासक भी एक ही होना चाहिये। मध्ययुग में चारों ओर अराजकता और उपद्रव फैले हुए थे इसलिये राजनीतिक संगठन के सम्बन्ध में स्थायित्व और एकता का विचार और भी अधिक महत्वपूर्ण था। सन्त टॉमस ने समझ लिया था कि राजहत्या के सिद्धान्त से अराजकता के तत्वों का पोषण होता है, इसलिये उसका उसने खंडन किया। किन्तु उसने यह भी कहा कि अत्याचारी राजा को अपदस्थ कर देना चाहिये, और विशेषकर जबकि राजा चुना हुआ हो। राजा और प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में उसने जो सुझाव दिये वे परवर्ती युगों के सांविधानिक राजतंत्र तथा निर्वाचन के सिद्धान्तों के बहुत निकट थे। यूनानी तथा रोमन चिन्तन पर आधारित विद्वत्तापूर्ण तर्कों द्वारा और धर्मशास्त्रों से विस्तृत उद्धरण देकर उसने सिद्ध किया कि जनसंख्या के क्षय को रोकना, सड़कों की रक्षा और मरम्मत करना, मुद्राप्रणाली और बाँटों तथा नापों की समुचित व्यवस्था करना और दरिद्रों का पोषण करना राजाओं का कर्तव्य है।

यद्यपि सन्त टॉमस के हृदय में विवेक और बुद्धि के लिये आदरभाव था, फिर भी वह समझता था कि सर्वोच्च सत्य का दर्शन श्रद्धा द्वारा ही हो सकता है। फलस्वरूप उसका मत था कि विश्वासों के अन्तिम मामले में चर्च ही अन्तिम सत्ता है, इसलिये लौकिक सत्ता के मुकाबिले में उसको प्रमुखता मिलनी चाहिये। राजनीतिक शासकों को लौकिक मामलों का प्रबन्ध इस ढंग से करना चाहिये कि उससे ईश्वर की इच्छा पूरी हो, और इस सीमा तक उन्हें पुरोहितों और चर्च के दैवी कानून की अधीनता स्वीकार करनी चाहिये। यदि कोई शासक चर्च के आदेशों की अवहेलना करे तो उसे बहिष्कृत कर दिया जाय और उसकी प्रजा को उसकी आज्ञाओं के पालन के कर्त्तव्य से मुक्त कर दिया जाय। पुरोहित की सत्ता लौकिक भी है और आध्यात्मिक भी; इसलिये नागरिक कल्याण तथा आध्यात्मिक मुक्ति के सभी विषयों में सब शासकों के मुकाबिले में पोप की आज्ञाओं का पालन करना चाहिये।

सन्त टॉमस की अधूरी विचार शृंखला को उसके अनुयायी एगीदीउस कोलोना

ने अधिक विस्तार के साथ पूरा किया।[१८] उसने अपनी पुस्तक की रचना फ्रांस के राजा के लिये एक पाठ्य पुस्तक के रूप में की। उसमें विषय-वस्तु का संयोजन बड़े स्पष्ट और सही ढंग से किया गया है। किन्तु उसमें विचारों की मौलिकता नहीं है। सन्त टॉमस और एगीदीउस ने चर्च के उन सिद्धांतों को शृंखलाबद्ध किया जिनका विकास पिछली कई शताब्दियों से होता आया था, और एक ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत की जो पूर्ण तथा स्थाई समझी गई। उनका मत था कि प्राकृतिक कानून और ईश्वर की इच्छा दोनों एक ही चीज हैं। राजतंत्रीय शासन-व्यवस्था तथा धार्मिक सत्ता की सर्वोच्चता को उन्होंने बिना किसी तर्क-वितर्क के स्वीकार कर लिया और उनके औचित्य को सिद्ध करने का भी प्रयत्न नहीं किया। साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, इसलिये उन्होंने समझा कि उसके तथा चर्च के बीच विवाद का अन्त हो चुका है, और राजनीतिक धारणाओं को मतवादी कट्टरता के साथ निश्चयात्मक रूप देने का प्रयत्न किया। किंतु वास्तविकता यह थी कि एक नये युग का आरम्भ हुआ जिससे धर्म-शास्त्रीय पद्धति और चर्च के दृष्टि को पूर्णतया उलट दिया गया। किन्तु टॉमस एक्विनास के सिद्धांतों को आगे के युग में जैसुइट व्यवस्था का आधार बनाया गया, और उसके द्वारा वे राजनीतिक चिन्तन पर प्रभाव डालते रहे।

चौदहवीं शताब्दी के विवाद

चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में चर्च तथा लौकिक सत्ता के बीच जो विवाद चला उसका केन्द्र पोप बोनीफेस और फ्रांस के राजा फिलिप दा फेयर के बीच का झगड़ा था। उस काल में राष्ट्रीय राज्यों का उदय हो रहा था और राजाओं को अपनी जनता का समर्थन मिलने लगा था, इस चीज की उपेक्षा करते हुए पोप ने आध्यात्मिक सर्वोच्चता के आदर्शों का विफल प्रयास किया। बोनीफेस की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी क्लीमेंट पंचम और जान बाइसवें ने फ्रांस के शक्तिशाली राजाओं के साथ संधि कर ली और जाकर अवियोंन में उनके संरक्षण तथा प्रभाव में रहने लगे। इस काल में ये जर्मन सम्राटों—हैनरी सप्तम और बवारिया के लुई—के विरुद्ध भयंकर झगड़ों में उलझे रहे। पोप के पक्ष के विवादकर्ताओं में पोप बोनीफेस[१९]; एगीदीउस कोलोना जो फ्रांस के राजा का अध्यापक रह चुका था किन्तु विवाद के समय उसका साथ छोड़कर पोप की ओर जा मिला था; भिक्षु ऑगस्तीनिउस त्राइम्फुस;[२०] और पोप जॉन बाइसवाँ प्रमुख थे। लौकिक राजाओं का पक्ष पेरिस निवासी जॉन,[२१] पीरी

१८. अपने ग्रन्थ *De Regimine Principum* में।

१९. पोप ने अपने प्रसिद्ध अध्यादेश Unom Sanctam (१३०२) में अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण किया।

२०. अपनी प्रसिद्ध रचना *Summa de Potestate Eccelesiastica* में।

२१. अपनी रचना *De Potestate Regia et Papali* में।

दुबॉय,[२२] दान्ते, पादुआ निवासी मार्सीलिउस और ओकम निवासी विलियम ने लिया।[२३]

इस काल में राजनीतिक चिंतन की प्रवृत्ति में एक निर्णायक परिवर्तन देखने को मिलता है। फ्रांस का राजा ईसाई जगत का सबसे शक्तिशाली शासक था। किन्तु उसने साम्राज्यीय शक्ति का कोई दावा नहीं किया, अतः साम्राज्य की परम्पराओं की उलझन में पड़े बिना वह लौकिक सत्ता की स्वतंत्रता का उपोद्बलन कर सका। वास्तव में सम्राट इतना शक्तिहीन होचुका था कि चर्च को अब उससे कोई डर नहीं रह गया था। फ्रांस के राजा की स्थिति को कमज़ोर करने के लिये पोप ने यहाँ तक कह डाला कि सभी राजाओं को सम्राट भी अधीनता स्वीकार करनी चाहिये। विकासशील राष्ट्रीय भावना और केन्द्रीयकृत सरकार की स्थापना के फलस्वरूप फ्रांस में एक सुदृढ़ राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण होचुका था, और राज्य के लगभग सभी वर्गों ने फ्रांसीसी राजा के दावों का अनुसमर्थन किया। आखिरकार अब राज्य चर्च के मुकाबिले में अधिक शक्तिशाली होने लग गया था। इतिहास से उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि चर्च के उदय से पहले फ्रांक जाति का अपना एक स्वतंत्र राजा था। और अधिक आधुनिक ढंग का यह तर्क दिया गया कि फ्रांसीसी राजा को इसलिये स्वतंत्र सत्ता का प्रयोग करना चाहिये कि उसके पास अपने आदेशों का परिपालन करवाने के लिये वास्तविक भौतिक शक्ति है। **पवित्र भूमि** पर पुनः अधिकार करने और फ्रांस के राजा के नेतृत्व में यूरोप में शान्ति स्थापित करने के लिये विस्तृत योजनाएँ बनाई गईं, और पोपों पर यह आरोप लगाया गया कि अपनी दुर्बलता और ईसाई जगत की फूट के कारण वे इन उद्देश्यों को पूरा करने में असमर्थ रहे हैं।

फ्रांसीसी राजा तथा पोप के बीच विवाद करारोपण के प्रश्न को लेकर उठा था, और चूँकि यह मामला स्पष्ट रूप से लौकिक प्रकार का था, अतः राजा के समर्थकों का पक्ष मजबूत होगया। सम्पत्ति-संबंधी अधिकारों के स्वभाव के विषय में विस्तार से वाद-विवाद हुआ जिसमें चर्च के समर्थकों ने पोप की सर्वोच्चता के चरम दावे प्रस्तुत किये, और कहा कि अन्तिम रूप से लौकिक वस्तुओं का स्वामित्व भी चर्च में निहित है, इसलिये चर्च के अधीन है। राजा के अनुयायियों का तर्क था कि गैर-पादरियों की सम्पत्ति का आधार वैयक्तिक है, और चर्च की सम्पत्ति वैयक्तिक न होकर समष्टि रूप से सम्पूर्ण चर्च की है। पोप चर्च की सम्पत्ति का संरक्षक है, स्वामी नहीं। विशद विधिक विश्लेषण द्वारा

२२. ऐसा विश्वास किया जाता है कि उसने *De Recuperatione Tersre Sancte* और *Questione de Potestate Papali* की रचना की थी। इन पुस्तिकाओं में वे विचार भरे पड़े हैं जिनका आगे चलकर धर्मसुधार के युग में विशेष प्रचार हुआ। उनमें चर्च की सम्पत्ति छीनने, लौकिक सत्ता की निरंकुशता, स्त्री मताधिकार, मिश्रित शिक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय विवाचन के सुझाव दिये गये हैं।

२३. दान्ते, मार्सीलिउस और ओकम के लिये अगले खंड देखिये।

स्वामित्व और क्षेत्राधिकार के भेद को स्पष्ट किया गया, और यह सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया गया कि फ्रांसीसी राजा को अपने राज्य में स्थित चर्च की सम्पत्ति पर क्षेत्राधिकार प्राप्त है।

कई शताब्दियों से लौकिक सत्ता के समर्थकों के सामने अपने बचाव की समस्या रही थी, किन्तु अब उनका आत्मविश्वास बढ़ने लगा। यद्यपि उनके तर्क अवैज्ञानिक और वे सिर-पैर के थे, किन्तु उन्होंने "महानतम दार्शनिक" अरस्तू के विचारों और रोमक विधि का ही अधिक सहारा लिया, और इसका निर्णायक परिणाम हुआ। फ्रांस में, जहाँ राजा के न्यायालयों का क्षेत्राधिकार सामन्तों तथा चर्च दोनों पर ही स्थापित होचुका था, राजा के विधिक सलाहकारों का प्रभाव बहुत ही शक्तिशाली था। पीरी दुबाँय ने तो यहाँ तक कह दिया पोप की लौकिक शक्ति फ्रांस के राजा को हस्तान्तरित कर दी जाय, और फ्रांस को चाहिये कि विवाह-शृंखलाओं, मैत्री-संबंधों और विजय के द्वारा समस्त संसार पर अपना शासन स्थापित करने का प्रयत्न करे। विधिवेत्ताओं ने राष्ट्रीय राजतंत्रों के संघटन और चर्च की लौकिक शक्ति के विनाश में निश्चित योग दिया।

फ्रांसीसी राजा का समर्थन करने वाले विधिविज्ञों ने कुछ और भी तर्क दिये जो अगली शताब्दी में बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। उन्होंने कहा कि यदि पोप अपनी सत्ता का प्रयोग चर्च के कल्याण के लिये न करे, तो अन्य अत्याचारियों की भाँति उसे भी अपदस्थ किया जासकता है। चूँकि उनके सामने ऐसा कोई सैद्धांतिक आधार नहीं था जिसका सहारा लेकर वे सिद्ध कर सकते कि पोप को अपदस्थ करने का अधिकार फ्रांस के राजा का है, इसलिये उन्होंने कहा कि चर्च की सत्ता का अन्तिम आगार चर्च की महा परिषद् है अतः उसी को पोप के पदच्युत करने का अधिकार है। आगे चलकर जब पोप जॉन और जर्मन सम्राट के बीच विवाद चला तो इस सिद्धांत का प्रयोग किया गया। पोप के विरोधियों ने तर्क दिया कि चर्च की अन्त्य सत्ता सम्पूर्ण ईसाई समाज में निहित है अत: चर्च की कोई परिषद् धर्मद्रोही और अत्याचारी पोप को हटा सकती है। इस समय जब साम्राज्य का पक्ष लेकर यह तर्क प्रस्तुत किया गया तो उसका जितना प्रभाव हुआ उतना बीस वर्ष पहले नहीं हुआ था जब कि फ्रांसीसी राजतंत्र के समर्थकों ने इसका प्रयोग किया था। कारण यह था चर्च के प्रारम्भिक इतिहास में ऐसी चर्च-परिषदों का उल्लेख था जिनमें सम्राट का प्रमुख स्थान रहता था।

पोप जॉन और सम्राट लुई के बीच जो विवाद हुआ उसमें अनेक ऐसे पेचीदा प्रश्न भी सम्मिलित कर लिये गये थे जिनका मुख्य समस्या से सीधा सम्बन्ध नहीं था। फलस्वरूप पोप का पक्ष और भी अधिक दुर्बल होगया। साम्राज्य के उत्तराधिकार के लिये झगड़ा चल रहा था। पोप ने स्थिति से लाभ उठाकर जर्मनी के मामलों में हस्तक्षेप करने के अपने दावों को और भी अधिक विस्तृत रूप देने का प्रयत्न किया। पोप उस समय पोप अवियोंन में रहता था, अतः उसकी नीति पर फ्रांसीसी दरबार का प्रभाव

स्पष्ट था। पोप की सत्ता के विषय में जो दावे प्रस्तुत किये गये उनका उद्देश्य जर्मनी की शक्ति को क्षति पहुँचाना और फ्रांस के आधिपत्य के प्रसार को उचित ठहराना था। इसी प्रकार पोप इटली के नगरों को आन्तरिक राजनीति में उलझ गया। चूँकि वह इटली में जर्मन सम्राट के प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करना चाहता था, इसलिये उसने गुएल्फ नाम के दल का समर्थन किया। इटली के स्वतंत्रत नगरों ने सम्राट तथा पोप के झगड़ों में दिलचस्पी नहीं थी, उन्हें तो अपनी स्वतंत्रता को कायम रखने की चिंता थी, इसलिये उन्होंने अपने शक्तिशाली पड़ौसियों को एक दूसरे से भिड़ाने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त इटली के नगर पोप से भी अप्रसन्न थे क्योंकि वह रोम को छोड़कर चला गया था जिससे इटली में पादरियों और तीर्थयात्रियों का आना कम हो गया था और इटली के बड़े-बड़े परिवारों को चर्च के ऊँचे-ऊँचे पद मिलना भी बन्द हो गये थे जिससे इटली को भारी आर्थिक हानि पहुँची थी।

पोप ने एक अध्यादेश जारी करके फ्रांसीसी संघ के भिक्षुओं के दरिद्रता के सिद्धांत का खंडन किया जिससे चर्च के भीतर एक नया विवाद उठ खड़ा हुआ। फल-स्वरूप चर्च के अनेक योग्यतम लेखक पोप के आलोचक बन गये। इन लोगों ने भागकर सम्राट के दरबार में शरण ली और अपनी विवाद की प्रतिभा को पोप पर आक्रमण करने में लगा दिया। उन्होंने चर्च के मुकाबिले में लौकिक सत्ता को दृढ़ किया और सिद्ध किया कि धार्मिक मामलों में अन्तिम सत्ता पोप में नहीं, चर्च की परिषद में निहित है। इंगलैंड के लोगों का विश्वास था कि पोप फ्रांस का पक्ष लेरहा है। इसलिये राजा के समर्थकों की स्थिति मज़बूत होगई। जॉन ने पोप को कर भेजना बन्द कर दिया, सामान्य लोग पादरियों के शत्रु हो गये और किसानों के विद्रोह में भाग लेनेवालों ने चर्च पर भी आक्रमण किया। संसद में यह भी प्रस्ताव आया कि राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये चर्च की सम्पत्ति ज़ब्त कर लीजाय। पोप के अवियोंन में फ्रांस के राजा के बन्दी के रूप में रहने और उससे उत्पन्न हुई चर्च की फूट से उन लोगों को बड़ा धक्का लगा था जो रोम को ईसाई जगत की राजधानी मानते आये थे। इससे पोप की प्रतिष्ठा को जो आघात पहुँचा उससे वह फिर कभी नहीं सँभल पाया।

दान्ते

साम्राज्यीय सिद्धांत का सबसे अधिक सुव्यवस्थित और तर्कसंगत प्रतिपादन दान्ते एलीघरी (१२६५-१३२१)[२४] ने किया। दान्ते को अपने नगर फ्लोरेंस की

२४. अपने ग्रन्थ *De Monarchia* में जिसकी रचना १३१० ई० के लगभग हुई थी। आर० डब्ल्लू चर्च रचित *Dante: An Essay* के साथ *De Monarchia* का एक अंग्रेजी अनुवाद सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त देखिये Dante, De Monarchia जिसकी भूमिका में डब्ल्यू० एच० रीड ने दान्ते के राजनीतिक सिद्धांतों का अच्छा सर्वेक्षण किया है।

राजनीति का काफी अनुभव था ; इसके अतिरिक्त अपने देशनिकाले के दौरान में वह अनेक नगरों और दरबारों में घूमता-फिरा जिससे उसे बहुमूल्य ज्ञान और अनुभव उपलब्ध हुआ । उसका मुख्य उद्देश्य इटली में शान्ति और एकता स्थापित करना था ; अपनी पुस्तिका **डी मोनार्किया** में उसने पोप का समर्थन करनेवाले गुएल्फों की कटु आलोचना की । मध्ययुग के अन्य लेखकों की भाँति दान्ते का भी विश्वास था कि मनुष्य को एक सार्वभौम सत्ता के अधीन रहना चाहिये, वह सत्ता चाहे सम्राट की हो और चाहे पोप की। साथ ही साथ उसका यह भी ख्याल था कि लौकिक मामलों में साम्राज्यीय नियंत्रण में रहना ही अच्छा है । उसका विश्व-साम्राज्य का आदर्श और उसकी तर्क-पद्धति मध्ययुगीन ही थी । उसकी रचनाओं में प्राचीन दर्शन, इतिहास, व्यावहारिक तथा धार्मिक विधि, धार्मिक मतवादों और पुरातन काल्पनिक दृष्टान्तों का जो सम्मिश्रण मिलता है वह भी स्पष्टतः मध्ययुगीन ही है । इस सब के बावजूद उसकी रचनाओं में इस आधुनिक विचार के चिन्ह विद्यमान है कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के लिये होना चाहिये और व्यक्ति का राज्य के प्रबन्ध में हाथ हो ।

अपनी पुस्तक के प्रथम भाग में दान्ते ने बतलाया कि राजतंत्र शासन का सम्यक रूप है, क्योंकि मनुष्य के सर्वोत्तम हितों के लिये शान्ति की आवश्यकता होती है और शान्ति तभी सम्भव हो सकती है जबकि सारे विश्व का एक ही शासक हो, जैसा कि ईश्वर है । "नगरों, राष्ट्रों और राज्यों की शान्ति के लिये आवश्यक है कि उन सब पर एक ही व्यक्ति शासन करे"[२५] किंतु दान्ते का अभिप्राय यह नहीं था कि सम्राट एक निरंकुश सार्वभौम शासक हो, वह तो यह चाहता था कि विश्व सम्राट एक अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षक का काम करे, और विभिन्न नगरों तथा राज्यों के शासकों के बीच होनेवाले झगड़ों का निपटारा करे और शान्ति कायम रक्खे । सार्वभौम राज्य की सीमाओं के भीतर जहाँ तक सम्भव होसके राष्ट्रीय स्वाधीनता और वैयक्तिक स्वतंत्रता का पोषण किया जाय । दान्ते का विश्वास था कि यदि सारे विश्व का एक सम्राट होगा तो न तो उसका कोई प्रतिद्वन्दी रह जायगा और न अपूर्ण महत्वाकांक्षाएँ, अतः वह न्यायपूर्वक ही शासन ही करेगा । उसका आदर्श सम्राट प्लेटो का ईश्वरोत्पन्न राजनीतिज्ञ था जिसे उसने यूनानी नगर राज्य से उठाकर यूरोपीय साम्राज्य के सिंहासन पर बिठलाने की कल्पना की थी ।

डी मोनार्किया के द्वितीय भाग में दान्ते ने अरस्तू, सिसेरो, वर्जिल और एक्विनास के ग्रन्थों से उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि रोम की विजयें उसकी न्यायपरायणता की द्योतक थीं । ईश्वर ने युद्धों द्वारा उसकी औपचारिक परीक्षा करके निर्णय उसके पक्ष में दिया था । ईसा मसीह को एक रोमन अधिकारी

२५. *De Monarchia,* I. 16.

की आज्ञा से मृत्यु दंड दिया गया था; इस तथ्य से भी दान्ते ने यह सिद्ध करना चाहा कि रोम का शासन धर्मानुकूल था। उसका तर्क था कि यदि हम रोमन शासन के नैतिक औचित्य को अस्वीकार करते हैं तो फिर प्रायश्चित का सिद्धांत ही गलत हो जायगा क्योंकि फिर उसका आधार एक अवैध दंड होगा। दान्ते का विश्वास था कि पूर्ण शांति रोमन सम्राटों के शासन में ही स्थापित हो सकी थी। रोम के नाश के बाद अराजकता और अव्यवस्था फैल गई है, अतः एक सार्वभौम सत्ता की पुनः स्थापना करना परमावश्यक है।

पुस्तक के तीसरे भाग में दान्ते ने इस प्रश्न पर विचार किया कि सम्राट को सत्ता सीधे ईश्वर से प्राप्त हुई थी, अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसके प्रतिनिधि पोप के द्वारा। उसने शुद्ध मध्ययुगीन ढँग से उन तर्कों का खंडन किया जिनका पोप की सर्वोच्चता के समर्थक सहारा लिया करते थे। दान्ते का मत था कि मनुष्य का स्वभाव द्वैध है, अतः उसके लिये दो पथप्रदर्शकों की आवश्यकता है, एक सम्राट, और दूसरा पोप। दोनों की सत्ता का स्रोत स्वयं ईश्वर है, किन्तु लौकिक जीवन से सम्बन्धित सभी मामलों में सम्राट की सत्ता ही सर्वोच्च है। सत्ता के दोनों प्रकार एक दूसरे से एकदम भिन्न हैं, अतः पोप को साम्राज्यीय शक्ति में साझा माँगने का कोई अधिकार नहीं है।

दान्ते के ग्रन्थ में मध्ययुगीन साम्राज्य के सिद्धांत का स्पष्ट और संघनित कथन तो है ही, इसके अतिरिक्त उससे यह भी सिद्ध होता है कि उस काल में शान्ति को जी... के लिये बहुत ही आवश्यक माना जाता था। तुच्छ राजाओं के आपसी झगड़े और इटली के नगरों के आये दिन के उपद्रव और विप्लव असह्य हो गये थे। व्यापार की उन्नति के लिए भी सुरक्षा की आवश्यकता थी। अतः राजनीतिक साहित्य में शान्ति की अपेक्षा पर इतना बल दिया गया। यह विचार मार्सीलिउस के बाद के ग्रन्थों में दिखाई देता है; और इसने उन विधिविज्ञों को प्रेरणा दी जिनके अन्तर्राष्ट्रीय नियमन सम्बन्धी विचारों को अन्त में ग्रोशस ने शृंखलाबद्ध किया।

मार्सीलिउस तथा विलियम ओकम

मध्ययुग का महानतम और सर्वाधिक मौलिक राजनीतिक ग्रन्थ पडुआ के मार्सीलिउस का है (१२७०-१३४०)[२६] मार्सीलिउस को चिकित्सा शास्त्र की शिक्षा मिली थी। अध्ययन समाप्त करने के बाद वह पेरिस के विश्वविद्यालय का रेक्टर नियुक्त किया गया। वहाँ उस समय विलियम (ओकम का निवासी) नामक अँग्रेज का, जो सन्त फ्रांसिस के संघ का सदस्य तथा **नामवादी** नामक नई दार्शनिक विचारधारा[२७] का

---

२६. *Defensor Pacis* की रचना मार्सीलिउस ने अपने मित्र जांदुन के जॉन की सहायता से की। सबसे सुलभ अनुवाद एलन गेवर्थ (Alan Gewirth) का है।

२७. मध्ययुगीन दर्शन के स्वभाव को तथा **नामवाद** और **वास्तववाद** के वादप्रतिवाद को समझने के लिये देखिये S. G. B. Hawkins, *A Sketch of Medieval Philisophy* (1947) विशेषकर पृष्ठ 42—44.

नेता था, निर्विवाद बौद्धिक आधिपत्य था। निस्सन्देह दोनों ने ही एक दूसरे को प्रभावित किया, दोनों ने ही विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित चिन्तन की सीमाओं का उल्लंघन किया, और दोनों को बहिष्कृत किया गया। अन्त में वे भी संत फ्रांसिस के उन अनुयायियों के छोटे से समूह में सम्मिलित हो गये जिन्होंने प्रबुद्ध किन्तु दुर्बल जर्मन सम्राट लुई बवारिया के दरबार में शरण ली थी। मार्सीलिउस और विलियम में से एक भी साम्राज्यीय आदर्श से प्रभावित नहीं हुआ था, किन्तु दोनों राज्य को एक ऐसी संघटित सत्ता के रूप में स्थापित करना चाहते थे जो अपने क्षेत्र में चर्च के नियंत्रण से स्वतंत्र और उससे उच्च हो। मार्सीलिउस का तो यहाँ तक सुझाव था कि विभिन्न भाषाएँ बोलने-वाली जातियाँ अपने-अपने पृथक राज्य स्थापित करलें; उसका यह भी विश्वास था कि युद्ध प्रकृति की एक बुद्धिमत्तापूर्ण योजना है। वह केवल आन्तरिक शान्ति चाहता था।

मार्सीलिउस के ग्रन्थ के पहले भाग में राज्य के सिद्धान्तों की समीक्षा है; दूसरे में चर्च की उत्पत्ति और विकास, पोपतंत्र के अधीन उसका संगठन और राजनीतिक सत्ता के साथ उसका सम्बन्ध आदि विषयों का विवेचन है, और तीसरे में निष्कर्षों का सारांश। पारिभाषिक शब्दों की उसने बड़ी सावधानी से व्याख्या की और प्रायः अरस्तू के सूत्रों का प्रयोग किया। उसके अनुसार राज्य एक जीवित काय के सदृश है, उसका उद्देश्य व्यवस्था कायम रखना और व्यक्तियों की शक्ति के विकास के लिये सुविधाओं की गारंटी करना है। मार्सीलिउस के चिन्तन का आधारभूत सिद्धान्त यह था कि राज्य को अपने निजी तथा बाहरी नियंत्रण से मुक्त जीवन का अधिकार है।

राज्य तथा चर्च के शासन का आधार लोकतांत्रिक हो और चर्च राज्य के अधीन हो, इस सम्बन्ध में मार्सीलिउस ने ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिनका प्रभाव बहुत दूरगामी हुआ। उस के विचारों पर यूनान की लोकतांत्रिक धारणाओं और रोम के लोकप्रभुत्व के सिद्धान्त का प्रभाव था, अतः उसका मत था कि राज्य का उद्देश्य जनता का कल्याण है, राज्य का सार विधि-निर्माण में है. विधि का स्रोत सम्पूर्ण जनता है, और राज्य का शासन जनता द्वारा निर्वाचित और उसके प्रति जवाबदेह लोगों के हाथों में होना चाहिये। उसका उपदेश था कि यदि शासक अपनी सत्ता का अतिक्रमण करें अथवा विधि की अवज्ञा करें तो जनता को उन्हें दंड देने का अधिकार होना चाहिये, और आवश्यकता होने पर जनता उन्हें अपदस्थ भी कर सके। उसने सत्ता के अन्त्य स्रोत और राज्य के कार्यपालक अंग के बीच स्पष्ट भेद बतलाया। अन्त्य स्रोत उसने सदैव जनता को ही माना, और कार्यपालिका के सम्बन्ध में भी उसकी धारणा थी कि शायद राजतंत्र सबसे अच्छा है। किन्तु उसका कहना था राजा का काम विधि का निर्वचन करना और उसका परिपालन करना ही है, न कि उसका निर्माण करना; और राजा की शक्ति चारों ओर से सीमित होनी चाहिये।

मार्सीलिउस का कहना था कि चर्च का संगठन भी लोकतांत्रिक आधार पर होना

चाहिये, अन्तिम सत्ता चर्च की एक महापरिषद में निहित हो जिसमें लौकिक तथा धार्मिक दोनों ही प्रकार के प्रतिनिधि सम्मिलित हों। पोप का चुनाव इस परिषद के द्वारा जनता स्वयं करे और परिषद को पोप को अपदस्थ करने का भी अधिकार हो। इसके अतिरिक्त चर्च अपने कामों को केवल आध्यात्मिक मामलों तक सीमित रक्खे; और चर्च की परिषद की बैठक बुलाने और आध्यात्मिक दंड देने का भी अधिकार राजनीतिक सत्ता के हाथों में हो। राज्य के नागरिकों की हैसियत से पादरियों के साथ भी वैसा ही व्यवहार किया जाय जैसा कि अन्य नागरिकों के साथ, और धर्म से सम्बन्धित होने के आधार पर उन्हें राजनीतिक उत्तरदायित्वों से मुक्त न किया जाय। मार्सीलिउस ने पोप को अन्य बिशपों के समान ही दर्जा दिया, प्रतिष्ठा के कुछ मामलों में अवश्य उसे थोड़ी सी प्रमुखता दी। चर्च के संगठन को उसने राज्य के अन्तर्गत एक निम्न स्थान प्रदान किया।

दान्ते की भाँति मार्सीलिउस को भी तत्कालीन अशान्ति और अराजकता को देखकर बड़ा दुःख होता था, अतः सुरक्षा और व्यवस्था की आवश्यकता के कारण उसने सम्राट का समर्थन किया। उसका विश्वास था कि शान्ति और सुशासन के मार्ग में दो सबसे बड़ी बाधाएँ हैं; पादरियों को राजनीतिक नियंत्रण से मुक्ति और पोप के सर्वोच्चता के दावे। उसका यह भी विश्वास था कि धन के कुप्रभाव से मनुष्य के चरित्र का पतन होता है, इसलिये उसने फ्रांसीसी संघ के भिक्षुओं का जो दरिद्रता के सिद्धान्त का प्रचार करते थे, सम्मोदन किया। इन मध्ययुगीन विचारों को छोड़कर, मार्सीलिउस का दृष्टिकोण स्पष्टतया आधुनिक था। चर्च तथा राज्य के संगठन के सम्बन्ध में उसने चौदहवीं शताब्दी में ही वे विचार प्रस्तुत किये जिन्हें १६वीं शताब्दी के धर्म सुधार और १७वीं तथा १८वीं शताब्दियों की राजनीतिक क्रान्तियों से पहले सामान्यतया स्वीकार नहीं किया गया।

यद्यपि विलियम ओकम (१२८०-१३४७)[२८] पर मार्सीलिउस के विचारों का प्रभाव था, फिर भी वह मूलतः पुराने ढँग का धर्मशास्त्री ही बना रहा। उसने प्रश्नों तथा सम्भाषण की शैली में लौकिक सत्ता तथा चर्च की शक्ति दोनों के स्वभाव की समीक्षा की और दोनों पक्षों के तर्कों का सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण किया। उसने प्रश्न उठाये और सुझाव दिये किन्तु स्पष्ट उत्तर देने का प्रयत्न नहीं किया, अतः आधुनिक पाठक के लिये उसके सिद्धांत को स्पष्ट रूप से ग्रहण करने में कठिनाई होती है। ओकम ने पोप का सक्रिय विरोध करने में अपना जीवन बिताया था और यही उसकी रचनाओं की पृष्ठभूमि थी, अतः उनमें मध्ययुगीन चिंतन के सुव्यस्थित क्रम तथा पद्धति का मार्सीलिउस की अपेक्षा अधिक निर्वाह किया गया है। मार्सीलिउस का विश्वास था कि ईसाई

---

२८. उसकी राजनीतिक रचनाओं में *Octo Quaestiones* और *Dialogus* सम्मिलित हैं। दोनों *Melchior Goldast* की *Monarchia*, Vol. II में उपलब्ध हैं।

जगत की जनता इतनी विवेकसम्पन्न और न्यायप्रिय है कि लौकिक तथा धार्मिक सभी विषयों में अन्तिम सत्ता उसे सौंपी जा सकती है, किन्तु इस विषय में विलियम का विश्वास इतना पक्का नहीं था। उसका विचार था कि कोई भी मानवीय संस्था निरपेक्ष और अन्तिम नहीं हो सकती; इसलिये उसने प्राकृतिक विधि को अधिक महत्व दिया और कहा कि सम्राट अथवा पोप कोई भी उससे मुक्त नहीं हो सकता। सार्वभौम साम्राज्य के आदर्श का उस पर मार्सीलिउस से भी कम प्रभाव पड़ा था, इसलिये उसकी धारणा थी कि अनेक पोपों तथा सम्राटों का होना बेहतर होगया। वह जन्म से अँग्रेज था और शिक्षा-दीक्षा फ्रांस में हुई थी, अतः उसके लिये सार्वभौम साम्राज्य का आदर्श उतना भी यथार्थ तथा वांछनीय नहीं था जितना कि मार्सीलिउस के लिये।

सम्राट की शक्तियों के परिसीमन की चर्चा करते हुए उसने कहा कि सम्राट को उन कानूनों का अवश्य पालन करना चाहिये जो सभी राष्ट्रों में सामान्य रूप से प्रचलित हों, और इस प्रकार उसने उन धारणाओं को प्रस्तुत किया जो आगे चलकर अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में सहायक हुईं। राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध में मार्सीलिउस यूनानियों के इस सिद्धांत को मानता था कि जनता को या तो स्वयं राजसत्ता का प्रयोग करना चाहिये, अथवा सामान्य रूप से वह अपनी शक्तियों से किसी को देदे। किंतु चर्च परिषद के संगठन के सम्बन्ध में उसका सुझाव यह था कि प्रत्येक प्रान्त के लोग अपने यहाँ के निवासियों की "संख्या और योग्यता" के अनुसार प्रतिनिधि चुनकर भेजें। विलियम ओकम ने चर्च की प्रतिनिधि परिषद के इस विचार का और भी अधिक विस्तार के साथ निरूपण किया। एक शताब्दी तक मार्सीलिउस और ओकम के सत्ता के निवास और चर्च में प्रतिनिधि प्रणाली से सम्बद्ध इन विचारों पर तीव्र वादविवाद चलता रहा विधिवेत्ताओं ने इन्हें व्यावहारिक और धार्मिक विधि में समाविष्ट कर लिया, और धीरे-धीरे शुद्ध राजनीतिक विषयों में उनके प्रयोग का महत्व बढ़ता गया।

चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में उदार विचारों का सबसे अधिक संवर्धन फ्रांस में हुआ। **रोमन दी ला रोसे** नामक महान फ्रेंच काव्य में प्रकृति की अवस्था की कल्पना प्रस्तुत की गई जिसमें मनुष्य स्वतंत्रता और समता का उपभोग करते हुए जीवन बिताते थे, और जिसमें न सम्पत्ति की प्रथा थी और न किसी प्रकार का भय अथवा झगड़े। चार्ल्स पंचम के समय में राजा के प्रधानमंत्री ने जनता के समक्ष घोषणा की कि राजा लोग जनता की अनुमति से शासन करते हैं और उनके वैभव तथा ऐश्वर्य का स्रोत जनता का परिश्रम है। ओकम के सम्वाद (डायलोग्स) की शैली में रचित **सोंगे टू वर्गर**[२९] नाम के सम्वाद में मार्सीलिउस और ओकम के विचारों का जोरदार समर्थन

२९. फिलिप दा मेजरीज़ (Philippe de Mezieres) को इसका रचयिता माना जाता है।

किया गया, किंतु इस समर्थन का उद्देश्य फ्रांस के हितों का संवर्धन करना था न कि साम्राज्य की स्थिति को सुदृढ़ करना। लोकप्रभुत्व का सिद्धान्त जो यूनान तथा रोम के समय से चला आरहा था और जिसको ईसाइयत ने पुष्ट किया था, पूर्णरूप से कभी लुप्त नहीं हुआ। प्रकृति के निरपेक्ष कानून के अधीन स्वतंत्रता और समता के आदर्श का पोषण करनेवाला सिद्धांत जीवित रहा। पादरियों ने प्राय: इस सिद्धांत का समर्थन किया कि राजाओं को अपनी शक्ति जनता से प्राप्त होती है, क्योंकि लोक-नियंत्रण द्वारा परिसीमित राजतंत्र के सिद्धांत से चर्च द्वारा परिसीमित राजतंत्र के आदर्श को बल मिलता था। किंतु चर्च के संगठन में श्रेणी विभाजन के विकास और सामन्ती व्यवस्था की स्थापना के साथ-साथ विचारों की स्वतंत्रता कुचल दी गई और समाज ऐसे वर्गों में विभक्त हो गया जो एक दूसरे से एक दम पृथक थे। रूढ़ियों तथा परम्पराओं ने व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को पनपने से रोका, और हर व्यक्ति की समाज में एक निश्चित स्थिति कायम होगई: आगे चलकर जब पुनर्जागरण और धर्मसुधार ने व्यक्तियों की आत्मचेतना को प्रज्ज्वलित किया तभी कहीं वे स्वतंत्रता प्राप्त कर सके, उससे पहले नहीं।

पठनीय ग्रन्थ

Allen, J. W., Marsilio of Padua and Medieval Secularism," in F. J. C. Hearnshaw, ed., *The Social and Political Ideas of Some Great Medieval Thinkers* (London, Harrap, 1923), Chap. 7.

Carlyle, A.J. & R.W., *A History of Medieval Political Theory in the West,* 6 Vols. (London, Blackwood, 1903-1936) Vols. IV—V.

Chesterton, G. K., *St. Thomas Acquinas* (New York, Sheed and Ward, 1933)

Cosmo, Umberto, *Handbook to Dante Studies* (Oxford, Blackwell, 1950)

D' Entreves, A. P. *Dante* (Oxford, Clarendon Press, 1952)

The Medieval Contribution to Political Thought (Oxford, Oxford Univ. Press, 1939)

Dunning, W. A., Political Theories, Ancient and Medieval (New York, Macmillan, 1902), Chap. 7-9.

Gierke, Otto, *Political Theories of the Middle Ages,* trans. by F. W. Maitland (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1900). pp. 7-87.

Gilson, Etienne, *Dante the Philosopher* (New York, Sheed and Ward, 1947).

Lewis, Ewart, *"Organic Tendencies in Medieval Political Thought"*, American Political Science Review, Vol. 32 (October, 1938)

McIlwain, C. H., *The Growth of Political Thought in the West* (New York, Macmillan, 1932) Chap. 6.

Russel, Bertand, *A History of Western Philosophy* (New York, Simon and Schuster, 1945) pp. 428-490.

Sabine, G. H., *A History of Political Theory*, rev. ed. (New York, Holt, 1950) Chaps. 12-15.

Troeltsch, Ernst, *The Social Teachings of the Christian Churches*, trans. by Olive Wyon, 2 Vols. (New York, Macmillan, 1931) pp. 201-328.

Ullman, Walter, *"The Influence of John of Salisbury on Medieval Italian Jurists"*, *English Historical Review*, Vol. 59 (September 1944).

———— —

अध्याय ९

मध्ययुग का अन्त

मध्ययुग की सामान्य प्रवृत्तियाँ

मध्ययुग के अंतिम डेढ़ सौ वर्षों के राजनीतिक चिन्तन को समझने के लिये हमें उन सिद्धान्तों की खोज करनी होगी जो उस काल की संस्थाओं में हुए वास्तविक परिवर्तनों के मूल में निहित थे, राजनीतिक दार्शनिकों की रचनाओं से इस सम्बन्ध में अधिक सहायता नहीं मिल सकती। मध्ययुग की समस्याओं और प्रश्नों का महत्व घट रहा था, और बौद्धिक क्षेत्र में नई भावना का उदय होने लगा था। आलोचनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण पुराने धर्मतांत्रिक मतवादों और कल्पनामूलक धारणाओं की धीरे-धीरे जड़ें खोद रहा था; और राजनीतिक सिद्धान्त जो शताब्दियों से वास्तविक जीवन से पृथक रहा था अब राजनीतिक जीवन के तथ्यों के अधिक निकट आने लगा था।

इस काल में अनेक परिवर्तन हुए जिनमें सामन्ती व्यवस्था का पतन और राष्ट्रीय राजतंत्रों का उदय, वाणिज्य तथा नगरों की वृद्धि, और पोपतंत्र का पतन तथा चर्च-परिषदों का प्रादुर्भाव सबसे अधिक महत्वपूर्ण थे। विश्व एकता तथा चर्च-राज्य के मध्ययुगीन आदर्श अब सम्भव नहीं थे। सामन्ती सरदारों और पादरियों का महत्व घट रहा था। उसके स्थान पर राजाओं तथा सामान्य जनता का प्रभाव बढ़ने लगा था जिसने आगे चलकर राष्ट्रीय राज्यों के भीतर राजसत्ता तथा लोकसत्ता के बीच संघर्ष को, तथा युद्ध, वाणिज्य और राजनय के क्षेत्र में तीव्र अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को जन्म दिया।

नये राष्ट्रीय राज्यों के आन्तरिक संगठन में गहरे भेद देखने को मिलते थे। चौदहवीं शताब्दी में सामन्ती सरदारों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक उनकी शक्ति बहुत कुछ नष्ट हो गई। शतवर्षीय युद्ध, गुलाबों के युद्ध, बारूद के प्रयोग और राष्ट्रीय कर-व्यवस्था की स्थापना तथा स्थाई सेनाओं के निर्माण से सामन्तों की शक्ति को धक्का पहुँचा जिसके फलस्वरूप राजाओं की स्थिति पहले से अधिक दृढ़ होगई। फ्रांस, इंगलैंड तथा स्पेन में विशेषकर यही हुआ।

इंगलैंड में सामन्ती व्यवस्था की जड़ें कभी भी मज़बूती से नहीं जम पाई थीं, इसलिये वहाँ उसका प्रभाव धीरे-धीरे समाप्त हो गया। विशेषाधिकृत वर्गों ने राजा के विरुद्ध सामान्य जनता का साथ दिया और उसकी शक्ति को सीमित करके जनता की स्वतंत्रता का विस्तार किया। तेरहवीं शताब्दी में ही **महान् अधिकार पत्र** द्वारा प्रजा की

स्वतन्त्रता को सुरक्षित कर दिया था, और एक प्रतिनिधि संसद का राजा की शक्ति पर नियंत्रण स्थापित होगया था। पश्चिमी यूरोप के अनेक सामन्ती राज्यों में बड़े-बड़े सरदारों के सामन्ती दरबारों में से समाज के तीन वर्गों—पादरियों, भूस्वामी सरदारों, और नागरिक जनता—का प्रतिनिधित्व करनेवाले निकायों का प्रादुर्भाव हुआ जिनके हाथों में कर स्वीकृत करने तथा कानून बनाने का काम आगया। इन मध्ययुगीन राज्यों में से अधिकतर छोटे थे, और आगे चलकर वे बड़े राज्यों में विलीन होगये, और इस प्रक्रिया में मध्ययुग की प्रतिनिधि सभाओं का लोप हो गया। केवल इंगलैंड में मध्य-कालीन संसद का आधुनिक युग तक अटूट अस्तित्व कायम रहा। और इंगलैंड ही एक ऐसा राज्य था जिसने मध्ययुग से एकीकृत राष्ट्रीय कानून-व्यवस्था को लेकर आधुनिक युग में प्रवेश किया।

फ्रांस में सामन्ती सरदार विशेषरूप से शक्तिशाली थे, अत: राजा ने नगरों तथा जनता की सहायता से सुदृढ़ राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की। रोमक विधि के पुन: प्रयोग में आने तथा जस्टिन के इस सिद्धांत से कि "राजा की इच्छा ही कानून है" फ्रांस के राजाओं को अपना निरंकुश शासन स्थापित करने में सहायता मिली। इस प्रकार फ्रांस के सामन्त अपनी राजनीतिक शक्ति से तो हाथ धो बैठे, किंतु आर्थिक और सामा-जिक क्षेत्रों में वे जिन विशेषाधिकारों का उपभोग करते आये थे वे फ्रांसीसी क्रान्ति के समय तक उनके हाथों में बने रहे। स्पेन के राज्य शताब्दियों तक आपस में लड़ते रहे और मुसलमान आक्रमणकारियों के विरुद्ध युद्ध चलाते रहे, किंतु १५वीं शताब्दी के अंत में वे मुसलमानों को अपने देश से मार भगाने तथा राजतंत्रीय केन्द्रीय सरकार के अधीन एक एकीकृत राज्य स्थापित करने में सफल हुए। इटली तथा जर्मनी में भी राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ जिसके परिणामस्वरूप वे दोनों देश एक दूसरे से और भी अधिक पृथक होते गये और पुराने पवित्र रोमन साम्राज्य की एकता असम्भव हो गई। किंतु इटली और जर्मनी में से कोई भी देश सुदृढ़ राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करने में सफल नहीं हुआ। इन देशों के राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में पोप, जर्मन सामन्तों और दोनों के स्वतंत्र नगरों की शक्ति सबसे बड़ी बाधा थी। इसके अतिरिक्त शक्तिशाली पड़ोसियों ने उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करके स्थिति को और भी अधिक पेचीदा बना दिया।

वाणिज्य को बर्बर जातियों के आक्रमणों से भारी धक्का लगा था, किन्तु मध्य-युग में उसका पूर्णतया अन्त नहीं हुआ, और धर्मयुद्धों से उसे विशेष प्रोत्साहन मिला। जल-परिवहन का विकास हुआ, नई जातियों और पहले से अधिक विस्तृत क्षेत्रों के साथ सम्बन्ध स्थापित किये गये और नई विक्रय वस्तुएँ बाजारों में आने लगीं। पूर्व से मसाले, इत्र, बहुमूल्य पत्थर और कीमती वस्त्र आने लगे। ये वस्तुएँ पश्चिमी एशिया के मुस्लिम राज्यों के द्वारा भारत से प्राप्त की जाती थीं; और चूंकि यूरोप में ऐसी बहुत कम चीजें थीं जिनकी पूर्वी देशों में खपत हो सकती इसलिये देय चुकाने के लिये कीमती धातुओं

का भारी मात्रा में निर्यात करना पड़ता था। उत्तर से अन्न, मछली आदि भोजन की सामग्री और ऊन, चमड़ा, फ्लैक्स, इमारती लकड़ी, टीन आदि कच्चा माल आता था। यह व्यापार उन नगरों में केन्द्रित था जो बाल्टिक तथा उत्तरी समुद्रों के तटों पर बस गये थे और जिन्होंने अन्त में **हैनसीटिक लीग** नाम का सुसम्बद्ध व्यापारिक संगठन कायम कर लिया था। उत्तरी यूरोप तथा प्राच्य के माल को ढोने तथा बेचने के लिये मध्यवर्ती केन्द्रों की आवश्यकता थी, अतः इटली के व्यापारिक नगरों, विशेषकर वेनिस और जिनोआ का इस काल में विशेष उत्कर्ष हुआ। इन नगरों से पूर्वी देशों के लिये अनेक मार्ग जाते थे और उत्तरी यूरोप के साथ भी उनका स्थल तथा जल मार्गों द्वारा सम्बन्ध था। पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ तक व्यापार के क्षेत्र में विविधता आगई थी, अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की समस्याएँ उठ खड़ी हुईं थीं, लोग इस बात पर विचार करने लगे थे कि राष्ट्रीय सम्पत्ति के साथ सोने तथा चाँदी की सप्लाई का क्या सम्बन्ध है, और यह भी सोचने लगे थे कि कि देशी व्यापार की विदेशी स्पर्धा से रक्षा करने के लिये सरकार का नियंत्रण वांछनीय है अथवा नहीं। सोलहवीं शताब्दी तक इन सिद्धान्तों ने जिन पर समस्त व्यापारिक व्यवस्था आधारित थी, सुनिश्चित रूप लेलिया था। मध्ययुग के अन्त में भारत के लिये नया मार्ग खोज निकालने के प्रयत्न हुए और पश्चिमी यूरोप के नये राज्यों ने पूर्व के लाभप्रद व्यापार में हिस्सा बँटाने की महात्वाकांक्षा प्रकट की, फलस्वरूप अमेरिका के महाद्वीप का पता लगा और इस प्रकार १६वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण व्यापारिक एवं औपनिवेशिक कार्रवाइयों के लिये मार्ग तैयार हुआ। उस समय तक भूमध्य सागर विश्वशक्ति का केन्द्र था, अब उसका स्थान अटलांटिक महासागर ने ले लिया।

व्यापार के विकास के साथ-साथ पुराने नगर पुनः सक्रिय हो उठे, और नये नगरों का उदय हुआ। इन नगरों के निवासियों के हित खेतिहर देहातियों के हितों से सर्वथा भिन्न थे, अतः वे सामन्ती व्यवस्था से शत्रुता रखते और स्थानीय स्वाधीनता तथा स्वशासन के लिये सदैव प्रयत्नशील रहते थे। जर्मनी और इटली में केन्द्रीय सत्ता दुर्बल थी अतः वहाँ इन नगरों ने स्वतंत्र नगर राज्यों का पद प्राप्त कर लिया था। इंगलैंड, फ्रांस और स्पेन में, जहाँ राष्ट्रीय एकता की स्थापना होचुकी थी, नगरों ने सामन्ती सरदारों का दमन करने में राजाओं को सहायता दी, किन्तु अन्त में वे स्वयं राज-सत्ता की अधीनता में आगये। पहले भूमि ही सम्पत्ति का एकमात्र स्रोत थी, किन्तु मुद्रा के अधिकाधिक प्रयोग में आने और धनी व्यापारी वर्ग के उदय से स्थिति बदल गई, परिणामस्वरूप भूस्वामी सामन्तों और पादरियों का राज्य में जो पहले प्रभाव था उसको भारी ठेस पहुँची। पूँजी के संचय और वाणिज्य के प्रसार का भी यही परिणाम हुआ। एक तो इन चीजों के लिये शान्ति, सुरक्षा और कानून की एकरूपता की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति राजा ही कर सकता था। दूसरे, अब एक राष्ट्रीय कर व्यवस्था की स्थापना

करना सम्भव हो सका जिससे केन्द्रीय सरकार को सामन्तों की सैनिक सेवा पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रही।

वाणिज्य की वृद्धि और नगरों के विकास से समाज के **तीसरे वर्ग** का प्रभाव भी बढ़ने लगा। सम्पत्ति की वृद्धि से व्यापारियों के एक नये वर्ग के हाथों में शक्ति आने लगी। इसके अतिरिक्त, नगरों में जो विश्वविद्यालय स्थापित होगये थे उनसे वहाँ के निवासियों को भी बौद्धिक शिक्षा, जिस पर पहले चर्च का एकाधिकार था, प्राप्त करने का अवसर मिला। सम्पत्ति तथा ज्ञान से युक्त नागरिकों ने सामन्तों तथा पादरियों पर दबाव डालकर सार्वजनिक मामलों के प्रबन्ध में भाग लेने का अधिकार प्राप्त कर लिया। धीरे-धीरे नगरों का प्रभाव पड़ोस के देहाती क्षेत्रों पर भी फैलने लगा और आर्थिक परिवर्तनों के परिणाम भी स्पष्ट होने लगे, फलतः खेतिहर मजदूरों की दशा में भी सुधार हुआ और वे अर्धदासत्व की अवस्था से स्वतंत्रता की ओर अग्रसर होने लगे। भूधृति के रूपों में सुधार हुआ; पहले किसानों को अपने स्वामियों को जो सेवाएँ करनी पड़ती थीं वे अनिश्चित और असीम थी, उनको निश्चित और सीमित किया गया; और लगान तथा मज़दूरी का भुगतान नकद मुद्रा के रूप में होने लगा। इंगलैंड, फ्रांस और बोहिमियाँ में जो किसान विद्रोह हुए उनकी माँग थी कि किसानों के जीवन में सुधार हो और उनको पहले से अधिक मानवीय समता के अधिकार दिये जायँ।

जिन परिवर्तनों ने राजनीतिदर्शन पर सर्वाधिक प्रत्यक्ष प्रभाव डाला उनका सम्बन्ध चर्च की व्यवस्था से था। पोप के फ्रांसीसियों के प्रभाव में दीर्घ काल तक अवियोंन में रहने का परिणाम यह हुआ कि एक प्रतिद्वन्दी पोप चुन लिया गया; और उसके फलस्वरूप चर्च में जो फूट पड़ गई उसने राजनीतिक तथा धार्मिक दोनों ही प्रकार की उलझनें पैदा करदी। स्पेन के राज्यों, स्कॉटलेंड, फ्लांडर्स, और जर्मनी तथा इटली की कुछ रियासतों ने फ्रांसीसी पोप का समर्थन किया। जर्मनी तथा इटली के अधिकतर राज्यों, पोलेंड, हंगेरी, स्कैंडेनेविया, पुर्तगाल और इंगलेंड ने इटली के पोप का पक्ष लिया। इन राज्यों को अपने-अपने पक्ष में बनाये रखने के लिये प्रतिद्वन्दी पोपों ने इन्हें अनेक प्रकार की रियाइतें प्रदान कीं जिससे पोप की यूरोप के सार्वभौम प्रमुख की स्थिति समाप्त हो गई। इनके अतिरिक्त अवियोंन के पोप की अपव्ययता और दो प्रतिद्वन्दी दरबारों के खर्च से जनता पर धार्मिक करों का बोझ बढ़ गया, और धन इकट्ठा करने के अनेक नये उपाय निकाले गये। इसका विरोध किया गया और कुछ राज्यों में तो इसको रोकने के लिये कानून बनाये गये, और अन्त में प्रोटेस्टेंट विद्रोह हुआ।

चर्च के अन्दर पोप की नीति के विरुद्ध भारी असन्तोष फैलने लगा। लोगों के धार्मिक जीवन को क्षति पहुंची। कुछ लेखकों ने, विशेषकर पेरिस विश्वविद्यालय के

विद्वानों ने, फूट का अन्त करने और चर्च का सुधार करने के उपाय बतलाये। चर्च की एक महापरिषद् बुलाने का विचार तो बहुत पुराना था, किन्तु पहले इसका प्रयोग पोपतंत्र के विरुद्ध संघर्षों में एक एकाकी अस्त्र के रूप में प्रयोग किया गया था, किन्तु अब सम्पूर्ण यूरोप में इसकी जबरदस्त माँग उठ खड़ी हुई, अतः इसकी उपेक्षा करना असम्भव हो गया। अनेक चर्च परिषदें बुलाई गई और लगभग पचास वर्ष तक दो पक्षों में भयंकर संघर्ष चलता रहा। एक पक्ष के लोग पोप की अधीनता में चर्च की राजतंत्रीय व्यवस्था को बनाये रखने के पक्ष में थे, और दूसरे यह चाहते थे कि चर्च-परिषद् प्रतिनिधि सभा का रूप धारण करके चर्च का शासन अपने हाथों में ले ले। यद्यपि अन्त में पोप के समर्थकों की ही जीत हुई, किन्तु पोप की शक्ति और प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा, और यूरोपीय विषयों में उसका प्रभाव बहुत घट गया। इसके बाद पोप लोगों ने अपने को मुख्यतया इटली के मामलों में ही व्यस्त रक्खा। चूँकि पोप इटली के एक छोटे से राज्य का लौकिक प्रभु था, इसलिये कुछ पोप स्थानीय राजनीति में भी कभी-कभी भाग लेते रहते थे; शेष ने पुनर्जागरण के आन्दोलन को प्रश्रय और प्रोत्साहन दिया। किन्तु उन्होंने चर्च के सुधार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। जब प्रोटेस्टेंट विद्रोह फूट पड़ा तब कहीं उनकी आँख खुलीं।

विकलिफ तथा हुस

उत्तर मध्ययुग की प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब हमें इंगलैण्ड के जॉन विकलिफ (१३२०-१३८४)[१] तथा बोहिमियाँ के जॉन हुस (१३६९-१४१५)[२] के सिद्धान्तों तथा उन राष्ट्रीय, पोप-विरोधी और लोकतांत्रिक आन्दोलनों में देखने को मिलता है जिनके लिये उनकी शिक्षाओं को उत्तरदायी ठहराया गया था। यद्यपि विकलिफ तथा हुस दोनों ने मुख्यतया धार्मिक प्रश्नों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन पर मार्सीलियस और ओकहम के लोकप्रभुत्व के सिद्धांतों का प्रभाव था। विकलिफ आक्सफोर्ड के विश्वविद्यालय में आचार्य था। आगे चलकर वह एक लोकप्रिय धर्मसुधारक बन गया। उसने अपनी राजनीतिक पुस्तिकाओं की रचना एक भिक्षु, सम्भवतः विलियम वेडफर्ड, के तर्कों का खंडन करने के लिये की। वेडफर्ड का कहना था कि पोप का इंगलैंड पर सामन्ती महाधिपत्य है, और चूँकि इंगलैंड के राजा ने पोप का कर नहीं चुकाया है अतः वह अपने सिंहासन का अधिकारी नहीं रहा।

राजनीतिक सिद्धांत के क्षेत्र में विकलिफ का मुख्य योगदान उसका आधिपत्य[३]

---

१. देखिये उसके ग्रन्थ *De dominio* तथा *De civile dominio*, दोनों आर० एल० पूल द्वारा सम्पादित। इसके अतिरिक्त उसकी पुस्तक *De Officio Regis* भी देखिये।

२. उसके ग्रन्थ *Determinatio de ablatione temporatium clericis* में देखिये **M. Goldost, *Monarchia*, Vol. 1, pp. 232 ff.**

३. इससे पहले आर्माघ का आर्कबिशप फिट्ज राल्फ अपने ग्रन्थ *De Panperie Salvatorie* में इसी प्रकार का सुझाव दे चुका था।

का सिद्धांत है। इसमें उसने सामंती व्यवस्था के नमूने पर आधारित एक आदर्श राजनीतिक योजना का प्रतिपादन किया है। उसके अनुसार आधिपत्य तथा सेवा मनुष्य को ईश्वर से जोड़नेवाली रज्जु के दो सिरे हैं। ईश्वर का आधिपत्य सर्वोपरि है। उसका प्रयोग वह मनुष्यों पर स्वयं प्रत्यक्ष रूप से करता है; अधीन सामंतों के द्वारा नहीं। इस सिद्धांत ने पादरी तथा गैर-पादरी के भेद का खंडन किया और प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर की निगाह में समान स्थान प्रदान किया।

राजनीतिक आधिपत्य की उत्पत्ति मनुष्य से हुई है, और उसकी मूल पापवृत्तियों के दमन के लिये आवश्यक है। धर्मात्मा व्यक्ति का सम्पूर्ण वस्तुओं पर आधिपत्य होता है, किंतु पापी का किसी चीज़ पर अधिकार नहीं हो सकता।[४] अतः धर्मनिष्ठ व्यक्ति ही आधिपत्य का प्रयोग कर सकते और सम्पत्ति के स्वामी हो सकते हैं। विकलिफ का मत था कि आदर्श रूप में प्रत्येक ईसाई हर वस्तु का स्वामी होता है। किन्तु अपने इस विद्वत्तापूर्ण सिद्धांत को व्यवहार में कार्यान्वित करने का कदाचित् विकलिफ का इरादा नहीं था। लेकिन उसके किसान अनुयायियों ने बड़े उत्साह के साथ उसके इस विचार को ग्रहण किया; और यूरोप के विभिन्न भागों में १६वीं शताब्दी तक आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रों में साम्यवादी आदर्शों का प्रचार होता रहा।

विकलिफ ने शुद्ध मध्ययुगीन आदर्शों के आधार पर शासन-सत्ता तथा साम्पत्तिक अधिकारों के बीच सम्बन्ध निर्धारित किया, और बतलाया कि दैवी (आध्यात्मिक) आधिपत्य का राजनीतिक आधिपत्य के साथ वही सम्बन्ध है जो सामन्ती अधिपति और उसके सामन्त के बीच। प्रत्येक सत्ता अपने क्षेत्र में सर्वोपरि है, किन्तु किसी को दूसरे के कार्यों से हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। चर्च की आध्यात्मिक प्रतिष्ठा के लिये विकलिफ के समय में बड़ी श्रद्धा थी, इसलिये उसका विचार था कि चर्च को बाह्य जगत के मामलों में भाग नहीं लेना चाहिये। उसका कहना था कि यदि चर्च प्रादेशिक क्षेत्राधिकार और मुद्रा से सम्बन्धित मामलों में ग्रस्त हो जाय तो राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिये और अपने मामलों पर स्वयं नियंत्रण स्थापित करना चाहिये। जब इंगलैंड तथा अन्य देशों में इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप दिया गया तो उससे राजाओं को पोप के विरुद्ध संघर्ष में बड़ी सहायता मिली।

विकलिफ के दैवी और राजनीतिक आधिपत्य के सिद्धान्त का फल यह हुआ कि उसे पोप की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का खंडन करना पड़ा। उसका कहना था कि चर्च तथा राज्य दोनों को सत्ता सीधे ईश्वर से प्राप्त हुई है, और पोप तथा पादरियों को राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करने का अधिकार नहीं है। उसने बाइबिल को धार्मिक

---

४. इस सिद्धान्त का आधार निम्न पाठ है : "The faithful man hath the whole world of riches, but the unfaithful hath not even a farthing." *Proverbs* XVII, 6, in the Septuagint.

विश्वासों और आचरण का एकमात्र प्रमाण मानकर और उन मध्ययुगीन सिद्धान्तों का खंडन करके, जिनका धर्म शास्त्रों में विधान नहीं था, आगे आनेवाले प्रोटेस्टेंट विद्रोहियों का मार्ग-दर्शन किया। सामान्यतया विकलिफ का सिद्धान्त निर्णायक रूप से राष्ट्रवादी था। इंगलैंड के लोगों को फ्रांसीसी राजा द्वारा नियंत्रित पोप से जो घृणा थी उसका उसके सिद्धान्त ने प्रतिनिधित्व किया। उसने एक ऐसे राष्ट्रीय राज्य का आदर्श प्रस्तुत किया जिसके अधीन एक राष्ट्रीय चर्च हो। आगे चलकर हेनरी अष्टम ने इसी प्रकार के राज्य की स्थापना की। इस दृष्टि से कि उसने राज्य को उच्च पद और प्रतिष्ठा प्रदान की उसके सिद्धान्त में बोदाँ तथा हॉब्स के सिद्धान्तों का पूर्वाभास मिलता है।

सरकार के विभिन्न रूपों की विवेचना करते हुए विकलिफ ने कहा कि सिद्धान्ततः अभिजाततंत्र सर्वोत्तम हैं, और अभिजाततंत्र से उसका अभिप्राय ऐसे शासन से था जिसमें प्लेटो के दार्शनिकों और पुराने इच्छापत्र के न्यायाधीशों का संयोग हो। पुरोहितों के शासन को वह सबसे निकृष्ट मानता था। किन्तु उसका कहना था कि चूँकि मनुष्य स्वभाव से ही पापी है, इसलिये सब बातों को ध्यान में रखते हुए राजतंत्र सबसे अधिक हितकारी प्रतीत होता है, क्योंकि सर्वाधिक शक्तिशाली होने के कारण उसमें पापियों के अनाचारों को रोकने की सबसे ज्यादा क्षमता होती है। विकलिफ ने पित्रागति तथा निर्वाचन दोनों ही सिद्धान्तों के पक्ष और विपक्ष में तर्क प्रस्तुत किये किन्तु किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा। चूँकि पापनिष्ठ मानव के स्वभाव के विषय में उसका दृष्टिकोण निराशामूलक था, अतः लोकमत के सम्बन्ध में उसकी अच्छी धारणा नहीं थी।

जिस काल की हम चर्चा कर रहे हैं वह आर्थिक विकास की दृष्टि से एक संक्रमण का युग था। पुरानी कृषि का स्थान नया भेड़ पालने का व्यवसाय और पुरानी लोकतांत्रिक शिल्पि श्रेणियों का स्थान नये अभिजाततंत्रीय व्यापारिक संघ ले रहे थे। अतः इस काल में निजी सम्पत्ति तथा सार्वजनिक सम्पत्ति की समस्या का बड़ा महत्व था। इंगलैंड में विकलिफ ने इस समस्या का समाधान करने के लिये समाज के एकीकरण का सुझाव प्रस्तुत किया। उसका कहना था कि सबसे अच्छा संगठन लौकिक राजतंत्र है जिसमें शासक को विशाल शक्तियाँ मिली हों। सत्ता के एकीकरण के लिये जनता के हितों का एकीकरण आवश्यक है, और यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि पादरियों को सम्पत्ति के अधिकार से वंचित कर दिया जाय और व्यक्ति का ईश्वर के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय। जॉन बाल तथा जॉन केड ने इन विचारों को क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया, किन्तु विफल रहे।

विकलिफ के सिद्धान्तों को प्राग विश्वविद्यालय के जॉन हुस ने अपना लिया। यद्यपि उसने अपनी ओर से उनमें नया कुछ भी नहीं जोड़ा, किन्तु जनता पर उसके उपदेशों का बहुत प्रभाव पड़ा और पोप तथा पादरियों के विरुद्ध आन्दोलन को उसने आगे बढ़ाया। उसने इस विचार पर बल दिया कि चर्च के अस्तित्व के लिये सम्पत्ति

आवश्यक नहीं है, और यदि चर्च अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग करे तो लौकिक शासकों को अधिकार है कि उसे उससे वंचित कर दें। विकलिफ की भाँति उसका भी सिद्धान्त था कि वास्तविक चर्च सभी धर्मनिष्ठ लोगों से मिलकर बनता है, और पोप तथा चर्च के अधिकारियों का वर्ग न तो आवश्यक है और न वे ईश्वर द्वारा नियुक्त ही किये गये हैं।

विकलिफ तथा हुस दोनों के धार्मिक उपदेशों के फलस्वरूप चर्च का सुधार करने के लिये आन्दोलन उठ खड़े हुए। इंगलैंड का आन्दोलन शीघ्र ही मर गया और विकलिफ के अनुयायी जो लोलार्ड्- कहलाते थे नष्ट कर दिये गये। किन्तु यूरोप में कुछ राजनीतिक कारणों से चर्च तथा हुस के अनुयायियों में समझौता हो गया, और कुछ बातों में चर्च ने उनकी बात मान ली। विकलिफ और हुस ने आदिम ईसाइयत की पुनः स्थापना का प्रयत्न करके, धर्मग्रन्थों को एकमात्र प्रमाण मानकर और प्रत्येक व्यक्ति को बाइबिल पढ़ने और अपना निष्कर्ष निकालने का अधिकार देकर जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया उसी ने आगे चलकर धर्मसुधार आन्दोलन को जन्म दिया। यद्यपि उनके राजनीतिक विचार रूप में मध्ययुगीन थे, किन्तु उनकी आत्मा आधुनिक थी। चर्च को नीवि से वंचित करने के उद्देश्य से उन्होंने राजा के दैवी अधिकारों का प्रतिपादन किया, उन्होंने पादरियों के दावों का विरोध किया और समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति की प्रतिष्ठा को मान्यता थी। उनके ईश्वर के प्रभुत्व और मानव की समता के सिद्धान्त ने लोकतंत्रीय आदर्शों का मार्ग प्रशस्त किया, और जब युग की आर्थिक प्रवृत्तियों के साथ उसका संयोग हुआ तो ऐसे परिणाम निकले जिनकी १५वीं शताब्दी में कोई कल्पना नहीं कर सकता था।

परिषदीय आन्दोलन

परिषदीय आन्दोलन से सम्बद्ध विवाद की विशेषता यह थी कि चर्च को स्वभाव तथा संगठन की दृष्टि से एक मानव समाज के सदृश्य ही माना गया। तदनुसार, पोप के स्थान पर चर्च की एक प्रतिनिधि परिषद को सत्ता सौंपने का प्रयत्न किया गया। इस विषय में जो सिद्धान्त निरूपित किये गये वे परवर्ती युग में राजाओं के स्थान पर प्रतिनिधि-संसदों को सत्ता सौंपने के लिये किये गये प्रयत्नों में बड़े सहायक सिद्ध हुए। कोंसटेंस की परिषद (१४१४–१४१७) की उस आज्ञप्ति को जिसमें उसने अपने को पोप से उच्चतर घोषित किया विश्व-इतिहास का सर्वाधिक क्रान्तिकारी लेख्य माना गया है।[५] मध्ययुग में रोम के उस पुराने आदर्श के स्थान पर जिसके अनुसार सत्ता ईश्वर द्वारा नियुक्त एकाकी व्यक्ति में निहित मानी जाती थी, लोकमत पर आधारित सभा को प्रतिष्ठित करने का निरन्तर प्रयत्न होता रहा। कोंसटेंस की यह आज्ञप्ति उस प्रयत्न की परिणति थी। आगे चल कर राज्य में स्वेच्छाचारी शासन और सांविधानिक सिद्धान्तों के बीच जो संघर्ष हुआ उसका इसमें पूर्वाभास मिलता है। चर्च की फूट से उत्पन्न अवसर

५. Figgis, *From Gerson to Grotius* (1907).

का लाभ उठाकर उदार विचारों के समर्थकों ने यूरोप के उदीयमान राज्यों से और मार्सीलिउस तथा ओकम के सिद्धान्तों से चर्च के लिये सीमित राजतंत्र और प्रतिनिधि सरकार के आदर्श को ग्रहण किया। संगठन की दृष्टि से कोंसटेंस की परिषद राष्ट्रीय भावनाओं का भी प्रतिनिधित्व करती थी, क्योंकि उसका नियम था कि पादरी जन "राष्ट्रीय" आधार पर वोट दें।

परिषदीय दल का नेतृत्व मुख्यतः विश्वविद्यालयों के हाथों में था, और इसके सदस्यों ने उन पुराने धार्मिक विश्वासों की आलोचना करके, जिनके सम्बन्ध में पहले किसी को प्रश्न भी उठाने का साहस न होता था, सिद्ध कर दिया कि उन्होंने भी पुनर्जागरण आन्दोलन की नई चिंतन पद्धतियों को अपना लिया था। अनेक व्यक्तियों ने फूट का अन्त करने की पवित्र भावना से प्रेरित होकर परिषदीय आन्दोलन का समर्थन किया, किंतु जब वह उद्देश्य पूरा न हुआ तो उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं रही और आन्दोलन का कोरा शास्त्रीय स्वरूप उसकी दुर्बलता का कारण बन गया। जिन शक्तिशाली स्थापित स्वार्थों पर उसने आक्रमण किया उन्होंने उसका डट कर विरोध किया, और जब उसके नेताओं ने हुस के आन्दोलन का विरोध करना आरम्भ कर दिया तो वह जनता की भी सहानभूति खो बैठा और उसकी विफलता सुनिश्चित होई। परिषदीय आन्दोलन की विफलता के साथ-साथ आधुनिक युग का आरम्भ हुआ। जब यह सिद्ध हो गया कि लोकतांत्रिक सिद्धांतों को कायम रखना और भीतर से चर्च का सुधार करना असम्भव है तो फलस्वरूप अनेक नये आन्दोलनों का मार्ग प्रशस्त हुआ। पहले दैवी अधिकारों के सिद्धांत पर आधारित उन राजतंत्रों की स्थापना हुई जिन्होंने मैकियावेली के सिद्धांत का अनुकरण किया, दूसरे, लूथर और उसके अनुयायियों ने पोप के खिलाफ विद्रोह का झंडा खड़ा करके ईसाई जगत के एक बड़े भाग में स्वतंत्र प्रोटेस्टेंट पंथों की स्थापना की, और तीसरे पोप के समर्थकों की प्रतिक्रिया हुई और लॉयला तथा जेसुइट लोगों ने कैथोलिक चर्च की शक्ति और प्रतिष्ठा की स्थापना के ज़बरदस्त प्रयत्न किये।

इस काल के मुख्य लेखक थे : पेरिस विश्वविद्यालय का कुलपति जॉन गर्सन (१३६३-१४२६);[६] क्यू का कार्डिनल निकोलस (१४०१-१४६४),[७] और एनियस सिल्वीयस (१४०५-१४६४)[८] जो आगे चलकर पोप पाइस द्वितीय बना।[९] गर्सन चर्च

६. गर्सन की सबसे महत्वपूर्ण रचनाओं के लिये देखिये Goldost, op. cit., Vol. II., pp. 1384 ff.
७. देखिये उसका ग्रन्थ *De Concordantia Catholica.*
८. देखिये उसका ग्रन्थ *De Ortu et Authoritate Imperii Roman.* देखिये, Goldost, op. cit., Vol. II, pp. 1558 ff.
९. अन्य लेखक थे : Cardinal Peter of Silly, Deitrich of Niem, Gregory of Heimburg, Cardinal Francesco Zabarella और Ardrea of Randulf.

संगठन के लिये सीमित राजतंत्रीय व्यवस्था का पक्षपाती था और उसका विश्वास था कि चर्च और राज्य दोनों के लिये सबसे अच्छी व्यवस्था वह होगी जिसमें राजतंत्रीय अभिजाततंत्रीय और लोकतांत्रिक तत्वों का समावेश हो। उसने पोप की सर्वोच्चता का विरोध किया और मार्सीलिउस के कुछ सिद्धान्त अपना लिये, यद्यपि वह इस लोकतांत्रिक धारणा को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था कि चर्च में सम्पूर्ण ईसाई समाज सम्मिलित होता है। वह अभिजाततंत्री सिद्धान्त को मानता था जिसके अनुसार केवल पादरी गण ही चर्च के सदस्य माने जाते और अन्तिम सत्ता महापरिषद् में निहित थी। गर्सन पोप को चर्च का प्रशासकीय अभिकर्ता मानता था और फूट को दूर करने की आवश्यकता की वजह से चर्च परिषद की सर्वोच्चता को स्वीकार करता था। उसके सिद्धान्त में उपयोगितावादी दृष्टिकोण का महत्वपूर्ण स्थान था, और उसने कहा कि जब सामान्य कल्याण के लिये आवश्यक हो तो पोप का विरोध करना भी उचित है। उसका यह भी मत था कि यदि पोप अपके कर्तव्यों का पालन न करे और प्रकृति तथा ईश्वर के कानूनों की अवज्ञा करे तो लौकिक शासकों को अधिकार है कि वे उसको अपदस्थ करने के लिये चर्च-परिषद की बैठक बुलालें। कोंसटेंस की परिषद की आज्ञप्तियों में प्रतिपादित गर्सन के विचारों ने समस्त यूरोप में सांविधानिक सरकार के सिद्धान्त का प्रचार किया, और परवर्ती सुधारकों के लिये मार्ग तैयार किया। वह निश्चित सीमाओं के भीतर पोप तथा राजा के अधिकारों को सुरक्षित रखना चाहता था और साथ ही साथ जनता की स्वतंत्रता की रक्षा करना भी उसका उद्देश्य था।

निकोलस ने बेसल की परिषद् (१४३१-१४४९) के समय अपने उग्र तथा लोकतांत्रिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इसकी धारणा थी कि विश्व एक जीव अथवा व्यवस्था के सदृश है जिसके विभिन्न अंग एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से सम्बन्ध हैं। इसी प्रकार चर्च तथा राज्य विभिन्न अंगों के मेल से बनते हैं और प्रत्येक अंग के अपने निश्चित कार्य होते हैं; और यही सिद्धान्त धार्मिक तथा राजनीतिक संगठनों में लागू किये जा सकते हैं। उसका मत था कि प्रतिनिधि-परिषद् चर्च तथा राज्य दोनों का केन्द्रीय अंग होती है, और सत्ता का अन्त्य स्रोत सम्पूर्ण निकाय की अनुमति ही है। चूँकि स्वभाव से सभी मनुष्य स्वतंत्र और समान हैं इसलिये विधि तथा सत्ता जनता से ही निसृत होती है। राजा तथा बिशप लोक-शासन के संचालन के चुने जाते हैं और उनके तथा जनता के संयोग से प्राकृतिक संगठन अथवा समाज का निर्माण होता है। निकोलस का सिद्धान्त था कि शासक लोग अपनी प्रजा की इच्छा से ही अपना पद धारण करते हैं और अपनी प्रजा की भाँति वे भी कानून के बन्धन में होते हैं। सबकी सम्मति पर आधारित विधि अन्तिम दृष्टि से ईश्वरीय है, क्योंकि मनुष्य स्वयं मूलतः ईश्वर से उत्पन्न हुआ है।

एनीयस सिल्वीयस ने इस बात का इतिहास बतलाया कि मनुष्य ने मूल प्रकृति

के अवस्था से उठकर किस प्रकार उन्नति की है। स्वर्ग से निकाले जाने पर मनुष्य पशु की भाँति जीवन बिताने लगा, किन्तु धीरे-धीरे उसने सामुदायिक जीवन का मूल्य पहिचाना और समाजों की रचना की। जब अत्याचारियों का उदय हुआ और उन्होंने लोगों के अधिकारों को कुचलना आरम्भ कर दिया तो सब मनुष्यों ने आपस में समझौता करके अपनी सत्ता एक ऐसे व्यक्ति को सौंप दी जो शक्ति अथवा गुणों की दृष्टि से श्रेष्ठ जान पड़ा। इस प्रकार राजतंत्र का उदय हुआ। किन्तु यदि राजा स्वयं अत्याचारी हो जाय तो जिन्होंने उसे बनाया है वे उसे निकाल भी सकते हैं। इसी तर्क के आधार पर उसने पोप को अपदस्थ करना उचित ठहराया। निकोलस और एनीयस सिल्वीयस की रचनाओं में प्रकृति की अवस्था, प्राकृतिक अधिकारों और सामाजिक समझौते के उन सिद्धान्तों का निरूपण मिलता है जो सत्रहवीं तथा अठाहरवीं शताब्दियों के क्रांतिकारी चिंतन में इतने महत्वपूर्ण सिद्ध हुए।

एक दृष्टि से परिषदीय दल के सिद्धांत का कार्य ध्वंसात्मक था। उसने पोप के स्वेच्छाचारी शासन का खंडन किया और चर्च के धर्मतांत्रिक मतवादों को त्याग कर प्राकृतिक विधि और लोककल्याण के आदर्श सामने रक्खे। किन्तु दूसरी ओर इस सिद्धांत का रचनात्मक महत्व भी था। उसका उद्देश्य चर्च के लिये जनता की सम्मति पर आधारित एक सुनिश्चित संविधान की रचना करना था। समग्र दृष्टि से परिषदीय आन्दोलन राष्ट्रवादी, प्रतिनिधित्व सिद्धांत का पोषक और मर्यादित रूप में लोकतांत्रिक था। "परिषदीय दल तथा उसके विरोधियों का कार्य यह था कि उन्होंने राजनीतिक सिद्धांतों का उपयोगितावादी धारणाओं के साथ समन्वय किया और एक ऐसी संस्था के संबंध में उनको लागू करने का प्रयत्न किया जो सब छोटे राज्यों के लिये आदर्श का काम कर सकती थी।"[१०]

पन्द्रहवीं शताब्दी के विधिवेत्ता

रोमक विधि के अध्ययन से विधिक विश्लेषण और चिंतन में लोगों की जो अभिरुचि उत्पन्न हो गई थी वह पन्द्रहवीं शताब्दी के परिषदीय विवाद के दौरान में विशेष रूप से तीव्र हो गई। रोमक विधि निगम (व्यक्तियों का संयुक्त समूह जिसे एक व्यक्ति की हैसियत से कार्य करने का अधिकार हो) की धारणा से परिचित थी, और उसी के सिद्धान्त धार्मिक और राजनीतिक संगठनों-चर्च, चर्च-परिषद्, राज्य, और स्वतंत्र नगरों—की व्याख्या में प्रयुक्त किये गये। उन राजनीतिक सिद्धांतियों को जो एक ही व्यक्ति के हाथों में सत्ता को केन्द्रित करने के सिद्धांत के विरुद्ध थे, ऐसे निगम निकाय का, जिसे विधिक अर्थ में एक व्यक्ति के रूप में मान लिया जाय, विचार बहुत पसन्द आया। एक ओर तो अकेले व्यक्ति की धारणा थी और दूसरी ओर व्यक्तियों

१०. Figgis op cit, p. 51.

के सम्पूर्ण निकाय का सिद्धांत। निगम इन दोनों के बीच के अवस्था का द्योतक था। जो लोग सुधार के पक्ष में थे किन्तु साथ ही साथ यह भी नहीं चाहते थे कि राज्य की सत्ता सम्पूर्ण नागरिकों अथवा चर्च की सत्ता सम्पूर्ण ईसाई-समुदाय में निहित हो, उन्हें निगम का सिद्धांत विशेषकर उपयोगी मालूम हुआ।

जो लोग इस मत को मानते थे कि शासकों को सत्ता जनता से प्राप्त होती है, और चर्च की शक्तियाँ अन्तिम रूप से ईसाइयों के सम्पूर्ण समाज में निवास करती हैं, उन्होंने अपनी इस धारणा के कि सम्पूर्ण जनता का एक विधिक व्यक्तित्व होता है, समर्थन में विधिक तर्कों का खुल कर प्रयोग किया। रोमन विधिशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर चर्च परिषद का विशद विश्लेषण किया गया और यह निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया कि चर्च के निगम प्रतिनिधि के रूप में उसकी क्या स्थिति होनी चाहिये। पोप का परिषद से सम्बन्ध, परिषद की बैठक बुलाने का तरीका, उसकी कार्य पद्धति, गणपूर्ति, मतदान आदि से सम्बन्धित विविध प्रश्नों पर रोमक विधि की निगम सम्बन्धित धारणाओं के प्रकाश में गम्भीरता से विचार किया गया और उनके उत्तर ढूँढ़ निकाले गये। सम्राट तथा पोप के चुनाव की क्या पद्धति हो? इस प्रश्न की भी रोमक निगम विधि के सिद्धान्तों के आधार पर विवेचना की गई।

यद्यपि निगम के सिद्धान्त को छोटे समूहों[११] के सम्बन्ध में ही लागू किया गया, उदाहरण के लिये चर्च की परिषदें, समाज व्यवस्था के विविन्न वर्ग, विश्वविद्यालय और इटली जर्मनी तथा फ्रांस में स्वतंत्र नगर फिर भी इससे सम्पूर्ण राज्य और चर्च के विधिक व्यक्तित्व की धारणा का मार्ग प्रशस्त हुआ। मध्ययुगीन सिद्धान्त में यह विश्वास निहित था कि चर्च और राज्य के भीतर एकता तभी स्थापित की जासकती है जबकि उनमें से प्रत्येक के सदस्य एक साम्राज्यीय शासन की अधीनता स्वीकार करलें। निगम के सिद्धान्त ने सब व्यक्तियों के सम्पूर्ण निकाय के विधिक व्यक्तित्व की धारणा की नींव डाली, और उससे आगे चलकर यह धारणा सम्भव हो सकी कि प्रभुत्व राज्य की सम्पूर्ण जनता में निवास करता है न कि राजा में। मध्ययुगीन सिद्धान्त इस धारणा से भी परिचित था, कि राज्य एक जीवी[१२] के सदृश्य है। इसके साथ निगम व्यक्तित्व

---

११. "मध्ययुग के समुदायों का जो संघीय रूप था उसके आधार पर अनेक विस्तीर्ण योजनाएँ तैयार की गईं जिनका उद्देश्य यह था कि जो छोटे-छोटे निकाय बड़े-बड़े निकायों के अंग थे उनकी एकता और स्वाधीनता कुछ सीमा तक सुरक्षित रक्खी जा सके" O.F. Gierke, *Political Theories of the Middle Ages* (1900) p. 167.

१२. समाज के जैविक स्वभाव के सम्बन्ध में मध्ययुग के सिद्धान्तों के लिये देखिये, वहीं, पृष्ठ २२–३०.

का सिद्धान्त जोड़ दिया गया, और फिर प्रतिनिधित्व के परिषदीय सिद्धान्त के सहारे राज्य तथा सरकार—सत्ता के अन्त्य स्रोत तथा उसका प्रयोग करनेवाले अंगों—के बीच भेद स्पष्ट कर दिया गया।

मध्ययुग में प्रथम बार प्रतिपादित इस सिद्धांत ने कि राज्य के अन्दर कार्य करनेवाले विभिन्न संगठनों का निगम व्यक्तित्व होता है, आधुनिक काल में प्रभुत्व के बहुवादी सिद्धांत और श्रेणी समाजवादी विचारधारा के विकास में योग दिया है, और इस बात बल दिया है कि कार्य ही राज्य के संगठन का सम्यक आधार हो सकता है। इस प्रवृत्ति के उत्पन्न और विकसित होने के तीन मुख्य कारण हैं; चर्च की संस्थाओं और इतिहास का अध्ययन, आर्थिक समुदायों—मजदूर सभाओं, औद्योगिक संगठनों आदि—का बढ़ता हुआ महत्व तथा उनके राजनीतिक कार्यकलाप; और वे विधिक सिद्धांत जो विधि के सामाजिक स्वभाव तथा राज्य के साथ उसके सम्बन्धों की विवेचना करते हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी के विधिविज्ञों ने क्षेत्राधिकार और स्वामित्व के भेद को भी स्पष्ट रूप से व्यक्त किया। उनका कहना था कि निजी सम्पत्ति के स्वामी के जो अधिकार हैं उनका राजनीतिक सत्ता को धारण करनेवाला भी अतिक्रमण नहीं कर सकता। इस सिद्धांत ने उस सामन्ती धारणा पर प्रहार किया जिसके अनुसार राजा को भूमि का अन्त्य स्वामी माना जाता था, और इस प्रकार भूमिधारण तथा प्रशासकीय सत्ता के विचारों को एक दूसरे से पृथक करने में सहायता दी। इसके अतिरिक्त इस सिद्धांत ने राजा के स्थान पर राज्य की सम्पूर्ण जनता को प्रभुत्व का स्रोत मानने में बड़ी सहायता पहुँचाई।

इस काल के जितने भी विधिक सिद्धांत थे वे सब रोम के प्राकृतिक विधि के सिद्धांत को ही आधार मानकर चलते थे। प्राकृतिक विधि के सिद्धांतों को किसी भी शासक के आदेशों अथवा किसी भी मानवीय अधिनियम के मुकाबिले में श्रेष्ठ माना जाता था। प्राकृतिक विधि के शाश्वत सिद्धांतों का विरोध करनेवाले सभी नियम और कार्य अवैध थे। लोगों का ऐसा खयाल था कि प्राकृतिक विधि की स्थापना मनुष्य की बुद्धि में ईश्वर ने स्वयं की है। उसके साथ ही ईश्वरीय विधि का स्थान था जिसे ईश्वर ने अतिप्राकृतिक ढंग से मनुष्य को प्रदान किया था, और अन्त में सार्वराष्ट्रिक विधि थी जिसमें से सब नियम सम्मिलित थे जिन्हें सभी राष्ट्र स्वीकार करते और प्राकृतिक विधि से निसृत मानते थे। मध्ययुगीन लेखकों ने भौतिक अथवा प्राकृतिक आवश्यकता को राज्य का आधार माना। उनके मतानुसार उसका उद्देश्य कल्याण का संवर्धन करना था। और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्राकृतिक विधि का साक्षात्कार करना आवश्यक था। टॉमस एक्विनास के समय से ही यह धारणा चली आरही थी कि किसी अंग के कल्याण की अपेक्षा समग्र के कल्याण का महत्व अधिक है; और सामान्य कल्याण का यह

उपयोगितावादी सिद्धांत ही परिषदीय दल की सम्पूर्ण चर्च के प्रतिनिधित्व की माँग की पीछे मुख्य तर्क था। इस सिद्धांत ने इस धारणा का भी खंडन किया कि चर्च और राज्य निर्दोष और अपरिवर्तनशील संस्थायें हैं, और आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तन और सुधार को उचित ठहराया।

पुनर्जागरण ने प्राचीन ग्रीक और लेटिन के प्रसिद्ध ग्रन्थों के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया था। इस अध्ययन का फल यह हुआ कि लोग यूनानी नगर-राज्यों के लोकतन्त्र, रोमक विधि के संविदा सिद्धान्त और निगमों में दिलचस्पी लेने लगे। यूनान और रोम के इन आदर्शों ने भी मध्य युग के इस विचार का खंडन किया कि सत्ता एक ही प्रमुख में निहित होनी चाहिये, और अनेक के महत्व पर बल दिया। यद्यपि इन धारणाओं में निहित लोकप्रभुत्व के विचार परिषदों पर पोप की विजय और प्रोटेस्टेंट धर्म सुधार के द्वारा पुनर्जीवित किये गये ईश्वरीय अधिकार सिद्धान्त के कारण व्यवहार में नहीं लाये जा सके, किन्तु सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ये विचार पुनः प्रकट हुए और सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों की क्रान्तियों के रूप में कार्यान्वित किये गये। आधुनिक लोकतंत्र पर पन्द्रहवीं शताब्दी के धर्मतान्त्रिक विवादों का बड़ा ऋण है और यद्यपि पुनर्जागरण काल के विधिवेत्ताओं ने अस्थाई रूप से राजाओं की शक्ति को मजबूत किया किन्तु उन्होंने भी ऐसे विचार प्रस्तुत किये जिन्होंने अन्त में लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों का समर्थन किया।

मैकियवेली

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक चर्च तथा राज्य दोनों में ही परिषदीय काल की प्रवृत्तियों का लोप हो गया था। यद्यपि पोप लौकिक मामलों में अपनी सर्वोच्चता को कायम न रख सका था, किन्तु चर्च के संगठन में उसने अपनी पूर्व स्थिति पुनः प्राप्त कर ली थी; और चर्च की परिषदें जिनकी शायद ही कभी बैठकें होतीं, पूर्णतया उसके नियन्त्रण में आ गईं थीं। राजनीतिक जगत में राष्ट्रीयता और राजतंत्र की प्रवृत्तियाँ अन्त में सफल हो चुकी थीं। उस पुराने विचार का कि संयुक्त यूरोप एक साम्राज्यीय शासक के आधीन हो, महत्व पूर्णतया जाता रहा था। राष्ट्रीय भेद-भाव स्पष्ट हो गये थे और शक्तिशाली राजाओं के अधीन लौकिक स्वभाव के पृथक-पृथक राज्य उठ खड़े हुए थे, और राजाओं ने सामन्ती सभाओं के महत्व को समाप्त कर दिया था। एकीकरण (समेकन) की इस प्रवृत्ति की इटली में सबसे कम प्रगति हुई। मध्य युग के अन्त तक अनेक सामन्ती राज्यों और स्वतंत्र नगरों को मिला-मिलू कर पाँच बड़ी इकाइयाँ स्थापित कर ली गईं थीं : वैनिस और फ्लोरेंस के गणराज्य, नेपिल्स का राजतंत्रीय राज्य, मिलान की डची (ठिकाना) और रोमन चर्च का राज्य-क्षेत्र। इससे आगे इन राज्यों का एकीकरण न हो सका। इसके कई कारण थे : इन राज्यों में आपस में बड़ी ईर्ष्या थी, कोई एक ऐसा राज्य अथवा शासक नहीं था जो दूसरों को

अपने काबू में कर सकता, और पोप सदैव एकीकरण का विरोध किया करता था क्योंकि वह अपने राज्य क्षेत्रों पर अधिकार त्यागने को तैयार नहीं था। इसके अतिरिक्त बाहरी शक्तियाँ जो इटली के प्रायद्वीप में अपनी सत्ता स्थापित करने की फिक्र में रहतीं, इटली के इन राज्यों को एक दूसरे से लड़ाया करतीं थीं।

परवर्ती मध्य युग में इटली के नगर अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता और सामुदायिक संस्थाओं को बहुत कुछ खो बैठे थे। नगरों के भीतर राजनीतिक गुटों के निरन्तर चलनेवाले संघर्षों और उनके (नगरों के) आपसी युद्धों ने निरंकुश शासकों को जन्म दिया जिन्होने नागरिकों को उनकी स्वतन्त्रता से जिसका वे दुरुपयोग किया करते थे वंचित कर दिया; कुछ नगरों ने दूसरों के राज्य-क्षेत्रों को हड़प कर अपना विस्तार किया और ऐसे किराये के सैनिकों और नेताओं को भर्ती किया जो देश-भक्ति की भावना से शून्य थे और सदैव स्वार्थ के लिए लड़ा करते थे। राजनीतिक नैतिकता और लोक-कल्याण की भावना लगभग तिरोहित हो गई। इटली के नगरों के शासक सामान्यतया योग्य और साधनसम्पन्न थे, यद्यपि कभी-कभी वे निर्दयता और क्रूरता का बर्ताव करते। उन्होंने पुनर्जागरण को प्रोत्साहन दिया और जनता की दशा में सुधार किया। किन्तु उन्हें महत्वाकांक्षी प्रतिद्वन्दियों और प्रभावशाली सामन्ती परिवारों से सदैव चौकन्ना रहना पड़ता था। षड़यंत्रों का बोलबाला था, हत्याएँ, बन्दीकरण और देश निकाले का आम चलन था। राजशक्ति पर अधिकार रखने का एक ही उद्देश्य था: अपने निजी और राजनीतिक स्वार्थों को पूरा करना।

इटली की इन परिस्थितियों में, और विशेषकर फ्रांस, स्पेन, और जर्मनी की, जिन्होंने इटली को अपने युद्धों का अखाड़ा बना रक्खा था, प्रतिस्पर्धा के कारण इटली के राज्यों के लिये शक्ति के द्वारा अपने अस्तित्व को कायम रखना असम्भव होगया, अतः वे छल-कपट और कूटनीति के प्रयोग में दक्ष होगये। निकोलो मैकियावेली (१४६९-१५२७)[१३] ने इटली की राजनीति के पेचीदा जीवन में सक्रिया भाग लिया। उसने इटली, तथा यूरोप के अन्य देशों की सरकारों की कार्य-प्रणाली का जो सूक्ष्म निरीक्षण किया उसका प्रतिबिम्ब उसके राजनीतिदर्शन की पद्धति और स्वभाव में देखने को मिलता है। उसका मुख्य उद्देश्य था इटली की स्वाधीनता को कायम रखना और इटली के नगरों की समृद्धि की पुनः स्थापना करना। उसका मस्तिष्क पुनर्जागरण की उस भावना से ओतप्रोत था जो बौद्धिक स्वतंत्रता पर बल देती, मध्य-युगीन मतवादों और चिन्तन की पद्धतियों का खंडन करती और नैतिकता तथा धर्म के विषय में पुराने गैर-इसाई दृष्टिकोण को स्वीकार करती थी।

१३. मैकियावेली के राजनीतिक विचार मुख्यतः उसके ग्रन्थ *Prince* (१५१३) और *Discourses on Livy* में मिलते हैं। ये ग्रन्थ माडर्न लाइब्रेरी के संस्करण में उपलब्ध हैं।

मैकियावेली ने राज्य तथा चर्च के झगड़ों और पोप तथा परिषद के विवादों की ओर ध्यान नहीं दिया और न चर्च के प्रारम्भिक लेखकों के मतों, धर्मशास्त्रों की शिक्षाओं और प्राकृतिक विधि के सिद्धान्तों की ही परवा की। उसका विश्वास था कि राजनीतिक प्रश्नों को समझने का एकमात्र तरीका ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण करना है, इसके सहारे मनुष्य अतीत के प्रकाश में वर्तमान और भविष्य की समस्याओं का हल ढूँढ़ सकता है। व्यवहार में मैकियावेली को मुख्यतया अपने समय की समस्याओं में भी दिलचस्पी थी। उसने उनका सूक्ष्म निरीक्षण किया, फिर उनका विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाले और इतिहास द्वारा उन निष्कर्षों की पुष्टि करने का प्रयत्न किया। उसकी दिलचस्पी व्यावहारिक राजनीति में सरकार के ढाँचे तथा उसका संचालन करनेवाली शक्तियों में थी, न कि राजनीतिदर्शन में। वह आधुनिक युग का प्रथम यथार्थवादी था; उसका कहना कि राज्य को स्वयं अपने लिये जीवित रहना चाहिये, उसको चाहिये कि अपनी सुरक्षा और लाभ को ध्यान में रख कर ही कार्य करे, उसे उन अधिबन्धनों को नहीं स्वीकार करना चाहिये जो व्यक्तियों के निजी जीवन पर लागू होते हैं।

मैकियावेली का अपने पूर्वगामी लेखकों से मुख्य मतभेद यह था कि वह धर्म और नैतिकता के सम्बन्ध में उनकी धारणाओं को नहीं मानता था। उसने राजनीति तथा नैतिकता को एक दूसरे से पृथक कर दिया। राजनीतिदर्शन शताब्दियों से धर्मविद्या की एक शाखा मात्र बना हुआ था, और राजनीतिक प्रश्न मूलतः धार्मिक प्रकृति की समस्याओं के साथ उलझे रहते थे। उसने स्पष्ट रूप से नैतिक प्रश्नों को राजनीतिक जीवन और कल्याण की आवश्यकताओं के अधीन रक्खा। उसने राज्य को एक विशिष्ट मानव संस्था के रूप में ही देखा, और चर्च के सम्बन्ध में कहा कि वह उन तत्वों में से एक हैं जिनका राजनीतिज्ञ को अपनी नीति निर्धारित करते समय ध्यान रखना चाहिये। उसने राज्य की सुरक्षा और सफलता को सर्वोपरि स्थान दिया, और अन्य सब चीजों को उनके अधीन माना।

मैकियावेली ने राजनीतिक जीवन के वास्तविक तथ्यों को जानने का प्रयत्न किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि इटली के नगरों की व्यावहारिक राजनीति पर ईसाइयत के उपदेशों का तनिक भी प्रभाव नहीं है। इटली के एकीकरण की इच्छा से उसने पोपतंत्र का विरोध किया, क्योंकि वह समझता था कि एकीकरण के मार्ग में वही सबसे बड़ी बाधा है। लुटेरे आक्रमणकारियों से इटली का उद्धार करने की उसे इतनी अधिक चिन्ता थी कि इसके लिये उसने हर राजनीतिक साधन को उचित ठहराया। वास्तव में उसका सिद्धांत राज्य के पोषण का सिद्धान्त था, न कि स्वयं राज्य का सिद्धान्त।

सेवोनरोला ने नैतिक प्रभाव के द्वारा फ्लोरेंस पर शासन करने का प्रयत्न किया था किन्तु उसका प्रयोग विफल सिद्ध हुआ था। मैकियावेली ने समझ लिया कि सेवोनरोला का प्रयत्न एक निरपेक्ष आदर्शवाद का परिणाम है जिसका व्यावहारिक जगत में

प्रयोग नहीं किया जा सकता, और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शक्ति तथा कुटिल नीति ही सफल सरकार का सार हैं। उसका कहना था कि इतिहास तथा अनुभव सिखाता है कि राजनीति की कला का आधार मनुष्य का स्वार्थ है। मानव स्वभाव के विषय में मैकियावेली का दृष्टिकोण निराशावादी और अविश्वासपूर्ण था, अतः वह इस परिणाम पर पहुँचा स्वाधीनता और स्वशासन के प्रेम के पीछे व्यक्ति का भौतिक स्वार्थ छिपा रहता है, और भौतिक समृद्धि ही राजनीतिक आचरण के मूल में मुख्य प्रेरणा का काम करती है। उसने छल-कपट और विश्वासघात को उचित नहीं ठहराया, किन्तु यह अवश्य कहा कि शक्ति जिन साधनों से प्राप्त की जाती है उन्हीं के द्वारा कायम भी रक्खी जासकती है। मैकियावेली ने शक्तिशाली और योग्य शासक की सराहना की और ऐसी ढिलमिल तथा सिद्धान्तवादी नीति की निन्दा की जिससे राज्य की स्वाधीनता अथवा शासक की स्थिति ही जोखिम में पड़ जाय।

मैकियावेली ने इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि राज्य के भीतर धन के वितरण और शासन-सत्ता की स्थिति के बीच गहरा सम्बन्ध रहता है। तदनुसार उसने स्वीकार किया कि राजनीतिक संगठन का रूप विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के अनुकूल ही होना चाहिये। जिन लोगों में आर्थिक समता हो उनके लिये लोकतांत्रिक शासन अच्छा होता है। वह इस बात को मानता था कि उचित परिस्थितियों के विद्यमान होने पर लोक शासन बहुत ही लाभदायक होता है। उसके हृदय में स्पार्टा, रोम और वेनिस के ढँग के गणराज्य के लिये बड़ी श्रद्धा थी, किन्तु उसकी धारणा थी कि ऐसी शासन-व्यवस्था की सफलता के लिये आवश्यक है कि नागरिक बुद्धिमान और लोककल्याण की भावना से अनुप्रेरित हो। अभिजाततंत्र से, विशेषकर भूमि से सम्बद्ध अभिजाततंत्र से उसे घृणा थी, क्योंकि उसका ख्याल था कि इससे गुटबन्दी और आन्तरिक कलह को प्रोत्साहन मिलता है। उसका विश्वास था कि मिश्रित प्रकार की सरकार सर्वोत्तम होती है; और निर्वाचित राजतंत्र को वह अपने युग की परिस्थितियों के सबसे अधिक अनुकूल मानता था।

चूँकि मैकियावेली को इटली के एकीकरण की बड़ी फिक्र थी, इसलिये उसने इस बात पर बहुत जोर दिया कि राज्य को अपने क्षेत्र का विस्तार करना चाहिये। अपने ग्रन्थ प्रिंस (राजा) में उसने राजतंत्रीय राज्यों के प्रसार के सिद्धान्त और व्यवहार का विवेचन किया है; और डिस्कोर्सेज (वार्तालाप) का मुख्य विषय है गणराज्यों का प्रसार। मैकियावेली का विश्वास था कि राज्य को अपने क्षेत्र का विस्तार करना चाहिये, अन्यथा उसका नाश निश्चित है। वह रोम की नीति को अनुकरणीय मानता था। उसने विशाल क्षेत्रों पर सत्ता स्थापित करने और उसको कायम रखने के तरीकों की जो विवेचना की है उससे पता लगता है कि अपने समय की राजनीतिक स्थिति का उसने बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण किया था, और नैतिक सिद्धांतों से उदासीन

था। वह भौतिक बल और कुटिल नीति को, विशेषकर कुटिलनीति को, राजनीतिक महानता का मुख्य आधार मानता था।

उसके दो सुझाव ऐसे हैं जिससे उसका राजनीतिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। **प्रिंस** में उसने इस प्रश्न पर विचार किया है कि राजा के लिये क्या अच्छा है—प्रजा का उससे प्रेम करना अथवा डरना। वह लिखता है कि "यदि राजा को अपनी प्रजा की एकता और राजभक्ति कायम रखने के लिये क्रूरता का भी बर्ताव करना पड़े तो उसे इससे डरना नहीं चाहिये, क्योंकि ऐसा राजा उस शासक से अधिक दयालु समझा जायगा जो अतिशय कोमलता का व्यवहार करके रक्तपात और लूटमार को जन्म देनेवाले उपद्रवों को पनपने देता है, क्योंकि ऐसे उपद्रवों से सारे समाज की हानि होती है, जब कि क्रूर राजा के अत्याचारों[१४] से थोड़े से व्यक्तियों को ही क्षति पहुँचती है।" अन्त में वह कहता है कि प्रजा का राजा से प्रेम करना उतना अच्छा नहीं है कि जितना उससे डरना, क्योंकि "प्रेम तो लोग अपनी स्वतंत्र इच्छा से करते हैं, और डरते हैं राजा की इच्छा के कारण, अतः बुद्धिमान शासक को उस चीज का भरोसा करना चाहिये जो कि स्वयं उसके हाथों में है, न कि उसका जो दूसरों के अधिकार में है।"[१५] इसी प्रकार का दूसरा दृष्टान्त **डिस्कोर्सेज** में मिलता है। यहाँ वह सलाह देता है कि बुद्धिमान आदमी को चाहिये कि जो कार्य उसे बाध्य होकर करना पड़े उसको ऐसा दिखा कर करें मानो दयालुता के कारण कर रहा है।[१६]

मैकियावेली के विचारों की कटु आलोचना हुई। चूँकि उसके सिद्धांतों को गलत समझा गया, इसलिये उसके नाम पर एक ऐसा कलंक लग गया जो आज तक नहीं धुला है। किन्तु राजनीतिक चिन्तन में उसका जो योगदान है उसका उचित मूल्याङ्कन करना कठिन है। उसने राजनीतिक सिद्धांत और व्यवहार के बीच पुनः संयोग स्थापित किया। निरीक्षण और अनुभव मैकियावेली की पद्धति के आधार थे। इन्हीं चीजों का सहारा लेकर आगे चलकर मध्य युग की उस पद्धति का ध्वंस किया गया जिसके अनुसार वास्तविक जीवन की परिस्थितियों से पूर्णतया पृथक रहकर कोरे चिन्तन के बल पर दर्शन का निर्माण किया जाया करता था। मैकियावेली ने प्राकृतिक विधि की सर्वमान्य धारणा को त्याग दिया और सिखाया कि मानव कृत नियम ही विधि हैं जिनका निर्माण राज्य के अन्दर प्रभुत्व धारण करनेवाला व्यक्ति करता है, और जिनको शक्ति के द्वारा कायम रखा जाता है। उसने सार्वजनिक नैतिकता और वैयक्तिक नैतिकता को एक दूसरे से पृथक किया। यह एक ऐसा भेद है जो कि व्यावहारिक राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आज तक चला आ रहा है। विजय और प्रसार के पक्ष में उसने जो तर्क

१४. अध्याय 17।
१५. वहीं।
१६ I. 15.

प्रस्तुत किया उसका यूरोपीय राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों और औपनिवेषिक महत्वाकांक्षाओं पर दूरगामी प्रभाव पड़ा; और व्यावहारिक राजनीति के सम्बन्ध में उसने जो सिद्धांत निरूपित किये उन्हें यूरोपीय शासकों की नीति और राजनय के क्षेत्र में चरितार्थ किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मध्ययुगीन सिद्धान्त

मध्य युग में विश्व आधिपत्य का स्थान स्थानीय आधिपत्य ने ले लिया था, और सार्वभौम विधि के सिद्धांतों का महत्व घट गया था। मध्य युग को संगठित अराजकता का काल कहा गया है। युद्ध द्वारा झगड़ों के निपटारे को न्यायिक निर्णय का ही रूप माना जाता था, वैयक्तिक लड़ाइयों का सामान्य चलन था, डाकू और लुटेरे समुद्रिक तथा स्थल व्यापार में बाधा डाला करते थे, और सामन्ती करों तथा चुंगियों से भी व्यापार को क्षति पहुँचती थी। चर्च शांति कायम रखने और युद्ध के रूप में सुधार करने का प्रयत्न किया करता था, और शूरत्व के आदर्शों के कारण भी सामन्तों के आचरण में थोड़ा-सा मानवता का पुट बना रहता था, फिर भी जब तक राजा लोग शक्ति के बल अपने राज्य-क्षेत्रों में राजकीय न्याय की व्यवस्था स्थापित करने में सफल नहीं हुए, तब तक न तो जान माल ही सुरक्षित रहे और न व्यवस्था ही कायम हो सकी।

किन्तु एक आदर्श के रूप में विश्व आधिपत्य का सिद्धांत जीवित रहा, और पवित्र रोमन साम्राज्य विश्व सर्वोपरिता की डींग हांकता रहा, यद्यपि उसका दावा जितना अतिरंजित था उतना ही असम्भव भी था। स्थानीयता की भावना ने धीरे-धीरे विकसित होकर प्रभुत्वसम्पन्न राष्ट्रीय राजतंत्रों को उत्पन्न किया और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मार्ग तैयार किया, किन्तु साम्राज्यीय धारणा के जीवित रहने से इस प्रक्रिया में बाधा पड़ी। चर्च ने, जो कि मध्य युग के अधिकांश में राज्य से अधिक शक्तिशाली था, प्रत्येक उदीयमान राष्ट्र के साथ एक पृथक इकाई के रूप व्यवहार में किया और राष्ट्रीय भावना को मान्यता दी। साथ ही साथ अपने विश्वव्यापी संगठन द्वारा, ईसाई भ्रातृत्व की भावना पर बल देकर और समस्त योरोप के लिये एक से सिद्धान्तों का प्रचार करके उसने अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। रोमन साम्राज्य ने अपने समय के जगत के इतने बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, कि उसने अन्य किसी राज्य के वैध अस्तित्व को ही नहीं स्वीकार किया, और इसलिये वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि की व्यवस्था का विकास कराने में असमर्थ रहा था। चर्च अपने सार्वभौम आधिपत्य के दावे को कायम रखने में सफल न हो सका और स्वाधीन राज्यों के उदय ही रोक सका। और ये राज्य शक्ति में एक दूसरे के इतने समान थे कि कोई एक दूसरों पर अपनी सत्ता स्थापित करने में सफल नहीं हो सकता था। इस प्रकार के समाज में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास की सम्भावना थी। इसके अतिरिक्त, चर्च ने वैयक्तिक युद्धों को रोकने और विवादों के निर्णय में विवाचन के सिद्धांत को

लागू करने का प्रयत्न करके अन्तर्राष्ट्रीय नियमन के विचार को आगे बढ़ाया। राजाओं, उच्चकोटि के विधि वेत्ताओं और नगरों ने भी मध्ययुग में विवाचकों की हैसियत से झगड़ों का निपटारा किया, और सामन्ती सिद्धांतों ने सामन्तों को अपने अधिपतियों को न्यायाधीशों के रूप में मानने को प्रेरित किया। कहा जाता है कि १३वीं शताब्दी में केवल इटली में एक सौ झगड़ों का निपटारा विवाचन द्वारा हुआ था। १४वीं और १५वीं शताब्दियों में विवाचन का महत्व घट गया और १७ वीं शताब्दी तक तो वह लगभग लुप्त ही हो गया। शिक्षा तथा चर्च के काम-काज में लैटिन भाषा का प्रयोग होता था, इससे भी एकता को प्रोत्साहन मिला; पोप के उन प्रतिनिधियों ने जो विभिन्न कामों के लिये रोम से भेजे जाया करते थे, और पोप के उन स्थाई दूतों ने जो अनेक यूरोपीय दरबारों में रहा करते थे, राजनयिक व्यवहार के विकास में योग दिया।

सातवीं शताब्दी में ही सेवाइल के सन्त इसाडोर[१७] नामक एक चर्चजन ने **प्राकृतिक विधि** और **सार्वराष्ट्रीय विधि** के भेद को स्पष्ट कर दिया था, और इस **सार्वराष्ट्रीय विधि** का ही अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में प्रयोग किया गया। ग्रेशियन ने अपनी धार्मिक विधिसंहिता में इस भेद को समाविष्ट कर लिया, अतः वह चर्च के विधि-शास्त्र का एक सर्वमान्य सत्य बन गया। बारहवीं शताब्दी के विधिवेत्ताओं ने रोमक विधि के अध्ययन को पुनः जीवित किया, इससे स्वाधीन तथा प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों का निर्माण करनेवाली राजशक्ति के विकास की, और अन्तर्राष्ट्रीय विधि-शास्त्र के सिद्धान्तों के परिवर्धन की नींव पड़ी। सार्वभौम साम्राज्य के विचार के तिरोहित होजाने पर सामन्ती व्यवस्था में निहित प्रादेशिक प्रभुत्व का विचार भी फलीभूत हुआ, और रोमक विधि के अध्ययन से लोगों के लिये अपने राजाओं को अपने राज्यक्षेत्रों का स्वामी तथा पूर्ण प्रभु समझना स्वाभाविक हो गया।

बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दियों के **धर्मयुद्धों** ने भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। उन्होंने विभिन्न राष्ट्रों के लोगों को एक ही कार्य के हेतु एक स्थान पर एकत्र किया, विचारों के विनिमय को प्रोत्साहन दिया और ईसाई जगत की एकता के विचार को दृढ़ किया। सामन्तों के साधनों को क्षीण करके उन्होंने सामन्ती व्यवस्था के नाश में सहायता दी और इस प्रकार राजाओं तथा स्वतंत्र नगरों को लाभ पहुँचाया। उनसे व्यापार को तथा सामुद्रिक विधि-संहिताओं के निर्माण को प्रोत्साहन मिला,[१८] जिन्होंने आगे चलकर अन्तर्राष्ट्रीय विधि-शास्त्र पर प्रभाव डाला। १२वीं

१७. देखिये उसका ग्रन्थ *The Etymologies.*

१८. सबसे महत्वपूर्ण *Consolato del Mare* नाम की संहिता थी जिसका प्रकाशन १४९४ में बार्सीलोना में हुआ था। पश्चिमी यूरोप के लिये *Laws of Oleron* और बाल्टिक राष्ट्रों के लिये *Laws of Wisby* १२वीं और १३वीं शताब्दी में प्रकाशित हो चुके थे।

शताब्दी में ही मुस्लिम देशों में इटली के नगरों के व्यापारियों के हितों की रक्षा करने के लिये वाणिज्यदूत नियुक्त किये जाने लगे थे; और १३वीं शताब्दी में वेनिस ने एक राजनयिक सेवा की स्थापना करली थी और दूतों के निर्देश के लिये नियम निश्चित कर दिये थे। मध्य युग के अन्त में उदीयमान राष्ट्रीय राज्यों के शासकों ने अपने राज्यों का विस्तार तथा एकीकरण करने के उद्देश्य से इटली के नगरों की अनेक दौत्य पद्धतियों और आदर्शों को अपना लिया।

प्रारम्भिक मध्ययुग की परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास असम्भव था। चर्च तथा राज्य की प्रतिस्पर्धा और झगड़े, पेचीदा किन्तु असंघटित सामन्ती राजनीतिक व्यवस्था, विश्व-एकता का आदर्श और राज्यों तथा नगरों की स्थानीय स्वाधीनता इन सब कारणों से ऐसे प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों की धारणा न पनप सकी जो स्वाधीन तथा विधिक दृष्टि से समान हों और जिनके बीच शक्ति का सन्तुलन हो। चर्च ने ईसाई जगत की एकता पर बल देकर और मुस्लिम राज्यों के साथ विधिक सम्बन्धों को वर्जित करके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बाधा पहुँचाई। दूरदर्शी सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय ने मिस्र के सुल्तान के साथ जो न्यायपूर्ण सन्धि करली थी उसको पोप ने एक अक्षम्य अपराध माना। किन्तु पुनर्जागरण तथा धर्मसुधार से मध्ययुगीन विचार छिन्न-भिन्न हो गये। स्थानीय अव्यवस्था का उदीयमान राष्ट्रीय राजतंत्रों ने अन्त कर दिया, और पन्द्रहवीं शताब्दी में इटली के प्रमुख नगरों के पारिस्परिक सम्बन्धों में शक्ति सन्तुलन के विचार को लागू किया गया। विधिवेत्ताओं ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि की धारणाओं को विकसित किया, जिसकी परिणति गोशस के कार्य में हुई; धार्मिक तथा राजनीतिक अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का कालान्तर में परिणाम यह हुआ कि प्रथम महान् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाये गये और वैस्टफेलिया की अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियाँ हुईं।

पठनीय ग्रन्थ

Allen, J. W., *A History of Political Thought in the Seventeenth Century* (New York, MacVeagh, 1928) Part IV, Chaps. 1-2.

Bett, Henry, *Nicholas of Cusa* (London, Methuen, 1932).

Binns, L. E., *The Decline and Fall of the Medieval Papacy* (London, Methuen, 1934).

Butterfield, Herbert, *The Statecraft of Machiavelli* (London, G. Bell, 1940)

Cassirer, Ernst, *The Myth of the State* (New Haven, Yale Univ. Press, 1946)

Carlyle, A.J. & R.W., *A History of Medieval Political Theory in the West*, 6 Vols. (London, Blackwood, 1903-1936) Vol. VI, Part II.

Figgis, J. N., *From Gerson to Grotius* (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1907) pp. 1-62.

Flick, A.C., *The Decline of the Medieval Church*, 2 Vols. (London, Kegen Paul, 1930)

Gierke, Otto, *Political Theories of the Middle Ages*, trans. by F. W. Maitland (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1900)

Jacob, E. F., "Nicholas of Cusa" in F. J. C. Hearnshaw, ed., *The Social and Political Ideas of some Great Thinkers of the Renaissance and the Reformation* (London, Harrap, 1925) Chap. 2.

Laski, Harold J., *The Dangers of Obedience and Other Essays* (New York, Harper, 1930) Chap. 9.

McIlwain, C. H., *Constitutionalism, Ancient and Modern*, rev. ed. (Ithaca, Cornell Univ. Press, 1947)

Poole, R. L., *Wycliffe and Movements for Reform*, (London, Longmans, 1896)

Russel, Bertrand, *A History of Western Philosophy* (New York, Simon and Schuster, 1945) pp. 476-487.

Sabine, G. H. *A History of Political Theory*, rev. ed. (New York, Holt, 1950) Chaps. 16-17.

Troeltsch, Ernst, *The Social Teachings of the Christian Churches*, trans. by Olive Wyon, 2 Vols. (New York, Macmillan, 1931) pp. 328-382.

Whitefield, John H., *Machiavelli* (Oxford, Blackwell, 1947)

अध्याय १०

धर्मसुधार का राजनीतिक सिद्धान्त

राजनीतिक चिन्तन पर धर्मसुधार का प्रभाव

मैकियावेली ने राजनीति और धर्म को पृथक करने के लिये जो प्रयत्न किये वे प्रोटेस्टेंट धर्मसुधार के कारण कुछ काल के लिये विफल रहे। धर्मसुधार आन्दोलन ने पोपतंत्र की सर्वोच्चता को अस्वीकार किया और चर्च के क्षेत्राधिकार को विभिन्न समुदायों में विभक्त कर दिया, इस प्रकार उसने चर्च के भीतर उस प्रक्रिया को पूरा कर दिया जो साम्राज्य के भीतर पहले से ही सम्पादित हो चुकी थी। उसने राष्ट्र-भक्ति के विभिन्न तत्वों का एकीकरण और संगठन किया जिसके परिणामस्वरूप पवित्र रोमन साम्राज्य एक परम्परा मात्र रह गया। इस भाँति उसने चर्च तथा साम्राज्य के अन्दर एकता के आदर्श का नाश करने में और यूरोप को प्रादेशिक दृष्टि से पृथक राष्ट्रीय राज्यों में पुनस्संगठित करने में सहायता पहुँचाई। किन्तु मूलतः उसका रूप धार्मिक था, इसलिये उसने धर्म तथा राजनीति का पुनः गठबन्धन कर दिया जैसा कि मध्ययुग में था। सुधारकों के सिद्धान्त अनेक दृष्टि से मध्ययुगीन थे और उनकी पद्धति एक्विनास की थी न कि मैकियावेली की। चर्च का राज्य से सम्बन्ध पुनः राजनीतिदर्शन का केन्द्रीय प्रश्न बन गया। यद्यपि अब संघर्ष सम्राट तथा पोप के बीच नहीं था, किन्तु विवादग्रस्त सिद्धांत वही था। राजनीतिक सत्ता को अन्त्य रूप से ईश्वरोद्भव माना गया, और इसलिये यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया कि राजा ईश्वरीय अधिकार के आधार पर शासन करता है अतः उसकी आज्ञा का पालन करना प्रजा का धार्मिक कर्तव्य है।

सम्राट तथा पोप के बीच हुए विवाद के दौरान में दोनों ने ही दावा किया था कि हम दैवीय अधिकार से ईश्वर के अभिकर्ता के रूप में शासन करते हैं। आगे चल कर जब राष्ट्रीय राज्यों के शासकों और पोप के बीच संघर्ष हुआ तो राजाओं की शक्ति को ऊँचा ठहराया गया ताकि पोप के इस अधिकार का खंडन किया जा सके कि वह प्रजा को उसके धर्मद्रोही राजा की भक्ति की शपथ से मुक्त कर सकता था। चूँकि राजा नये राज्य के प्रभुत्व और स्वाधीनता का संरक्षक था, अतः उसे बाध्य होकर यह दावा करना पड़ा कि मेरी शक्ति भी पोप की शक्ति के समान उच्च तथा अधिकृत है, और ऐसा करने के लिये उसने ईश्वरीय अधिकारों का सहारा लिया। धर्मसुधारकों ने प्रोटेस्टेंट राजाओं की शक्ति को मजबूत करने के लिये इस सिद्धान्त का प्रयोग किया और राजा तथा प्रजा के बीच के अन्तिम संघर्ष के लिये मार्ग तैयार कर दिया। इस सिद्धान्त का अर्थ लगाया

गया कि चूँकि राजा ईश्वर प्रदत्त अधिकारों के आधार पर शासन करता है और केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, अतः वह जिस प्रकार पोप तथा अन्य अधिपतियों के अंकुश से मुक्त है उसी प्रकार अपनी प्रजा के नियन्त्रण से भी। प्रजा का कर्तव्य है कि बिना कुछ कहे सुने राजा की आज्ञाओं का पालन करे; क्रान्ति राजनीतिक अपराध तो है ही, साथ साथ ईश्वर के विरुद्ध पाप भी है। इस प्रकार ईश्वरीय अधिकार के सिद्धान्त का सरकार के राजतन्त्रीय रूप का समर्थन करने और कुछ व्यक्तियों तथा राजवंशों की शक्ति को कायम रखने के लिये प्रयोग किया गया। मध्ययुग के विचारकों ने एक सार्वभौम चर्च-राज्य की कल्पना की थी और आध्यात्मिक प्रमुख को अन्त्य शक्ति का धारणकर्ता माना था; सोलहवीं शताब्दी के आते-आते विश्व-साम्राज्य की धारणा विलुप्त होगई और उस का स्थान प्रादेशिक राज्य ने ले लिया, चर्च के मुकाबिले में राजनीतिक शक्ति का महत्व बढ़ गया।

धर्मसुधारकों ने चर्च की सम्पत्ति का विरोध किया और कहा कि चर्च का लौकिक विषयों में रुचि दिखलाना सर्वथा अनुचित है। उन्होंने पोप की सत्ता तथा पादरी वर्ग के खिलाफ आवाज उठाई और सिखाया कि व्यक्ति को चाहिये कि ईश्वर के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करे और अपने अन्तःकरण के अनुसार धर्मशास्त्रों का निर्वचन करे। लौकिक शासकों को इन प्रश्नों के धर्मतांत्रिक पहलुओं में दिलचस्पी नहीं थी, किन्तु इनमें से प्रत्येक के मूल में एक महत्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्त निहित था। ईसाई जगत के सभी भागों में चर्च के अधिकार में बहुमूल्य सम्पति, विशेषकर भूमि, थी। इसके अतिरिक्त वह प्रजा से भारी कर भी वसूल किया करता था। इसमें सन्देह नहीं कि जर्मनी और इंगलैंड के राजाओं ने चर्च की सम्पत्ति पर अधिकार करने और आर्थिक शोषण से बचने के उद्देश्य से ही मूलतः प्रोटेस्टेंट विद्रोह का समर्थन किया। चर्च की सम्पत्ति के अधिकार में आजाने से राज्य के धन में भारी वृद्धि हो गई, और जनता की एक बड़ी संख्या लौकिक सत्ता के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आ गई। और जब राजा नई धार्मिक व्यवस्था का प्रभुत्व अथवा संरक्षक बन बैठा तो उसका दैवीय अधिकार से शासन करने का दावा और भी अधिक पक्का हो गया।

सिद्धांतों की विविधता, उग्र पंथों के उदय और प्रोटेस्टेटों के वैयक्तिक विश्वास के उपदेश से उत्पन्न हुए किसान-विद्रोहों और साम्यवादी आन्दोलनों से भयभीत होकर नरम विचारों के सुधारकों ने सुधार-आन्दोलन को कट्टरपंथियों की उच्छृंखलता और अतिचारिता से बचने के लिये राजनीतिक सत्ता का दामन पकड़ा। अतः राज्य ने धार्मिक सिद्धान्तों को निश्चित करने और धर्मद्रोहियों को दंड देने का भार अपने ऊपर ले लिया, और इस प्रकार सरकार की शक्ति और भी अधिक बढ़ गई। सभी बड़े सुधारकों ने उपदेश दिया कि प्रजा को विनम्र भाव से राज्य की आज्ञाओं का पालन करना चाहिये, और सिखाया कि "जो भी शक्तियाँ हैं वे सब ईश्वर विहित हैं।"

यद्यपि धर्मसुधार का तात्कालिक फल यह हुआ कि राज्य की सत्ता को बल मिला किन्तु अन्त में उसने वैयक्तिक स्वतंत्रता और लोकतंत्र का पोषण और संवर्धन किया। धर्मसुधार के युग में ईसाइयत तथा ट्यूटन जाति की भावना में निहित व्यक्तिवाद का पुनरुद्धार हुआ। धर्मसुधारकों ने मनुष्य की मौलिक समता की घोषणा की। चर्च के पादरीवर्ग के अधिकारों पर आक्रमण करके उन्होंने सिखाया कि मनुष्य केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी हैं। उन्होंने सत्ता के सिद्धान्त का विरोध किया और अन्तःकरण की स्वतंत्रता की माँग की। वैयक्तिक अर्हा (मूल्य) के सिद्धान्त में, जो कि सोलहवीं शताब्दी का मुख्य योगदान है, स्वतंत्रता तथा स्वशासन के दर्शन का तत्व छिपा हुआ था। इस दृष्टि से धर्मसुधारकों ने पुनर्जागरण के मानवतावादियों के कार्य को जारी रक्खा। उन्होंने भी मनुष्य को व्यक्ति के रूप में देखा न कि किसी समूह के सदस्य के रूप में, और उसे मतवादों और सत्ताधारियों के चंगुल से मुक्त करके स्वतंत्रतापूर्वक सोचने और स्वयं अपना निर्णय करने का अधिकार दिया। यद्यपि धर्मसुधारकों ने मानवतावादियों से सम्बन्ध तोड़ लिया, अपने अपने पन्थ कायम किये और धर्मद्रोहियों के प्रति असहिष्णुता का बर्ताव किया, फिर भी उन्होंने पुनर्जागरण के उदार दृष्टिकोण को कभी पूर्णरूप से नहीं त्यागा। उनके विरोधियों के इस आरोप में सत्य का काफी अंश था कि "इरास्मस ने अंडा दिया और लूथर ने उसको सेया।"

सुधारकों ने उन व्यक्तियों को भी बहुत महत्व दिया जो ईश्वर के चुने हुए समझे जाते थे। ईश्वर के चुने हुए लोग अपने को दैव-अनुप्राणित और मोक्ष के लिये पहले से ही नियुक्त किया हुआ मानते थे अतः वे अपनी प्रतिष्ठा और स्वाधीनता की धाक जमाते और वैयक्तिक निर्णय तथा अंतःकरण की स्वतन्त्रता के अधिकार का प्रयोग करते। फ्रांस, इंगलैण्ड, नेदरलैंड्स, स्कॉटलैंड, और अमेरिका के प्रोटेस्टेंट सुधारकों द्वारा इन विचारों का निरूपण हुआ, और स्वतन्त्रता तथा लोकशासन की स्थापना में इनसे सबसे अधिक महत्वपूर्ण योग मिला।

धर्मसुधार के सिद्धान्त में दो विरोधी प्रवृत्तियों का समावेश था। "धर्मसुधार ने जहाँ तक सुगठित, सर्वशक्तिमान, प्रादेशिक, भृत्यतंत्रीय (ब्यूरोक्रेटिक) राज्य के निर्माण में सहायता दी और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वैयक्तिक स्वतन्त्रता को बढ़ावा दिया वहाँ तक उसे हम परिणामों की दृष्टि से आधुनिक कह सकते हैं। किन्तु जहाँ तक उसने धर्मतांत्रिक आदर्शों, धर्मतांत्रिक राजनीति का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया और सरकार के रूप के सम्बन्ध में पुनः धर्मशास्त्रों को प्रमाण घोषित किया वहाँ तक मानना पड़ेगा कि उसने पूर्व मध्ययुग के उन आदर्शों को जो अरस्तू और पुनर्जागरण के संयुक्त प्रभाव के कारण विलुप्त हो रहे थे, पुनर्जीवित करने में सहायता पहुँचाई।"[1]

1. J. N. Figgis, *from Gerson to Grotius* (1907), p. 24.

१६वीं शताब्दी के मध्य तक उत्तरी जर्मनी, स्कैंडेनेवियाई राज्यों, इंगलैंड, स्कॉटलैंड और स्विट्जरलैंड के एक बड़े भाग ने पोप से लगभग पूर्णतया सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और प्रोटेस्टेंट धर्म के प्रभाव में आगये। यद्यपि फ्रांस और नैदरलैंडस् में प्रोस्टे-स्टेंट विचारों को विधिक मान्यता नही मिली किन्तु इन देशों में उनकी काफी प्रगति हो चुकी थी। पश्चिमी यूरोप के अन्य देश रोमन कैथोलिक धर्म पर ही डटे रहे। प्रति धर्म-सुधार आन्दोलन ने चर्च के भीतर पोप की स्थिति को मजबूत कर दिया और धार्मिक सिद्धान्तों की एकता स्थापित कर दी थी। जैसुइट संघ की स्थापना हो चुकी थी और उसकी आक्रामक कार्यवाहियाँ प्रारम्भ होगई थीं। इस प्रकार प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक दलों के मध्य संघर्ष का रास्ता साफ होगया था। इस प्रक्रिया में धर्मसुधार सिद्धांत के धर्मतांत्रिक पहलुओं का महत्व कम हो गया और राजनीतिक सिद्धान्तों ने प्रमुखता प्राप्त कर ली।

लूथर

यह स्वाभाविक ही था कि धर्मसुधार, जो अपेक्षाकृत अधिक आन्तरिक और आध्यात्मिक प्रकार की आराधना के पक्ष में था, जर्मनी में आरम्भ हुआ, क्योंकि उस देश में ट्यूटन जाति के वैयक्तिक स्वातंत्र्य प्रेम और मस्तिष्क की चिन्तनशील और रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का सब से अधिक प्रभाव था। जब कि यूरोप के अधिकतर देश भौगोलिक अनुसन्धानों और धन तथा साम्राज्य की खोज में संलग्न थे उस समय जर्मनी के एक भिक्षु ने एक धार्मिक विवाद खड़ा कर दिया; उस विवाद में कट्टरता के साथ मानवतावादियों के तर्क का अनुसरण किया गया और विकलिफ तथा हुस की पद्धतियों से काम लिया गया, और अन्त में उसके परिणामस्वरूप यूरोप दो धार्मिक खेमों में विभक्त हो गया जिस का राजनीतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर दूरगामी भी प्रभाव हुआ।

मार्टिन लूथर (१४८३–१५४६)[२] का राजनीतिक चिन्तन को सबसे बड़ा योगदान यह था कि उसने राजनीतिक तथा आध्यात्मिक सत्ता को एक दूसरे से पृथक माना, धार्मिक शक्ति की अपेक्षा लौकिक शक्ति को अधिक महत्व दिया, और समाज तथा राज्य में बिनम्र आज्ञापालन को व्यक्ति का परम कर्तव्य बतलाया। विकलिफ तथा दान्ते का अनुसरण करते हुए लूथर ने राजनीतिक सत्ता को धार्मिक सत्ता से उच्च ठहराया; और मार्सीलिउस तथा ओकम की भाँति पोप के वजाय चर्च की महापरिषद को चर्च की सत्ता का स्रोत माना। उसने पादरी वर्ग का विरोध किया और चर्च की धार्मिक विधि-व्यवस्था का (कैनन लॉ) खंडन किया। उसका कहना था कि चर्च की विधि धर्म-

२. मार्टिन लूथर के राजनीतिक विचार मुख्यतया उसकी निम्नलिखित रचनाओं में मिलते हैं: *Liberty of a Christian Man; Letter to the German Nobility; Of Secular Authority: How far is Obedience Due It?;* और *Table Talk.*

शास्त्रों के विरुद्ध है, और चर्च ने लौकिक शक्ति तथा सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये उसे गढ़ लिया है। पोप के विरुद्ध संघर्ष में उसने इटलीवासियों के खिलाफ जर्मन राष्ट्रीय भावनाओं को उभाड़ा और रोम के आर्थिक शोषण के विरुद्ध जर्मनी में जो असन्तोष था उसको प्रोत्साहित किया।

लूथर के विचारों में संगति नहीं थी। प्रारम्भ में उसका उद्देश्य चर्च के कुछ विशिष्ट दोषों को दूर करना था, सामान्य पुनर्निर्माण की कोई योजना उसके सामने नहीं थी। किन्तु घटना-चक्र कुछ ऐसा चला कि वह सुधार आन्दोलन का केन्द्र बन गया, और उसे अपने सिद्धान्तों में परिवर्तन करना पड़ा। इसी प्रकार जब जर्मनी के प्रोटेस्टेंट राजाओं ने सम्राट चार्ल्स पञ्चम के खिलाफ विद्रोह खड़ा कर दिया तो उसका विनम्र आज्ञापालन का सिद्धान्त खटाई में पड़ गया; और उसे बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ा कि ईसाइयों को आत्मरक्षा का अधिकार है, विशेषकर अत्याचारी शासक के विरुद्ध। अतः यदि सम्राट कानूनों की अवहेलना करता है तो उसकी प्रजा उसकी आज्ञाओं का पालन करने के लिये बाध्य नहीं की जा सकती। आगे चलकर जब दैवीय अधिकार के सिद्धान्त के विरुद्ध क्रान्तियाँ हुई तो उस समय लूथर के इस सिद्धान्त से महत्वपूर्ण सहायता मिली।

इसी प्रकार लूथर के लिये एक और उलझन खड़ी होगई। कुछ सामाजिक तथा आर्थिक कारणों से स्विटजरलैंड से लेकर बल्टिक सागर तक के किसानों में विद्रोह की ज्वाला धधक रही थी। लूथर ने लौकिक शासकों के कुकृत्यों की जो निन्दा की उससे वह ज्वाला और भी अधिक प्रज्वलित हो उठी। लूथर ने पहले तो नरम तरीकों से काम लेने की सलाह दी, किन्तु अन्त में किसानों की अतिचारिता से घबड़ा कर उसने जर्मन शासकों का पूरी तरह से समर्थन किया और जनता के विद्रोह को कुचल देने के लिये उन्हें प्रेरित किया। किसानों की शिकायतों से तो उसे सहानुभूति थी, किंतु वह सरकार की सत्ता के प्रतिरोध के पक्ष में नहीं था और न यही चाहता था कि उसके सिद्धान्तों का हिंसात्मक कार्यों के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाय। समता के सिद्धान्त से उसे कोई सहानुभूति नहीं थी। बल्कि राज्य के भीतर असमानता को उसने आवश्यक ठहराया।

उधर जब सुधार-आन्दोलन के दौरान में कुछ अतिवादी पंथ उठ खड़े हुए तो उसने अपने इस मूल सिद्धान्त में कि राजाओं को धार्मिक विश्वासों के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये, संशोधन कर लिया, और बाध्य होकर राजनीतिक शासकों को सहिष्णुता की सीमाएँ निश्चित करने और धर्म-द्रोह का दमन करने के लिये शक्ति का प्रयोग करने का अधिकार दे दिया। लूथर को मठों के आदर्श पसन्द नहीं थे, अतः उसके प्रभाव से लोग दरिद्रता के जीवन से घृणा करने और भौतिक सफलता पर बल देने लगे; मध्ययुगीन तथा आधुनिक दृष्टिकोणों में यह एक विशेष अन्तर है। इससे उसके इस विचार को भी उचित ठहराने में सहायता मिली कि राज्य के अतिरिक्त अन्य किसी सामाजिक संगठन का अस्तित्व नहीं होना चाहिये। समुदायों के समुदाय की सामन्ती

धारणा के स्थान पर केन्द्रीयकृत प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों का आधुनिक आदर्श प्रतिष्ठित हुआ।

लूथर का दृष्टिकोण तत्वतः व्यावहारिक था और जर्मनी की स्वाधीनता तथा धर्मसुधार आन्दोलन की सफलता उसके मुख्य उद्देश्य थे। यही कारण था कि उसने जर्मन राजाओं का साथ दिया, क्योंकि वे ही उसके उद्देश्य को पूरा कर सकते थे; और इस प्रकार, वैयक्तिक स्वतंत्रता का प्रेमी होते हुए भी, उसने निरंकुशतंत्र को बढ़ावा दिया। वह राज्य को पवित्र समझता था और शासक को केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी मानता था। इन सिद्धान्तों को व्यवहार में कार्यान्वित करके धर्मसुधारकों ने सदैव के लिये लोगों के मस्तिष्क में चर्च की सत्ता के स्थान पर राज्य के प्रभुत्व का विचार स्थापित कर दिया। राज्य की सीमाओं के भीतर विधि की सर्वोच्चता का आदर्श सर्वत्र विजयी हुआ, और पादरीगण भी उसके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आ गये। पहले सम्राट तथा चर्च का प्रतिरोध करना अनुचित माना जाता था, अब उसी सिद्धान्त को लूथर ने राज्यों के शासकों तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में लागू किया और इस प्रकार राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त को स्थायित्व प्रदान किया। उसने धर्मशास्त्रों के शाब्दिक निर्वचन पर जोर दिया, परिणाम यह हुआ कि शास्त्रों में लौकिक सत्ता का प्रतिरोध करने के विरुद्ध जो उपदेश थे वे कई शताब्दियों तक राजतंत्र का समर्थन करनेवाले लेखकों का मुख्य आधार बने रहे। लूथर ने राज्य को स्वतः पवित्र माना जिससे आगे चलकर हीगेल तथा वर्तमान काल के जर्मन राजनीतिशास्त्रियों को राज्य की सर्वोच्चता का सिद्धांत प्रतिपादन करने में बड़ी सहायता मिली। राज्य के शुद्ध लौकिक सिद्धांत हमें काल्विन के अनुयायियों तथा जैसुईटों के उपयोगितावादी सिद्धान्तों के द्वारा प्राप्त हुआ है।

मैलंक्थन

लूथर का शिष्य फिलिप मैलंक्थन (१४९७-१५६०)[3] धर्मसुधार सिद्धान्त की मुख्य बातों में अपने गुरु से सहमत था, किन्तु उसका स्वभाव तथा दृष्टिकोण भिन्न प्रकार के थे। वह अध्ययनशील तथा एकान्तप्रिय था, न कि व्यावहारिक और आक्रामक। वह उदार तथा मानवतावादी भावना का प्रतिनिधि था और प्राचीन यूनान तथा रोम के ज्ञान में उसकी विशेष रुचि थी। उसने अरस्तू के दर्शन तथा सामान्य विधि का, जिनका लूथर ने खंडन किया था, खुल कर प्रयोग किया। मैलंक्थन बाइबिल की शिक्षाओं के आधार पर नैतिक तथा राजनीतिक दर्शन के सार्वभौम सिद्धांतों की रचना करना चाहता था। उस काल के राजनीतिक चिन्तन को उसका मुख्य योगदान यह था कि उसने प्राकृतिक विधि पर बल दिया, और इस प्रकार प्रोटेस्टेंट लोगों को भी

मैलंक्थन के राजनीतिक विचारों के लिये देखिये उसकी *Opera*, Vol. XVI, ed. by C. G. Bretschneider and H. E Baidsel.

सरकार तथा विधि की परख के लिये वही कसौटी प्रदान की जिसका प्रयोग पहले गैर-ईसाई तथा कैथोलिक लेखकों ने किया था।

मैलंक्थन का मत था कि प्राकृतिक विधि में कुछ तो ऐसे सिद्धान्त सम्मिलित हैं जिनका बीज स्वयं ईश्वर ने मनुष्य के मस्तिष्क में बोरक्खा है और कुछ ऐसे हैं जो स्वयं मनुष्य के स्वभाव का परिणाम हैं। इन दोनों में से किसी भी स्रोत से निकले हुए कानून और संस्थाएँ प्राकृतिक और उचित हैं। राज्य इसलिये उचित है कि वह धर्म-शास्त्रों में व्यक्त ईश्वर की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है और मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का परिणाम है। इसलिये स्वभाव से राज्य ईश्वरीय है और उसे विस्तृत शक्तियाँ मिली हुई हैं। मैलंक्थन का विश्वास था कि धर्म का परिवर्धन करना राज्य का कर्तव्य है, अतः उसे मिथ्या प्रकार की पूजा का निषेध करना और धर्मद्रोह का दमन करना चाहिये। उसने राज्य द्वारा चर्च की सम्पत्ति को जप्त करना उचित ठहराया और तर्क यह दिया कि यदि सम्पत्ति का स्वामी उसका दुरुपयोग करे तो राज्य को ऐसी सम्पत्ति छीन लेने का अधिकार है। उसने दास-प्रथा का समर्थन किया, और किसानों के विद्रोह से उसे कोई सहानुभूति नहीं थी।

लूथर की भाँति मैलंक्थन ने भी मठों के आदर्शों का विरोध किया और उन्हें ईसाई समाज की एकता तथा समता के प्रतिकूल ठहराया। उसने यह भी कहा कि चर्च के शासकों को दंड देने का अधिकार नहीं है क्योंकि कानून बनाना आध्यात्मिक सत्ता का काम नहीं है। उसका विश्वास था कि वास्तविक सामुदायिक जीवन राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव हो सकता है, और चर्च को उसने स्पष्ट रूप से राजनीतिक सत्ता के अधीन स्थान दिया। मैलंक्थन राष्ट्रीय आदर्श का समर्थक था। उसने सार्वभौम साम्राज्य के विचार का खंडन किया और कहा कि संसार को पृथक तथा स्वतन्त्र राज्यों के आधार पर संगठित किया जाना चाहिये। उसने राजतंत्रीय शासन-व्यवस्था का समर्थन किया, राजाओं के दैवीय अधिकार के सिद्धांत को माना और विनम्र आज्ञा पालन का उपदेश दिया। लूथर की भाँति उसके विचारों में भी असंगतियाँ मिलती हैं, और इसका कारण यह था कि उस काल के चिन्तन में स्थिरता और व्यवस्था का अभाव था। उसकी कुछ रचनाओं से प्रकट होता है कि वह दैवीय अधिकार और विनम्र आज्ञा-पालन के सिद्धांतों से उत्पन्न उत्पीड़न और अत्याचार के खतरे से अवगत था, और यदि शासक अत्याचारी हों अथवा कैथोलिक शासक प्रोटेस्टेंट प्रजा पर शासन करते हों, तो वह प्रतिरोध के अधिकार का समर्थन करने को तैयार था। अपने अन्तिम दिनों में मैलंक्थन स्वतंत्र नगरों के संगठन से बहुत प्रभावित हुआ और राजतंत्र की अपेक्षा अभिजाततंत्र को सरकार का सर्वोच्च रूप मानने लगा था।

ज़्विंगली

स्विटज़रलैंड के निवासी अपने उन सैनिकों के द्वारा, जिन्होंने किराये पर इटली

की लड़ाइयों में भाग लिया था, पोप के विलासी जीवन और राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं से भली-भाँति परिचित हो गये थे। पन्द्रहवीं शताब्दी में स्विस लोगों ने धीरे-धीरे चर्च की सत्ता सीमित करदी थी और पादरियों पर लौकिक न्यायालयों का क्षेत्राधिकार स्थापित कर दिया था। सामान्यतया लोग चर्च में सुधार करने की आवश्यकता का अनुभव करने लगे थे। जिस समय लूथर ने जर्मनी में अपना आन्दोलन प्रारम्भ किया उसी समय स्विटज़रलैंड के जर्मनभाषी प्रदेशों में उलरिख ज़्विंगली (१४८४-१५३१)[४] ने रोम के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया। ज़्विंगली लूथर से कहीं अधिक मानवतावादी और उग्र था। उसे पुराने रोमन और यूनानी साहित्य से प्रेम था और मनुष्य के मूल पाप के सिद्धांत के विषय में उसके विचार उदार थे, इसीलिये लूथर उसे गैर-ईसाई कह कर पुकारता था। उसकी लूथर की अपेक्षा राजनीति में अधिक और धर्मविद्या में कम दिलचस्पी थी। सच तो यह है कि धर्मसुधार में उसने जो इतना उत्साह दिखलाया उसके पीछे उसकी अपने देश के कल्याण की भावना छिपी हुई थी।

स्विटज़रलैंड के धर्मसुधार आन्दोलन ने सुधारकों तथा पुराने अल्पतंत्रीय वर्ग के बीच संघर्ष का रूप ले लिया। सुधारक दल लोकतंत्र का पक्षपाती था और विदेशी प्रभाव से उत्पन्न नैतिक पतन को रोकना और गिरती हुई देश भक्ति की भावना को पुनः जाग्रत करना चाहता था, इसके विपरीत अल्पतन्त्रीय दल किराये पर लड़ने की प्रथा से और उसके लिये पोप से मिलनेवाली पेंशनों से चिपटा रहना चाहता था। ज़्विंगली के दल ने धार्मिक आधार पर राष्ट्रीय सुधार के लिये संघर्ष किया।

स्विटज़रलैण्ड में धर्मसुधार पहले से स्थापित सरकारी सभाओं के द्वारा सम्पादित किया गया; और उन्हीं ने अपने कार्यों द्वारा ज़्विंगली के विचारों को विधिक रूप दिया। अतः ज़्विंगली ने इस बात का समर्थन किया कि समाज को धार्मिक तथा नागरिक दोनों प्रकार के जीवन का नियमन करने का अधिकार है। इस प्रकार चर्च तथा राज्य मिल गये और एक एकीकृत व्यवस्था स्थापित होगई। स्थापित सत्ता की आज्ञाओं का पालन करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया, और कहा गया कि धर्मद्रोह का दमन करना राज्य का अधिकार है। स्वयं ज़्विंगली के नगर ज़ूरिख में एनाबैप्टिस्ट (दुबारा बपतिस्मा दीक्षा लेनेवाले) सम्प्रदाय के लोगों का इसलिये उत्पीड़न किया गया कि वे धर्मशास्त्रों का अपनी बुद्धि से निर्वचन किया करते थे। किन्तु जब पुराने (कैथोलिक) धर्म पर डटे रहनेवाले कैंटनों ने भी इसी प्रकार के अधिकार का प्रयोग किया और ज़्विंगली के अनुयायियों पर कैथोलिक धर्म लादने की कोशिश की तो ज़्विंगली ने उनका विरोध किया और इसी संघर्ष में मारा गया।

स्विटज़रलैंड के लोकतांत्रिक राजनीतिक वातावरण और पुराने यूनानी तथा

४. देखिये उसके *Selected Works, ed.* by S. M. Jackson.

रोमन लेखकों के प्रभाव के कारण ज़्विगली ने राजनीतिक संगठन के सम्बन्ध में लूथर तथा मैलंक्थन से भिन्न विचारों को अपनाया। दैवीय अधिकारों पर आधारित राजतंत्र और विनम्र आज्ञा पालन का उसने खंडन किया और एक ऐसे ईसाई समधिराज्य (कॉमनवैल्थ) की कल्पना की जिसमें सभी धर्मनिष्ठ व्यक्ति राजनीतिक सत्ता की स्थापना करने और उसका संचालन करने में सहयोग दें। आदिम ईसाइयत की भावना से ओतप्रोत लोकतांत्रिक राज्य ज़्विगली का राजनीतिक आदर्श था।

काल्विन

राजनीतिक चिन्तन में योग देने की दृष्टि से जॉन काल्विन (१५०९-१५६४)[५] सबसे बड़ा सुधारक था। काल्विन ने वकालत की शिक्षा पाई थी। संशोधित धर्म के लिये उसने सिद्धान्तों की एक विशद तथा तर्कसंगत व्यवस्था का निर्माण किया जिसमें फ्रांसीसी विचारकों की स्पष्टता एवं निष्पक्ष भावना देखने को मिलती है, और जिसकी तुलना उस व्यवस्था से की जा सकती है जिसका निर्माण सन्त टॉमस एक्विनास ने रोमन कैथोलिक चर्च के लिये किया था। उसने धर्मशास्त्रों के वैयक्तिक निर्वचन के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया, और वह धर्मसुधार से उत्पन्न क्रान्तिकारी सामाजिक सिद्धान्तों से भी डरता था। उसने व्यवस्था तथा सत्ता की विधिक धारणा के आधार पर ईसाई धर्म की एक पूर्ण सांगोपांग तथा समरूप व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। उसने चिन्तन तथा इच्छा को, अपने जीवन तथा दूसरों के जीवन को और चर्च तथा राज्य को विधि की अधीनता में लाने की कोशिश की। काल्विन की सुव्यवस्थित समधिराज्य की धारणा पर मूसा की विधिसंहिता का भारी प्रभाव था, और यह प्रभाव उसके धर्मतांत्रिक तत्व तथा ब्यौरे की चीजों—दोनों पर भी देखने को मिलता है।

काल्विन ने ज़्विगली के इस विचार का खंडन किया कि चर्च तथा राज्य का एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत एकीकरण किया जाय। काल्विन का सिद्धान्त था कि सरकार के लौकिक और आध्यात्मिक क्षेत्र एक दूसरे से पूर्णतया पृथक हैं। उसने कहा कि चर्च का उसकी अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुसार संगठन किया जाना चाहिये, प्रत्येक समाज (कांग्रीगेशन) की अन्त्य सत्ता वयोवृद्धों के एक निकाय में निहित हो, और उसके कार्य आध्यात्मिक विषयों तक ही सीमित हों। उसका मत था कि राज्य भी उतना ही आवश्यक है जितना कि चर्च। राज्य का कर्तव्य है कि अपने सदस्यों से शारीरिक कल्याण का ध्यान रक्खे, व्यवस्था तथा सम्पत्ति की रक्षा करे, और विशेषकर धर्म तथा पवित्र जीवन का परिवर्धन करे।

५. काल्विन के राजनीतिक विचार उसके ग्रन्थ *Institutes of the Christian Religion* (1535), Bk IV में मिलते हैं। देखिये एच० बीवरिज (H. Beveridge) का अनुवाद, Vol. III.

कात्विन का कहना था कि चूँकि राज्य का मुख्य काम सार्वजनिक पूजा को प्रोत्साहन देना और धार्मिक हितों का परिवर्धन करना है, इसलिये प्रत्येक ईसाई का कर्तव्य है कि इन उद्देश्यों को पूरा करने में राज्य की सहायता करे। सरकार की आज्ञा का पालन करना धार्मिक कर्तव्य है, और किसी व्यक्ति को राज्य का प्रतिरोध करने का अधिकार नहीं दिया जासकता। किन्तु साथ ही साथ काल्विन ने यह भी सिखाया कि मान्यता-प्राप्त सरकारी संस्थाएँ, उदाहरण के लिये विभिन्न वर्गों की प्रतिनिधि सभाएँ, अत्याचारी राजाओं का प्रतिरोध कर सकती हैं, और ईसाइयों के लिये अवैध शासकों के खिलाफ अधिकृत नेताओं की अधीनता में शस्त्र उठाना उचित और वैध है। इसके अतिरिक्त, यदि राजा की आज्ञाएँ ईश्वरीय आदेशों के विरुद्ध हों तो प्रजा को उसकी इच्छा की अवहेलना करने का भी अधिकार है। काल्विन के इन उपदेशों में स्थापित राज्य का प्रतिरोध करने का कुछ आधार विद्यमान था जिसका आगे चलकर उसके अनुयायियों ने प्रयोग किया।

किन्तु सामान्यतया काल्विन का यही उपदेश था कि सरकार की आज्ञाओं का पालन किया जाय। लूथर ने व्यक्ति के अंतःकरण को जो महत्व दिया था उससे उग्र विघटनकारी प्रवृत्तियों को ही प्रोत्साहन मिला था, अतः काल्विन ने सरकार की आवश्यकता और विधि की सत्ता पर बल दिया और ईसाइयों के लिये प्रशासकों की आज्ञाओं के पालन को इतना अधिक आवश्यक ठहराया। काल्विन का दृष्टिकोण सत्ता-वादी था, और स्वतंत्रता में उसे विश्वास नहीं था। उसे भीड़ से भारी घृणा थी, और अभिजाततंत्रीय ढँग की शासन-प्रणाली को पसन्द करता था। उसका दृष्टिकोण उस शक्तिशाली शासक के समान था जो अपनी समरूप और नियमित व्यवस्था में किसी प्रकार की बाधाओं को नहीं सह सकता।

फ्रांस से निकाले जाने के बाद काल्विन जिनेवा में बस गया। वहाँ का शासन उसके हाथों में आगया और एक प्रकार से अधिनायक बन बैठा। वहाँ उसने अपने और अभिजाततंत्रीय राजनीतिक विचारों को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया। किन्तु उस छोटे से नगर-राज्य में वह अपने सिद्धांत के अनुसार धार्मिक तथा राजनीतिक सत्ता को एक दूसरे से पृथक न रख सका; व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव भी न था। नैतिक संहिता को विधि का आधार बनाया गया, संन्यासियों के-से जीवन का विधान किया गया और उससे विचलित होनेवालों के लिये कठोर दंड निश्चित किया गया और लौकिक सत्ता को चर्च की परिषद के कार्यकलाप का साधन बनाया गया। एक अल्पतंत्रीय गुट का, जिसका कार्यकाल स्वयं उसकी इच्छा पर निर्भर था, चर्च तथा राज्य दोनों पर नियंत्रण स्थापित हो गया, एक कठोर व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन की छोटी से छोटी बातों को नियमित किया गया, और विरोधी विचारों को कुचल दिया गया, यहाँ तक कि धर्मद्रोही के लिये मृत्यु दंड निश्चित किया गया।

कॉल्विन के विचारों को अन्य सुधारकों के विचारों के मुकाबिले में अधिक व्यापक मान्यता मिली। फ्रांस, हालैंड, स्काटलैंड और इंगलैंड के प्रोटेस्टेंटों ने काल्विन के आदर्शों का ही अनुसरण किया। इन देशों में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ थीं कि उसके अनुयायियों को सरकार का विरोध करना पड़ा, अतः काल्विन के सिद्धान्तों को स्वतंत्रता का समर्थक और पोषक माना जाने लगा। यह दिलचस्पी की बात है कि लूथर को स्वतन्त्रता से वास्तविक प्रेम था, किन्तु उसके कार्यों से निरंकुशवाद को प्रोत्साहन मिला। किसानों के विद्रोह तथा अनाबेप्टिस्टों की अति से घबड़ा कर लूथर ने लौकिक शासकों का सहारा लिया, और इस प्रकार सर्वशक्तिमान लौकिक शासक के राज्य-धर्म के साथ उसके नाम का सम्बन्ध जुड़ गया। काल्विन स्वभाव से व्यवस्था और सत्ता का पुजारी था और उसके सिद्धान्त वैयक्तिक स्वतन्त्रता के किसी आदर्श पर आधारित नहीं थे, किन्तु उसके अनुयायियों के कारण उसके नाम का आधुनिक लोकतंत्र और स्वतंत्रता के साथ सम्बन्ध स्थापित होगया।

इसका मुख्य कारण यह था कि जिन लोगों ने काल्विन के सिद्धान्तों को अंगीकार किया, उनका अपने-अपने राज्यों में अल्पमत था और उन्हें सरकार के अत्याचार सहने पड़े थे, अतः उन्हें अत्याचारियों का विरोध करना पड़ा। नैदरलैंड्स और फ्रांस में यही हुआ और काल्विन के अनुयायियों को विरोध का एक सैद्धान्तिक आधार ढूँढ़ना पड़ा। इंगलैंड में भी काल्विन के सिद्धान्तों को माननेवाले अल्पसंख्यक थे। उन्होंने दमन का डटकर मुकाबिला किया और स्वतन्त्रता की ज्योति को बुझने नहीं दिया। काल्विनी पंथों ने अपने अस्तित्व के लिये जो संघर्ष किया, उसी ने वास्तव में उन्हें एक ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित करने पर बाध्य किया जिससे कि निरंकुश सरकार की सत्ता पर अंकुश लगाया जासके। सिद्धान्ततः काल्विन के अनुयायी धार्मिक मामलों में लौकिक हस्तक्षेप के विरोधी थे, अतः जब उन पर शासन करनेवाले राजाओं ने उनके सिद्धान्तों पर आक्रमण किया तो वे आधुनिक स्वतन्त्रता के रक्षक बन गये। फ्रांस, नैदरलैंड्स, स्काटलैंड और इंगलैंड में उन्होने ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित किये जिनसे कि ईश्वर के चुने हुए व्यक्तियों के अधिकार सुरक्षित रखे जायँ, राज-सत्ता की निश्चित सीमाएँ बाँध दी जायँ और राजा तथा प्रजा दोनों ही एक उच्चतर अलौकिक विधि का पालन करते हुए जीवन बिताएँ।

लूथर और ज़्विंगली ने चर्च को राज्य के अधीन रखने का प्रस्ताव किया, लौकिक शासकों को धार्मिक सिद्धांतों तथा अनुष्ठानों के सम्बन्ध में निर्णय करने का अधिकार दिया और अपने धर्म को राज्य-धर्म बना दिया, किंतु इसके विपरीत काल्विन ने चर्च तथा राज्य के कार्य क्षेत्रों की स्पष्ट सीमाएँ अंकित करदीं, और चर्च के विशेष कार्यों को राजनीतिक सत्ता के सुपुर्द करने को कभी सहमत नहीं हुआ। अतः जहाँ-जहाँ काल्विन के सिद्धांतों का प्रचार हुआ वहाँ उसके अनुयायी धर्म तथा अन्तःकरण के मामलों में

हस्तक्षेप करनेवाले शासकों का प्रतिरोध करने में नहीं हिचकिचाए। इस भेद ने ही अन्त में नागरिक तथा धार्मिक दोनों प्रकार की स्वतंत्रता की स्थापना में सहायता की। इसने राज्य को धार्मिक मामलों में अपना क्षेत्राधिकार कायम करने और धार्मिक नियमों को कार्यान्वित करने की शक्ति को हस्तगत करने से रोका। इसने काल्विन पंथी अल्पसंख्यकों को इस बात का अधिकार दिया कि यदि राजनीतिक शासक उन पर राज्य-धर्म की पूजा-पद्धति बलपूर्वक लादने का प्रयत्न करें तो वे उसका विरोध कर सकें।

चूँकि काल्विन के चर्च का संगठन गणतांत्रिक ढंग का था, इसलिये उसके सिद्धांतों ने राजनीतिक स्वतंत्रता के विकास में भी योग दिया। मतावलम्बियों की पूरी जमात पादरियों के चुनाव में महत्वपूर्ण भाग लेती थी, और चर्च की शक्ति में पादरियों के साथ गैर-पादरियों का भी साझा था। जिन देशों में काल्विन के सिद्धांतों को राज्य की शत्रुता का शिकार होना पड़ा वहाँ उसकी लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों का विशेष रूप से विकास हुआ। जो लोग चर्च के मामलों में स्वशासन के अभ्यस्त होगये थे उन्होंने राज-नीतिक क्षेत्र में भी उसी प्रकार के विशेषाधिकारों की माँग की। न्यू इंगलैंड के उपनिवेशों में इस विचार ने विशेष रूप से महत्वपूर्ण रूप धारण कर लिया।

साम्यवादी धार्मिक समुदाय

ईसाइयत का प्रारम्भ से ही समाजवादी विचारों के साथ सम्बन्ध था। उसने सिखाया कि ईश्वर की निगाह में सभी मनुष्य समान हैं, और आध्यात्मिक उन्नयन के लिये ऐच्छिक दरिद्रता का विशेष महत्व है। मध्ययुग में उसने बतलाया कि निजी सम्पत्ति का जन्म मनुष्य के पतन के परिणामस्वरूप हुआ, और सामुदायिक स्वामित्व को उसने आदर्श माना। विभिन्न भिक्षु-संघों ने इस आदर्श को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया, किंतु सफलता नहीं मिली। अनेक विद्रोही पंथों ने भी सम्पत्ति के समानीकरण को अपने धर्म का अंग माना।[९] बारहवीं शताब्दी का वोल्डेंस और तेरहवीं का एपोस्टोलीकन सम्प्रदाय इस संबंध में विशेषकर उल्लेखनीय हैं। दोनों का ही दावा था कि हम प्रार-म्भिक चर्च के सिद्धांतों पर अमल करते हैं। जो लोग अपनी सामाजिक और आर्थिक स्थिति से असंतुष्ट थे और साम्यवाद की ओर झुके हुए थे उन्होंने विकलिफ तथा हुस के सिद्धांतों को सरलता से आत्मसात कर लिया; और इंगलैंड तथा बोहीमियों के १४वीं शताब्दी के किसान-विद्रोह स्पष्टतया लोकतांत्रिक और समाजवादी आदर्शों को लेकर उठ थे। कहा गया है कि बारहवीं शताब्दी से लेकर आगे जिन साम्यवादी सम्प्रदायों का उदय हुआ उनमें मुख्यतया जुलाहे सम्मिलित थे, और इस धन्धे की जो विशेषता थी उससे इस विचार को विशेष प्रोत्साहन मिला कि सम्पत्ति सामूहिक रूप से मजदूर-संघों के हाथों में होनी चाहिये।

९. देखिये Bede Jernett, *Medieval Socialism* (1935).

बोहीमियाँ से साम्यवादी आन्दोलन जर्मनी में फैला। जर्मनी में किसान सामन्ती करों के बोझ और चर्च की लूट-खसोट से दबे हुए थे, और नगरों में शक्तिशाली श्रेणियों तथा पूँजीपतियों के निगम मजदूरों का शोषण करते थे[७]। यह आर्थिक असन्तोष छुट-पुट विद्रोहों के रूप में उमड़ रहा था, लूथर के सिद्धान्तों ने उसे उत्तेजना की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया, और फलस्वरूप किसानों का युद्ध उठ खड़ा हुआ। किसानों में संगठन और अस्त्र-शस्त्रों की कमी थी, इसलिये राजाओं के प्रशिक्षित सैनिकों के मुकाबिले में उन्हें हार खानी पड़ी। किन्तु अनाबैप्टिस्ट सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के रूप में साम्यवादी विचार जीवित रहे। नैदरलैंडस में इस सम्प्रदाय के लोगों की संख्या सबसे अधिक थी। उनके सिद्धान्तों को धर्म के विरुद्ध बतलाया गया और उन पर अनैतिक आचरण का आरोप लगाया गया। परिणामस्वरूप, उनको नृशंस उत्पीड़न का शिकार होना पड़ा।

१५२६ ई० के लगभग अनाबैप्टिस्ट लोग बड़ी संख्या में मोराविया चले गये और वहाँ उन्होंने लगभग एक शताब्दी तक अपना साम्यवादी संगठन कायम रक्खा। उन्हें विद्वत्ता से घृणा थी, किन्तु शारीरिक श्रम का बड़ा आदर करते थे। सम्पत्ति पर पूरे सम्प्रदाय का अधिकार होता था, और निजी परिवार की प्रथा का उन्मूलन कर दिया गया था। समाज बड़ी-बड़ी गृहस्थियों में बँटा हुआ था जिनमें सैकड़ों व्यक्ति हुआ करते थे। समाज के मुखिया लोग विवाहों की व्यवस्था करते थे, बच्चों को छोटी आयु में भी माता-पिता से अलग कर दिया जाता था। सार्वजनिक प्रशिक्षण की एक कठोर व्यवस्था के अन्तर्गत उनका पालन-पोषण किया जाता था। समाज का संगठन लोकतांत्रिक ढँग का था; वृद्धों की एक परिषद सब सदस्यों के नाम से काम-काज चलाती थी। आर्थिक दृष्टि से प्रयोग सफल रहा था और समाज फलता-फूलता रहा। अन्त में तलवार के बल पर ही उसका नाश किया गया। उसके संगठन का प्लेटो की **रिपब्लिक** और टॉमस मोर की **यूटोपिया** में प्रस्तावित योजनाओं से उल्लेखनीय सादृश्य था।

अनाबैप्टिस्ट लोगों का कहना था कि राज्य एक बुराई है और उसकी आज्ञाओं का तभी तक पालन करना चाहिये जब तक कि वे अन्तरात्मा के आदेश के विपरीत न हों। वे न तो न्यायालयों में शपथ लेते और न सरकारी पदों को धारण करते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि राजनीतिक जीवन में भाग लेना ईसाइयत के समता और भ्रातत्व के आदर्श के विरुद्ध है। वे युद्ध के विरोधी थे, और प्रायः शास्त्र धारण करने

७. १४३७ ई० के लगभग एक आश्चर्यजनक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका नाम था *The Reformation of Emperor Sigismund* जिसमें सुधार योजना की एक रूपरेखा प्रस्तुत की गई थी। लेखक की माँग थी कि अर्धदास प्रथा (Serfdom) और पूँजीपतियों का उन्मूलन कर दिया जाय, और कीमतें तथा मजदूरी निश्चित करने का अधिकार स्वयं मजदूरों को दे दिया जाय।

से इन्कार कर दिया करते थे। अनाबैप्टिस्टों के अनेक समुदायों ने धीरे-धीरे अपने सर्वाधिक अव्यावहारिक विश्वासों और प्रथाओं को त्याग दिया, और उत्पीड़न के बावजूद यूरोप के अनेक भागों में जीवित बने रहे। उनमें से कुछ हालैंड से जाकर ईस्टर्न इंगलैंड में बस गये, और सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैंड के क्वेकर तथा इंडिपैंडेंट सम्प्रदायों ने उनके विचारों को पुनर्जीवित किया।

पठनीय-ग्रन्थ

Allen, J. W., *A History of Political Thought in the Sixteenth Century* (New York, MacVeagh, 1928), Part 1.

Barker, Ernst, *Traditions of Civility* (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1948), Chap. 4.

Boehmer, Heinrich, *The Road to Reformation,* trans, by J. W. Doberstein and J. G. Tappert (Philadelphia, Muhlenberg, 1946)

D' Entreves, A. P., *The Medieval Contribution to Political Thought* (Oxford, Oxford Univ. Press, 1939). Chap. 5.

Figgis J. N., *From Gerson to Grotius* (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1907), pp. 62-107.

Jarrett, Bade, *Medieval Socialism* (London, Burns, 1935).

Mackinnon, James, *Calvin and the Reformation* (London, Longmans, 1936)

Murray, R. H., *The Political Consequences of the Reformation* (London, Benn, 1926)

Sabine, G. H., *A History of Political Theory,* rev. ed. (New York, Holt, 1950) Chap. 18.

Smith, Preserved, *The Age of the Reformation* (New York, Holt, 1936)

Tawney, R. H., *Religion and the Rise of Capitalism,* (London, J. Murray, 1926)

Troeltsch, Ernst, *The Social Teachings of the Christian Churches,* trans. by Olive Wyon, 2 vols. (New York, Macmillan, 1931), pp. 461-655.

Waring, L. H., *The Political Theories of Martin Luther,* (New York, Putnam, 1910)

Weber, Max, *The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism* trans. by Talcott Parsons (London, G. Allen, 1930)

भाग ४

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ

अध्याय ११

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राजनीतिक चिन्तन

धर्मद्रोही तथा पोप के समर्थक

सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध गृह-युद्धों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का युग था। इन युद्धों में भाग लेनेवालों की पारस्परिक शत्रुता के कारण धार्मिक विश्वास और राजनीतिक प्रश्न दोनों ही थे। प्रोटेस्टेंटों और कैथोलिकों के बीच संघर्षों और राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना का फल यह हुआ कि राजभक्ति और ईश्वरभक्ति दोनों का एक ही अर्थ हो गया। "धर्मद्रोही" कैथोलिक राजा के शत्रु बन गये और "पोप के समर्थक" प्रोटेस्टेंट शासक के खिलाफ द्रोह करने लगे। धार्मिक और राजनीतिक विचारों की इस गुत्थी के कारण विरोधी धर्मों के अनुयायियों के बीच शत्रुता और भी अधिक कटु हो गई और घरेलू उपद्रवों और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों की सम्भावना बढ़ गई।

इस काल में स्पेन तथा इंगलैंड के शासकों की शक्ति इतनी मजबूत थी कि वे गृह-युद्ध को रोकने में सफल हो सके। फिलिप द्वितीय के समय में स्पेन का हैप्सबर्ग साम्राज्य शक्ति के शिखर पर पहुँच गया। उसकी नौसेना का समुद्रों पर अधिकार था और उसकी पदाति सेना यूरोप में सबसे अच्छी थी। नई दुनिया पर उसका एकाधिकार था, और प्रतिवर्ष उसके जहाज अक्षय धनराशि से उसके कोष को भरते रहते थे। १५८० ई० में पुर्तगाल तथा उसके पूर्व भारतीय (ईस्ट इंडियन) साम्राज्य पर स्पेन का अधिकार हो गया, और यह शेखी कि स्पेन के साम्राज्य में सूर्य कभी नहीं डूबता, चरितार्थ हो गई। धर्मसुधार के विचारों को स्पेन में कोई प्रगति नहीं हुई और धर्मद्रोहियों को कैथोलिक चर्च की "इनक्विजिशन" नाम की अदालत ने निर्दयतापूर्वक कुचल दिया। स्पेन कैथोलिक धर्म का निर्विवाद नेता बन गया। स्पेन का राजा स्वेच्छापूर्वक केन्द्रीयकृत और धार्मिक दृष्टि से एकीकृत राज्य पर राष्ट्रीय अहंकार के साथ शासन करता था।

एलिजाबेथ द्वारा शासित इंगलैंड स्पेन का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी था। इंगलैंड में राष्ट्रीय भावना बलवती थी और उधर स्पेन का भारी डर था। अतः रानी को विशाल शक्तियों का प्रयोग करने और निर्विरोध शासन करने का अवसर मिल गया। यद्यपि इंगलैंड में उग्र और प्रतिवादी सम्प्रदायों का विरोध किया गया, फिर भी यह देश प्रोटेस्टेंट धर्म का प्रमुख आश्रयदाता था। इंगलैंड तथा स्पेन के बीच जो संघर्ष हुआ उसके पीछे धार्मिक शत्रुता और सामुद्रिक सर्वोच्चता तथा अमरीका के कोष के लिये प्रतिस्पर्धा दोनों काम कर रही थीं। स्पेन के सम्राट ने धर्म-युद्ध की भावना से ही

आर्मेडा को इंगलैंड पर आक्रमण करने के लिये भेजा था। चूंकि स्पेन तथा इंगलैंड दोनों में ही सरकार निरंकुश थी अतः राजनीतिक सिद्धान्तों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया, यद्यपि स्पेन के लेखकों ने विधिशास्त्र में महत्वपूर्ण योग दिया।

फ्रांस, स्काटलैंड तथा नैदरलैंड्स में काल्विन के सिद्धांतों की काफी प्रगति हो चुकी थी, इसलिये वहाँ सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रायः गृह-युद्ध होते रहे जिनके पीछे राजनीतिक और धार्मिक दोनों ही प्रकार के उद्देश्य निहित थे। इन संघर्षों के दौरान में राजनीतिक चिन्तन के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया गया। फ्रांस में प्रतिद्वन्दी सामन्ती परिवारों के बीच सिंहासन के लिये झगड़े चल रहे थे। इन झगड़ों का कैथोलिकों तथा प्रोटेस्टेंटों के बीच चलनेवाले संघर्ष के साथ सम्बन्ध जुड़ गया, और स्पेन तथा इंगलैंड ने अपने-अपने धर्मावलम्बियों का साथ दिया। स्काटलैंड में जॉन नौक्स के **प्रेसबिटेरियन** अनुयायियों का रानी मेरी के समर्थक कैथोलिकों के साथ निरन्तर युद्ध चलता रहा। नैदरलैंड्स में स्पेन के शासकों ने प्रोटेस्टेंटों पर अत्याचार किये, स्थानीय मामलों में हस्तक्षेप किया और भारी आर्थिक लूट की। इसके फलस्वरूप विद्रोह हुआ और यूरोप के प्रोटेस्टेंट राज्यों की सहायता से उत्तरी प्रान्त स्पेन से अलग हो गये और एक स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना करली।

धर्मसुधारकों के इस उपदेश के बावजूद कि प्रजा को विनम्रतापूर्वक शासकों की आज्ञाओं का पालन करना चाहिये, प्रोटेस्टेंट धर्म ने इन विवादों के दौरान में आक्रामक और लड़ाकू रूप धारण कर लिया। फ्रांस, स्काटलैंड और नैदरलैंड्स में काल्विन-पंथियों ने कैथोलिक शासकों का जो विरोध किया उसको उचित ठहराने के लिये एक नये सिद्धान्त की आवश्यकता हुई। उसकी पूर्ति के लिये परिषदीय काल के विचारों को पुनर्जीवित किया गया। इस बात पर पुनः बल दिया गया कि प्राकृतिक विधि ईश्वर की इच्छा की ही अभिव्यक्ति है जिसका निर्वचन मनुष्य की बुद्धि और अन्तःकरण द्वारा होता है, और कहा गया कि शासक तथा प्रजा दोनों को ही इस विधि का पालन करना चाहिये। इस धारणा का कि राजा की सत्ता राजा तथा प्रजा के बीच हुए समझौते पर आधारित होती है पुनः प्रतिपादन किया गया और कहा गया कि यदि राजा विधि का उल्लंघन करे तो प्रजा के लिये उसकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक नहीं रहता बल्कि उसको अधिकार हो जाता है कि उसे अपदस्थ कर दे अथवा अपने को स्वतंत्र घोषित करके एक नये राज्य की स्थापना कर ले। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के धार्मिक संघर्षों ने सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों की क्रान्तियों का मार्ग तैयार किया; और सामाजिक संविदा के राजतंत्र-विरोधी सिद्धान्तों और प्राकृतिक अधिकारों के विचारों का उदय हुआ।

इस विद्रोह की सफलता का राजनीतिक चिन्तन पर विशेष रूप से महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। उसने निरंकुशतंत्र-विरोधी विभिन्न प्रवृत्तियों को एकत्र किया और उनको

व्यावहारिक दृष्टि से प्रभावकारी बनाया। उसका उद्देश्य था राष्ट्रीय, धार्मिक और वैयक्तिक स्वतंत्रता। नैदरलैंड्स के नेताओं ने राष्ट्रीय स्वाधीनता पर बल दिया और अत्याचार का प्रतिरोध करना उचित ठहराया। उन्होंने धर्मतांत्रिक तथा राजनीतिक तर्कों को पृथक करना आरम्भ किया, धार्मिक सहिष्णुता के विचारों का स्पष्ट रूप से समर्थन किया, स्थानीय स्वायत्तता पर बल दिया तथा सरकार के संघ-सिद्धान्त के लिये मार्ग तैयार किया। वे एक छोटे से राज्य के निवासी थे, वाणिज्य में उनकी रुचि थी और शान्ति के इच्छुक थे, इसलिये उन्होंने इस धारणा को विकसित किया कि राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का विधि के आधार पर संचालन होना चाहिये और सब राज्यों को विधि की निगाह में समान स्थान मिलना चाहिये।

उस दुनिया में जो कि तेज़ी से निरंकुशतंत्र की ओर अग्रसर होरही थी, डच लोगों ने स्वतंत्रता और बौद्धिक जागरूकता को जीवित रक्खा। यह मुख्यतया उन्हीं के प्रयत्नों का फल था कि स्पेन की व्यवस्था यूरोप के अन्य देशों में न फैल सकी। उन्होंने उत्पीड़ित अल्पसंख्यकों को अपने यहाँ शरण दी। इंगलैंड पर उनका विशेष प्रभाव पड़ा, और १६वीं शताब्दी में स्वतंत्रता की मशाल उन्होंने अंग्रेज जाति के सुपुर्द करदी। जिस काल में रिशलू जैसे राजनीतिज्ञ और बोसे तथा लॉड जैसे चर्च अधिकारी दैवीय अधिकारों पर आधारित राजतंत्र का गुणगान कर रहे थे उस युग में डचों ने सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों में ही स्वशासन तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता के प्रगतिशील आदर्शों का झंडा ऊँचा रक्खा।

यूरोपीय प्रसार का राजनीतिक चिन्तन पर प्रभाव

मध्य युग के लोगों का विचार था कि यह जगत तथा ज्ञान दोनों ही चीजें परिपूर्ण हैं और उनका अन्तिम रूप सदैव के लिए निश्चित है। उनकी निगाह में रोमन साम्राज्य अप्रतिम राज्य हुआ था। टौलमी की ज्योतिष के अनुसार संसार एक वृत्त था जो अनेक वृत्तों को अपने में समेटे हुआ था और भूमंडल उसका केन्द्र था। टॉमस एक्विनास की व्यवस्था को भी पूर्ण माना जाता था। मध्ययुगीन दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृति-जगत तथा विचार-जगत दोनों ही पूर्ण इकाइयाँ थे, और इसीलिये नये विचारों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। इस दृष्टिकोण को समाप्त करने और संसार को मध्ययुग से निकालकर आधुनिक युग में लानेवाले तत्वों में यूरोप के भौगोलिक प्रसार का विशेष महत्व था।

विचारों को बदलने की यह प्रक्रिया धर्मयुद्धों के साथ आरम्भ हुई जिन्होंने तीर्थयात्रा, व्यापार तथा मिशनरी कार्यवाहियों को प्रोत्साहन दिया। युद्धों से लौटनेवालों ने पूर्व के वैभव और आश्चर्यजनक वस्तुओं की कहानियाँ सुनाईं जिससे यूरोपवासियों की कल्पना प्रज्वलित हो उठी, और व्यापारी, पर्यटक तथा धर्म-प्रचारक सुदूर देशों की यात्रा करने लगे। १३वीं शताब्दी में पोप ने मध्य एशिया के तातार खाँ के दरबार में

अपने दूत भेजे। वेनिस के पोलो परिवार के सौदागरों ने स्थल मार्ग द्वारा सम्पूर्ण एशिया का पर्यटन किया, समुद्री मार्ग द्वारा उसके दक्षिणी तट की यात्रा की और फिर अपने घर लौट गये। जब तुर्कों ने पूर्वी भूमध्य सागर को बन्द कर दिया तो पूर्व के लिये जल मार्ग की खोज आरम्भ हुई। पुर्तगाल के व्यापारी अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत जा पहुँचे। कोलम्बस ने जो कि पूर्व के लिये जलमार्ग ढूँढने के लिये निकला था अमेरिका का पता लगा लिया। अन्त में मैंगेलिन सारे भूमण्डल की परिक्रमा करने में सफल हुआ। इस प्रकार संसार के विभिन्न भागों में यूरोपीय विचारों और संस्थाओं को फैलाने का, तथा इस सम्पर्क से यूरोपीय जीवन और विचारों पर जो प्रक्रिया हुई उसके लिये मार्ग तैयार हो गया।

इन अनुसन्धानों के महत्वपूर्ण आर्थिक परिणाम हुए। काफिले का स्थान जहाज ने ले लिया, और नये व्यापरिक मार्गों का महत्व बढ़ गया। भूमध्य सागर व्यापारिक यूरोप का केन्द्र नहीं रहा, और इटली के नगरों का महत्व घटने लगा। पश्चिमी यूरोप के वे राष्ट्रीय राज्य जो अटलांटिक के तट पर स्थित थे विश्व के शक्तिशाली राज्यों में गिने जाने लगे, और नये बन्दरगाहों ने प्रमुखता प्राप्त कर ली। पहले एशियाई माल के बदले में कीमती धातुएँ भारी मात्रा में पूर्वी देशों को भेजी जाती थीं और स्वयं यूरोप में उनकी कमी रहती थी। अब उनका बाहुल्य हो गया, केवल स्पेन में विजित देशों से ५ हजार करोड़ का सोना चाँदी आया था। वाणिज्य की मात्रा और विविधता में वृद्धि हुई और विशाल व्यापारिक कम्पनियाँ स्थापित हो गईं जिन्हें विशेषाधिकार और प्रशासन सम्बन्धी शक्तियाँ उपलब्ध थीं। पूँजीवादी व्यवस्था का विकास हुआ और नगरों के जीवन का महत्व बढ़ने लगा, सामाजिक संगठन छिन्न-भिन्न होने लगा और नई सामाजिक तथा आर्थिक मान्यतायें स्थापित होने लगीं। सोहलवीं शताब्दी की व्यापारिक क्रान्ति ने अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति का मार्ग प्रशस्त किया।

भौगोलिक ज्ञान ने धार्मिक विचारों में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया। यह मध्ययुगीन धारणा कि पृथ्वी तस्तरी की भाँति चपटी है और तारों से घिरी हुई है समाप्त हो गई। टौलमी के सिद्धांतों की पराजय हुई। और उनके स्थान पर कोपर्निकस के सिद्धांत प्रतिष्ठित हुए। पृथ्वी विश्व का केन्द्र है, इस धारणा पर आधारित धार्मिक विश्वास धीरे-धीरे विलुप्त होने लगे और पहले से अधिक और स्वतंत्र दृष्टिकोण का प्रचार हुआ। नगरों के जीवन की वृद्धि, उनकी धर्मनिरपेक्ष संस्कृति के विकास और पुरानी गैर-ईसाई भावना के पुनरुद्धार से भी मध्य युग की जटिल धार्मिक संस्कृति को धक्का लगा। नई दुनिया में विद्रोही धार्मिक समुदायों को शरण मिल सकती थी, और मिशनरियों की कार्यवाहियों के लिये भी वहाँ अच्छा क्षेत्र था। धार्मिक तथा सामाजिक संगठन के प्रयोग के रूप में नये उपनिवेश बसाये गये। और इस प्रकार पुराना विश्वास कि धार्मिक विचार और संस्थायें अपरिवर्तनशील है, दुर्बल पड़ने लगा।

अनुसन्धानों के महत्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम भी हुए। दूरस्थ देशों में पश्चिमी यूरोप के नये राष्ट्र ही सक्रिय थे, अतः मध्ययुग के विश्व-साम्राज्य और विश्व-एकता के विचार दिन पर दिन पुराने पड़ते गये। प्रारम्भ में स्पेन और पुर्तगाल ने नये देशों पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था, किन्तु उन्होंने बुद्धिमानी से अवसर का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने विचारों की स्वतन्त्रता का दमन किया, धार्मिक एकरूपता कायम करने के उद्देश्य से यहूदियों और मुसलमानों को निर्वासित किया, अमरीका के कोष पर सदैव निर्भर रहे और दीर्घकाल तक सैनिक कार्यवाहियों में संलग्न रहे, इस सबका परिणाम यह हुआ कि वे बौद्धिक दृष्टि से पिछड़ गये और उद्योगधन्धों से घृणा करने लगे और अन्त में उनकी शक्ति क्षीण हो गई। हौलेंड, फ्रांस और इंगलैंड बड़े औपनिवेशिक राष्ट्र बन गये और उन्होंने अनुसन्धानों से भरपूर लाभ उठाया।

सोलहवीं शताब्दी से अब तक के अधिकतर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष व्यापारिक और औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा के कारण हुए हैं। उपनिवेशों और विश्व के बाजारों के असमान वितरण से उत्पन्न असन्तोष ने युद्धों को जन्म दिया, और जब कभी किसी राष्ट्र ने विश्व के महामार्गों पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयत्न किया तो दूसरों ने उसे रोकने की कोशिश की। फल यह हुआ कि राष्ट्रीय चेतना को उत्तेजना मिली और आक्रामक साम्राज्यवादी भावना का विकास हुआ। यूरोप के प्रसार ने विश्व-राजनीति को जन्म दिया जिसके भले और बुरे अनेक परिणाम हुए।

विश्व के उद्घाटन से जो परिवर्तन हुए उन्होंने मध्ययुग के सामन्ती राजतन्त्रों को आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों का रूप धारण करने में भी सहायता दी। उद्योग की प्रगति और मुद्रा पर आधारित अर्थ-व्यवस्था के उदय के परिणामस्वरूप कीमती धातुओं का बाहुल्य हो गया, और राजाओं के लिये कर लगाना, स्थाई सेनाएँ रखना, और वैतनिक अधिकारियों को नौकर रखना सम्भव हो सका। अब उन्हें सामन्तों पर नहीं निर्भर रहना पड़ता था। जब तक भूमि धन का एकमात्र साधन थी, तब तक सामन्तों की बहुत शक्ति थी और राजाओं को उनका मुँह ताकना पड़ता था। किन्तु अब सामन्तों और पादरियों की शक्ति क्षीण होने लगी और राजाओं की शक्ति में वृद्धि हुई। औपनिवेशिक कार्यवाहियों और सशक्त तथा सफल वैदेशिक नीति से उत्पन्न एकता की भावना और राष्ट्रीय अहंकार ने भी राजाओं को अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने और निरंकुश शासन स्थापित करने में मदद दी। किन्तु साथ ही साथ नगरों तथा धनी वर्गों की सम्पत्ति और शक्ति की वृद्धि ने राज्य में एक ऐसे तत्व को जन्म दिया जिसका हित स्थानीय स्वाधीनता कायम रखने और राजाओं की शक्ति पर नियन्त्रण रखने में था। मजदूरी और किराये के भुगतान के लिये मुद्रा का जो प्रयोग प्रारम्भ हो गया उससे अर्धदासों को स्वतन्त्र होने में सहायता मिली और लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली का मार्ग प्रशस्त हुआ।

नये देशों के प्रकाश में आने से १६वीं शताब्दी के लोगों का भौगोलिक तथा मानसिक दृष्टिकोण भी विस्तृत हुआ ; और जिन राज्यों ने सामुद्रिक कार्यवाहियों में अगुआई की उन्होंने राजनीतिक चिन्तन में भी यूरोप का नेतृत्व किया। योरोप के प्रसार से लोगों की कल्पना प्रज्वलित हुई; अभी तक अतीत के अध्ययन में ही उनकी रुचि थी, किन्तु अब वे भविष्य की प्रगति और सम्भावनाओं की ओर ध्यान देने लगे। अब उन्हें विश्वास होने लगा कि नई दुनियाँ में सब कुछ सम्भव है। उदाहरण के लिये यह विश्वास उत्पन्न होगया कि कहीं एक ऐसा देश है जहाँ अपरिमित सोना मिलता है, और एक ऐसी निर्भ-रिणी है जिससे फिर यौवन की प्राप्ति होती है। नये देशों में राजनीतिक तथा धार्मिक आदर्शों पर प्रयोग किये जा सकते थे। अमेरिका के अनुसंधान ने टॉमस मोर को **यूटोपिया** लिखने की प्रेरणा दी। इस प्रकार नई खोजों ने राजनीतिक चिन्तन की मध्ययुगीन व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने की उस प्रक्रिया में योग दिया जो पहले से आरम्भ हो चुकी थी। वायुमंडल में नये विचार फैल गये, और परिवर्तनों से घृणा थी वह कुछ कम होने लगी।

अनुसंधानों और उनसे उत्पन्न परिवर्तनों ने राजनीतिक चिंतन में नई समस्याओं और नई धारणाओं का समावेश किया। उन्नत जातियों और पिछड़ी जातियों का पारस्परिक सम्बन्ध, मूलनिवासियों की भूमि पर कब्जा करने और उन्हें गुलाम बनाने का अधिकार, उपनिवेशों के प्रशासन की पद्धति, साम्राज्यवादी प्रसार और उनके तरीके आदि अनेक प्रश्न थे जिनकी ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। युद्ध का न्यायसंगत कारण, युद्ध में प्रतिपक्षियों का आचरण, समुद्रों पर आने जाने की स्वतंत्रता, उपनिवेशों की भूमि का वितरण आदि से संबद्ध प्रश्नों ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राजनय को जन्म दिया। एकाधिकार, वाणिज्यवाद, संरक्षण और उन्मुक्त व्यापार आदि प्रश्नों ने राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों ही प्रकार के चिंतन में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया।

यूरोप का प्राच्य तथा नई दुनिया में जो प्रसार हुआ उसका राष्ट्रीय राजतंत्र के तात्कालिक विकास, लोकतंत्र और स्वतंत्रता के उदय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त राज्यों की आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीति के क्षेत्र में राजनीतिक और आर्थिक चिंतन के बीच संबंध प्रारम्भ होगया। सोलहवीं शताब्दी के विचारक इन परिवर्तनों के दूरगामी महत्व को पहले से देखने में सर्वथा असमर्थ रहे।

पोलीतीक

सोलहवीं शताब्दी के अंत में फ्रांस में **पोलीतीक** नाम के एक राजनीतिक दल का उदय हुआ। राजनीतिक चिंतन के क्षेत्र में यह एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण आन्दोलन था। इस दल ने लूथर के इस सिद्धान्त को कि प्रजा को शासकों की आज्ञा का विनम्र-भाव से पालन करना चाहिये, और मैकियावेली के इस सिद्धांत को कि राज्य स्वयं एक साध्य है और विधि तथा नैतिकता के नियमों से ऊपर है चरम सीमा पर पहुँचा

दिया। उनका विश्वास था कि राज्य की एकता धर्म की एकता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है; धर्म तो एक वैयक्तिक मामला है, किंतु राज्य का अपने सदस्यों की भक्ति पर सर्वोपरि अधिकार है। अतः धर्म के क्षेत्र में उन्होंने सहिष्णुता का उपदेश दिया, किन्तु साथ ही साथ इस बात पर बल दिया कि नागरिकों के धार्मिक विश्वास कुछ भी हों और एक दूसरे से कितने भी भिन्न हों, उन्हें शासक के प्रति वफादार रहना चाहिये।

इस दल के अधिकतर लोग कैथोलिक थे। उनकी मुख्य रचनाएँ थीं : दू बैलाई की **अपोलोजिया कथोलिका**, सर्विस की **विंडिकीई**, विलियम बार्कले की डी **रेन्यो**। पीरी ग्रीगरी की **डी रेपूब्लिका** और जाँ बोदें की **सी लीव्र द ला रेप्युब्लीक**[1]। फ्रांस के गृह युद्धों में भाग लेनेवाले विभिन्न गुटों के बीच हुए राजनीतिक विवाद के फलस्वरूप इन ग्रन्थों की रचना हुई। इन युद्धों में **पोलीतीक** ने फ्रांस के सिंहासन के लिये नवार के हेनरी का समर्थन किया, बावजूद इसके कि वह यूगनो था। उन्होंने पोप का जो फ्रांस के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना चाहता था, विरोध किया, और राजतंत्रविरोधियों के तर्कों का खंडन किया।

फ्रांस के गृहयुद्धों का रूप बड़ा ही भयंकर था। आये दिन अत्याचार, कत्ले आम और हत्याएँ होती रहती थीं। **पोलीतीक**[2] के सदस्यों ने अनुभव किया कि इससे तो फ्रांस की सभ्यता ही नष्ट हो जायगी। अतः उन्होंने धर्म को राजनीतिक विवाद से पृथक करने का प्रयत्न किया। उन्होंने विधिक तर्कों को अपने सिद्धान्त का आधार बनाया। उनका कहना था कि शासक की सत्ता राज्य के प्राकृतिक अधिकारों से उद्भूत होती है, और राज्य की एकता की रक्षा परमावश्यक है, चाहे उसके कायम रखने के लिये धार्मिक सहिष्णुता भी बरतनी पड़े। उन्होंने इस मत का खंडन किया कि राजभक्ति और धर्मपरायणता एक ही चीज है और राज्य का कर्तव्य राष्ट्रीय धर्म का उन्नयन करना और धर्मद्रोहियों का नाश करना है। यही कारण था उनके विचार अपने समय के प्रचलित सिद्धांतों से मेल नहीं खाते थे, क्योंकि लूथर, काल्विन और कैथोलिक चर्च सभी ने धार्मिक एकता पर जोर दिया था और कहा था कि उस एकता को कायम रखना राज्य का काम है। **पोलीतीक** के सदस्यों ने धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन किया, किन्तु धार्मिक सिद्धांत की दृष्टि से नहीं बल्कि राजनीतिक आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर। उनका विश्वास था कि धर्म को लोकनीति के अधीन होना चाहिये। इसीलिये उन्हें मैकियावेली का अनुयायी कह कर चिढ़ाया जाता था।

इस प्रकार **पोलीतीक** राजाओं के निरंकुश अधिकारों के आधुनिक विधिक

१. देखिये आगे अध्याय १२.

२. यह एक दिलचस्पी की बात है कि फ्रांस में विधिज्ञों ने मुख्यतः राजा का समर्थन किया जब कि इंगलैंड के विधिज्ञ बहुधा संसद के पक्ष में रहे।

सिद्धान्त का समर्थक बन गया। उसके सदस्यों ने कहा कि शासक अपने अलंघनीय पितागत अधिकार के आधार पर शासन करता है। अतः राजाओं की आज्ञा का पालन करना प्रजा का कर्तव्य है, क्रान्ति और राजद्रोह अक्षम्य अपराध हैं और उनका दमन करना ही ठीक है, और राजनीतिक मामलों में धर्म का हस्तक्षेप सर्वथा अनुचित और अवांछनीय हैं। अपने इस सिद्धान्त के पक्ष में उन्होंने विधिक, दार्शनिक और उपयोगिता-वादी तर्क दिये और धर्मशास्त्रों का भी सहारा लिया। व्यावहारिक राजनीति में उनके इन विचारों का बहुत कुछ अनुसरण किया गया। नवार के हेनरी का सिंहासन पर बैठने के बाद कैथोलिक बन जाना, हालैंड में विलियम दी साइलैंट के धार्मिक सुधार और उसकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति और इंगलैंड में रानी एलिजाबेथ की सामान्य नीति इसके मुख्य उदाहरण थे।

सोलहवीं शताब्दी के राजतंत्र-विरोधी सिद्धान्त

एक ओर तो प्रमुख सुधारकों के ईश्वरीय अधिकार के सिद्धान्त के आधार पर और राजाओं के नियंत्रण और संरक्षण में स्थापित राष्ट्रीय चर्चों के उपदेशों तथा **पोलीतीक** की शिक्षाओं के द्वारा राजतंत्रीय निरंकुशवाद की सामान्य प्रवृत्ति का समर्थन किया जा रहा था, किन्तु साथ ही साथ सीमित राजतंत्र और वैयक्तिक स्वतंत्रता के आदर्शों को विरोधी दिशा में ले जानेवाले तत्व भी सक्रिय थे। मानवतावादियों ने प्राचीन यूनानी ढँग की स्वतंत्रता का गुणगान किया। इरासमस ने पित्रागत राजतंत्र को मूर्खतापूर्ण बतलाया और प्रतिनिधि संस्थाओं का समर्थन किया। यहाँ तक कि लूथर ने भी राजा और प्रजा के बीच समझौते का सुझाव रक्खा था और प्रजा को कुछ विशेष परिस्थितियों में अत्याचारी का प्रतिरोध करने का अधिकार दिया था, और काल्विन ने डरते-डरते ईश्वर-द्रोही शासन का विरोध करने की बात कही थी।

फ्रांस, स्काटलैंड और नैदरलैंड्स के गृहयुद्धों के दौरान में राजतंत्र-विरोधी विशद राजनीतिक सिद्धान्त प्रकट हुए, विशेषकर उन काल्विन-पंथियों की रचनाओं में जो कैथो-लिक शासकों के विरुद्ध संघर्ष में संलग्न थे। किन्तु जब प्रोटेस्टेंट धर्म का माननेवाला नवार का हेनरी फ्रांस के सिंहासन का संभाव्य दायाद घोषित कर दिया गया, और गीज़ियों की हत्या करदी गई तो कैथोलिक लेखक[3] भी प्रतिरोध और राजहत्या के सिद्धान्तों के समर्थक बन गये, और लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को भी मात कर दिया। इसके अतिरिक्त प्रोटेस्टेंट देशों में कैथोलिक चर्च को अपनी स्वाधीनता के लिये लड़ना पड़ रहा था, और धर्मसुधार-विरोधी क्रान्ति का यह एक आधारभूत सिद्धान्त था कि राजाओं को अपने राज्य में धार्मिक विषयों में मनमानी करने का

३. उदाहरण के लिये, Boucher, *De justa Henrici III Abdicatione* और Rossaeus, *De juste republiace christianae in Reges impios et haereticos auctoritate.*

अधिकार नहीं हो सकता। यह दिलचस्पी की बात है कि कैथोलिक चर्च और काल्विनी पंथ जैसे धार्मिक सम्प्रदायों ने जिन्हें वैयक्तिक स्वतंत्रता से कोई प्रयोजन नहीं था और जिन्होंने अपनी शक्ति के समय में सर्वाधिक स्वेच्छाचारी व्यवस्थाओं का निर्माण किया था, मनुष्य के अधिकारों की रक्षा के लिये सबसे अधिक कार्य किया। अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिये उन्हें जो निरंतर संघर्ष करना पड़ा उसके दौरान में उन्होंने राजनीतिक सत्ता की निरंकुशता पर प्रतिबंध लगाया और प्रतिरोध के सिद्धांत का विकास किया जिसने अंत में लोकतंत्र तथा स्वतंत्रता की स्थापना में सहायता दी।

फ्रांस में अनेक पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुईं ; विशेषकर सन्त बार्थोलोमियो दिवस के हत्याकांड के उपरान्त उनमें शासक तथा प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना की गई। एतिएन द ला बोइशी (१५३०-१५६३)[४] ने निर्भीकता से राजतन्त्र के सिद्धान्त का विरोध किया और कहा कि प्रकृति से सभी मनुष्य समान हैं। ब्यूदे[५] और क्लोद द सेज़ेल[६] ने संसद के महत्त्व पर बल दिया और राजा की सत्ता पर अंकुश लगाना आवश्यक ठहराया। फ्रांस्वा होतमान (१५२४-१५९०)[७] ने इतिहास से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अत्यन्त प्राचीन काल से राष्ट्र की एक महासभा राजनीतक शक्ति का प्रयोग करती आई है, और राजतंत्र पर सदैव जनता, संसदों और निश्चित सांविधानिक विधि का नियन्त्रण रहा है। होतमान का कहना था कि राजा तथा प्रजा के सम्बन्ध संविदा पर आधारित होते हैं, और यदि शासक के अत्याचारों से इस संविदा का उल्लंघन हो तो प्रजा को विद्रोह करने का अधिकार है। लेखक पूर्वोदाहरणों तथा विधि का विशेष सम्मान करता था, और इस प्रकार उसने ऐतिहासिक पद्धति के विकास में योग दिया।

इस काल का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **विंडिकीई कौंत्रा तिरानोस** था[८]। इस पुस्तिका की शैली मध्ययुगीन थी। इसके लेखक पर परिषदीय युग के सिद्धान्तों का विशेष प्रभाव था और उसने अपने निष्कर्षों की धर्मशास्त्रों के उद्धरणों और इतिहास तथा विधि के पूर्वोदाहरणों से पुष्टि की। उसने अपने तर्कों को ओजपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक ढँग से व्यक्त किया। फ्रांस की क्रान्ति के समय तक राजनीतिक सुधार की दिशा में जितने भी प्रयत्न किये गये उनके लिये इन तर्कों ने आधार का काम दिया। विवेचना निम्नलिखित चार

४. अपनी *Discours de la servitiude volontairi* नाम की रचना में।
५. अपने *Institution de France* में।
६. अपने *La grande monarchie de France* में।
७. अपने *Franco-Gallia* (1573) नामक ग्रन्थ में।
८. यह पुस्तिका सबसे पहले १५७९ में स्टीफेनस जूनियस ब्रूटस (Stephanus Junius Brutus) के कल्पित नाम से प्रकाशित हुई। कुछ लोग हूबर्ट लांग्वे (Habert Languet (1514-1581) को और कुछ फिलिप ड् प्लेसिस मोर्ने (Philippe du Plessis-Mornay (1549-1623 इसके लेखक बतलाते हैं।

प्रश्नों के उत्तरों के रूप में प्रस्तुत की गई। (१) क्या प्रजा को उस शासक की आज्ञा का पालन करना चाहिये जिसकी आज्ञा ईश्वरीय विधि के विपरीत है ? लेखक ने इसका नकारात्मक उत्तर दिया और धर्मशास्त्रों के उपदेशों और सामन्ती सिद्धान्तों के आधार पर कहा कि लोगों को छोटे की अपेक्षा बड़े अधिपति के आदेशों का पालन करना चाहिये। (२) क्या ईश्वरीय विधि का उल्लंघन करनेवाले शासक का प्रतिरोध करना उचित है ? **पुराने इच्छापत्र** में वर्णित इतिहास तथा रोमक विधि के आधार पर लेखक ने कहा कि राजा तथा प्रजा के बीच सम्बन्ध दो संविदाओं पर आधारित होता है। पहली के अनुसार राजा तथा प्रजा दोनों ईश्वर के समक्ष धार्मिक क्रियाओं को कायम रखने का वचन देते हैं। और दूसरा समझौता राजा तथा प्रजा के बीच होता है जिसके अनुसार राजा न्यायपूर्वक शासन करने का और प्रजा उसकी आज्ञा का पालन करने का वचन देती है। यदि राजा ईश्वर के साथ किये गये समझौते का पालन न करे, तो प्रजा को उसका विरोध करने का अधिकार है। किन्तु इस प्रकार का विरोध साधारण नागरिक वैयक्तिक हैसियत से नहीं कर सकते, सभाओं अथवा दण्डाधीशों को ही यह अधिकार है। (३) क्या उस शासक का विरोध करना उचित है जो राज्य का उत्पीड़न अथवा नाश करता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लेखक ने राज्य की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार किया और इस उपकल्पना के आधार पर लोकप्रभुत्व का समर्थन किया कि प्रकृति की अवस्था पूर्ण स्वतन्त्रता की अवस्था थी और बाद में मनुष्य-जाति ने स्वेच्छा से राजनीतिक संस्थाओं का सृजन किया। आगे चलकर सामाजिक संविदा के सैद्धान्तिकों ने इस दृष्टिकोण का सविस्तार प्रतिपादन किया। **विण्डिकीई** के लेखक का तर्क था कि जो राजा अत्याचारी है वह न्यायपूर्वक शासन करने के अपने वचन को भंग कर चुका है अतः सभा अथवा संसद उसको अपदस्थ कर सकती है। (४) क्या राजाओं को पड़ौसी देशों की धार्मिक कारणों से सताई हुई अथवा अत्याचारों से पीड़ित जनता की सहायता करनी चाहिये ? लेखक ने कहा कि मनुष्य का ईश्वर तथा पड़ौसी के प्रति कर्तव्य है, अतः पड़ौसी को सहायता करना सर्वथा उचित है। **विण्डिकीई** की रचना प्रोपेगेंडा की दृष्टि से की गई थी। पहले तीन प्रश्नों का उद्देश्य फ्रांस के राजा के खिलाफ वहाँ के ह्यूजीनाट लोगों के विद्रोह को उचित ठहराना था, और अन्तिम प्रश्न का उद्देश्य था इंगलैंड की रानी एलिजाबेथ और जर्मनी के कुछ प्रोटेस्टेंट राजाओं द्वारा यूगनो लोगों को दी गई सहायता को उचित सिद्ध करना।

स्काटलैंड के धर्मसुधारकों ने इस सिद्धांत को पूर्ण ढंग से व्यक्त किया कि ईश्वर के चुने हुए व्यक्तियों के धार्मिक कार्यों में हस्तक्षेप करनेवाले राजा के खिलाफ विद्रोह करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। मेरी स्टुअर्ट को उपदेश देते हुए जॉन नौक्स ने[९] रानी तथा

९. देखिये J. W. Allen, *History of Political Thought in the Sixteenth Century* (1928), pp. 106—116.

उसकी प्रजा के बीच हुए समझौते का उल्लेख किया और कहा कि यदि वह प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करती तो उसे प्रजा से पूर्ण आज्ञापालन की माँग करने का अधिकार नहीं है। विंचेस्टर के विशप जॉन पोइने[१०] ने घोषणा की कि राजाओं की सत्ता उनकी प्रजा से मिलती है। यदि वे उसका दुरुपयोग करें तो प्रजा उस सत्ता को वापिस ले सकती है।

स्कॉटलैंड के आन्दोलन की सबसे महत्वपूर्ण पुस्तिका का रचयिता जार्ज बुकनन (१५०६-१५८२)[११] था। उसका उद्देश्य रानी मेरी के सिंहासन से हटाये जाने को उचित सिद्ध करना था। उसके दो मुख्य तर्क थे : पहले तर्क का आधार इतिहास तथा पूर्वोदाहरण थे। वह यह था कि राजा की शक्ति पर अंकुश प्राचीन काल से चला आया है और एक रूढ़ि बन गया है। दूसरे तर्क का आधार राजा तथा प्रजा के बीच संविदा का सिद्धांत था। बुकनन का विश्वास था कि प्रारम्भ में मनुष्य भी पशुओं की भाँति रहते थे, किन्तु साहचर्य की प्रवृत्ति और स्वार्थ की भावना ने उन्हें सरकार तथा विधि की रचना करने को बाध्य किया। अन्त्य सत्ता जनता के ही हाथ में है और वही विधि का स्रोत है, किंतु वह अपनी सभा द्वारा अपना कार्य करती है, राजा के जो पित्रागत अधिकार है वे उसे जनता के साथ किये गये उस मूल समझौते से प्राप्त होते हैं जिसके अनुसार उसने न्यायपूर्वक शासन करने का वचन दिया था। यदि वह जनता की सम्मति के बिना राज्य की शक्ति पर अधिकार कर लेता है अथवा अन्यायपूर्वक शासन करता है, तो वह अत्याचारी है और उसे अपदस्थ किया जा सकता है। और यदि उसे सुधारने के अन्य सभी उपाय विफल हो जायँ तो उसकी हत्या भी की जा सकती है।

राजतन्त्रविरोधियों का सबसे अधिक सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक ग्रन्थ जान आल्थूसियस (१५५७-१६३८) का था।[१२] आल्थूसियस एक जर्मन विधिवेत्ता था और नये डच गणराज्य की सीमा पर निवास करता था। उसे डचों के राजनीतिक तथा धार्मिक आदर्शों से पूर्ण सहानुभूति थी। आल्थूसियस ने जिनेवा में भी अध्ययन किया था और काल्विन सम्प्रदाय की भावनाओं से उसका हृदय ओत-प्रोत था। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उसका विचार था कि आरम्भ में मनुष्य छोटे-छोटे समूहों में रहते थे ; धीरे-धीरे इन समूहों के एकीकरण से बड़े-बड़े समुदाय बन गये और उन्होंने राज्यों का रूप धारण कर लिया। इन समुदायों की उत्पत्ति आवश्यकता से हुई, और संविदा उनका आधार थी। सत्ता का अन्तिम उद्गम जनता है और राज्य अपने सदस्यों की

१०. अपनी *A Short Treatise of Political Power* (1558) में।
११. पुस्तक का नाम था *On Sovereign Power Among the Scots* (1576).
१२. ग्रन्थ का नाम था *The Systematic Politics, confirmed by Examples from Sacred or Profane History.* पुस्तक हालैंड के एक प्रान्त को अर्पित की गई थी।

सम्मति पर कायम होता है, और उसका उद्देश्य है उन सबका सामूहिक कल्याण करना। आल्थूसियस ने संविदा सिद्धांत को सामाजिक तथा राजनीतिक संगठन का आधार मानकर उसका विशद विश्लेषण किया। उसने यह विचार भी व्यक्त किया कि जिन राजनीतिक घटकों के एकीकरण से राज्य बनता है वे भी संविदा द्वारा ही एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं, और इस प्रकार उसने संघ-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

आल्थूसियस ने राज्य की उच्चतम सत्ता के रूप में प्रभुत्व के सिद्धान्त का विशद विश्लेषण किया, और राज्य के सदस्यों को सामूहिक रूप से उसका स्रोत माना। उसने प्रमुख शासक को तथा जनता का प्रतिनिधित्व करनेवाली और राज्य के प्रमुख पर नियन्त्रण रखनेवाली सभाओं और संघों[13] को एक दूसरे से पृथक माना। उसने कहा कि प्रमुख शासक की सत्ता प्रजा की सम्पत्ति से व्युत्पन्न होती है, और यदि शासक अन्याय तथा अत्याचार करने लगे तो प्रजा उसकी आज्ञा का पालन करने की शपथ से मुक्त हो जाती है, और शासक का विरोध करना अथवा उसको अपदस्थ करना उचित हो जाता है। गैर-सरकारी व्यक्ति निष्क्रिय प्रतिरोध कर सकते हैं, सार्वजनिक सभाओं को अधिकार है कि वे अत्याचारी को अपदस्थ कर दें अथवा उसे मार डालें; और परिसंघ के राजनीतिक सदस्य उससे पृथक होकर अन्य राज्यों में सम्मिलित हो सकते हैं। इस प्रकार आल्थूसियस ने संविदा के भंग होने पर सम्बन्ध-विच्छेद और आन्तरिक प्रतिरोध दोनों को उचित ठहराया। आल्थूसियस पर काल्विन का प्रभाव था, इसका भी प्रमाण मिलता है। उसने कहा कि राज्य को चाहिए कि एक राजकीय चर्च के द्वारा धर्म तथा नैतिकता की देख-भाल करे, सामाजिक आचार के नियम निर्धारित करे और सामान्य कल्याण के परिवर्धन के लिये अधिक से अधिक कार्य करे।

इस सम्प्रदाय के विचारकों की धारणाओं—प्रकृति की अवस्था, प्राकृतिक विधि और प्राकृतिक अधिकारों का अस्तित्व, राज्य और सरकार की संविदा से उत्पत्ति, लोक प्रभुत्व—का उन्नीसवीं शताब्दी तक राजनीतिक चिन्तन पर आधिपत्य रहा। यहूदियों के इतिहास, पुराने यूनान और रोम के साहित्य, रोमक विधि और परवर्ती मध्ययुग के धर्मजनों से प्राप्त इन विचारों को निश्चित रूप दिया गया और समय की व्यावहारिक समस्याओं को हल करने के लिये उनका प्रयोग किया गया। प्रभु तथा प्रजा के बीच संविदा का सिद्धान्त बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ, क्योंकि उसने इस बात पर बल दिया कि प्रजा की राज्य के प्रति भक्ति और राज्य द्वारा प्रजा का संरक्षण ये दोनों चीजें अन्योन्याश्रित हैं। इस सिद्धान्त ने अत्याचारी शासक का विरोध करना सरल बना दिया। उस काल में प्राकृतिक विधि का और सामन्ती व्यवस्था में निहित अनेक संविदामूलक सम्बन्धों का लोगों के मस्तिष्क पर बड़ा प्रभाव था, अतः राजा तथा प्रजा के बीच संविदा का विचार तर्कसंगत प्रतीत हुआ और सरलता से वह लोकप्रिय बन गया।

---

१३. उसने उनका नाम "ephors" (अधिदर्शक) रक्खा।

सोलहवीं शताब्दी के परवर्ती काल के राजतंत्र विरोधी विचारकों ने गर्सन के सिद्धांतों तथा परिषदीय दल की धारणाओं को विस्तृत ढंग से व्यक्त किया और राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिये उनका प्रयोग किया। परिषदीय दल का उद्देश्य पोप की स्वेच्छाचारिता को समाप्त करना और उसकी शक्तियों को चर्च-जनों की एक सभा के सुपुर्द करना था। राजतन्त्र विरोधी दल ने राजा की निरंकुशता का अन्त करके सामन्तों की सभा के हाथों में शक्ति सौंपने का प्रयत्न किया। दोनों का ही दृष्टिकोण अभिजाततंत्रीय था, और वे चाहते थे कि जनता के प्रभुत्व का प्रयोग उच्चवर्गों के द्वारा किया जाय। यही मुख्य कारण था कि इस काल में राजाओं की निरंकुशता पर रोक न लगाई जा सकी, क्योंकि अधिकांश जनता को सामन्तों से भी उतना ही डर था जितना कि राजा से। बल्कि सच तो यह है कि राजा को लोग राष्ट्रीय एकता और समृद्धि का प्रतीक मानते, और बहुधा उसका समर्थन किया करते थे। लोक-प्रभुत्व के सिद्धांत का तब तक व्यापक प्रभाव नहीं हुआ जब तक कि उसे अधिक लोकतांत्रिक ढँग से व्यक्त नहीं किया गया। एक दृष्टि से राजतंत्र विरोधियों ने अवश्य महत्वपूर्ण कदम बढ़ाया। उन्होंने सिखाया कि राजा की शक्ति का स्रोत मानवीय है, वह दैवीय अधिकारों से शासन नहीं करता है। इससे एक लाभ हुआ। लूथर और काल्विन ने राजनीतिक विचारों और हितों का धार्मिक सिद्धान्तों और हितों से पुनः गठबन्धन करके राजनीतिक चिन्तन को एक कदम पीछे ढकेल दिया था। राजतन्त्रविरोधियों की उक्त धारणा से इसका से निराकरण हुआ।

सोलहवीं शताब्दी के कैथोलिकों की रचनाएँ

प्रोटेस्टेंट धर्म के फैलाव का एक परिणाम यह हुआ कि कैथोलिकों ने चर्च की एक महापरिषद का आह्वान किया जिसके ट्रेंट नामक स्थान कर १५४२ और १५६३ के बीच अनेक सत्र हुए। ट्रेंट की परिषद का मुख्य उद्देश्य यह था कि चर्च की उन बुराइयों को दूर किया जाय जिनकी सुधारकों ने इतनी कटु निन्दा की थी और धर्म के अनेक विवादग्रस्त प्रश्नों के सम्बन्ध में अधिकृत सिद्धान्तों का निरूपण किया जाय। पोप तथा परिषद और आध्यात्मिक तथा लौकिक सत्ता के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में जो पुराना विवाद चला आरहा था उसे फिर उछाला गया। इस विषय में पोप ही सफल रहा। परिषद ने ऐसी आज्ञप्तियाँ जारी करदीं जिनसे चर्च के भीतर पोप की सर्वोच्चता को मान्यता मिल गई। परिषद ने अधिकतर नये धार्मिक विचारों को धर्म विरुद्ध घोषित कर दिया और धर्म की एक सुव्यवस्थित संहिता तैयार कर डाली। उसने अनुशासन के नियम भी निश्चित कर दिये जिससे चर्च की शक्ति बढ़ी, एकता मजबूत हुई और पादरियों के लिये योग्यता और नैतिकता के उच्चतर मापदंड स्थापित हुए।

लगभग उसी समय इग्नेशस लॉयला ने 'ईसा का समाज' नामक संस्था की स्थापना की। यह समाज 'धर्मसुधार विरोधी क्रान्ति' का एक महत्वपूर्ण तत्व था। इसके सदस्य 'जैसुइट' कहलाते थे। उन्होंने यूरोप में धर्म सुधार के फैलाव को रोकने और नये देशों में चर्च के प्रचार कार्यों को आगे बढ़ाने में प्रमुख भूमिका अदा की। राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में जैसुइटों ने विशेष रूप से सक्रिय योग दिया। उनका नेतृत्व स्पेन के कुछ योग्य लेखकों के हाथों में था, जिन्हें चर्च के हितों का संवर्धन करने में ही दिलचस्पी नहीं थी। वे स्पेन के राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाने और स्पेन के राजतंत्र को सुदृढ़ करने के भी इच्छुक थे। स्पेन एक नया राज्य था, और मध्ययुग की राजनीतिक परम्पराओं से सम्बद्ध नहीं था, इसलिये जैसुइट लेखकों ने विश्व साम्राज्य के सिद्धांत का विरोध किया और प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों की पूर्ण समता पर बल दिया।

सामान्यतया जैसुइट लेखकों ने मध्ययुगीन पांडित्यवादी दृष्टिकोण को पुनर्जीवित किया। संत टॉमस एक्विनास के विधि की उत्पत्ति और स्वभाव तथा विधिकर्ता की सत्ता से सम्बन्ध रखनेवाले विचारों की व्याख्या करना ही उनके राजनीतिक चिंतन का मुख्य रूप था। जैसुइटों ने इस दावे का विरोध किया कि राजा लोग दैवी अधिकारों से शासन करते हैं। इसीलिये प्रोटेस्टेंट देशों के वे लोग उन्हें अपना समर्थक मानते थे जिनका विश्वास था कि प्रजा को अपने शासकों का प्रतिरोध करने का अधिकार है। जैसुइटों का विश्वास था कि राजा एक इसी दुनिया का अभिकर्ता है, ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं। उसे अपनी शक्ति प्रजा से प्राप्त होती है, और वह जनता का चुना हुआ प्रतिनिधि है। उनका मुख्य सिद्धांत था कि प्रभुत्व मूलतः जनता में निवास करता है। उनकी दृष्टि में धार्मिक क्षेत्राधिकार राजनीतिक क्षेत्राधिकार से भिन्न था, पहले का स्रोत था ईश्वर और दूसरे का जनता। अतः उन्होंने धार्मिक और राजनीतिक संगठन को पृथक-पृथक माना और कहा कि राज्य पूर्णरूपेण एक मानवीय संस्था है और उसका उद्देश्य लौकिक हितों का संवर्धन करना है। वह एक महत्व की चीज थी कि उन्होंने मध्ययुग की इस धारणा को कि चर्च और राज्य एक ही समाज है त्याग कर इस आधुनिक सिद्धांत को स्वीकार किया कि चर्च और राज्य दो पृथक समाज हैं। इसी विचार को इंगलैंड और स्काटलैंड में काल्विनपंथियों ने विकसित किया।

यद्यपि जैसुइटों का विश्वास था कि चर्च को छोड़कर अन्य कोई सार्वभौम अधिराज्य नहीं हो सकता, फिर भी एक दृष्टि से उन्होंने ईसाई जगत की एकता के विचार को पुनर्जीवित किया। उन्होंने कहा कि स्वतंत्र राज्यों के अस्तित्व के बावजूद संसार में एक ऐसी विधि है जो राष्ट्रीय विधि से उपर है। उन्होंने भी माना की प्रकृति की विधि जिसमें न्याय के आधारभूत सिद्धान्त निहित हैं और जो अंततोगत्वा ईश्वर से व्युत्पन्न हुई है, सार्वभौम है और सभी राष्ट्रों के लिये माननीय है। जब चर्च और राज्य पृथक समाज मान लिये गये और राष्ट्रीय राज्यों की स्वतंत्रता को स्वीकार कर लिया गया तो

उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करने के लिये एक सिद्धांत की आवश्यकता हुई। जैसुइटों ने राज्यों की स्वाधीनता और प्रभुत्व को निःसंकोच रूप से स्वीकार करके, प्राकृतिक विधि को अन्य सभी प्रकार की विधि का आधार मानकर और व्यावहारिक तथा धार्मिक विधि को आदर्श नियमों की सार्वभौम संहिता के रूप में स्वीकार करके अंतर्राष्ट्रीय विधि का मार्ग तैयार कर दिया। उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक जीवन की वास्तविकता और पुराने एकता के आदर्शों का समन्वय करने का प्रत्यन किया।

प्रारम्भ में जैसुइटों के विचारों पर स्पेन का विशेष प्रभाव था, इसका प्रमाण हमें जुआन मैरियाना (१५३६-१६२४)[१४] की रचनाओं में मिलता है। उसने अपनी पुस्तक स्पेन के राजकुमार को, जो आगे चलकर फिलिप तृतीय के नाम से सिंहासन पर बैठा, समर्पित की। उसमें शासकों के लिये व्यावहारिक उपदेश थे। मैरियाना का मत था कि स्वर्ण युग में राज्य नाम की संस्था नहीं थी। किन्तु जब स्वर्ण युग का अन्त हो गया और सुरक्षा की आवश्यकता हुई तो लोगों ने आपस में समझौता करके राज्य का निर्माण कर लिया। एक शासक चुन लिया गया, किन्तु उसको सीमित शक्ति प्रदान की गई और विधि-निर्माण तथा कर लगाने का अधिकार जनता ने अपने हाथों में रक्खा। यदि कोई शासक अनुचित तरीके से शक्ति हथिया ले, अथवा विधिवत चुना हुआ शासक अन्याय और अत्याचार करने लगे तो जनता की सभा को अधिकार है कि वह उसे चेतावनी दे, और यदि फिर भी वह अपना आचरण न सुधारे तो कोई भी गैर-सरकारी नागरिक खुले आम अथवा छल-कपट से उसकी हत्या कर सकता है, शर्त यह है कि उससे लोक जीवन में कम से कम विघ्न पड़े।[१५] मैरियाना ने प्रशासन के व्यावहारिक प्रश्नों, जैसे, कर-व्यवस्था, दरिद्रों की सहायता, सैनिक नीति, की भी विवेचना की, और जनता की सद्भावना कैसे प्राप्त की जाय, इस सम्बन्ध में शासकों को उचित सलाह दी। मैरियाना की पुस्तक का सामान्य दृष्टिकोण मैकियावेली से मिलता-जुलता है। युद्ध को वह अनिवार्य और राज्य-क्षेत्र के प्रसार को आवश्यक मानता था। उसका भी खयाल था कि स्वार्थ मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है, और शासकों को छल-कपट से काम लेना चाहिये। जैसुइटों के ये विचार उनके इस दृष्टिकोण के द्योतक थे कि राज्य चर्च से एक भिन्न और निम्नकोटि की संस्था है और नैतिक प्रश्नों से उसका मूलतः कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्होंने जिस प्रवृत्ति को व्यक्त किया वही आगे चलकर जैसुइट प्रवृत्ति के नाम से विख्यात हुई।

---

१४ देखिये उसकी पुस्तक *De Rege et Regis Institutione* (1599).

१५. मैरियाना विष खिलाकर अथवा पिलाकर हत्या करने के विरुद्ध था, क्योंकि ऐसी दशा में यह माना जायगा कि मरने वाले ने आत्महत्या की है। किन्तु वस्त्रों आदि के द्वारा शरीर में विष पहुँचा कर हत्या करने को मैरियाना ने उचित ठहराया।

इस काल का सबसे प्रभावशाली कैथोलिक लेखक फ्रांसीसी जैसुइट रॉबर्ट बैलरमाइन (१५४२-१६२१)[१६] था। उसने इस सिद्धांत का समर्थन किया कि चर्च में पोप की राजतन्त्रीय स्थिति दैवानुमोदित है। इसको सिद्ध करने के लिये उसे सरकार के विभिन्न रूपों का मूल्यांकन करना पड़ा। उसने काल्विन के अभिजाततन्त्रीय दृष्टिकोण का खण्डन किया और कहा प्लेटो द्वारा प्रतिपादित अभिजाततंत्रीय व्यवस्था एक नगर-राज्य के लिये अच्छी हो सकती है, किन्तु बड़े राज्यों के लिये वह उपयुक्त नहीं होगी। उसका विश्वास था कि निरंकुश राजतंत्र शासन का आदर्श रूप है, किन्तु मनुष्य के विकृत स्वभाव को देखते हुए यही उचित है कि जनता की प्रतिनिधि सभाएँ शासक पर नियंत्रण रक्खें। अन्तिम रूप से राजनीतिक सत्ता जनता में ही निवास करती है। यह जनता का प्राकृतिक अधिकार है। किन्तु वह अपनी सत्ता को शासकों को दे देती है। चर्च और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना करते हुए बैलरमाइन ने कहा कि ये दोनों संस्थाएँ एक दूसरे से भिन्न और पृथक हैं, और पोप को लौकिक मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। उसके इस कथन के कारण उसकी पुस्तक को उन पुस्तकों की सूची में सम्मिलित कर दिया गया जिनका पढ़ना कैथोलिकों के लिये वर्जित था। किन्तु उसने पोप को लौकिक मामलों में हस्तक्षेप करने का यह अप्रत्यक्ष अधिकार दिया कि वह अपने धार्मिक अधिकारों के विरुद्ध कानूनों को न बनने दे और यदि कोई राजा चर्च के विशेषाधिकारों पर आक्रमण करे तो उसे अपदस्थ करदे। फ्रांस के विधिवेत्ताओं ने इस तर्क को बहुत बुरा माना।

अपने एक परवर्ती ग्रन्थ में बैलरमाइन ने पोप की निरंकुश लौकिक सत्ता का समर्थन किया। इस पुस्तक की रचना स्काटलेंड के विलियम बर्कले (१५४६–१६०८)[१७] नामक एक कैथोलिक लेखक के जवाब में हुई थी। बर्कले ने काल्विनपंथियों के राजतंत्र-विरोधी और जैसुइटों के पोप पक्षीय दोनों ही सिद्धान्तों का विरोध किया, क्योंकि वे लोक-प्रभुत्व को लौकिक सत्ता का आधार मानते थे। उसने राज्य के स्वतंत्र स्वभाव को स्वीकार किया, राजाओं के दैवीय अधिकार को माना, और विशेषकर राज-हत्या का विरोध किया। उसके मतानुसार 'बारूद का षड़यंत्र' और हेनरी चतुर्थ का वध जेसुइटों की शिक्षा के परिणाम थे। बर्कले का विश्वास था कि राजतंत्र विरोधी सिद्धांतों से अराजकता को प्रोत्साहन मिलता है, और दैवीय अधिकारों के सिद्धान्त पर

१६. देखिये उसकी पुस्तकें *Disputations* (*1581, 1582, 1593*), और *Tactatus de Protestate Summi Pontificis in Rubus Temporalibus* (*1610*)

१७. देखिये उसके ग्रन्थ *De Regno et Regali Potestate adversus Buchananum Brutum Bouchenium et reliquos Monarchomachos* (1610) और *De Potestate Papae* (1609)

आधारित निरंकुश राजतंत्र ही एक ऐसी नींव है जिस पर सामाजिक और राजनीतिक स्थिरता तथा व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है।

एडम ब्लैकवुड (१५३९–१५८१) स्काटलैंड का एक अन्य कैथोलिक था जिसने प्रेसबिटेरियन नेताओं के स्काटलैंड की राजनीति पर आधिपत्य जमाने के प्रयत्न का विरोध किया, और जिसने बर्कले की भांति भागकर फ्रांस में शरण ली। उसने भी बुकानन के राजतंत्र विरोधी सिद्धांत का विरोध किया और राजाओं के दैवी अधिकार का तथा विनम्र आज्ञापालन के सिद्धान्त का समर्थन किया और कहा कि धर्मद्रोही विश्वासों का दमन करना राज्य का कर्तव्य है। इस काल में स्काटलैंड तथा फ्रांस के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध था। फ्रांस में रहनेवाले स्काटलोग फ्रांस के सुदृढ़ राजतंत्र और हेनरी चतुर्थ का समर्थन करने वाले 'पोलोतीक' के सिद्धांतों से प्रभावित हुए बिना न रह सके। १६११ में बर्कले के **डी पोटेस्टे पेपाइ** का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ, और बर्कले तथा ब्लैकवुड दोनों की रचनाओं का जेम्स प्रथम की रचनाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। फ्रांसीसियों तथा अंग्रेजों के दैवी अधिकार के सिद्धांतों में घनिष्ठ सम्बन्ध था, और आगे चलकर फिल्मर[१८] ने बर्कले तथा ब्लैकवुड को अपना पूर्वगामी स्वीकार किया।

स्पेन में जेसुइटों की कार्यवाहियों से लोगों का धार्मिक उत्साह बढ़ा और नई दुनिया की खोज और विजय से उन्हें मानसिक उत्तेजना मिली। इसका एक फल यह हुआ कि धर्मतांत्रिक विधिवेत्ताओं का एक योग्य सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ। इन लोगों के दो मुख्य प्रयत्न थे। वे विधि तथा नैतिकता में समन्वय करना चाहते थे, और दूसरे, एक सर्वोच्च और अपरिवर्तनशील प्राकृतिक विधि की धारणा का विकास करना चाहते थे जिसके आधार पर मनुष्यों और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन और संचालन किया जा सके। उनका विश्वास था कि विश्व विधि के शासन के आधीन है। अतः उन्होंने दैवी, व्यावहारिक और धार्मिक विधि-शास्त्र की एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत गूंथने का प्रयत्न किया। इन विधिवेत्ताओं में फ्रांसिस्को सुआरेज़ (१५४८–१६१७)[१९] सबसे योग्य था। वह कोइम्ब्रा के विश्वविद्यालय में धर्म-विद्या का आचार्य था। उसने पांडित्यवादी पद्धति को अपनाया और टॉमस एक्विनास का अनुसरण किया। उसने प्राकृतिक विधि की ओर विशेष ध्यान दिया। उसके अनुसार प्राकृतिक विधि वह विधि है जिसे स्वयं ईश्वर ने मनुष्य की आत्मा में आरोपित किया है और जिसके आधार पर उचित तथा अनुचित का विवेक होता है। उसके सिद्धांत अपरिवर्तनशील हैं और सब मनुष्यों के लिये तथा हर देश और काल के लिये उपयुक्त हैं।

बुद्धिवादी विधिवेत्ताओं ने प्राकृतिक विधि और सार्वराष्ट्रीय विधि को मिला दिया था और मानवजाति के सार्वजनिक अनुभव और निर्णय को नैतिकता का आधार

---

१८. देखिये आगे अध्याय १३.

१९. उसके मुख्य ग्रन्थ के **Lactus de Legibus ac deo Legislature (1612)**।

माना था। किंतु सुआरेज़ ने प्राकृतिक विधि और सार्वराष्ट्रीय विधि को एक दूसरे से पृथक माना। उसके कहा कि प्राकृतिक विधि में न्याय की आधारभूत धारणाएँ सम्मिलित हैं और वह नैतिक विधि के अनुकूल होती है। इसके विपरीत सार्वराष्ट्रीय विधि उपयोगिता के सिद्धांतों पर आधारित होती है। प्राकृतिक विधि की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है और सार्वराष्ट्रीय विधि राष्ट्रों को जनता के निर्णय से। इन दोनों के सिद्धान्त परस्पर विरोधी हैं; उनमें मेल नहीं हो सकता। निजी सम्पत्ति और दासता, जिन्हें नैतिक न्याय के सिद्धान्तों के अनुकूल ठहराना कठिन है, सार्वराष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत हैं। युद्ध, शान्ति, सन्धियों और व्यापारिक संहिताओं के नियमों को भी सुआरेज़ ने सार्वराष्ट्रीय विधि के ही अन्तर्गत माना। सुआरेज़ का अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उदीयमान विज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण योग था।

सुआरेज़ ने रोमन विधिशास्त्र का अनुसरण करते हुए माना कि मनुष्य स्वभाव से स्वतंत्र और समान हैं, और राजनीतिक सत्ता सम्पूर्ण समाज में निवास करती है। किन्तु उसका कहना था कि जब एक बार प्रजा संविदा द्वारा अपनी शक्ति राजा को सौंप देती है तो उसके बाद फिर राजा की आज्ञा का पालन करना उसका कर्तव्य हो जाता है; केवल राजा के अत्याचारी और अन्यायी होजाने पर उसकी अवहेलना की जा सकती है। किंतु राजा लोग भी ईश्वर और प्रकृति के कानूनों के अधीन होते हैं। **बेलरमाइन** की भाँति सुआरेज़ ने भी कहा कि पोप को धार्मिक प्रश्नों से सम्बद्ध मामलों को छोड़कर अन्य किसी राजनीतिक विषय में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। मैरियाना की भाँति सुआरेज़ को करारोपण में जो उस समय यूरोप में एक विवादग्रस्त प्रश्न बन रहा था, दिलचस्पी थी। मैरियाना का मत था कि सरकारी व्यय के लिये धन स्वीकृत करने का अधिकार जनता अपने पास रखती है, किन्तु सुआरेज़ का कहना था कि यह अधिकार राजा को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। स्पेन के निरंकुश राजतंत्र को सुआरेज़ आदर्श मानता था, और अन्य कैथोलिक विधिवेत्ताओं की भाँति उसने लोकप्रभुत्व के सिद्धान्त का केवल इसलिये समर्थन किया कि राजा पर आध्यात्मिक सत्ता का नैतिक नियंत्रण रहे, न कि लोकतांत्रिक संस्थाओं की अभिवृद्धि के लिये।

इस युग के राजनीतिक चिन्तन में इटली के एक भिक्षु टॉमस **कैम्पनेला** (१५६८-१६३९) का अनोखा योगदान था[२०]। उसके विचारों में पुराने गैर-ईसाइयों के मानवतावाद, मैकियावेली के भौतिकवाद और ईसाई धर्मविद्या का विचित्र समन्वय देखने को मिलता है। सामाजिक संगठन के सम्बन्ध में **कैम्पनेला** ने प्लेटो के आदर्शों तथा भिक्षुओं के आदर्शों को मिलाने का प्रयत्न किया। उसका विश्वास था कि प्रकृति तथा इतिहास की घटनाओं के मूल में शक्ति, बुद्धि तथा प्रेम के तीन सिद्धान्त काम करते हैं। वह पोप

२०. देखिये उसकी पुस्तक *Civtatis Solis* (१६२३)। मोर्ले के *Ideal Commonalths* नाम के ग्रन्थ में उसका अनुवाद मिलता है।

के निरंकुश शासन को राजनीतिक संगठन का आदर्श रूप मानता था। उसने सम्भाषण की शैली में 'यूटोपिया' के ढंग का एक ग्रन्थ लिखा और उसमें जिनोआ के एक मल्लाह द्वारा खोजे हुए एक अज्ञात समाज का वर्णन किया। उस समाज का शासक सोल नामक एक निरंकुश राजा था जिसका निर्वाचन पोप की भाँति दंडाधिकारियों के एक मंडल द्वारा होता था। राजनीतिक तथा धार्मिक दोनों प्रकार के कार्य एक ही व्यक्ति के हाथों में थे। सोल के तीन मुख्य मन्त्री थे। पोटेंशिया (शक्ति) के हाथों में युद्ध तथा राजनय सम्बन्धी काम था; प्रूडेंशिया (बुद्धि) शिक्षा, कला तथा लोक निर्माण सम्बन्धी विभागों की देखभाल करता था; और एमोर (प्रेम) के सुपुर्द जनता के स्वास्थ्य के संरक्षण और संवर्धन का कार्य था। दो सभाएँ थी। एक में वे लोग सम्मिलित थे जो पुरोहित तथा दंडाधिकारी दोनों का काम करते थे, और दूसरी में सम्पूर्ण जनता शामिल थी। नागरिक तीन वर्गों में विभक्त थे। वे सब एक साथ रहते थे। उनके पास न निजी सम्पत्ति थी और वैयक्तिक पारिवारिक जीवन, और उन्हें राज्य के कठोर निरीक्षण में रहना पड़ता था। ऐसा खयाल किया जाता है कि कैम्पनेला के ग्रन्थ से प्रेरित होकर ही जैसुइट लोगों ने पैरेगुये में अपने साम्यवादी प्रयोग किये।

पठनीय ग्रन्थ

Allen, J. W., *A History of Political Thought in the Sixteenth Century* (New York, MacVeagh, 1928), Part III.

Arnold, F. X., *Die Statslehre des Kardinals Bellarmin* (Munich, Hueber, 1934)

Barker, Ernst, *Church, State and Study* (London, Methuen, 1930), Chap. 3.

Carlyle, A.J. & R.W., *A History of Medieval Political Theory in the West*, 6 Vols. (London, Blackwood, 1903-1936), Vol. VI, Part IV.

Church, W.F., *Constitutional Thought in Sixteenth Century France*, (Cambridge, Harvard Univ. Press, 1941).

Dodge, G. H., *The Political Theory of the Huguenots of the Dispersion* (New York, Columbia Univ. Press, 1947).

Figgis, J. N., *From Gerson to Grotius* (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1907) Chaps. 4-6.

The Divine Right of Kings, 2nd ed. (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1914).

Sabine, G. H., *A History of Political Theory*, rev. ed. (New York, Holt, 1950), Chap. 19.

Shepard, W. R., "*The Expansion of Europe*", Political Science Quarterly, Vol. 34 (March, June, September, 1919).

अध्याय १२

बोदँ और ग्रोशस

सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक राजनीतिक चिन्तन में राज्य के प्रभुत्व के सिद्धांत का रूप बहुत कुछ स्पष्ट हो चुका था। प्रभुत्व में दो धारणाएँ निहित थीं : राज्य के भीतर एक ही सर्वोच्च सत्ता हो सकती है, और राष्ट्रों के परिवार में प्रत्येक राज्य अन्य सभी राज्यों के नियन्त्रण से पूर्ण स्वतन्त्र होता है। इन विचारों के विकास में अनेक चिन्तकों ने योग दिया था, किन्तु उनके सिद्धान्तों को सुव्यवस्थित रूप देने और स्पष्ट रूप से व्यक्त करने का काम दो महान् लेखकों ने किया। प्रभुत्व के आन्तरिक पहलू—राज्य तथा नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध—का निरूपण जाँ बोदँ ने किया। प्रभुत्व के बाह्य पक्ष—एक राज्य का अन्य राज्यों से सम्बन्ध—की ओर ह्यूगो ग्रोशस ने विशेष ध्यान दिया। प्रभुत्व सिद्धान्त की प्रारम्भिक झाँकी हमें अरस्तू की **पालिटिक्स** और रोमक विधि में मिलती है। अरस्तू ने राज्य के अन्दर एक सर्वोच्च सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार किया था, और उसका मत था कि यह सत्ता एक व्यक्ति, कुछ थोड़े से व्यक्तियों अथवा बहुसंख्यक लोगों के हाथों में हो सकती है। रोमक विधि में इस सिद्धान्त का विकास किया गया था कि राज्य की अन्त्य सत्ता नागरिकों के सम्पूर्ण निकाय में निहित होती है किन्तु जनता अपनी शक्ति सम्राट को दे देती है, अतः सम्राट की इच्छा का वही स्थान है जो कि विधि का।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों में रोमक विधि और अरस्तू की **पालिटिक्स** का पुनः अध्ययन आरम्भ हुआ। उसमें राज्य तथा चर्च के बीच हुए विवाद से उत्पन्न प्रभुत्व सिद्धान्त के लिये एक नया आधार मिल गया। पवित्र रोमन सम्राट अपने को पुराने रोम का उत्तराधिकारी मानता और दावा करता था कि मेरी भी वही शक्ति और सत्ता है जो रोमन सम्राट की थी, किन्तु अन्त में उसे भी रोम के इस सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ा कि अन्त्य सत्ता जनता में निवास करती है और शासक उसका अभिकर्ता होता है। ऑगस्टाइन तथा ग्रेगरी सप्तम के प्रभाव से चर्च के प्रारम्भिक लेखक राज्य को मनुष्य के पतन से उत्पन्न एक बुराई मानते थे। आगे चलकर जब अरस्तू का प्रभाव पड़ा तो टॉमस एक्विनास ने सिखाया कि राज्य की सत्ता का स्रोत जनता है। उसने लौकिक सत्ता को मनुष्य से उत्पन्न और आध्यात्मिक शक्ति को ईश्वर से उत्पन्न माना। परिषदीय आन्दोलन के काल में एक और चीज़ सामने आई। लोक-प्रभुत्व के जिस सिद्धान्त का राज्य के सम्बन्ध में प्रतिपादन किया गया था उसको अब चर्च

की व्यवस्था पर भी लागू किया गया। परिषदीय दल ने पोप की सर्वोच्चता का खंडन करने और चर्च की प्रतिनिधि-सभा का समर्थन करने के लिये इस तर्क का प्रयोग किया। सरकार का आधार शासितों की अनुमति है, इस सिद्धान्त से मध्ययुग के लोग भलीभाँति परिचित थे।

लौकिक सत्ता के सम्बन्ध में पोप के जो दावे थे उनका विरोध करने के लिये यह सिद्धांत प्रस्तुत किया गया कि लौकिक शासक भी ईश्वरीय अधिकार से शासन करता है। जब राजाओं की शक्ति बढ़ी और कुछ देशों में राष्ट्रीय राजाओं की अधीनता में प्रोटेस्टेंट धर्म राजधर्म स्वीकार कर लिया गया तो इस सिद्धान्त को और भी अधिक बल मिला। इस तर्क के विरुद्ध कि राजा की शक्ति निरंकुश है और प्रजा को नम्रता-पूर्वक उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये, यह कहा गया कि राजा को अपनी शक्ति एक संविदा के रूप में प्रजा से मिलती है, और यदि राजा न्यायपूर्वक शासन करने के अयोग्य सिद्ध हो तो उस संविदा को भंग किया जा सकता है। लूथर, काल्विन, पोलीतीक, बर्कले, ब्लैकवुड आदि स्काटलैंड के कैथोलिक लेखकों और इंगलैंड के फिल्मर तथा जेम्स प्रथम ने राजाओं के ईश्वरीय अधिकार के सिद्धांत का समर्थन किया। फ्रांस, स्काटलैंड, इंगलैंड और नैदरलैंड्स के काल्विनपंथी राजतंत्रविरोधियों ने और चर्च की सर्वोच्चता के पक्ष में लौकिक सत्ता का विरोध करने वाले जैसुइट लेखकों ने लोकप्रभुत्व का और संविदा पर आधारित सीमित राजतंत्र का समर्थन किया। इस प्रकार सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में राजा और प्रजा के बीच तथा दैवी अधिकार के सिद्धांत और लोकप्रभुत्व तथा सामाजिक संविदा के सिद्धांत के बीच चलने वाले विवाद का मार्ग तैयार हो गया।

प्राचीन तथा मध्ययुग में अनेक ऐसे तत्व काम कर रहे थे जिनके प्रभाव से प्रभुत्व—राज्य में विधि तथा सत्ता का एकल सर्वोच्च और अन्त्य स्रोत—की धारणा का रूप स्पष्ट न हो सका था। अरस्तू ने आत्मनिर्भरता को राज्य का एक विशेष लक्षण माना था, किन्तु उसकी यह धारणा नैतिक थी, विधिक नहीं। रोम के प्रभुत्व सिद्धांत के पीछे एक सार्वभौम विधि और सार्वभौम साम्राज्य की धारणा निहित थी। रोम के पतन के बाद प्राकृतिक विधि और दैवी विधि की धारणाओं का विशेष प्रचार रहा। पहली का अर्थ था कि न्याय के कुछ ऐसे आधारभूत सिद्धांत हैं जो मनुष्य से स्वतंत्र हैं और पृथक रूप से विद्यमान हैं। दैवी विधि को ईश्वर की इच्छा की अभिव्यक्ति माना जाता था। इन दोनों धारणाओं के कारण इस आधुनिक विचार का विकास असम्भव हो गया कि विधि मनुष्य की बनाई हुई होती है और राज्य की सत्ता द्वारा उसे लागू किया जाता है। मध्ययुग में चर्च और राज्य दोनों को एक ही समाज माना गया, और लौकिक तथा आध्यात्मिक सत्ताओं के बीच, जिनका अपना-अपना संगठन और विधि व्यवस्था थी, सर्वोच्चता के लिये संघर्ष चलता रहा। इन कारणों से न तो राज्य के भीतर एकता

स्थापित हो सकी और न शक्ति के उद्गम के सम्बन्ध में ही समझौता हो सका। सामन्ती व्यवस्था ने भी राजनीतिक एकता और सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोका, क्योंकि उसके अन्तर्गत स्थानीय स्वाधीनता और अधिपतियों की पेचीदा व्यवस्था का तथा सीमित सत्ता की ओर संविदामूलक अधिकारों की धारणा का अधिक महत्व था। इसके अतिरिक्त रोम के इस सिद्धांत का भी प्रभाव था कि सरकार का मिश्रित रूप सर्वश्रेष्ठ होता है। अन्त में अनेक निगम निकाय, विशेषकर स्वतंत्र नगर, अपनी-अपनी स्वाधीनता कायम रखने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहते थे।

जब तक राष्ट्रीय राज्यों का उदय नहीं हुआ तब तक आधुनिक प्रभुत्व सिद्धांत की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। प्रान्तों को मिलाकर राज्यों का निर्माण करने की आवश्यकता थी, और सामन्तों तथा चर्च के अधिकारों को कुचल कर एक एकीकृत राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण करना था। इस काम को निरंकुश राष्ट्रीय राजाओं ने पूरा किया। लोग स्थानीय सामन्तों के आपसी झगड़ों से इतने तंग आगये थे कि उनसे छुटकारा पाने के लिये वे राजाओं को मुँह माँगे अधिकार देने को तैयार थे। फ्रांस का राजा पहला व्यक्ति था जिसने सोलहवीं शताब्दी में अपने राज्य का सबसे अच्छा संगठन और अपनी सत्ता का एकीकरण किया; और फ्रांस का जाँ बोदें ही पहला लेखक हुआ जिसने प्रभुत्व को राज्य का सबसे महत्वपूर्ण और आवश्यक गुण माना, और राजा को इस शक्ति का स्रोत घोषित किया।

राज्यों की बाह्य स्वतंत्रता तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में उनकी विधिक समता के सिद्धांत को स्थापित करने में भी इसी प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आईं। रोमन राज्य सार्वभौम सत्ता का दावा किया करता था और अन्य किसी राजनीतिक व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता था। पोपतंत्र के उदय और पवित्र रोमन साम्राज्य की स्थापना से विश्व एकता का विचार इतनी दृढ़ता से जम गया था कि स्वतंत्र तथा प्रभुत्वसम्पन्न राज्यों की धारणा बड़ी कठिनाई से पनप सकी। इसके अतिरिक्त सामन्ती सम्बन्ध इतने स्थानीय, वैयक्तिक और निजी ढंग के थे कि उनका अन्तर्राष्ट्रीय स्वभाव पूर्णतया प्रच्छन्न रहा। जब तक कि केन्द्रीयकृत और बाह्य नियंत्रण से मुक्त राज्यों का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया गया तब तक इस धारणा का उदय न होसका कि ऐसे स्वतंत्र राज्यों का एक समूह हो जो एक अन्तर्राष्ट्रीय विधि व्यवस्था के अन्तर्गत अपने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों का संचालन करते हों। सोलहवीं शताब्दी के अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों और व्यापारिक तथा औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा ने इस प्रक्रिया को तीव्रता प्रदान की। धीरे-धीरे राज्यों के धर्मनिरपेक्ष आधार को मान लिया गया, अथवा कम से कम यह स्वीकार कर लिया गया कि एक राज्य के अन्तर्गत अनेक धर्मावलम्बी रह सकते हैं और प्रादेशिक प्रभुत्व का सिद्धांत भी मान लिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप की एकता की धारणा विलुप्त होगई। इसके अतिरिक्त मानव भ्रातृत्व का पुराना आदर्श भी कायम था और लोगों को

प्राकृतिक विधि की सार्वभौम सत्ता में विश्वास था। इन चीजों ने इस दृष्टिकोण को नहीं पनपने दिया कि राज्यों का एक दूसरे के प्रति कोई कर्तव्य नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का प्रश्न सर्वाधिक महत्वपूर्ण बन गया।

सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप का राजनीतिक विकास उस अवस्था तक पहुँच चुका था जब कि राज्यों की आन्तरिक एकता और उनकी वाह्य विधिक समता के लिये एक सैद्धान्तिक आधार ढूँढ़ निकालने की आवश्यकता महसूस होने लगी। अन्तर्राष्ट्रीय प्रभुत्व और अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सबसे अच्छा प्रतिपादन नैदरलैंड्स के ह्यूगो ग्रोशस ने किया। नैदरलैंड्स का राज्य बहुत छोटा था। उसके निवासी शान्ति चाहते थे, स्वतन्त्र व्यापार में उनकी विशेष रुचि थी, शक्तिशाली पड़ोसियों के आक्रमणों से वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना चाहते और युद्ध का विधिक नियमन करने के पक्ष में थे। यही कारण था कि उस देश में ग्रोशस जैसा विचारक उत्पन्न हुआ। धीरे-धीरे यह विचार यूरोपीय राजनीति का आधार मान लिया गया कि प्रत्येक राज्य को अपने ढंग से अपना विकास करने का अधिकार हो, प्रत्येक राज्य अन्य राज्यों के साथ स्वीकृत नियमों के अन्तर्गत समानता के आधार पर सम्बन्ध स्थापित करे, और कोई राज्य इतना शक्तिशाली न हो कि दूसरों की स्वाधीनता के लिये खतरा उत्पन्न हो सके। राष्ट्रवाद ने विश्व राज्य के आदर्श का स्थान ले लिया; और मध्ययुगीन साम्राज्य की एकता के स्थान पर राष्ट्रों के परिवार तथा शक्तिसन्तुलन के विचार प्रतिष्ठित हुए।

बोदें

ज़ाँ बोदें (१५३०-१५९६)[१] ने राजनीति सिद्धांत के विकास में स्पष्ट योग दिया। उसने कानून की शिक्षा पाई थी और लोकसेवा का उसे अनुभव था, अतः उसके दृष्टिकोण में विद्वत्ता और व्यावहारिकता दोनों का समन्वय मिलता है। उसका सम्बन्ध पौलीतीक[२] से था। उसके सदस्य शान्ति और व्यवस्था की पुनः स्थापना चाहते थे, और उनका विश्वास था कि फ्रांस की सफलता के लिये आवश्यक है कि राजनीतिक गुटबन्दी और धार्मिक विवादों का दमन किया जाय और शक्तिशाली राजतन्त्र की स्थापना हो। अतः बोदें धार्मिक सहिष्णुता का पक्षपाती था और राजा की निर्विवाद सर्वोच्चता का समर्थन करता था। उसका उद्देश्य एक ऐसे राज्य-विषयक सिद्धांत की स्थापना करना था जिससे राष्ट्रीय और प्रादेशिक प्रभुत्व का, जिसकी फ्रांस में पूरे जोर के साथ

१. बोदें का इतिहास दर्शन उसके निबन्ध *Methodus ad facilem Historiarum Cognitionem* (1566) मिलता है। उसका राजनीतिक दर्शन उसकी पुस्तक *Sindivoes de la Republique* (1576) में मिलता है। इस किताब का अंग्रेजी अनुवाद R. Knolles ने किया है।

२. देखिये अध्याय ११।

स्थापना हो रही थी, समर्थन किया जा सकता। इसके अतिरिक्त वह हेनरी नवार के सिंहासन को भी सुदृढ़ करना चाहता था।

बोदें की शैली उन लेखकों की सी नहीं थी जो वाद-विवाद के लिये पुस्तिकाएँ लिखा करते हैं। उसने सच्चे राजनीतिक दार्शनिक की शैली अपनाई और सावधानी से अध्ययन और निरीक्षण करके निष्कर्ष निकाले। वह पहला आधुनिक लेखक था जिसने एक इतिहास-दर्शन का प्रतिपादन किया। उसने इस प्रचलित अन्ध-विश्वास का खंडन किया कि पहले कभी एक स्वर्ण युग था जिससे गिर कर मनुष्य पतन की इस अवस्था में आपड़ा है; और इसके विरुद्ध उसने मानवीय प्रगति के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उसने विधिशास्त्र के अध्ययन में भी ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया। उसका कहना था कि राजनीतिक सिद्धांत का आधार ऐतिहासिक निरीक्षण होना चाहिये, राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करते समय उनके विकास की प्रक्रिया को ध्यान में रखना चाहिये, और विभिन्न युगों तथा विभिन्न प्रकार की राजनीतिक और विधिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण और तुलना करनी चाहिये। इस प्रकार बोदें ने हाब्स की विश्लेषणात्मक पद्धति और मोंटेस्क्यू की ऐतिहासिक पद्धति का मार्ग तैयार किया। आगे के इन दोनों लेखकों ने उसके ग्रन्थ का अध्ययन किया और लाभ उठाया।

अरस्तू की पालिटिक्स से बोदें को अपने राजनीतिक सिद्धांत का ढाँचा बना बनाया मिला गया। बोदें की विषय प्रतिपादन शैली वैसी ही सुव्यवस्थित थी जैसी कि मध्ययुगीन पांडित्यवादियों की, और उसकी मूल धारणाएँ स्पष्ट परिभाषाओं के रूप में व्यक्त की गई हैं। उसने राजनीति को एक बुद्धिपरक विज्ञान का रूप देकर मैकियावेली के काम को आगे बढ़ाया। किन्तु बोदें को राजनीतिदर्शन के सामान्य सिद्धांतों और व्यावहारिक राजनीति दोनों में ही दिलचस्पी थी। मैकियावेली की भाँति उसने भी विधि तथा नैतिकता में भेद माना, किन्तु उनको पूर्णतया पृथक नहीं किया। वह न्याय तथा नैतिक विधि को राजनीति विज्ञान का आवश्यक अंग मानता था। उसने इस विचार को निर्विवाद रूप में स्वीकार कर लिया कि एक प्राकृतिक विधि है, और इस विधि का उसने नैतिक विधि के साथ तादात्म्य स्थापित किया। उसका कहना था कि सर्वशक्तिमान शासक भी इन सिद्धांतों के आधीन होता है, और सरकार का आधार नैतिक उद्देश्य है। बोदें ने नैतिक तथा बौद्धिक उद्देश्यों को राज्य तथा व्यक्ति दोनों के कल्याण का आधार माना।

बोदें का विश्वास था कि राज्य की उत्पत्ति परिवार से हुई है। उसकी दृष्टि में इतिहास तथा तर्क दोनों ही से इस मत की पुष्टि होती थी। अतः उसने व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा सामाजिक संविदा के सिद्धान्त की ओर, जिनका राजतन्त्र-विरोधी चिन्तन में इतना महत्वपूर्ण स्थान रहा था, तनिक भी ध्यान नहीं दिया। उसका कहना था कि परिवार तथा आर्थिक, धार्मिक आदि अन्य प्रकार के समुदायों का उदय मनुष्य की मूल

सामाजिक प्रवृत्ति के कारण हुआ। इन समुदायों के पारस्परिक संघर्ष ने राज्य को जन्म दिया। विजित लोग दास बन गये और विजयी सैनिक सरदार शासक बन बैठे। छोटे-छोटे समूहों को मिला कर राज्य बना लिया गया जो अन्त में संगठन का उच्चतम रूप सिद्ध हुआ। परिवार तथा अन्य प्रकार के समुदायों की विवेचना करते समय बोदँ ने रोमक विधि के सिद्धान्तों का विशेष सहारा लिया। रोम के पितृ प्रभुत्व के सिद्धान्त को उसने परिवार में पिता की सत्ता का आधार माना। अन्य समुदायों को उसने रोमक विधि के निगम सिद्धान्त पर आधारित किया। किन्तु बोदँ कम्पनियों, कम्यूनों आदि विभिन्न समुदायों को फ्रांसीसी राजतन्त्र के अधीन बनाना चाहता था, अतः उसने कहा कि समुदायों के कोई अन्तर्भूत अधिकार नहीं हो सकते[3], उन्हें राज्य की, जो संगठन का अन्तिम रूप और सत्ता का एकमात्र धारण करनेवाला है, अधीनता स्वीकार करनी चाहिये।

चूँकि बोदँ परिवार को राज्य का मूल तत्व मानता था, अतः उसके अनुसार परिवारों के प्रमुख ही केवल नागरिक मंडल के सदस्य हो सकते थे। बोदँ ने यूनानियों के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया कि लोक-जीवन में सक्रिय भाग लेना नागरिक के लिये आवश्यक है। नागरिक विभिन्न श्रेणियों के हो सकते थे और भिन्न प्रकार के अधिकारों और विशेषाधिकारों का उपभोग भी कर सकते थे। किन्तु एक दृष्टि से वे समान थे—वे सब सम्पूर्ण राज्य का नियमन करनेवाली राजनीतिक सत्ता के अधीन थे। राज्य की अधीनता ही नागरिकता की कसौटी थी, और राज्य की तात्विक विशेषता यह थी कि सब नागरिक उसकी उच्चतम सत्ता को स्वीकार करें।

इस प्रकार बोदँ अपने सिद्धान्त की केन्द्रीय धारणा—प्रभुत्व के सिद्धान्त—पर पहुँच गया। उसकी प्रभुत्व की परिभाषा थी : "नागरिकों तथा प्रजाजनों पर शासन करने वाली सर्वोच्च शक्ति जिस पर कानूनों का कोई नियन्त्रण न हो।"[४] उसका कहना था कि प्रभुत्व का मुख्य कार्य कानून बनाना है। प्रभुत्व सर्वोच्च और विधिक दृष्टि से स्थाई तथा सर्वशक्ति सम्पन्न होता है। किन्तु विधिक दृष्टि से सर्वोच्च होने पर भी प्रभु उन नैतिक अधिबन्धनों के अधीन होता है जो ईश्वर की विधि और प्रकृति के कानून में निहित हैं, और अन्य प्रभुओं के साथ की हुई सन्धियों तथा अपनी प्रजा के साथ किये हुए करारों का पालन करना उसका नैतिक कर्त्तव्य है। बोदँ ने कुछ ऐसे आधारभूत राजनीतिक सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया जिन्हें विधि का निर्माता प्रभु बदल नहीं सकता।[५] किन्तु

३. अपने निगमों के सिद्धांत के सम्बन्ध में बोदँ ने पन्द्रहवीं शताब्दी के विधिवेत्ताओं के कार्य को ही जारी रक्खा। आल्थूसियस ने बोदँ से ही अपना समुदाय सिद्धांत लिया था। इतना भेद अवश्य था कि फ्रांस के राजतंत्र विरोधियों की भाँति आल्थूसियस ने भी स्थानीय समुदायों को मूल राजनीतिक इकाइयाँ स्वीकार किया और उन्हें प्राकृतिक अधिकार प्रदान किये।

4. *Six Livres de la Republique*, I. 2.

५. उदाहरण के रूप में उसने फ्रांस की सैलिक विधि (Salic Law) का उल्लेख किया।

उसने उस धारणा का विकास नहीं किया जिसे आजकल राज्य का सांविधानिक आधार माना जाता है। फिर भी उसने विधि तथा रूढ़ि के भेद को सावधानी के साथ व्यक्त किया, और कहा कि प्रभु का आदेश विधि का तत्व है। उसका यह भी कहना था कि कुछ मामलों में प्रभु को अपने पूर्वाधिकारियों के वचनों का पालन करना चाहिये, किन्तु यदि वह चाहे तो विधिक रूप से इन वायदों को बदल भी सकता है, क्योंकि कोई कानून ऐसा स्थाई और अपरिवर्तनीय नहीं हो सकता जो प्रभु की शक्ति के परे हो। जो शासक ईश्वर और प्रकृति के कानूनों को नहीं मानते वे अत्याचारी होते हैं। किन्तु अत्याचारी होने पर भी कोई शासक प्रभु बना रहता है, क्योंकि अत्याचारी शासन और सम्यक राजत्व का भेद नैतिक है। इस प्रकार बोदें ने विधिक दायित्व को नैतिक दायित्व से पृथक करने और विधिक तथा नैतिक धारणाओं के पृथक्करण में महत्वपूर्ण योग दिया।

अपने पूर्वगामी मैकियावेली तथा अनुगामी हॉब्स की भाँति बोदें ने भी राजतंत्र को ही सरकार का सर्वाधिक वांछनीय रूप माना। उसने वास्तविक राजा को ही सैद्धान्तिक प्रभु मान लिया, विशेषकर इंगलैंड, फ्रांस और स्पेन में जहाँ राजा की शक्ति अपने शिखर पर पहुँच चुकी थी। उसने राजा की सत्ता को ईश्वर से व्युत्पन्न माना और विनम्र आज्ञापालन की भावना जाग्रत करने के लिये धर्मशास्त्रों के सुपरिचित उद्धरणों का हवाला दिया। किंतु बोदें ने राज्य तथा सरकार के भेद को सावधानी से स्पष्ट किया और कहा कि प्रभुत्व राज्य का गुण है, और सरकार का रूप उस व्यवस्था से निर्धारित होता है जिसके द्वारा प्रभुत्व का प्रयोग किया जाता है। राज्य तीन प्रकार के हो सकते हैं: राजतंत्रीय, अभिजाततंत्रीय और लोकतंत्रीय। यदि प्रभु शक्ति एक व्यक्ति में निहित है तो उसे राजतंत्र कहेंगे, यदि अल्पसंख्यक नागरिकों में तो अभिजाततंत्र और यदि बहुसंख्यकों में तो लोकतंत्र। सरकार के रूप अर्थात् वे व्यवस्थाएँ जिनके द्वारा प्रभु की इच्छा का पालन किया जाता है, मिश्रित भी हो सकते हैं। किंतु बोदें मिश्रित राज्य के विचार को, जिसकी रोमन लेखकों ने प्रशंसा की थी, सहन नहीं कर सकता था। उसने अपने समय की संसदों तथा एस्टेटस जनरल के दावों का विशेष रूम में विरोध किया और कहा कि इन संस्थाओं का प्रभुत्व में साझा नहीं है, उनका काम केवल परामर्श देने तक ही सीमित होना चाहिए। उसने तत्कालीन यूरोपीय राज्यों की सरकारों का विषद विश्लेषण किया और उनकी शक्ति तथा दुर्बलता के संबंध में चतुराई की बातें कहीं। उसका विश्वास था कि सब चीजों को ध्यान में रखते हुए पित्रागत राजतंत्र सबसे अधिक सन्तोषजनक होता है, क्योंकि उसमें दलगत झगड़े सबसे कम होते हैं, संकट काल के लिये वह सबसे अधिक उपयुक्त होता है, और विस्तृत राज्य क्षेत्र की दृष्टि से उसका संगठन सबसे अच्छा होता है।

अरस्तू की भाँति बोदें ने भी परिवर्तनों अथवा क्रान्तियों के उस चक्र का विवेचन किया, जिसके द्वारा विभिन्न प्रकार के राज्यों का उदय होता है। उसने यह भी बतलाया

कि संस्थाओं तथा कानूनों में होनेवाले परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं : पहले वे जिनका प्रभुशक्ति पर प्रभाव नहीं पड़ता, और दूसरे वे जिनसे प्रभुत्व का निवास-स्थान बदल जाता है। उसका विश्वास था कि राजतंत्र सब से अधिक टिकाऊ होता है और लोकतंत्र में क्रान्ति का सब से ज्यादा डर रहता है। बोदें ने क्रान्ति के कारणों की जो विवेचना की उसमें फलित ज्योतिष तथा अन्धविश्वासों और गम्भीर राजनीतिक सूझ-बूझ का विचित्र मिश्रण देखने को मिलता है। उसका सुझाव था कि प्रत्येक जाति की संस्थाएँ उसकी चारित्रिक विशेषताओं और परिस्थितियों के अनुरूप होनी चाहिये। इस संबंध में उसने भौगोलिक दशा तथा जलवायु के प्रभाव को सबसे महत्वपूर्ण बतलाया[६] और कहा कि उत्तर तथा दक्षिण की जातियों के बीच और पर्वतों तथा मैदानों के निवासियों में इस दृष्टि से भेद होता है जिसका ध्यान रखना आवश्यक है। उसने यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया कि शासन-प्रणाली और विधि के स्वभाव का राष्ट्रीय चरित्र पर प्रभाव पड़ता है।

बोदें ने राज्यविषयक व्यावहारिक समस्याओं की ओर भी पर्याप्त ध्यान दिया। उसने दास प्रथा की निन्दा की और धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन किया। आर्थिक विषयों में उसके विचार समय से बहुत आगे थे। उसने इस बात को भली-भाँति समझ लिया था कि राज्य के धन के वितरण और वास्तविक राजनीतिक शक्ति के स्रोत, इन दोनों के बीच सम्बन्ध होता है। अर्थात् जिनके अधिकार में सम्पत्ति होती है उन्हीं के हाथों राजनीतिक शक्ति केन्द्रित होने लगती है। एक ओर तो वह धन की अति विषमता को घातक मानता था, किन्तु दूसरी ओर साम्यवादियों के समता के सिद्धांत का विरोधी था। उसने क्षेत्राधिकार को स्वामित्व से पृथक माना और कहा कि शासक को प्रजा की निजी सम्पत्ति में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। उस युग में जब कि नौकरशाही और पितृतंत्र का प्राधान्य था बोदें ने स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन किया, और उसका विश्वास था कि वैदेशिक व्यापार पर कर लगाना प्रजा की प्रतिष्ठा के खिलाफ है। उसका कहना था कि राजाओं के लिये धार्मिक शक्ति का प्रयोग करना उचित नहीं है; और चूँकि पिता और पुरोहितों का प्रभाव लोगों पर से उठता जाता है, इसलिये आवश्यक है कि जनता के नैतिक आचरण का निरीक्षण करने के लिये विशेष दंडाधिकारी नियुक्त किये जायँ। बोदें ने शासकों के पारस्परिक सम्बन्धों की ओर भी ध्यान दिया और तद्विषयक सिद्धांतों और व्यवहार की एक रूपरेखा प्रस्तुत की जिसके आधार पर आगे चल कर ग्रोशस ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण किया। प्रभुत्व की धारणा ने राज्य के विधिक व्यक्तित्व के विचार को मजबूत किया और राज्यों की स्वतन्त्रता तथा पारस्परिक समता के सिद्धान्त को बल दिया। बोदें ने प्राकृतिक विधि और सार्वराष्ट्रीय विधि को एक दूसरे से पृथक माना और

६. मोंटेस्क्यू की रचनाओं में इस दृष्टिकोण की पुनरावृत्ति मिलती है।

कहा कि शासक प्राकृतिक विधि के अधीन होता है, सार्वराष्ट्रीय विधि के नहीं। उसने सिखाया कि शासकों को आपसी करारों और सन्धियों का पालन करना चाहिये, शर्त यह है कि वे उचित और न्यायसंगत हो। स्पष्ट है कि इस विषय में बोदें का मैकियावेली से मतभेद था।

बोदें के विचारों का फ्रांस और इंगलैंड के तत्कालीन चिन्तन पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। उसके प्रभुत्व सिद्धांत का प्रभाव तो आज तक चला आ रहा है। जिन लोगों ने फ्रांस के राजतन्त्र को पोप के अतिक्रमण और स्पेन के कुचक्रों के बचाने का प्रयत्न किया उनके साथ इंगलैंड की सहानुभूति थी। बोदें ने कई स्थलों पर यह मत व्यक्त किया कि इंगलैंड में प्रभुत्व राजा में निहित है। उसकी पुस्तक का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ और कैंब्रिज में पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृत कर ली गई। इसमें सन्देह नहीं कि हॉब्स और फिल्मर की रचनाओं पर बोदें के ग्रन्थ का प्रभाव पड़ा था। उससे राजा को मानवकृत कानूनों से मुक्त करने में, और संसद के इस दावे का कि वह राजा पर विधिक नियन्त्रण लगा सकती थी, विरोध करने में सहायता मिली।

ग्रोशस के पूर्वगामी

ग्रोशस से शताब्दियों पहले राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों के लिये बौद्धिक आधार ढूँढ़ निकालने और विशेषकर युद्ध में होने वाले अत्याचारों को रोकने के लिये अनेक प्रयत्न किये गये थे। इन प्रयत्नों में रोमक विधिशास्त्र की दो अभिधारणाओं का प्रयोग किया गया था—प्राकृतिक विधि और सार्वराष्ट्रीय विधि। रोम की सार्वराष्ट्रीय विधि का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। वह जटिल व्यावहारिक विधि से भिन्न थी। उसमें वे नियम सम्मिलित थे जो सभी राष्ट्रों के विधिक आचरण में पाये जाते थे। यद्यपि मुख्यतः उसका सम्बन्ध निजी विधि के प्रश्नों से ही था, फिर भी उसमें युद्ध, संधि सम्बन्धों और व्यापारिक कार्यकलाप से सम्बद्ध समस्याओं का समाधान भी पाया जाता था[७] जो जातियाँ रोम के सम्पर्क में आईं उनमें भी इसी प्रकार के सिद्धांत प्रचलित थे, अतः यह धारणा उत्पन्न होगई कि सार्वराष्ट्रीय विधि सार्वभौम प्राकृतिक विधि का ही अंग है इस धारणा का मध्ययुगीन विचारकों पर दूरगामी प्रभाव पड़ा, क्योंकि वे भी एक ऐसी विधि-व्यवस्था की तलाश में थे जिसका आधार कोई मनुष्य से भी ऊँची सत्ता हो। जब धर्मविद्या और नीति-शास्त्र के लेखकों ने अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्यक आचरण के नियमों को विकसित किया तो उन्होंने रोम की सार्वराष्ट्रीय विधि का ही सहारा लिया क्योंकि उसमें सार्वभौम दायित्व का गुण माना जाता था।

चर्च के प्रारम्भिक लेखकों ने रोम के नैतिक और विधिक दायित्व की अभि-

७. देखिये अध्याय ६।

धारणाओं का ईसाइयत के सिद्धांतों की दृष्टि से पुनरीक्षा की। चौथी शताब्दी में सन्त आगस्टाइन ने यह निश्चित करने का प्रयत्न किया कि ऐसे कौन-कौन अवसर होसकते हैं जब कि युद्ध करना न्यायसंगत माना जासके और जब हथियार उठाना ईसाइयों का कर्तव्य हो जाय। सातवीं शताब्दी में सेवाइल के आइसाडोर* ने उल्पियन की विधि संहिता† में जिस सार्वराष्ट्रीय विधि का उल्लेख था उसके मुख्य-मुख्य अंगों का निरूपण किया। बारहवीं शताब्दी में ग्रेशियन ने सार्वराष्ट्रिक विधि का एक वर्गीकरण किया और युद्ध की विधि को भी उसमें सम्मिलित किया। सन्त टामस एक्विनास ने प्राकृतिक विधि और सार्वराष्ट्रीय विधि के भेद को ही स्पष्ट नहीं किया अपितु युद्ध से सम्बद्ध नैतिक समस्याओं की ओर भी ध्यान दिया। चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों में धर्म-शास्त्रियों और विधिवेत्ताओं ने अनेक पुस्तिकाएँ लिखी जिनमें युद्ध और प्रत्यपकार की वैधता, शत्रु के साथ विश्वासघात न करने के दायित्व और विराम सन्धियों का पालन करने के कर्तव्य आदि प्रश्नों का विवेचन किया।

तेरहवीं शताब्दी में और उसके बाद विलियम ओकम, मार्सीलिउस और दान्ते आदि जो राजनीतिक दार्शनिक हुए उन्होंने सम्राट और पोप का समर्थन अथवा विरोध करके प्रभुत्व और राजनीतिक इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों के स्वभाव की अधिक अच्छी तरह समझने के लिये मार्ग तैयार कर दिया। मैकियावेली ने इटली की विशिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रखकर युद्ध, सन्धियों और राज्यविस्तार के प्रति शासकों की नीति के सम्बन्ध में गम्भीरता से विचार किया। सर टॉमस मोर ने अपनी **यूटोपिया** में युद्ध के तरीकों का मखौल उड़ाया, युद्ध को अनावश्यक माना और उसकी निन्दा की तथा कुछ ऐसे सुझाव दिये जिनसे युद्ध सम्बन्धी अत्याचार कम किये जा सकें। बोदाँ ने, जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की ओर पर्याप्त ध्यान दिया। उसने नागरिकता, भक्ति, मैत्री सम्बन्धों, परिसंघों, तटस्थों तथा तटवर्ती राज्यों के अधि-कारों का विवेचन किया। प्रभुत्व सम्बन्धी एक निश्चित सिद्धांत प्रतिपादित करने के अतिरिक्त उसने तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार पर भी काफी प्रकाश डाला।

धर्मसुधार के युग में स्पेन में जो नैतिक धर्मविद्या के लेखक हुए उन्होंने व्यावहा-रिक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का विशद विवेचन किया। उन्होंने सम्राट के सार्वभौम प्रभुत्व और पोप की लौकिक सत्ता दोनों को ही स्वीकार करने से इन्कार किया, और रोम के सर्वभौम विधि के सिद्धांत को माना। उन पर नई खोजों और यूरोप के क्षेत्रीय प्रसार का प्रभाव पड़ा था। उनका विचार था कि ईसाई जगत स्वाधीन राजाओं और स्वतंत्र राज्यों का समाज है और उनके पारस्परिक अधिकार प्रकृति तथा राष्ट्रों की विधि द्वारा निश्चित हैं। मानव आचरण के व्यावहारिक प्रश्नों का विवेचन करते हुए उन्हें प्रायः

---

* Isadore of Seville.

† Ulpian's *Institutes*.

बाध्य होकर अन्तर्राष्ट्रीय समस्या की ओर ध्यान देना पड़ा, और इस प्रकार उन्होंने स्वीकृत अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांतों के एक निकाय की रचना कर डाली। इन लेखकों में फ्रांसिस्को विक्टोरिया (१४८०–१५४६)[८] का अधिक महत्व था। वह डोमिनिकन सम्प्रदाय का अनुयायी और सालामांका में धर्मविद्या का आचार्य था। उसने इस बात की समीक्षा की कि युद्ध के उचित कारण क्या हो सकते हैं और इस प्रश्न का भी विवेचन किया कि पश्चिम के नये खोजे हुए देशों में स्पेन की सत्ता का क्या आधार है और उसकी क्या सीमाएँ हैं, विशेषकर उसने स्पेनियों और 'इण्डियन' कहलानेवाली वहाँ की मूल जातियों के सम्बन्धों और खोज तथा विजय द्वारा प्राप्त किये हुए अधिकारों की ओर अधिक ध्यान दिया।

सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करनेवाले कानूनों पर सुव्यवस्थित ग्रन्थों की रचना होने लगी। कोनार्ड ब्रौन (१४६१-१५६३)[९] ने पोप के प्रतिनिधि के अधिकारों और कर्तव्यों की विवेचना की ओर राजनयिक व्यवहार के अनेक सिद्धांत निर्धारित किये। फर्डीनेंड वास्क्वेज (१५०६-१५६६)[१०] ने स्पेन के प्रादेशिक प्रभुत्व का समर्थन किया और एक मिश्रित प्राकृतिक तथा सार्वराष्ट्रीय विधि को स्वतंत्र राज्यों के सम्बन्धों का नियमन करनेवाला माना। उस काल में इटली के नगर विदेशी जहाजों को एड्रियाटिक तथा लिगूरियन समुद्रों में आने से रोकते थे; वास्क्वेज ने उनके अधिकार को चिनौती दी और समुद्रों की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। बाल्थाजार आयला (१५४८-१५८४)[११] नेदरलैंडस में स्पेन की सेना का न्यायाधीश अधिवक्ता था। उसने एक पुस्तक लिखी जिसमें युद्ध का स्वभाव, युद्ध से सम्बन्धित अधिकारों, प्रत्यपकार तथा लूट विषयक रिवाजों, युद्धवन्दियों के साथ व्यवहार, वचन-पालन का कर्तव्य और सेनानायक के गुणों तथा कर्तव्यों का विवेचन किया। आयला ने रोम के सैनिक उदाहरणों, रोमक विधि के निर्णयों और स्पेन की राष्ट्रीय विधि का बहुत कुछ अनुकरण किया। उसने चर्च की धार्मिक विधि तथा प्राकृतिक विधि, दैवी विधि और सार्वराष्ट्रीय विधि का भी उल्लेख किया। फ्रांसिस्को सुआरेज (१५४८-१६१७)[१२] ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि का एक पूर्ण दार्शनिक सिद्धांत प्रतिपादित किया। उसने प्राकृतिक विधि और सार्वराष्ट्रीय विधि को एक दूसरे से स्पष्टतया भिन्न माना, राष्ट्रों की स्वाधीनता और पारस्परिक निर्भरता को स्वीकार

८. देखिये उसकी पुस्तक *Reflectiones Theologice* (1551)।
९. देखिये उसकी पुस्तक *De Legationibus* (1548)।
१०. देखिये उसकी पुस्तक *Illustrum Controversarium aliorumque usu frequentium Libri tres* (1564)।
११. देखिये उसकी पुस्तक *De jure et officiis bellicis et disciplina militari* (1582)।
१२. देखिये उसकी रचना *Tractus de Legibus ac Deo Legislatore* (1613)।

किया, राज्यों के एक वास्तविक समाज की कल्पना की, और आग्रह किया कि ऐसी विधि का होना आवश्यक है जिसका सब राष्ट्रों को पालन करना चाहिये। जैसे ही सुआरेज़ की अभिधारणाओं को व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में लागू किया गया वैसे ही एक अन्तर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण सम्भव हो गया।

अल्बीरिको गैन्टीली (१५५२-१६०८) ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि की धारणा को एक विकसित अवस्था पर पहुँचा दिया। गैन्टीली एक इटली का शरणार्थी था। उसने जाकर आक्सफोर्ड में शरण ली। जिन दिनों वह वहाँ अपने व्याख्यान देरहा था, उन्हीं दिनों स्पेन की परिषद ने एक राजदूत के मुकद्दमे में उसकी सलाह माँगी। तब उसने अपनी पहली पुस्तक लिखी[१३] जिसमें राजनयिक दूतमंडलों की एक ऐतिहासिक रूपरेखा और उनका एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया। उसने राजदूतों के अधिकारों और उन्मुक्तियों तथा भेजनेवाले और स्वीकार करनेवाले राज्यों के साथ उनके सम्बन्धों का विवेचन किया। आक्सफर्ड में व्यावहारिक विधि का रीगियस प्रोफेसर नियुक्त होने के बाद उसने अपना सर्वाधिक विख्यात ग्रन्थ[१४] लिखा। उसमें उसने युद्ध के स्वभाव का, कौन युद्ध लड़ सकता है, युद्ध के न्यायसंगत कारण क्या हो सकते हैं आदि प्रश्नों की समीक्षा की। उसने युद्धों का वर्गीकरण किया, युद्ध चलाने के तरीकों पर विचार किया और धन-जन पर युद्ध के प्रभावों पर प्रकाश डाला। उसने सन्धियों के स्वभाव पर विचार किया और बतलाया कि उनका कहाँ तक पालन किया जा सकता है। अपने आखिरी दिनों में गैन्टीली ने अपना अन्तिम ग्रन्थ[१५] लिखा जो उसकी मृत्यु से पहले प्रकाशित न हो सका। इसमें उसने युद्धकारी तथा तटस्थ राज्यों के अधिकारों एवं कर्तव्यों को निर्धारित करने की दिशा में काफी आगे कदम बढ़ाया और प्रभुत्व के प्रादेशिक आधार को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। इस प्रकार गैन्टीली ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के वर्धमान सिद्धांत को अपने समय की व्यावहारिक समस्याओं में लागू किया। यद्यपि उसने अपने विचारों को शृंखलाबद्ध करके एक पूर्ण व्यवस्था का निर्माण नहीं किया, फिर भी ग्रोशस के सिद्धांत में उसका प्रमुख योग था, और अपने तटस्थता के सिद्धांत में तो वह अपने प्रतिभाशाली उत्तराधिकारी (ग्रोशस) से भी आगे था।

ग्रोशस

डच विधिवेत्ता ग्रोशस (१५८३-१६४५) की रचनाओं से अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धांतों को अन्त में सामान्य मान्यता मिल गई। ग्रोशस ने अपने पूर्वगामी लेखकों के ग्रन्थों का प्रयोग करके अपने सुविख्यात ग्रंथ **डी जुरे बैली एस पेसिस** (युद्ध तथा शांति

१३. The *De Legationibus* (1585)।
१४. The *De Jure Belli* (1588)।
१५. *Hispanicae Advocationis Libri Duo.* (1613)।

का कानून) में, जिसका प्रकाशन १६२५[१६] में हुआ, अन्तर्राष्ट्रीय विधि की एक परि-पूर्ण व्यवस्था की रचना की। इस ग्रन्थ का जो इतना व्यापक प्रभाव पड़ा उसके तीन मुख्य कारण थे : लेखक की ख्याति, विषय की व्यापकता और सुव्यवस्थित विश्लेषण, तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि का नीतिशास्त्र और विधिशास्त्र से पृथक्करण।

ग्रोशस का जन्म एक संभ्रान्त और सुविख्यात परिवार में हुआ था। अपने समय की मानवतावादी विद्याओं का वह अच्छा पंडित था और विशेषकर विधिशास्त्र का। नैदरलैंड्स की प्रान्तीय और म्यूनिसिपल सरकारों के अन्तर्गत उसने ऊँचे-ऊँचे पदों पर काम किया और इंगलैंड तथा फ्रांस मे विशेष दूतमंडलों का सदस्य हो कर गया। वह उस काल में हुआ जबकि फ्रांस में गृह-युद्ध चला, इंगलैंड और हालैंड में धार्मिक उपद्रव हुए, स्पेन तथा संयुक्त प्रान्त के बीच युद्ध का अन्तिम दौर चला और तीस वर्षीय युद्ध हुआ। इन घटनाओं का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसलिये अपने देश में पुनः शान्ति स्थापित करने और उसकी विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने के उद्देश्य से उसने **डी जूरे बैली एस पेसिस** नाम का ग्रन्थ लिखा। इसमें उसने सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि युद्ध तथा युद्ध-संचालन के सम्बन्ध में एक सार्वराष्ट्रीय विधि विद्यमान है जिसका सब राष्ट्रों में चलन है। इस उद्देश्य से उसने प्राकृतिक विधि और सार्वराष्ट्रीय विधि का विशद विश्लेषण किया और बतलाया कि इनमें सार्वभौम मान्यता के विधिक नियम सन्निहित हैं। इस बात का निर्णय करने के लिये कि एक लोक-युद्ध में पक्ष ग्रहण करने का अधिकार किसको हो सकता है, उसने राज्य के अन्दर प्रभुत्व के स्वभाव और निवास स्थान के सम्बन्ध में जाँच की। अतः उसके राजनीतिक सिद्धान्त के तीन अंग थे : प्राकृतिक विधि, सार्वराष्ट्रीय विधि और प्रभुत्व।

उस समय यह सिद्धांत प्रचलित था कि न्याय का कोई सार्वभौम प्रतिमान नहीं है, अतः उपयोगिता विधि के औचित्य और अनौचित्य की एकमात्र कसौटी है। आगे चलकर हॉब्स ने इस सिद्धांत का विशेष रूप से समर्थन किया। ग्रोशस ने इस सिद्धांत का खंडन किया और बतलाया कि न्याय और नैतिकता का तात्विक अस्तित्व है और वे चीजों के स्वभाव में ही सन्निहित हैं, और यह नियम जिस प्रकार मनुष्यों के बीच प्रचलित है वैसे ही राष्ट्रों के बीच भी होना चाहिए। उसने **प्राकृतिक विधि** और **ऐच्छिक विधि** के बीच भेद किया। सम्यक विवेक का समादेश ही **प्राकृतिक विधि** है। वह विवेकयुक्त स्वभाव के अनुकूल है और इसलिये ईश्वरीय समादेश के अनुकूल है। वह स्थायी और अपरिवर्तनशील है। ग्रोशस ने बतलाया कि दूसरों के साथ मिलकर रहना मनुष्य के लिये स्वाभाविक है, और इस प्रकार उसने इस सिद्धांत का प्रतिपादन

१६. ग्रोशस का अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ *Mare Liberum* (1609) है संयुक्त प्रान्त (हालैंड) तथा पोर्चुगाल के बीच पूर्वीय देशों के व्यापार के नियंत्रण के लिये जो विवाद चला उसी के परिणामस्वरूप यह पुस्तक लिखी गई।

किया कि मनुष्य की सामाजिक मूलप्रवृत्ति प्राकृतिक विधि का एक स्रोत है। जिस चीज को विवेक सामाजिक अस्तित्व की आवश्यकताओं के अनुकूल समझता हो, वही नैतिक और न्यायसंगत है। पांडित्यवादियों ने शुद्ध प्राकृतिक विधि और विशिष्ट परिस्थितियों से सम्बद्ध प्राकृतिक विधि के बीच भेद किया था। आदिम अवस्था में जबकि राजनीतिक साहचर्य का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, मनुष्य शुद्ध प्राकृतिक विधि के अनुसार जीवन बिताता था, किंतु आगे चलकर परिस्थितियों के प्रभाव के कारण उस विधि में परिवर्तन होगया। ग्रोशस ने इस भेद को स्वीकार कर लिया और इस प्रकार वह विभिन्न विचारों और रूढ़ियों को एक व्यवस्था के अन्तर्गत गूँथने में सफल हुआ। उसने कहा कि आत्म-रक्षा के सिद्धांत के अनुसार युद्ध प्राकृतिक है।

ग्रोशस ने सार्वराष्ट्रीय विधि को ऐच्छिक विधि के अन्तर्गत सम्मिलित किया और कहा कि इस प्रकार की विधि या तो मानवीय इच्छा से उत्पन्न होती है या ईश्वरीय समादेश से। मानवीय ऐच्छिक विधि में ये सम्मिलित हैं : व्यावहारिक विधि जिसका स्रोत राज्य की प्रभु सत्ता है; इससे कम व्यापक विधि जैसे पिताओं और स्वामियों के आदेश जिसका आधार व्यावहारिक विधि ही होती है; और सार्वराष्ट्रीय विधि जिसका क्षेत्र व्यावहारिक विधि से भी अधिक विस्तृत है। दैवी ऐच्छिक विधि वह थी जो सृष्टि के बाद, जल प्रलय के उपरान्त और ईसा की शिक्षाओं के रूप में ईश्वर ने मनुष्य को दी थी। इस प्रकार ग्रोशस ने प्राकृतिक विधि को ईश्वरीय विधि से पृथक किया और अपने समय की बुद्धिवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया। सुआरेज़ की भाँति उसने प्राकृतिक विधि और सार्वराष्ट्रीय विधि में भी भेद किया, यद्यपि उसका विश्वास था कि राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में प्राकृतिक विधि के आधारभूत सिद्धांत ही लागू किये जाने चाहिये।

अपने पूर्वगामी विचारकों के मुकाबिले में ग्रोशस ने सार्वराष्ट्रीय विधि के सिद्धांतों और विस्तार को अधिक पूर्णता के साथ विकसित किया। साथ ही साथ उसने सार्वराष्ट्रीय विधि के अर्थ में भी परिवर्तन कर दिया। पहले उसका अभिप्राय उन नियमों से था जो सभी राष्ट्रों में प्रचलित थे; ग्रोशस ने उसका अर्थ लगाया राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करनेवाले नियम। उसने उन सिद्धांतों को लेकर जो निरन्तर प्रयुक्त होने के कारण सामान्यतया स्वीकार कर लिये गये थे, और विद्वानों, विशेषकर अपने पूर्वगामी जैन्टीली, के मतों को ग्रहण करके, अपने समय की परिस्थितियों पर लागू होनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र की काफी विस्तार के साथ मीमांसा की। व्यावहारिक सिद्धांतों का निर्णय करते समय उसने अपने प्राकृतिक विधि और सार्वराष्ट्रीय विधि के भेद की उपेक्षा की। उसने उन व्यवहृत रूढ़ियों को चुन लिया जो उसे प्राकृतिक न्याय के अनुकूल जान पड़ी, और अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के नियमों को विवेक तथा नैतिकता के उन सिद्धांतों से मिला दिया जो उसके निजी निर्णय के अनुकूल

थे। जिन प्रश्नों का उसने विवेचन किया उनमें मुख्य ये थे : न्यायसंगत युद्ध का स्वभाव और कारण, युद्ध चलाने के तरीके, जन-धन पर युद्ध का प्रभाव, प्रसार का अधिकार, उन्नत जातियों का असभ्य जातियों से सम्बन्ध, दासत्व आदि।

यद्यपि ग्रोशस को मुख्यतया प्राकृतिक विधि और सार्वराष्ट्रीय विधि में ही दिलचस्पी थी, किन्तु अपने सिद्धांत का आधार कायम करने के लिये प्रसंगवश उसे राज्य के स्वभाव और प्रभुत्व का भी विवेचन करना पड़ा। लेकिन उसने सरकार के संगठन और नीति से सम्बद्ध व्यावहारिक समस्याओं की ओर ध्यान नहीं दिया। उसकी परिभाषा के अनुसार राज्य स्वतन्त्र व्यक्तियों का पूर्ण संघ है और उसका उद्देश्य है विधि को संरक्षण प्रदान करना तथा सार्वजनिक कल्याण का संवर्धन करना। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ग्रोशस ने यूनानी तथा रोमन सिद्धांतों का समन्वय कर दिया। यूनानी विचारक राज्य को मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्ति की उपज मानते थे, और रोमन लोगों का खयाल था कि प्रकृति की अवस्था में रहनेवाले लोगों ने उपयोगिता की दृष्टि से संविदा के आधार पर राज्य का निर्माण कर लिया। यद्यपि उसने राज्य की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्व दिया और स्वीकार किया प्राकृतिक विधि के अधीन मनुष्य को प्राकृतिक अधिकार उपलब्ध हैं फिर भी उसने सामाजिक संविदा के सिद्धांत पर उतना बल नहीं दिया जितना कि उसके पूर्वगामी राजतन्त्र-विरोधियों ने अथवा हॉब्स, लॉक आदि उसके अनुयायियों ने दिया।

ग्रोशस के प्रभुत्व सिद्धान्त का मुख्य आधार सुआरेज़ और बोदें के विचार थे, किन्तु उसकी धारणा उनके मुकाबिले में कम सुनिश्चित और तर्कसंगत थी। उसकी परिभाषा के अनुसार प्रभुत्व सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति है जो ऐसे व्यक्ति में निहित होती है जिसके कार्यों को कोई मानवीय इच्छा रद्द नहीं कर सकती। किन्तु जब यूरोप के वास्तविक राज्यों के सम्बन्ध में उसने प्रभुत्व का विवेचन किया तो इस परिभाषा पर दृढ़ नहीं रहा, और स्वीकार किया कि प्रभुत्व विभक्त और परिसीमित हो सकता है। सम्भवतः उसके इस दृष्टिकोण को अपनाने का कारण यह था कि वह अर्ध-सामन्ती राजाओं द्वारा लड़े गये युद्धों पर अपनी अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों की व्यवस्था का नियन्त्रण लागू करना चाहता था। ग्रोशस यह निर्धारित करने का इच्छुक था कि कौन-कौन से राजनीतिक निकाय युद्ध लड़ने के अधिकारी हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त वह लोक-प्रभुत्व के सिद्धान्त का भी खंडन करना चाहता था, क्योंकि शान्ति और व्यवस्था के कायम रखने में उसकी बड़ी दिलचस्पी थी और उसका विश्वास था लोक-प्रभुत्व का सिद्धान्त ही सारे उपद्रवों और कलहों की जड़ है। उसका कहना था कि जनता को अधिकार है कि अपने लिये जिस प्रकार की सरकार चाहे चुन ले, किन्तु एक बार चुन लेने पर उसकी आज्ञा का पालन करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। प्रतिरोध के अधिकार का उसने विशेष रूप से विरोध किया। उसके राजत्व सिद्धांत के कारण ही उस काल के राजाओं को उसका

ग्रन्थ बहुत पसन्द आया, और यही कारण था कि वेस्टफेलिया के शान्ति सम्मेलन पर, जो कि यूरोप का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन था, इसका प्रभाव पड़ा। निरंकुश राजतन्त्र, प्रादेशिक प्रभुत्व और राज्यों की समता उसके सिद्धान्त के मुख्य अंग थे। ग्रोशस का महान कार्य यह था कि उसने अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था का निर्माण किया जिसको राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में लागू किया जा सकता था, और विधि को उसने उस व्यवस्था का आधार बनाया। उसके इस कार्य का विशेष महत्व इसलिये था कि उस समय तक यूरोप की एकता भंग हो चुकी थी और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की मान्यता लुप्त हो चुकी थी। मध्ययुगीन सिद्धान्त के अनुसार वैयक्तिक भाई-चारे का सम्बन्ध विश्व-एकता के आदर्श का आधार था। इसके विपरीत ग्रोशस ने प्रभुत्वसम्पन्न राज्य को अपने अन्तर्राष्ट्रवाद का घटक (इकाई) माना। अपने प्रभुत्व-सिद्धान्त द्वारा ग्रोशस ने निरंकुश राजाओं की स्थिति को दृढ़ता प्रदान की। उसने बतलाया कि प्रभु शक्ति एक निजी अधिकार है और वह राजा की अपनी सम्पत्ति के सदृश है। इस विचार से राजाओं के निरंकुशतंत्र को विशेष बल मिला।

किन्तु साथ ही साथ ग्रोशस के सिद्धांत में कुछ ऐसे भी तत्व थे जिनसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता के आदर्श को बढ़ावा मिला; उसने राज्य को संविदा से उत्पन्न माना और कहा कि राजाओं के पारस्परिक सम्बन्ध में भी प्राकृतिक विधि के अधीन संविदा पर आधारित हैं। उस समय महाद्वीपीय यूरोप की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं कि ग्रोशस के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और निरंकुश राजतंत्र के सिद्धान्त बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। किन्तु इंगलैंड में स्थिति भिन्न थी। अतः वहाँ शीघ्र ही राजतन्त्र विरोधी सिद्धांतों को अमल में लाने का प्रयत्न किया गया।

पठनीय ग्रन्थ

Allen, J. W., *A History of Political Thought in the Sixteenth Century*, (New York, MacVeagh, 1928), pp. 394-444.

Carlyle, A. J. & R. W., *A History of Medieval Political Theory in the West*, 6 Vols. (London, Blackwood, 1903-1936), Vol. VI, Part IV, Chap. 3.

Gerbrandy, P. S., *National and Internationl Stability: Althusius, Grotius, Van Vollenhoven*, (London, Oxford Univ. Press, 1944)

Kaltenborn, Carl, *Kritik des Volkerrechts* (Leipzig, Mayer, 1847)
Die Vorlaufer des Hugo Grotius (Leipzig, Mayer, 1848).

Knight, W. S. M., *The Life and Work of Hugo Grotius* (London, Sweet, 1925).

Maritain, Jacques, "The Concept of Sovereinty." *American Political Science Review*, Vol. 44 (June, 1950)

Nussbaum, Arthur, *A Concise History of Law of Nations* (New York, Mamillan 1947) Chap. 3-4.

Sabine, G. H, *A History of Political Theory*, rev. ed. (New York, Holt, 1950) Chap. 20-21.

Shepard, Max, "Sovereignty at the Crossroads. Our Study of Bodin," *Political Science Quarterly*, Vol. 45 (December, 1930)

Van Der Molen, Gezina, *Alberico Gentili* (Amerstendom, H. J. Paris 1937).

———

अध्याय १२

इंगलैंड में प्यूरिटन क्रान्ति

क्रान्ति से पहले इंगलैंड का राजनीतिक चिन्तन

लेखकों ने बार-बार इस बात की ओर संकेत किया है[1] कि रोम तथा इंगलैंड के राजनीतिक विकास में आश्चर्यजनक सादृश्य देखने को मिलता है। दोनों ही राज्यों की जनता ने विशिष्ट प्रशासनीय योग्यता का परिचय दिया और धीरे-धीरे व्यावहारिक अनुभव के आधार पर अपनी-अपनी सांविधानिक व्यवस्थाओं का निर्माण किया। दोनों ही देशों में पहले राजनीतिक संस्थाएँ विकास के उच्च स्तर पर पहुँच गई, उसके बाद कहीं उल्लेखनीय राजनीतिक चिन्तन का उदय हुआ। मध्य युग में इंगलैंड का राजनीतिक जीवन परिश्रमसाध्य और संघर्षमय था। किन्तु उस काल के गर्म से गर्म विवाद के दौरान में भी राजनीतिक दर्शन का कहीं पता नहीं लगता। विवाद में संलग्न पक्षों ने विधि तथा रूढ़ि का सहारा लिया, समान्य सिद्धांतों का नहीं। इसी प्रकार इंगलैंड के राजाओं और पोप के बीच जो विवाद चला उसमें भी कहीं राजनीतिक सिद्धांत की उलझन देखने को नहीं मिलती। प्रतिरोध करनेवालों ने राजनीतिक आवश्यकता और लिखित अथवा रूढ़िगत विधि को अपने पक्ष का समर्थन करने के लिये पर्याप्त समझा।

अन्त में रोम तथा इंगलैंड दोनों ने ही एक सैद्धांतिक व्यवस्था का निर्माण कर लिया और दोनों ही अपनी-अपनी संस्थाओं को निरपेक्ष पूर्णता का नमूना मान बैठे। रोम के संविधान की जैसी प्रशंसा पोलीबिउस (एक यूनानी) और सिसेरो (एक रोमवासी) ने की वैसे ही प्रशंसा मौंटेक्यू (एक फ्रेंच), ब्लैकस्टोन और बर्क (दोनों अंग्रेज) ने इंगलैंड के संविधान की। दोनों ही राज्यों ने एक अद्भुत विधि-व्यवस्था का सृजन किया और दोनों ने अपनी विधि-व्यवस्थाओं को संसार के बड़े भाग पर लागू किया। किन्तु रोम और इंगलैंड में एक अन्तर था। रोमन लोगों ने अपनी विधि को एक सुसम्बद्ध संहिता का रूप दिया। इसके विपरीत इंगलेंड की विधि राजकीय न्यायालयों के निर्णयों के रूप में ही चलती रही, एक दो लेख्य भले ही

[1] देखिये A. Durning, *Political Theories from Luther to Montesquieu* (1905), p. 192—193; James Bryce *Studies in History and Jurisprudence* (1901), pp. 1—3. 14—16.

के अपवाद थे। इंगलैंड की विधि में पूर्वोदाहरण तथा रूढ़ि का विशेष स्थान रहा; र यह नमनीय तथा निरन्तर वृद्धिमान "सामान्य विधि" इंगलिश विधि-व्यवस्था की ; महत्वपूर्ण विशेषता बन गई। और इस विशेषता पर इंगलैंड के लोग अत्यन्त प्राचीन ल से गर्व करते आये हैं।

इंगलैंड का राजनीतिक विकास महाद्वीपीय यूरोप के विकास से अनेक बातों भिन्न था। इंगलैंड को नौर्मन विजेताओं ने बहुत पहले ही एकीकृत कर दिया था र एक सुदृढ़ और केन्द्रीयकृत राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर दी थी। सामन्ती वस्था से सम्बद्ध प्रशासनीय संस्थाएँ वहाँ कभी दृढ़ता से स्थापित न होसकीं। ष्ट्रीय संसद तेरहवीं शताब्दी के बाद निरन्तर कायम रही। यद्यपि उसमें विभिन्न र्गों का प्रतिनिधित्व था, किन्तु सामन्त तथा पादरी एक ही सदन में साथ-साथ बैठते । महाद्वीप की प्रतिनिधि संस्थाएँ निरंकुश राजतन्त्र के दौरान में समाप्त हो गईं। गलैंड में सामन्त वर्ग तथा जनता के बीच सम्बन्ध जितना निकट का था, उतना रोप के अन्य देशों में नहीं देखने को मिलता था, और राजा की शक्ति को बहुत हले निश्चित प्रकार से सीमित कर दिया गया था। अभिषेक के समय की शपथों, ाजकीय सनदें और प्रतिज्ञापत्र जिनका सबसे अच्छा उदाहरण "महान अधिकार पत्र" ा, आदि अनेक ऐसी चीजें थी जिन्होंने राजाओं की निरंकुशता से जनता के अधि-कारों को सुरक्षित कर दिया था। इसके अतिरिक्त जूरी की प्रथा और स्वतन्त्र न्याय-ालिका ने भी राजाओं की स्वेच्छाचारिता को नियंत्रित करने में योग दिया।

सत्रहवीं शताब्दी की प्यूरिटन क्रान्ति से पहले इंगलैंड में राजनीतिक सिद्धान्त का कोई विशेष महत्व नहीं रहा। मध्ययुग में जॉन साल्सवरी और विलियम ओकम ने राजनीतिक दर्शन में योग दिया था, किन्तु जिन समस्याओं में उनको दिलचस्पी थी उनका सम्बन्ध महाद्वीप से था, न कि इंगलैंड से। मध्ययुग के राजनीतिक विचारकों में केवल जॉन विकलिफ एक उच्चकोटि व्यक्ति हुआ जिसने सामाजिक एकता का सिद्धांत प्रति-पादित किया और दिन प्रतिदिन की आर्थिक और नैतिक समस्याओं में प्राकृतिक विधि का प्रयोग करने का प्रयत्न किया। जब महाद्वीप में रोमक विधि का पुनरुत्थान हुआ तो इंगलैंड के विधिवेत्ताओं पर भी उसका प्रभाव पड़ा और उन्होंने अपनी विधिक परि-पाटियों का वर्णन करना आरम्भ कर दिया। किन्तु रोम के सिद्धांतों का उनकी विधि के बाह्य विन्यास पर ही प्रभाव पड़ा उसके आन्तरिक तत्व पर नहीं। इन प्रारम्भिक अंग्रेज विधिवेत्ताओं में रेनुफ डी ग्लेनविल[२] और ब्रेक्टन[3] सर्वाधिक महत्वशाली थे।

२. देखिये उसका ग्रन्थ *Tractus de Legibus et Consuetudinibus Angliae* (about 1190)

३. देखिये उसकी पुस्तक *De Legibus et Consuetudinibus Angliae* (abut 1250) लेखक का असली नाम कदाचित हेनरी आव ब्रैटन (Henry of Bratton) था।

उन्होंने सामान्य विधि के सिद्धांतों को एक सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया और आग्रह किया कि विधि का स्थान राजा की इच्छा से अधिक ऊँचा है।

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में अनेक लेखक हुए जिनकी रचनाओं में हमें उन प्रवृत्तियों का पूर्वाभास मिलता है जिन्होंने आगे चलकर इंगलैंड के राजनीतिक चिंतन की दिशा को निश्चित और निर्धारित किया। सर जॉन फोर्टस्क्यू (१३९४-१४७६)[४] ने इंगलैंड की विधि व्यवस्था का विश्लेषण किया और रोमक विधि के मुकाबिले में उसको श्रेष्ठ ठहराया। उसने इंगलैंड की शासन-प्रणाली की भी प्रशंसा की, क्योंकि उसमें राजतंत्र और "राजनीतिक" शासन का समन्वय था, कानून बनाने तथा धन खर्च करने के लिये संसद की अनुमति आवश्यक थी और न्यायाधीशों द्वारा व्यवहृत विधि राजा के समादेशों से ऊँची मानी जाती थी। अपने पूर्वगामियों की भाँति उसने भी इस बात को स्वीकार नहीं किया कि राजा की इच्छा कानून का स्रोत है। उसने इंगलैंड तथा फ्रांस के शासन-सम्बन्धी सिद्धांतों का भेद स्पष्ट करते हुए अँग्रेज जनों के जिन अधिकारों का उल्लेख किया वे आगेके अधिकार अधिनियमों में समाविष्ट कर लिये गये।

फोर्टस्क्यू की धारणा थी कि सरकार की स्थापना से पहले मनुष्य प्रकृति की अवस्था में रहता था। उसका यह भी विश्वास था कि सत्ता का अन्त्य स्रोत प्रकृति की विधि है जिसकी रचना ईश्वर ने की है और जिसमें निरपेक्ष न्याय के सिद्धांत निहित हैं। राजा की सत्ता इसी प्राकृतिक विधि से व्युत्पन्न हुई है और इसी पर निर्भर है। राजा राज्य का प्रमुख है, किन्तु उसे राज्य के संविधान के अनुसार उसके उचित अंगों के द्वारा कार्य करना चाहिए। फोर्टस्क्यू के विचारों में यह भी संकेत मिलता है कि राजा की शक्ति जनता की अनुमति पर निर्भर होती है, किन्तु इस धारणा को उसने विकसित नहीं किया। सर एडवर्ड कोक के द्वारा फोर्टस्क्यू के विचार आगे की पीढ़ियों को उपलब्ध हुए, और क्रान्ति के दौरान में राजा के विरोधियों ने प्रायः उनका उल्लेख किया।

सोलहवीं शताब्दी में शक्तिशाली ट्यूडर राजतन्त्र के कारण राजनीतिक चिंतन के लिये अनुकूल वातावरण न मिल सका। स्पेन का भय, प्रबल राष्ट्रीय भावना जिसका केन्द्र राजतन्त्र था, गुलाबों के युद्ध में सामन्तों का, जो राजा के प्रमुख विरोधी थी, दुर्बल हो जाना, राज्य की भौतिक समृद्धि; और राजा के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय चर्च की

ब्रैक्टन के विचारों तथा इंगलैंड के इतिहास के इस युग के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये : C. H. McIlavain, *Constitutionalsim, Ancient and Modern, rev. ed.* (1947).

४. देखिये उसकी रचनाएँ *On the ovature of the Law of Nature; On the Excellence of the Laws of England; and On the Governance of England.*

स्थापना, आदि ऐसे कारण थे जिनसे निरंकुशवाद को प्रोत्साहन मिला, और राजाओं ने प्रजा की उस स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप किया जिसकी फोर्टस्क्यू ने इतनी प्रशंसा की थी। दैवी अधिकारों पर आधारित राजतंत्र, और विनम्र आज्ञापालन का सिद्धान्त राजनीति का प्रमुख सिद्धान्त था। ट्यूडर काल के चिंतन का नमूना हमें टिंडाल की **दी ओबीडियंस ऑव दी क्रिश्चियन मैन,** लैटीमर की **एन एक्जोर्टेशन कंसर्निंग ऑर्डर एन्ड ओबीडियंस** नामक पुस्तकों और हेवुड के **रायल किंग और रायल सबजैक्ट** नामक नाटकों में देखने को मिलता है। लौकिक राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धांत का उदय पोप की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का विरोध करने के लिये हुआ, किन्तु इंगलैंड में राजनीतिक घटनाओं का कुछ ऐसा चक्र चला कि शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और उससे दैवी अधिकार के सिद्धान्त को और भी बल मिला।

इस काल का सबसे अधिक उल्लेखनीय राजनीतिक ग्रन्थ रिचार्ड हुकर (१५५३-१६००)[5] का था। उसकी पुस्तक मूलतः धर्मतांत्रिक थी; चर्च की-शासन प्रणाली के सम्बन्ध में हुए वाद-विवाद से उसकी रचना के लिये प्रोत्साहन मिला था, और उसका उद्देश्य प्रेसबिटेरियन लोगों के अँग्रेजी चर्च (एंग्लीकन चर्च) के शासन के सम्बन्ध में जो विचार थे उनका खंडन करना था। किंतु हुकर का विश्वास था कि लौकिक शासन तथा चर्च की सरकार दोनों के लिये एक ही नियम लागू होते हैं। यही कारण था कि परवर्ती काल के राजनीतिक चिंतन पर उसके ग्रन्थ का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। उसने विधि की उत्पत्ति, स्वभाव और बाध्यता के सम्बन्ध में सामान्य विवेचन किया। उसने प्राकृतिक विधि का बौद्धिक दृष्टि से निर्वचन किया, और कहा कि व्यावहारिक तथा धार्मिक विधियों की रचना मनुष्य की बुद्धि के अनुसार होनी चाहिये। उसने यह भी स्वीकार किया कि प्रकृति की विधि के विपरीत ये विधियाँ परिवर्तनशील हैं। व्यावहारिक विधि का आधार उसने जनता की अनुमति को माना और बतलाया कि इस अनुमति की अभिव्यक्ति प्रतिनिधियों के द्वारा हो सकती है।

हुकर का विश्वास था कि मूलतः मनुष्य प्रकृति की अवस्था में रहते थे; उस समय न संगठित सत्ता थी और न सरकार। संघर्ष तथा हिंसा का बोलबाला था। किंतु साथ ही साथ मनुष्यों में सामाजिक भावना भी विद्यमान थी। अतः औपचारिक सम्मति के आधार पर उन्होंने राजनीतिक संगठन तथा सत्ता की स्थापना करली। हुकर का कहना था कि जिस समझौते के द्वारा यह कार्य सम्पादित हुआ वह स्थाई है और बिना सार्वभौम सम्मति के उसको भंग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार उसने राजतन्त्र का समर्थन करने के लिये अपने सिद्धांत का प्रयोग किया, और विनम्र आज्ञापालन की सीख दी। किंतु बाद के लोकतांत्रिक प्रवृत्ति के विचारकों ने उसके लोक-सम्मत्ति पर आधारित

5. *The Law of Ecclesiastical Polity* (1594)· देखिये मोर्ले का संस्करण।

सरकार के सिद्धांत को अधिक उपयोगी पाया। हुकर ने सार्वराष्ट्रीय विधि की ओर भी ध्यान दिया और कहा कि यदि व्यक्ति के लिये अराजकता से बचना और समाज की स्थापना करना अच्छा है तो फिर राष्ट्रों के लिये अराजकता में रहना और सामाजिक बन्धनों से बचना कैसे हितकर हो सकता है। संक्षेप में, उसके ग्रन्थ में अठारहवीं शताब्दी के प्रमुख विचार स्पष्ट अथवा बीज रूप में विद्यमान थे। उसने पांडित्यवादियों की परम्परा और पूर्वग्रन्थों का सहारा लेने की पद्धति का प्रयोग नहीं किया। उसने ग्रोशस के ग्रन्थ के प्रकाशन से तीस वर्ष पहले ही प्राकृतिक विधि की विशद व्याख्या की और स्पष्ट रूप से सामाजिक संविदा, लोकप्रभुत्व और शक्तियों के पृथक्करण के सिद्ध का प्रतिपादन किया।[६]

टॉमस मोर तथा बेकन

ट्यूडर काल में और स्टुअर्ट काल के आरम्भ में सर टॉमस मोर (१४७८-१५३५) और फ्रांसिस बेकन (१५६१-१६२६) नाम के दो विचारक हुए। उनके विचार इंगलैंड के राजनीतिक चिन्तन की सामान्य धारा से कुछ पृथक थे। दोनों पर नवजागरण की मानवतावादी भावना और नये देशों की खोज का गहरा प्रभाव था, और दोनों ने ही प्लेटो की भाँति आदर्श राज्यों का चित्र प्रस्तुत किया। मोर को अपने समय के भौतिकवाद और निरंकुशवाद से कोई सहानुभूति नहीं थी। उसने इंगलैंड के सामाजिक और आर्थिक जीवन की बुराइयों का मखौल उड़ाया,[७] और एक काल्पनिक देश का वर्णन किया जो इन बुराइयों से मुक्त था। उसने युद्ध की निन्दा की और धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन किया। उस काल में बड़े-बड़े जमींदारों ने खेती की भूमि की सीमाबन्दी करके भेड़-पालन का जो व्यवसाय आरंभ कर दिया था उससे किसानों की बड़ी दुर्दशा हुई थी। इससे मोर के हृदय को भारी ठेस पहुँची थी। उसकी निगाह में निजी सम्पत्ति की प्रथा सामाजिक जीवन की मुख्य बुराई थी। इसलिये उसने शान्ति और समृद्धि से पूर्ण एक साम्यवादी व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया। शासन के क्षेत्र में उसने लोकतांत्रिक प्रणाली से संगठित राष्ट्रीय राज्य का समर्थन किया, और कहा कि स्थानीय इकाइयों को स्वायत्त शासन की विस्तृत शक्तियाँ मिलनी चाहिये। मोर के ग्रन्थ में हमें मानवतावादियों के अफलातूनी आदर्शों और उससे पहले के इंगलैंड के धार्मिक साम्यवाद का समन्वय देखने को मिलता है। एक ओर तो वह विकलिफ के धार्मिक समाजवाद और मध्ययुग के सामुदायिक जीवन की पुनः स्थापना करना चाहता था, और दूसरी ओर वह ट्यूडर राजतंत्र की प्रशासनीय एकता और लौकिक शक्तियों को सराहना की दृष्टि से देखता था।

---

6. देखिये A. P. D. Entreves, *The Medieval Contribution to Political Thought* (1939 Chap. 6.
७. देखिये उसकी *Utopia*। यह पुस्तक लैटिन भाषा में यूरोप में प्रकाशित हुई थी (१५१६), और लम्बे अर्से तक अंग्रेजी में इसका अनुवाद नहीं हुआ।

बेकन[८] की यूटोपिया मोर की यूटोपिया से बहुत भिन्न थी। उसका आधार था वैज्ञानिक अनुसन्धान और भौतिक समृद्धि, न कि नैतिक साम्यवाद। प्रसार युग की आक्रामक नीति और व्यापारिक शोषण ने समता के आदर्श को नष्ट कर दिया था, अतः बेकन ने शक्तिशाली राजतन्त्र और सुव्यवस्थित तथा सुश्रेणीबद्ध समाज का समर्थन किया। अपनी अधूरी **यूटोपिया** के अतिरिक्त बेकन ने कई राजनीतिक पुस्तिकाएँ लिखीं और भाषण दिये।[९] इनमें उसने ट्यूडर काल की विशिष्ट मनोवृति का परिचय दिया। वह युद्ध तथा प्रसार का, व्यापार के क्षेत्र में राष्ट्रीय नीति का, और शासन में पितृवाद का जबरदस्त समर्थक था। उसकी रचनाओं में वाणिज्यवादी सिद्धांत, जिसका शीघ्र ही उदय होने वाला था, पूर्वाभास मिलता है, किन्तु उसने अपने समसामयिक विचारक ग्रोशस द्वारा प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विचारों की घृणापूर्वक उपेक्षा की। उसका सिद्धांत स्पष्टतः प्रतिक्रियावादी था। उसका कहना था कि प्रजा के लिये राजाओं की आज्ञा का पालन करना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि बच्चे के लिये अपने पिता के आदेश का। उसे संसद के विशेषाधिकारों का समर्थन करनेवाले वकीलों से विशेष चिढ़ थी। यद्यपि विज्ञान के क्षेत्र में बेकन के विचार प्रगतिशील और भविष्य की ओर ले जानेवाले थे, किन्तु जहाँ तक राजनीतिक चिंतन का सम्बन्ध था उसमें इतनी सूझ-बूझ नहीं थी कि स्वतंत्रता की दिशा में ले जानेवाली प्रवृत्तियों को पहचान सकता।

जेम्स प्रथम का राजनीतिक चिन्तन

सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक इंगलैंड के राजनीतिक चिन्तन पर धर्मसुधार का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा, और विवाद का वही स्वरूप सामने आने लगा जो कि योरोप के महाद्वीप पर पहले उभड़ चुका था। एक ओर स्थापित व्यवस्था के समर्थक थे; उन्होंने निरंकुश राजतंत्र और **एंग्लीकन चर्च** (अंग्रेजी चर्च) का समर्थन किया, और दैवी अधिकार का तर्क देकर राजा को चर्च का प्रमुख माना। दूसरी ओर इंगलैंड के वकील थे जिन्होंने संसद तथा न्यायालयों के पुरातन अधिकारों का समर्थन किया, विशेषकर स्कॉट राजा के दावों के मुकाबिले में, और प्यूरिटन लोगों ने एंग्लीकन चर्च की व्यवस्था पर प्रहार किया। इस संघर्ष में इंगलैंड के काल्विन-पंथियों ने अपने स्कॉटलैंड, हालैंड और फ्रांस के सहधर्मियों के दर्शन का सहारा लिया; और फलस्वरूप बुकनन, आल्थूसियस और **विडिकोई कौन्त्रा तिरोनस**[१०] के सिद्धांतों का प्रचार होने लगा

---

८. *The New Atlantis* (1629) बेकन इसको बढ़ाकर एक आदर्श समाज व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करना चाहता था, किंतु प्राकृतिक विज्ञान में उसकी अधिक रुचि थी, इसलिये इस काम को पूरा न कर सका।

९. उदाहरण के लिये उसकी *Advice to Queen Elizabeth; of the True Greatness of Kingdoms and Estates; of Seditions; The Art of Empire or Civil Government.*

१०. देखिये पीछे अध्याय ११.

और प्राकृतिक अधिकारों तथा सामाजिक संविदा के सिद्धांतों पर जोर दिया जाने लगा।

सोलहवीं शताब्दी धार्मिक वादविवाद का युग था, किन्तु सत्रहवीं शताब्दी में राजनीति विवाद का मुख्य विषय बन गई। नैतिक तथा आर्थिक प्रश्नों का महत्व घट गया, और विधिक तथा राजनीतिक सिद्धांत प्रमुख बन गये। सोलहवीं शताब्दी में इंगलैंड की मुख्य समस्या व्यवस्था की पुनः स्थापना करना और राष्ट्रीय हितों की रक्षा करना थी। ट्यूडर शासक राष्ट्रीय एकता के रक्षक और राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं के समर्थक थे, अतः वे स्वेच्छाचारी ढँग से शासन कर सके, किन्तु आर्मेडा की पराजय के बाद शक्तिशाली शासक की आवश्यकता जाती रही, और रानी एलिजाबेथ के मरने पर शासक के प्रति वैयक्तिक भक्ति की भावना भी तिरोहित होगई। ट्यूडर राजाओं की नीति के फलस्वरूप राजनीतिक शक्ति सामन्तों के हाथों से निकल कर देहात के अभिजातवर्ग और व्यापारियों के हाथों में आगई थी, और जब समृद्धि में कमी हुई तो ये वर्ग शासन के आलोचक बन गये। न्यायपालिका अपनी स्वतंत्रता की स्थापना करने का आग्रह करने लगी, और राजकीय आदेशों के मुकाबिले में रूढ़ि विधि को सर्वोपरि मानने पर जोर देने लगी। न्यायाधीशों का दावा था कि हम रूढ़ि-विधि के निर्वचनकर्ता हैं, अतः सच्चे अर्थ में प्रभु हैं। उनके तथा राजा के बीच जो संघर्ष आरम्भ हुआ उसने राजा तथा संसद के बीच भविष्य में होनेवाले वृहत्तर संघर्ष की भूमिका तैयार कर दी। संसद आग्रह करने लगी कि करारोपण तथा नीति के सामान्य प्रश्नों का निर्णय करने में हमारा भी अधिकार है। प्यूरिटन सम्प्रदायों, विशेषकर स्वतंत्र सम्प्रदाय के सदस्यों, को विश्वास होगया कि स्वेच्छाचारी शासन और धार्मिक स्वतंत्रता दोनों चीजें साथ-साथ नहीं चल सकती। जेम्स प्रथम के सिंहासनारूढ़ होने पर राजा के खिलाफ विद्रोह की भावनाएँ चरमसीमा पर पहुँच गईं, कारण यह था कि उसमें व्यावहारिक चतुराई का अभाव था और राजा के परमाधिकारों के संबंध में उसके बड़े ऊँचे विचार थे।

जेम्स प्रथम के (१५६२-१६२५)[११] के राजनीति दर्शन का मुख्य स्रोत उसके स्काटलैंड में व्यतीत हुआ प्रारम्भिक जीवन अनुभव थे। उसके अध्यापक बुकनन का कथन था कि राजाओं को अपनी शक्ति प्रजा से मिलती है, और यदि वे बुरे ढँग से शासन करें तो उन्हें हटा देना सर्वथा उचित है। उसके पिता की हत्या कर दी गई थी, उसकी माता को सिंहासन से उतार दिया गया था और बाद में उसे फाँसी दे दी गई थी, और प्रेसिबिटेरियन नेताओं ने राजा की शक्ति का मखौल उड़ाया था और घोषणा कीथी कि

११. जेम्स प्रथम के राजनीतिक सिद्धांत उसकी पुस्तक *Basilicon Doron* में जिसे उसने अपने पथ-प्रदर्शन के लिये तैयार किया था, उसकी *True Law of Free Monarchs* (1598), *Remonstrance for the Right of Kings* और विभिन्न अवसरों पर दिये गये उसके भाषणों में मिलता है। देखिये *Political Works of James I* (1918) ed. by C. H. MacIlvain.

प्रजा को अपने शासकों का नियमन करने का अधिकार है। अतः जेम्स के लिये प्यूरिटन सिद्धांतों का विरोध करना स्वाभाविक था। इंगलैंड के सिंहासन के लिये जेम्स का अधिकार शुद्ध पित्रागति के सिद्धांत पर आधारित था, और रोमन कैथोलिकों ने जो किसी कैथोलिक को राजा बनाना चाहते थे, उसका विरोध किया था। इसकी वजह से उसे जैसुइटों के राजतंत्र-विरोधी सिद्धांतों का विरोध करना पड़ा। जेम्स पर दैवी अधिकार के उस सिद्धांत का भी प्रभाव पड़ा था जिसका विकास बार्कले, ब्लैकवुड, और फ्रांस के पोलीतीक ने किया था।[१२] जब वह इंगलैंड का राजा बन गया तो उसने देखा कि ट्यूडर शासकों के राजतन्त्र-विषयक सिद्धांत और स्थापित चर्च से उसके राजत्व सम्बन्धी सिद्धांतों का समर्थन होता है। उसका कथन था कि "बिशप नहीं तो राजा भी नहीं;" इससे स्पष्ट था कि धार्मिक और राजनीतिक संगठनों के पारस्परिक संबंधों के विषय में उसके विचार क्या थे। बदले में एंग्लीकन चर्च के पादरियों ने राजाओं के दैवी अधिकार की और प्रतिबन्ध-रहित आज्ञापालन के सिद्धांत की घोषणा की। राजा की महत्ता बढ़ाने का अर्थ था स्थापित चर्च को जड़ों को मजबूत करना; अतः एंग्लीकन चर्च के धर्मशास्त्रियों ने राजा के परमाधिकारों का समर्थन किया और एक ओर पोप और दूसरी ओर प्यूरिटनों के विरुद्ध संघर्ष में उनका अत्यधिक प्रभावकारी अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। जब जैसुइटों ने लोक-प्रभुत्व के सिद्धांत को अंगीकार कर लिया तो उनके विरोधियों के लिये राजा के व्यक्तित्व और पद को पवित्रता प्रदान करना और उनकी महत्ता को बढ़ाना आवश्यक हो गया। उन्होंने उन्हीं तर्कों का सहारा लिया जिनका दांते, ओकम और मार्सीलिउस ने पोप के विरुद्ध मध्ययुगीन सम्राट का बचाव करने के लिये, और लूथर ने स्वतंत्र जर्मन राजाओं की पवित्रता को बढ़ाने के लिये प्रयोग किया था। उन तर्कों के आधार पर उन्होंने राजा के प्रति आवेशपूर्ण भक्तिभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया।

धर्मशास्त्रों, सामन्ती व्यवस्था के प्राचीन कानूनों और प्राकृतिक विधि से भी तर्क ढूँढ़ निकाले गये। कहा गया कि अराजकता अत्याचारी शासन से कहीं अधिक खतरनाक चीज़ है। वैसे तो सामान्यतया राजा के समर्थकों ने राजशक्ति की उत्पत्ति के संविदावादी सिद्धांत का खंडन किया, किन्तु उनका कहना था कि यदि कभी इस प्रकार की संविदा हुई भी हो तो उस सम्बन्ध में केवल ईश्वर ही बिवाचक का काम कर सकता है, और इसलिये अत्याचारी शासक के विरुद्ध अपील सिर्फ उसी के दरबार में की जा सकती है। राजा के दल का सिद्धांत था कि राज्य तथा चर्च दोनों में ही सत्ता ऊपर से आती है, नीचे से नहीं। १६०९ ई० में संसद के समक्ष अपने एक भाषण में जेम्स ने

१२. देखिये पीछे अध्याय ११।

कहा, "राजाओं को देवता कहा जाता है। यह सर्वथा उचित है, क्योंकि जिस शक्ति का वे पृथ्वी पर प्रयोग करते हैं वह ईश्वरीय शक्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।" १६१६ में उसने नक्षत्र-भवन (स्टार चेम्बर) में अपने एक भाषण के दौरान में कहा, "जिस प्रकार ईश्वर के कार्यों के सम्बन्ध में विवाद खड़ा करना नास्तिकता और धर्मद्रोह है वैसे ही प्रजा का राजा के कार्यों को चिनौती देना मानहानि का अपराध करना है।"

धर्मशास्त्रियों के एक दल ने तो लौकिक सत्ता को ईश्वर से व्युत्पन्न बतलाकर और धर्मशास्त्रों के उद्धरणों का सहारा लेकर निरंकुशवाद का समर्थन किया ही; इसके अतिरिक्त दो अन्य दृष्टिकोणों से भी राजसत्ता की सर्वोच्चता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। फिल्मर[१३] ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि निरंकुशतंत्र ऐतिहासिक दृष्टि से उचित है, क्योंकि वह मनुष्य के स्वभाव के अनुकूल है। हाब्स[१४] ने उपयोगितावादी दर्शन और सामाजिक संविदा के आधार पर निरंकुशतंत्र का समर्थन किया। गृह-युद्ध के दौरान में राजा के समर्थकों ने राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धांत को अपना नारा बनाया और धार्मिक आधार के वजाय राजनीतिक आधार पर उसका समर्थन किया। जेम्स प्रथम के सिद्धान्त का उद्देश्य भृत्यतंत्रीय निरंकुशतंत्र की स्थापना करना था, क्योंकि धर्मसुधार के विघटनकारी प्रभावों का निराकरण करने के लिये यही तरीका सामान्यतया अपनाया गया था। किंतु जेम्स की नीति असफल हुई जिससे इंगलैंड उक्त प्रकार की निरंकुशतंत्रीय व्यवस्था का शिकार होने से बच गया। उसके अतिरिक्त केवल हॉलैंड अन्य ऐसा देश था जो इस दुर्भाग्य से बच सका।

संसदीय दल का राजनीतिक चिन्तन

राजा तथा संसद के बीच जो विवाद चला और जिसकी आगे चलकर गृह-युद्ध में परिणति हुई उसने संसदीय दल को दैवी अधिकारों के सिद्धांत का विरोध करने के लिये एक राजनीतिदर्शन का विकास करने के लिये बाध्य किया। एक ओर तो उन्होंने इंगलैंड के सांविधानिक और विधिक सिद्धांतों को निश्चित और सुव्यवस्थित रूप दिया। दूसरी ओर उन्होंने महाद्वीप तथा स्काटलैंड से उन राजतंत्र-विरोधी सिद्धांतों को ले लिया जिनका विकास पुनर्जागरण और धर्मसुधार के युग में हो चुका था। इनमें से पहले ढंग के तर्कों को प्रस्तुत करनेवालों में विधिविज्ञों का प्रमुख स्थान था; और दूसरी तर्क पद्धति का विकास डिसेंटरों ने किया जो राजा तथा एंग्लीकन चर्च के सिद्धांतों और नीति के विरोधी थे।

संघर्ष की प्रारम्भिक अवस्था में मुख्यतया विधिक तर्कों का सहारा लिया गया। रूढ़ि विधि की सर्वोच्चता के सुपरिचित सिद्धांतों और न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर

१३. देखिये इसी अध्याय में आगे।
१४. देखिये आगे अध्याय १४।

जोर दिया गया, और कहा गया कि विधि का वास्तविक स्रोत प्रजा है जिसका प्रतिनिधित्व राजा और संसद करती है, और वित्तीय अनुदानों पर संसद के नियंत्रण को भी महत्त्व दिया गया। राजा का मुख्य विरोधी सर एडवर्ड कोक था।[१५] मुख्य न्यायाधिपति की हैसियत से उसने विधि के प्रभुत्व का समर्थन किया, और जब अपने पद से हटा दिया गया तो संसद का सदस्य बन गया, और **अधिकार याचिका** उसी की प्रेरणा से प्रस्तुत की गई। कोक को ध्यान में रख कर ही जेम्स प्रथम ने कहा था कि "जहाँ तक ताज के निरपेक्ष परमाधिकारों का सम्बन्ध है, किसी वकील को उनके विषय में ज़बान खोलने का अधिकार नहीं है, और न उनको चिनौती देना विधिसंगत है।" दूसरा प्रभावशाली व्यक्ति जॉन सैल्डन था।[१६] वह अपने समय का सबसे बड़ा विद्वान था। वह पक्का बुद्धिवादी और उपयोगितावादी था और राजा के दैवी अधिकारों के सिद्धांत का मखौल उड़ाया करता था। वह राजतंत्र को सरकार का एक सांविधानिक रूप ही मानता था। उसका कथन था कि "राजाओं की कोई विशेष जाति नहीं है; जनता ने अपने लाभ के लिये, विशेषकर शान्तिमय जीवन के हेतु, राजा नाम की वस्तु का आविष्कार कर लिया है, जैसे कि किसी परिवार में एक व्यक्ति को गोश्त खरीदने के लिये नियुक्त कर दिया जाता है।"[१७] सैल्डन को पादरी वर्ग से विशेष घृणा थी। उसने राजा तथा चर्च के सम्मान को बहुत ठेस पहुँचाई और लोगों को उस बात के लिये प्रोत्साहित किया कि वे संस्थाओं और विचारों की विवेक और सामान्य बुद्धि की कसौटी पर परीक्षा करना सीखें।

इसके अतिरिक्त अँग्रेज जाति के परम्परागत नागरिक अधिकारों पर विशेष बल दिया गया और उनकी अधिक स्पष्ट ढंग से व्याख्या भी की गई। ईलियट[१८], पिम और हैम्पडन के तर्कों से तथा **अधिकार याचिका** (पिटीशन आव राइट) और **अधिकार अधिनियम** (बिल आव राइट्स) के सिद्धान्तों से धीरे-धीरे इस धारणा का विकास हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति के कुछ "मूल अधिकार" हैं जिनमें जीवन तथा सम्पत्ति की स्वतन्त्रता सम्मिलित है; किसी को उनमें मनमाने ढंग से हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। इन मूल अधिकारों का "प्राकृतिक अधिकारों" के साथ एकात्म्य स्थापित करना सरल था।

प्राकृतिक विधि की धारणा शताब्दियों से चली आ रही थी। उसके दो तात्विक किन्तु एक दूसरे से भिन्न गुण थे। सर्वप्रथम, उसने सभी जातियों के लिये सम्यक आचार

१५. देखिये उसकी *Institutes.*

१६. देखिये उसकी *Table Talk,* फैडरिख पोलोक द्वारा सम्पादित। ग्रोशस के *Mare Liberum* के उत्तर में सेल्डोन ने *Mare Clausum* लिखी और कहा कि समुद्र निजी सम्पत्ति है।

१७. *Table Talk,* 40 b.

१८. देखिये उसकी *De Jure Magistratus* और *The Monarchy of Man.*

के आदर्श का काम किया था। दूसरे, उसको कुछ अस्तिमूलक सिद्धांतों का आधार मान लिया गया था। उदाहरण के लिये यह सिद्धांत कि सभी मनुष्य समान हैं।[१९] प्रथम दृष्टि से वह आचार का एक निषेधात्मक सिद्धांत था और लोगों के आचरण का नियंत्रण और नियमन करता था। दूसरी दृष्टि ने वह एक अस्तिमूलक सिद्धांत था जो जनता को कुछ अधिकारों की आशा दिलाता था। इन दोनों में से निषेधात्मक सिद्धांत को ही परम्परा से अधिक महत्त्व दिया गया था। प्राकृतिक विधि ने अधिकारों की अपेक्षा लोगों के कर्त्तव्यों पर अधिक जोर दिया था। किन्तु अब उसकी धारणा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ गया। अब कर्तव्य की अपेक्षा अधिकारों पर बल दिया जाने लगा। बहुसंख्यक लोगों का राजनीतिक महत्त्व बढ़ गया और वे माँग करने लगे कि सरकार हमारी आधारभूत स्वतंत्रता अथवा प्राकृतिक अधिकारों की गारन्टी दे। इस प्रकार इंगलैंड के विधिक सिद्धांतों के विकास से और डिसेंटरों के उत्पीड़न के कारण बाध्य होकर राजनीति में आजाने से सरकार द्वारा सीमित नागरिक स्वतंत्रता के सिद्धांतों को बहुत प्रोत्साहन मिला।

इस विकास में डिसेंटरी ने विशेषकर महत्त्वपूर्ण योग दिया। चार्ल्स प्रथम ने स्काटलैंड की प्रेसबिटेरियन जनता पर बिशपों का शासन लादने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप एक धार्मिक क्रान्ति हुई जिसमें स्काच जनता ने प्रतिज्ञा की कि हम अपनी आराधना पद्धति कायम रक्खेंगे और राजा का तभी तक समर्थन करेंगे जब तक कि वह चर्च तथा संसद के नियमों के अनुसार आचरण करता रहेगा। इस प्रकार स्कॉटलैंड की जनता ने बुकनन के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप दिया। जब इंगलैंड में राजा तथा संसद के बीच युद्ध छिड़ गया तो संसद को स्कॉटलैंड की सहायता की आवश्यकता हुई। अतः १६४३ ई० में दोनों देशों के प्रमुख व्यक्तियों ने राजा के विरुद्ध एक समझौता कर लिया। इस प्रकार लोक-प्रभुत्व और सामाजिक संविदा के सिद्धान्तों का इंगलैंड में प्रवेश हुआ; और संसद ने स्थापित चर्च पर प्रेसिबिटेरियन ढंग की संगठन व्यवस्था लादने और एंग्लीकन चर्च के बिशपों को सरकारी नौकरियों से वंचित रखने का प्रयत्न किया।

इंगलैंड की संसद ने प्रेसबिटेरियन धर्म को अंगीकार करने में जल्दी इसलिये की कि अनेक ऐसे सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे जिनसे अराजकता का भय उत्पन्न होगया था; इसके अतिरिक्त वह क्रान्ति को लोकतंत्र की दिशा में अधिक आगे जाने से भी रोकना चाहती थी। प्रेसबिटेरियन धर्म की अभिजाततंत्रीय प्रवृत्तियाँ इंगलैंड के अनेक नेताओं को रुचिकर थीं।

साथ ही साथ इंगलैंड में स्वतंत्र सम्प्रदाय (इंडिपेंडेंट्स) के सदस्यों की संख्या

१९. Cicero, *Republic*, iii, 22.

भी दिन प्रति दिन बढ़ रही थी और उनका संगठन भी पहले से अच्छा होरहा था। स्वतंत्र लोग प्रत्येक धार्मिक समुदाय की स्वायत्तता के समर्थक थे और मानते थे कि प्रत्येक सदस्य को चर्च के प्रशासन में भाग लेने का अधिकार दिया जाय। प्रत्येक समुदाय की स्थापना एक संविदा के आधार पर की गई थी और वह एक छोटे से गणराज्य के सदृश्य था। स्वतंत्र सम्प्रदायों का संस्थापक रॉबर्ट ब्राउन चर्च तथा राज्य को पृथक करने के पक्ष में था और उसका कहना था कि शासकों का मनुष्यों के अन्तःकरण पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं हो सकता।[२०] गृह-युद्ध के दौरान में स्वतंत्र सम्प्रदायों की शक्ति बढ़ गई और क्रामवेल के समय में राज्य की शक्ति उनके हाथों में आगई। उन्होंने नागरिक स्वतंत्रता की ओर लेजानेवाले आन्दोलन को और भी अधिक प्रोत्साहन दिया। उनका आग्रह था कि धार्मिक मामलों में व्यक्ति को अपना स्वयं निर्णय करने का अधिकार होना चाहिये। इस प्रकार उन्होंने विधिविज्ञों द्वारा प्रतिपादित जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकारों में आराधना की स्वतंत्रता और वाक् स्वतंत्रता के अधिकारों को और जोड़ दिया। उनके इस सिद्धान्त से कि आस्तिकों के प्रत्येक समुदाय को अपने धार्मिक क्रिया-कलाप का स्वयं प्रबन्ध करने का अधिकार है, और राज्य को धार्मिक एकरूपता लादने का कोई हक नहीं है, धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त का मार्ग प्रशस्त हुआ। और जब इस सिद्धान्त को राजनीति के क्षेत्र में लागू किया गया तो इस सिद्धान्त को बल मिला कि सरकार जनता की सम्मति पर निर्भर होती है। अनेक स्वतंत्र लोग अमेरिका चले गये ; वहाँ उनके विचारों के विकास के लिये परिस्थितियाँ विशेष रूप से अनुकूल थीं। और जब क्रॉमवेल की सफलताओं के फलस्वरूप इंगलैंड की राजशक्ति पर उनके दल का कब्जा होगया तो अमेरिकी नेताओं के सिद्धान्तों को पुनः इङ्गलैंड में लाकर प्रचलित किया गया।

इस प्रकार राजा और संसद के बीच हुए संघर्ष के दौरान में धार्मिक और राजनीतिक समस्याओं का जो संयोग हुआ उससे प्राकृतिक अधिकारों, सामाजिक संविदा, और लोकप्रभुत्व के उन राजतंत्रविरोधी सिद्धान्तों का महत्त्व बढ़ा जिनका काल्विन-पंथियों ने धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिये और जैसुइटों ने प्रोटेस्टेट राजाओं के विरुद्ध संघर्षों में प्रयोग किया था।

इंगलैंड में इन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों में एक अन्य परिवर्तन किया गया। महाद्वीपीय विचारकों की धारणा के अनुसार प्राकृतिक अधिकारों को धारण करनेवाली और संविदा में सम्मिलित होनेवाली इकाइयाँ वर्ग, प्रतिनिधि सभाएँ, निगम आदि थीं।

२०. स्वतंत्रों के सहिष्णुता के सिद्धान्त पर हालैंड का बड़ा प्रभाव था। उनके अनेक नेता कुछ समय के लिये उस देश में रह चुके थे, और कई समुदाय हालैंड से आकर इंगलैंड में बस गये थे।

किन्तु इसके विपरीत इंगलैंड में व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया। अतः लोकप्रभुत्व की जो धारणा उत्पन्न हुई वह अधिक निश्चित और वास्तविक थी। सामाजिक संविदा और प्राकृतिक अधिकारों के जिन सिद्धान्तों का इंगलैंड में विकास हुआ उनका अठारहवीं शताब्दी में पुनः महाद्वीप में प्रवेश हुआ, और वहाँ उन्होंने फ्रांसीसी क्रान्ति की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि तैयार करने में योग दिया।

कॉमनवेल्थ का राजनीतिक सिद्धान्त

गृह-युद्ध के दौरान में संसद पर प्रेसबिटेरियन लोगों का आधिपत्य रहा, और अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के साथ सहिष्णुता का वर्ताव नहीं किया गया। संसद की सेना में स्वतंत्रों की बहुमत था, और उनका झुकाव समतावादी सम्प्रदाय (लेवलर्स) की ओर था जो विचारों की दृष्टि से सबसे अधिक उग्र था। राजा की सेना की पराजय के उपरान्त संसद और सेना के बीच फूट पड़ गई जो कि उन परिस्थितियों में अनिवार्य थी। फलतः देश की बागडोर सेना के हाथों में आगई। उसने प्रेसबिटेरियन लोगों को संसद से निकाल दिया, और अन्त में राजा का बध करके अपने नेता क्रॉमवेल को अधिनायक बना दिया। आखिरकार क्रान्ति ने उग्र दल के हाथों में सत्ता सौंप दी। इस प्रक्रिया के दौरान में राजनीतिक विवाद सांविधानिक और विधिक सतह से हटकर प्राकृतिक अधिकारों और मानव समता के उग्र सिद्धान्तों के तल पर जा पहुँचा, और इन सिद्धान्तों का समर्थन अब धार्मिक तर्कों से नहीं बल्कि बौद्धिक आधार पर किया गया।

इंगलैंड के उग्रपंथियों का सिद्धान्त था कि मनुष्य स्वभाव से स्वतन्त्र और समान होते हैं, सरकार का आधार विधि है जो कि जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, और वैयक्तिक रूप से सभी मनुष्य जीवन, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता, अन्तःकरण और अभिव्यक्ति की आजादी और राजनीतिक समता के प्राकृतिक अधिकारों को धारण करते हैं। उन्होंने विकलिफ के साम्यवादी आदर्शों को भी पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया और यह सिद्धान्त अंगीकार किया कि सम्पत्ति की समता भी एक प्राकृतिक अधिकार है। इन सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये अनेक पुस्तिकाएँ लिखी गईं जिनमें लेफ्टीनेंट कर्नल जॉन लिलबर्न की पुस्तिकाएँ सबसे अधिक प्रभावशाली थीं।[२१] उसने निर्भीकता से घोषणा की कि प्रभुत्व सामान्य जनता में निवास करता है और संसद सम्पूर्ण राष्ट्र की अभिकर्ता (एजेंट) मात्र है। उसके लोकतांत्रिक विचार सेना में तेजी से फैल गये। सेना और संसद का संचालन करनेवाले अभिजाततंत्रीय प्रेसबिटेरियन गुट के बीच जो संघर्ष हुआ उसका उत्तरदायित्व बहुत कुछ इन्हीं विचारों पर था। साम्यवादी गुट का नेता गेरार्ड विंसटेनली था।[२२] उसका आग्रह था कि जब तक

२१. विशेषकर देखिये उसकी *Vox Plebis* और *Fundamental Liberties of England*.

२२ देखिये उसकी *The Law of Freedom* (1652); *The Saints Paradise* (1658).

दूरगामी सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन नहीं किये जाते तब तक राजनीतिक सुधारों का कोई महत्व नहीं है। सेना की परिषद में आइरटन और क्रॉमवेल ने अपेक्षाकृत अधिक पुरातनपोषी दृष्टिकोण व्यक्त किया। उन्होंने सम्पत्ति की समता एवं सार्वभौम मताधिकार का विरोध किया और प्राकृतिक अधिकारों के बजाय विधि को महत्व दिया। वे नरम ढंग की सांविधानिक सरकार की स्थापना करने के पक्ष में थे। परिस्थितियों ने वास्तव में उन्हें स्वैरतन्त्रीय (निरंकुश) व्यवस्था अपनाने को बाध्य किया।

राजा के बध के बाद के काल की एक विशेष बात यह थी कि सेना ने सामाजिक संविदा के सिद्धान्त के आधार पर सरकार की लिखित रूपरेखाएँ तैयार करने का प्रयत्न किया। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण **प्रजा का करार** (१६४७) था।[23] इसकी रचना सेना के उग्रपंथी तत्वों ने की थी। इसका उद्देश्य राजा तथा संसद के साथ समझौता करना था। इस लेख्य में कहा गया था कि यह जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति करता है। उसमें यह भी नियम रक्खा गया था कि प्रत्येक व्यक्ति इस पर स्वयं अपने हस्ताक्षर करे। उसमें प्रस्ताव किया गया था कि शासन के लिये जनता द्वारा चुनी हुई एक प्रतिनिधि सभा हो जिसकी शक्तियाँ सीमित हों और जो जनता के आदेश से ही कार्य करें। उसमें एक अधिकार अधिनियम (बिल आव राइट्स) भी था और स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया था कि शासक वर्ग को मूल अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। किन्तु सेना तथा संसद (रम्प पार्लियामेंट) में जो अधिक पुरातनपोषी दृष्टिकोण के लोग थे उन्होने इसको क्रियान्वित नहीं होने दिया। रम्प पार्लियामेंट के भंग होने के उपरान्त शासन-शक्ति स्पष्ट रूप से क्रॉमवेल के हाथों में आगई। तब सेना के अधिकारियों ने एक नया संविधान तैयार किया (१६४५) जिसका नाम **शासन-संलेख** (इंस्ट्रूमेंट आव गवर्नमेंट) था। इसमें निश्चित किया गया कि शासन के संचालन के लिये महासंरक्षक नाम का एक अधिकारी हो और एक संसद हो जिसका निर्वाचन सम्पत्ति की योग्यता रखनेवाले लोग करें। महासंरक्षक तथा संसद दोनों की शक्तियों को सावधानी के साथ सीमित किया गया था। यह संविधान वास्तव में एलिजाबेथ के समय में प्रचलित शासन-व्यवस्था को पुनः स्थापित करने की दिशा में एक प्रयत्न था, और **प्रजा के करार** की तुलना में कहीं अधिक प्रतिक्रियाशील था। किन्तु इसको भी कार्यरूप न दिया जा सका, क्योंकि लोगों को डर था कि संसद के चुनाव के परिणाम कहीं ऐसे न निकलें जो कॉमनवेल्थ की विचारधारा के विपरीत पड़े। अतः क्रॉमवेल ने सैनिक अधिनायकतन्त्र स्थापित कर लिया और घोषणा की कि यह अस्थाई और

२३. देखिये S. R. Gardiner, *Documents*, No. 74. इसमें प्रस्तावित शासन-योजना की तुलना उस व्यवस्था से कीजिये जिसकी स्थापना Fundamental Articles of Connecticut के आधार पर १६३९ में हुई। देखिये W. Macdonald, *Select Charters*, No. 14.

संक्रमणकाल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये है। इस प्रकार इंगलैंड में लिखित संविधान के तथा सरकार पर सांविधानिक नियंत्रण स्थापित करने के अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये किन्तु उन्हें कभी कार्य-रूप नहीं दिया जा सका।

कामनवेल्थ-काल के अधिक संयत और नरम सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति जॉन मिल्टन (१६०८-१६७४) की रचनाओं में मिलती है। मिल्टन ने संसदीय दल का समर्थन किया और चर्च को राज्य से पूर्णतया पृथक करने का सुझाव दिया। प्रारम्भ में उसने चर्च-संगठन के लिये बिशपतंत्रीय प्रणाली के स्थान पर प्रेसबिटेरियन व्यवस्था को अधिक अच्छा बतलाया। बाद में वह स्वतन्त्र विचारों का समर्थक बन गया, और कॉमनवेल्थ एवं संरक्षकतंत्र की राजनीति में सक्रिय भाग लिया। १६४३ में जब संसद ने मुद्रकों और पुस्तक-विक्रेताओं पर नियंत्रण लगाने के लिये एक अध्यादेश जारी किया[२४] तो मिल्टन ने प्रकाशन की स्वतंत्रता का जोरदार शब्दों में पक्षपोषण किया और कहा कि यह स्वतंत्रता नागरिकों का विशेषाधिकार है और राज्य के लिये भी लाभदायक है। तदुपरान्त उसने स्वतन्त्रता का सामान्य रूप से समर्थन किया। उसका तर्क था कि स्वतंत्रता मनुष्य की प्रतिष्ठा के लिये और उसकी विवेक-शक्ति के विकास के हेतु परमावश्यक है। उसने सरकारी नियंत्रण और पर्यवेक्षण का विरोध किया और धार्मिक सहिष्णुता का पक्ष लिया। वह उस व्यक्तिवादी विचारधारा का जिसने १९वीं शताब्दी में प्रमुखता प्राप्त की, प्रथम संदेशवाहक था।

चार्ल्स प्रथम के बध के उपरान्त मिल्टन[२५] राजहन्ताओं का पक्षपोषक बन गया। उस पर बुकनन के विचारों का प्रभाव था, और बहुधा वह उसका हवाला दिया करता था। उसका तर्क था कि मनुष्य प्राकृतिक अधिकारों को लेकर स्वतंत्र उत्पन्न होते हैं और पारस्परिक समझौते के आधार पर राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण करते हैं और राजाओं तथा दंडाधिकारियों को अपने प्रतिनिधियों के रूप में चुन लेते हैं। सब के द्वारा बनाये हुए अथवा सर्वसम्मत कानून शासकों तथा प्रजा दोनों पर लागू होते हैं। अन्त्य राजनीतिक सत्ता जनता में निवास करती है जिसे राजा को अपदस्थ करने का भी वैसा ही अधिकार होता है जैसा कि नियुक्त करने का, और यदि राजा अत्याचारी हो जाय तो उसे हटाना प्रजा का कर्त्तव्य हो जाता है।

जब गाउडन नामक एक राजभक्त पादरी द्वारा कूटकृत (जाली) **ईकोन बैसीलिके** प्रकाशित हुई तो राज्य-परिषद् की प्रार्थना पर मिल्टन ने उसका उत्तर दिया।[२६] इसमें

२४. अपनी *Areopagitica* में जिसे उसने १६४४ में संसद के सामने देने के लिये एक भाषण रूप में लिखा था।
२५. अपनी पुस्तिका *The Tenure of Kings and Magistrates* (1649) में।
२६. अपनी *Eikonoklastes* में।

उसने राजतंत्र का खंडन किया। किंतु साथ ही साथ वह उग्रवादी प्रवृत्तियों के बढ़ते हुए प्रभाव से भी भयभीत होने लगा था इसलिये उसने अति लोकतंत्रवादी विचारों का विरोध किया, और अपने स्वाभाविक अभिजाततंत्रीय दृष्टिकोण को प्रकट किया। जब लेडन के आचार्य सालमासिउस ने राजा के वध पर सारे यूरोप के क्षोभ को व्यक्त किया और राजतंत्रीय सिद्धान्त का पक्षपोषण किया तो[२७] मिल्टन को पुनः उत्तर देने के लिये नियुक्त किया गया। उसने कहा[२८] कि अत्याचार और पित्रागत शासन प्राकृतिक कानून के विपरीत हैं। उसने कॉमनवेल्थ को उन परिस्थितियों में सर्वश्रेष्ठ शासन-प्रणाली ठहराया। मिल्टन को एक व्यक्ति का शासन नापसन्द था; किंतु साथ ही साथ उसे प्रतिनिधित्व मूलक लोकतंत्र में भी विश्वास नहीं था।

जब संरक्षक-शासन के खिलाफ असन्तोष बढ़ने लगा, तो मिल्टन ने चार्ल्स द्वितीय के प्रत्यावर्तन को रोकने का प्रयत्न किया और गणतंत्रीय शासन की एक योजना प्रस्तुत की।[२९] उसका प्रस्ताव था कि शासन के संचालन के लिये प्रतिनिधियों की एक सभा हो, उनका पद स्थाई हो और वे अपने में से एक कार्यपालिका-परिषद् चुन लें। संघर्ष के प्रारम्भिक दिनों में मिल्टन को जो आशाएँ थीं वे पूरी नहीं हुई और उसने देखा कि मूढ़ तथा असहिष्णु जनता में उस स्वतंत्रता का प्रयोग करने की योग्यता नहीं है जिसे उसने लड़कर प्राप्त कर लिया है। यही कारण था कि उसने एक स्थाई सीनेट का निराशाजनक और विरोधाभासपूर्ण प्रस्ताव रक्खा। मिल्टन स्वभाव से लोकतंत्र का विरोधी था, और क्रॉमवेल के निरंकुश शासन से उसका निजी लगाव था। इसलिये उसके लिये प्यूरिटनों के प्रयास में निहित लोकतांत्रिक सिद्धांत का अडिग भाव से समर्थन करना कठिन था।

हैरिंगटन

जिस राजतन्त्रीय व्यवस्था का उन्मूलन इंगलैंड में हो चुका था उसका स्थान भरने के लिये एक सबसे अधिक सुव्यवस्थित और विचारपूर्ण शासन-प्रणाली की योजना जेम्स हैरिंगटन (१६११-१६७७) ने अपने एक राजनीतिक उपन्यास में प्रस्तुत की।[३०] गृह-युद्ध में हैरिंगटन तटस्थ रहा था। इसलिये यद्यपि उसकी पुस्तक ने काफी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया, फिर भी जब वह प्रकाशित हुई तो उससे दोनों ही पक्षों को शंका हुई। उसके ग्रन्थ से प्रकट था कि उसने इतिहास का तथा अन्य

---

२७. अपनी पुस्तक *Defensio Regia pro Carolo I* (1649) में।
२८. अपनी पुस्तक *Defensio Populi Anglicane* (1651) में।
२९. अपनी पुस्तक *The Ready and Easy Way-to Establish Free Commonwealth* (1660).
३०. **The Commonwealth of Oceana जिसे हैरिंगटन ने क्रॉमवेल को इस आशा से अर्पित किया था कि वह उसके सिद्धांतों को कार्य-रूप देने का प्रयत्न करेगा। देखिये मार्ले का संस्करण।**

राजनीतिशास्त्रियों की रचनाओं का विस्तार से अध्ययन किया था और यूरोप की समकालीन घटनाओं को पैनी आँख से देखा था। उसने कहा कि जो व्यक्ति पहले इतिहासकार और पर्यटक नहीं है वह कभी राजनीतिज्ञ नहीं बन सकता। उसने अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में इतिहास के सात प्रमुख गणतंत्रीय संविधानों का संक्षिप्त परिचय दिया। वह अरस्तू और मैकियावेली का बड़ा प्रशंसक और हॉब्स[31], जिसकी **लिवियथन** हाल ही में प्रकाशित हुई थी, कटु अलोचक था।

हैरिंगटन पर इतिहास के अध्ययन और इंगलैंड की तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव था, अतः उसकी धारणा बन गई थी कि सरकार की स्थिरता अत्यधिक वांछनीय चीज है, और सरकारों को परखने की अच्छी कसौटी उसके भीतर विद्यमान शक्तियों के सन्तुलन का सिद्धांत है। उसका विश्वास था कि राज्य दो ही प्रकार के हो सकते हैं। पहले प्रकार के राज्यों में विधि का शासन होता है, और वे सदैव सार्वजनिक कल्याण का संवर्धन करते हैं। दूसरे प्रकार के राज्यों में शासन-सत्ता मनुष्य के हाथों में होती है, और वे सदैव कुछ विशेष व्यक्तियों के निजी स्वार्थ को ध्यान में रख कर कार्य करते हैं।[32] इसके अतिरिक्त उसने राष्ट्रीय स्व-शासन और एक राष्ट्र पर दूसरे द्वारा लादे गये शासन के बीच भी स्पष्ट भेद किया। इसके उपरान्त उसने उन सिद्धांतों की खोज की जिन पर एक स्थाई और वांछनीय शासन प्रणाली आधारित होती है, और कहा कि शक्ति या तो धन से व्युत्पन्न होती है या बौद्धिक भेद-भाव से।

हैरिंगटन का कथन था कि राजनीतिक सत्ता स्वभाव से ही सम्पत्ति का अनुगमन करती है, अतः राजनीतिक स्थिरता वहीं कायम रह सकती है जहाँ प्रभुत्व धारण करनेवाले लोग सबसे अधिक सम्पत्ति के स्वामी होते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार जहाँ भूमि, जो सम्पत्ति का सबसे बड़ा साधन है, एक अथवा थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में होती है वहाँ राजतंत्र और अभिजाततंत्र शासन के स्वाभाविक रूप होते हैं। इंगलैंड में सामन्तों तथा मठों की बड़ी-बड़ी जागीरें ट्यूडर राजाओं ने समाप्त कर दी थीं, अतः हैरिंगटन के अनुसार वहाँ कॉमनवेल्थ शासन प्रणाली ही सबसे उपयुक्त व्यवस्था थी। उसका सुझाव था कॉमनवेल्थ की स्थिरता कायम रखने के लिये नियम बना दिया जाय कि कोई व्यक्ति एक निश्चित मात्रा से अधिक भूमि न धारण कर सकेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि हैरिंगटन उन सबसे पहले विचारकों में से था जिन्होंने इतिहास और राजनीतिक व्यवस्था की आर्थिक आधार पर व्याख्या की।

---

३१. देखिये आगे अध्याय १४।

३२. इस प्रसंग में मैसेचूसेटस के १७८० के संविधान में संलग्न अधिकार-अधिनियम का अन्तिम वाक्य ध्यान देने योग्य है—"अन्त में शासन कानून का हो, व्यक्तियों का नहीं।"

फिर हैरिंगटन ने सांविधानिक संगठन की एक विशद योजना, जिसे वह मनुष्य के विवेकयुक्त स्वभाव के अनुरूप मानता था, प्रस्तावित की। इसमें एक सीनेट का विधान किया जिसमें केवल अभिजात वर्ग के लोगों के लिये स्थान था। उसका मुख्य काम था नीति तथा विधि का सूत्रपात करना। दूसरी संस्था परिषद थी जिसमें सम्पूर्ण जनता अथवा उसके प्रतिनिधि सम्मिलित होते, और सीनेट द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रस्तावों पर वोट देना उसका मुख्य काम था। अन्त में दंडाधिकारियों का एक वर्ग था जिसका काम सरकार के प्रशासनीय कार्यों का सम्पादन करना था। इस व्यवस्था को मजबूत बनाने के लिये कुछ अन्य नियम भी निश्चित किये गये, उदाहरण के लिये गुप्त पर्ची द्वारा मतदान और बारी-बारी से पद धारण करने की व्यवस्था। नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया और राज्य के नियंत्रण में अनिवार्य शिक्षा का नियम रक्खा गया।

हैरिंगटन ने अपनी पुस्तक एक आदर्श के रूप लिखी थी और क्रॉमवेल ने उसके प्रचार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया, क्योंकि वह समझता था कि वह इतनी अव्यावहारिक है कि उससे कोई खतरा नहीं उत्पन्न हो सकता। किन्तु लेखक वास्तव में उसके द्वारा अपने देशवासियों के विचारों को प्रभावित करना चाहता था। हैरिंगटन और उसके मित्रों ने इस बात का भरसक प्रयत्न किया कि संसद उसकी योजना की मुख्य बातों को अंगीकार करले। हैरिंगटन को स्वतन्त्रता से उतना अनुराग नहीं था जितना कि मिल्टन को था, किन्तु उसका दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक था, अतः उसने सरकार के संगठन और राजनीति के वास्तविक तथ्यों की ओर अधिक ध्यान दिया। उसकी पुस्तक को बहुत से लोगों ने पढ़ा। इङ्गलैंड के लोगों की उसमें इतनी दिलचस्पी थी कि उसके प्रस्तावों पर विवाद करने के लिये रोटा क्लब नाम की संस्था की, जो कि पहली ज्ञात विवाद-सभा थी, स्थापना हुई। किन्तु अँग्रेजों ने अपनी पुरानी संस्थाओं को पुनर्जीवित करना ही अच्छा समझा, और राजतन्त्र की पुनःस्थापना के होने पर हैरिंगटन का प्रभाव समाप्त हो गया। अमेरिका में उसके विचारों का प्रभाव अधिक पड़ा। केरोलिना, न्यू जर्सी और पैनसिल्वेनिया के संविधानों में उसके विचार प्रतिबिम्बित हुए, और एक शताब्दी बाद जब अमेरिका के संविधान की रचना हुई तो उसके पूर्व और बाद के विवादों में उसके विचारों को पूर्ण रूप से उद्धृत किया गया। ओटिस और जॉन एडम्स उसके ग्रन्थों को बाइबिल के सदृश् प्रमाण मानते थे, और जैफर्सन की प्रति कांग्रेस के पुस्तकालय में सुरक्षित है। फ्रांसीसी क्रांति के युग में हैरिंगटन के ग्रन्थों का फ्रेंच में अनुवाद हुआ, और सेईज ने उनसे अनेक विचार ग्रहण किये। इस प्रकार हैरिंगटन का नाम आधुनिक जगत की तीन महान क्रान्तियों से सम्बद्ध है।"[33]

---

३३. G. P. Gooch, *Political Thought in England from Bacon to Halifax*, (1914) p. 121.

फिल्मर

सर रॉबर्ट फिल्मर (?-१६५३) ने गृह-युद्ध में महत्वपूर्ण-भाग लिया। उसकी मुख्य रचना पैट्रिआर्का[३४] उसकी मृत्यु से पहले प्रकाशित न हो सकी। किन्तु यह पुस्तक महत्वपूर्ण है, कुछ तो इसलिये कि सिडनी और लॉक ने उसका उत्तर दिया, और कुछ इस वजह से कि इसमें राजतन्त्र के उस सिद्धान्त का, जिसे पुनःस्थापना के बाद अनेक टोरियों ने अपना लिया था, सबसे अच्छा प्रतिपादन मिलता है। फिल्मर इस बात में हॉब्स से सहमत था कि राजा की शक्ति निरंकुश होनी चाहिये। किन्तु उसने हॉब्स के सामाजिक संविदा के सिद्धान्त का खंडन किया। उसने कहा कि प्रकृति की दशा और सामाजिक संविदा का सिद्धान्त तत्वतः निरंकुश राजतंत्र के विरुद्ध पड़ता है। यदि यह मान लिया जाय कि मूलतः सर्वोच्च शक्ति जनता के हाथों में थी, और उसे अपनी इच्छानुसार सरकार बनाने की स्वतन्त्रता थी, तो केवल लोकतन्त्र वैध शासन व्यवस्था ठहरेगी। उसने यह मानने से इन्कार किया कि मूलतः सभी मनुष्य समान थे, और न यही स्वीकार किया कि सत्ता का आधार मानवीय सम्मति है। वह बोदें से इस बाद में सहमत था कि प्रत्येक राज्य में केवल एक निरंकुश और दायित्वहीन प्रभु-शक्ति होनी चाहिए।

फिल्मर का विश्वास था कि परिवार के विस्तार से सरकार का जन्म हुआ, पिता राजा बन गया और उसकी संतान प्रजा कहलाने लगी।[३५] इस प्रकार फिल्मर ने राजा अपनी प्रजा का पिता है, इस रूपक को निरंकुशतन्त्र के समर्थन के लिये एक तर्क के रूप में प्रयुक्त किया। उसने कहा कि धर्मशास्त्रों और इतिहास दोनों इस बात का प्रमाण हैं कि पितृतन्त्रीय शासन सत्ता का आदि रूप था, और राजतन्त्र एक दैवी संस्था है और प्रकृति के नियमों के अनुकूल है। पैतृक सत्ता ही केवल अलंघनीय प्राकृतिक अधिकार है, और प्रत्येक राजतंत्रीय राज्य में राजा की निरंकुश सत्ता के रूप में वह स्थाई रूप से चली आरही है। राजतन्त्र का विकल्प अराजकता अथवा सैनिक निरंकुश-वाद है। इसके अतिरिक्त राजतंत्र ही एक ऐसी शासन-प्रणाली है जिसके अन्तर्गत धर्म की रक्षा सम्भव है, हालैंड में धर्म की विभिन्नता और वेनिस में धर्म का अभाव इस बात के प्रमाण हैं। इस प्रकार फिल्मर ने राजा को विधि का स्रोत माना, संसद को केवल एक परामर्श-परिषद का स्थान दिया और विनम्र भाव से राजा की आज्ञा का

३४. *Patriarcha, or the Natural Power of Kings* (1680). इसके अतिरिक्त उसकी पुस्तक *Observations Concerning the Original of Government* (१६५२) का भी अवलोकन कीजिये इसमें हॉब्स, मिल्टन, ग्रोशस और हंटन की आलोचना की गई है।

३५. टॉमस एक्विनास ने सरकार के पितृ सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, और कभी-कभी परवर्ती लेखकों ने उसका उल्लेख किया।

पालन करना प्रजा का कर्तव्य बतलाया। उसने कहा कि राजनीतिक सत्ता मूल पैतृक सत्ता से व्युत्पन्न हुई थी और ईश्वर की स्वीकृति से पित्रागत उत्तराधिकार द्वारा उसका संक्रमण होता आया है। यदि राजा का कोई उत्तराधिकारी न हो तो परिवारों के प्रमुखों द्वारा चुने हुए शासक को ईश्वर-प्रणीत मान लेना चाहिये।

फिल्मर की धारणाओं का आधार कुछ इतिहास था और कुछ प्राकृतिक विधि में विश्वास। उसके सिद्धान्त का विशेषकर मूल्यवान तत्व यह धारणा थी कि राज्य का प्राकृतिक रूप से और जीव के सदृश् विकास हुआ है, वह संविदा द्वारा निर्मित यांत्रिक व्यवस्था नहीं है। उसने दैवी अधिकार के सिद्धान्त का धर्मशास्त्रों के आधार पर नहीं, प्राकृतिक नियमों की बुनियाद पर समर्थन किया। उसका सिद्धान्त था कि जो कुछ प्रकृति के अनुरूप है वही देवविहित है। दैवी अधिकार के धर्मतांत्रिक आधार को त्यागने का परिणाम यह हुआ कि उस सिद्धान्त के उन्मूलन का ही मार्ग तैयार होगया, क्योंकि फिल्मर ने इतिहास की जो व्याख्या की उसका खंडन करना सरल था, अथवा यह सिद्ध करना आसान था कि लोकतांत्रिक सिद्धांत भी प्राकृतिक है; धर्मतांत्रिक तर्कों का खंडन करना उतना सरल नहीं था। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक विधि के सिद्धांतों की राजतत्र विरोधी दृष्टिकोण से व्याख्या करने की प्रवृत्ति इतनी बलवती थी कि उसका विरोध करना फिल्मर जैसे व्यक्ति के लिये कठिन था, वल्कि हॉब्स जो उससे अधिक योग्य विचारक था वह भी इस दिशा में असफल रहा था।

अमेरिका में प्यूरिटन विचार

इंगलैंड के धार्मिक और राजनीतिक विवाद के युग में अमेरिका में उपनिवेश बसाने के आन्दोलन को बड़ा प्रोत्साहन मिला। प्रारम्भिक स्टुअर्ट राजाओं के समय में स्वतंत्र तथा प्यूरिटन लोग देश छोड़कर न्यू इंगलेंड चले गये, क्योंकि वहाँ उन्हें अपने धार्मिक क्रिया-कलाप को निर्विघ्न चलाने की स्वतंत्रता थी। जब चार्ल्स प्रथम का वध कर दिया गया और क्रॉमवेल के हाथों में शक्ति आगई तो अनेक एंग्लीकन राजभक्त दक्षिणी उप-निवेशों में जाकर बस गये। कैथोलिकों ने मैरीलैंड में और क्वेकरों ने पैनसिलवेनिया में शरण ली। ये उपनिवेशी अपने साथ इंगलैंड की रूढ़ि-विधि (कॉमन लॉ) इंगलिश परम्पराएँ और सरकारी संस्थाएँ लेगये, और अमेरिका में उन्हें लोकतंत्र और व्यक्ति-वाद के विकास के लिये बड़ा ही अनुकूल वातावरण मिला। यद्यपि अमरीकी क्रान्ति से पहले व्यवस्थित ढंग से राजनीतिक चिन्तन बहुत कम हुआ, फिर भी जिस शासन-प्रणाली का धीरे-धीरे विकास हुआ उस पर अंग्रेजी विचारों का प्रभाव स्पष्ट था।

अमरीका के चिन्तन की दिशा को निर्धारित करने में इंगलैंड के प्यूरिटन आदर्शों का कदाचित सबसे अधिक महत्व था। चर्च का प्रभाव सर्वोपरि था। पुराने इच्छापत्र की शिक्षाओं के आधार पर एक असहिष्णुतापूर्ण धर्मतांत्रिक व्यवस्था का निर्माण करने

का प्रयत्न किया गया, जो जिनेवा में काल्विन द्वारा स्थापित व्यवस्था से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। यद्यपि काल्विन के इस सिद्धांत का समर्थन किया गया कि चर्च और राज्य दो पृथक समाज हैं, किन्तु साथ ही साथ यह भी स्वीकार किया गया कि राजनीतिक सत्ता का यह कर्तव्य है कि चर्च के सिद्धान्तों और अनुष्ठानों के परिपालन की गारंटी दे और नैतिक नियमों का उल्लंघन करनेवालों को दंड दे। सच्चे धर्म की रक्षा करना राज्य का मुख्य कर्तव्य था और नागरिकता के पूर्ण अधिकारों को प्राप्त करने के लिए चर्च की सदस्यता आवश्यक थी।

इस सिद्धांत का स्वतंत्र सम्प्रदाय के लोगों ने विरोध किया। रोजर विलियम्स[३६] उनका प्रमुख नेता था। उसका तर्क था कि राज्य चर्च से बिल्कुल भिन्न संस्था है, अतः राजनीतिक अधिकारियों का धार्मिक विषयों में कोई क्षेत्राधिकार नहीं होना चाहिये। उसने अन्तःकरण की स्वतंत्रता का पक्षपोषण किया, इसके लिये एक तो उसने धर्मशास्त्रों का सहारा लिया, और दूसरे कहा कि स्वतंत्रता सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से उपयोगी भी है। सरकार के सम्बन्ध में उसका विचार था कि उसकी उत्पत्ति संविदा से हुई थी और उसका आधार लोकसम्मति है। कॉमनवेल्थ के काल में इंगलैंड के जीवन पर उसके विचारों का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा।

प्यूरिटन लोग अमेरिका में काल्विन के लोकतंत्रविरोधी विचारों को ले गये; और प्रारम्भिक बस्तियों में थोड़े से ही स्वतंत्र लोग थे जिन्हें शासन-कार्य में भाग लेने का कुछ अधिकार था। किंतु अनेक ऐसे प्रभाव थे जिन्होंने लोकातांत्रिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया। नये उपनिवेशियों की स्थिति लगभग वैसी ही थी जैसी कि किसी देश के सीमान्त प्रदेश के निवासियों की होती है; इसके अतिरिक्त अँग्रेज जाति की जन्मजात स्वतंत्रता के प्रति भी उन लोगों का बड़ा अनुराग था। न्यू इंगलैंड में सरकार की स्थापना की सामाजिक संविदा की पद्धति का व्यापक प्रचार था। मेफ्लावर का समझौता (१६२०), कनेक्टीकट के मूल आदेश (१६३९) और न्यूपोर्ट की घोषणा (१६४१) इसके मुख्य उदाहरण थे। कनेक्टीकट के उपदेशक टोमस हुकर[३७] ने सामाजिक संविदा की बड़े स्पष्ट ढंग से व्याख्या की। न्यू इंगलैंड में चर्च-संगठन की सामुदायिक (कांग्रीगेशनल) पद्धति प्रचलित थी। इसके अन्तर्गत आराधकों का प्रत्येक समुदाय स्वतंत्र था और स्वयं अपने पादरियों को चुनता था। इससे संविदा के विचार को तो बल मिला ही, साथ ही साथ स्थानीय स्व-शासन और लोकप्रभुत्व की धारणाओं का भी विकास हुआ। संविदा-सिद्धान्त चर्च तथा राज्य दोनों में व्यक्ति को अधिक महत्व देता था, क्योंकि दोनों

३६. देखिये उसकी रचनाएं *Bloudy Tenent of Persecution for Cause of Conscience* (1644) और *Bloudy Tenent. yet more Bloudy* (1652).

३७. देखिये उसकी रचना *Survey of the Summe of Church Discipline* (1648).

ही ऐच्छिक सम्मति के आधार पर निर्मित माने जाते थे। इन व्यक्तिवादी विचारों में लोकतंत्र का बीज निहित था जिसका तेजी से विकास हुआ, और उसने न्यू इंगलैंड की धर्मतांत्रिक और अभिजाततंत्रीय प्रवृत्तियों का स्थान ले लिया।

दक्षिणी उपनिवेशों में एंग्लीकन और राजतंत्रीय परम्पराओं का प्रभाव था और खेती बाड़ी में दासों का व्यापक प्रयोग होता था, इसलिये वहाँ के लोगों का लोकतंत्र और स्वशासन की ओर कम झुकाव था। फिर भी निश्चित अभिजाततंत्रीय ढंग की समाज-व्यवस्था स्थापित करने के लिए किया गया प्रत्येक प्रयत्न विफल रहा। क्वेकर लोगों के पहुँचने से अमेरिका में अनाबैप्टिस्टों के न्यायालयों में शपथ लेने और सैनिक सेवा के सम्बन्ध में जो विचार थे उनका भी प्रवेश हुआ।

अमरीकी उपनिवेशों में लिखित संविधान के विचार की भी बड़ी प्रगति हुई। औपनिवेशिक-व्यापारिक कम्पनियों को जो अधिकार पत्र मिले थे वे अमेरिका में पहुँचे। उनमें व्यापारिक एकाधिकार के साथ-साथ उन्हें भूमि का अनुदान तथा शासन-शक्ति भी प्रदान की गई थी। ये अधिकार-पत्र सरकार के लिखित आधार और स्थानीय विशेषाधिकारों की गारन्टी के रूप में प्रयुक्त किये गये। दो उपनिवेशों के अधिकार-पत्र क्रांति के समय तक कायम रहे, और जब उन्होंने स्वतंत्र राज्यों का दर्जा प्राप्त कर लिया तो उन्हीं को संविधान मान लिया। स्वामिगत उपनिवेशों में सरकार के ढाँचे तैयार कर लिये गये जिस पर कॉमनवेल्थ-काल के लेख्यों और हैरिंगटन की **ओसियाना** का विशेष प्रभाव था। कैरोलिना के **मूल संविधानों** ने, जिनका श्रेय बहुधा जॉन लॉक को दिया जाता है, एक अभिजाततंत्रीय व्यवस्था की स्थापना की जिसमें शासन-शक्ति का सम्बन्ध सम्पत्ति से था। विलियम पैन ने न्यू जर्सी (१६७६) और पैनसिलवेनिया (१६८३) के लिये अधिकार-पत्र तैयार किये और उनमें **ओसियाना** के अनेक सुझावों को समाविष्ट कर लिया। इन संविधानों को आदर्श समझा जाता था और आशा की जाती थी कि ये स्थाई सिद्ध होंगे। विशेषकर पैनसिलवेनिया के संविधान की यूरोप में बड़ी ख्याति फैली। वोल्तेयर और मौन्तेस्क्यू ने उसकी बड़ी प्रशंसा की। किंतु ये प्रयत्न विफल रहे, यद्यपि सम्पत्तिमूलक योग्यता में विश्वास नागरिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता की धारणाएँ और लिखित संविधान के विचार कायम रहे।

औपनिवेशिक युग का लोकतांत्रिक आन्दोलन राज्यपालों (गवर्नरों) और औपनिवेशिक विधान सभाओं के बीच हुए संघर्ष के रूप में व्यक्त हुआ। इस संघर्ष में मुख्यतया वे ही प्रश्न ग्रस्त थे जिन्हें लेकर संसद और राजा के बीच युद्ध हुआ था, और उपनिवेशों के दलों ने भी ह्विग और टोरी नाम अपना लिये। सभाओं का वित्त पर नियंत्रण था; उन्होंने अपनी शक्ति धीरे-धीरे बढ़ाली और गृह सरकार का प्रशासकीय नियंत्रण बहुत कुछ सीमित हो गया। संघर्ष से उपनिवेशियों को राजनीति का व्याव-

हारिक अनुभव प्राप्त हुआ, और स्वतन्त्रता तथा लोक-शासन की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला।

पठनीय ग्रन्थ

Allen, J. W., *English Political Thought, 1603-1660* (London, Methuen, 1938)
A History of Political Thought in the Sixteenth Century (New York, MacVeagh, 1928), Part II.

Barker, Arthur, *Milton and the Puritan Dilemma*, 1641-1660 (Toronto, University of Toronto Press, 1942)

Bryce, James, *Studies in History and Jurisprudence* (New York, Oxford Univ. Press, 1901) pp. 1 ff.

Campbell, W. E., *More's Utopia and his Social Teaching* (London, Eyre, 1930)

D' Entreves, A. P., *Medieval Contribution to Political Thought* (Oxford University Press, 1939) Chap. 6.
Riccrado Hooker (Turin, Univ. of Turin, 1932)

Dunning, W. A., *Political Theories from Luther to Montesquieu* (New York, Macmillan, 1905) Chaps. 6-7.

Gooch., G. P., *A History of English Democratic Ideas in the Seventeenth Century*, and ed. (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1927)
Political Thought in England from Bacon to Halifax (London, Williams & Norgate, 1914)

McIlwain, C. H., *Constitutionalism, Ancient and Modern*, rev. ed. (Ithaca, Cornell Univ. Press, 1947)

,, ,, ed., *The Political Works of James I* (Cambridge, Havard Univ. Press, 1918)

Sabine, G. H., *A History of Political Theory, rev. ed.* New York, Holt, 1950) Chaps. 22, 24-25.

Smith, H. F. R., *Harrington and his Oceana* (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1914)

Wolfe, D. M., ed., *Leveller Manifestoes of the Puritan Revolution,* (New York, Nelson, 1944)

" " *Milton in the Puritan Revolution* (New York, Nelson, 1941)

Troeltsch, Ernst, *The Social Teachings of the Christian Churches,* trans. by Olive Wyon, 2 Vols. (New York, Macmillan, 1931), pp. 666-681, 706-711.

अध्याय १४

हॉब्स तथा लॉक

प्रकृति की अवस्था तथा सामाजिक संविदा

हॉब्स तथा लॉक की रचनाओं में राजनीतिदर्शन के तीन प्रमुख विचारों की परिणति हुई : प्राकृतिक विधि का सिद्धांत, सामाजिक संगठन के प्रादुर्भाव से पूर्व प्रकृति की अवस्था की धारणा, और सामाजिक संविदा का विचार जिसके द्वारा राज्य की स्थापना हुई।

राजनीतिक चिन्तन में ये तीनों विचार अत्यन्त प्राचीन काल से चले आरहे थे। रोम के विधिविज्ञों ने सामान्यतया प्राकृतिक विधि का सार्वराष्ट्रीय विधि के साथ एकात्म्य स्थापित किया, और उसे व्यावहारिक विधि से भिन्न माना; यद्यपि उल्पियन सरीखे कुछ ऐसे भी विधिवेत्ता हुए जिन्होंने प्राकृतिक विधि को सार्वराष्ट्रीय विधि से भिन्न माना, लेकिन वे उनके भेद को स्पष्ट न कर सके। मध्ययुग में विधि को सामान्यतया तीन वर्गों में विभक्त किया जाता था : प्राकृतिक विधि, ईश्वर की विधि और मानव-विधि। प्राकृतिक विधि को बहुधा ईश्वरीय विधि से मिला दिया जाता और उसके अधीन माना जाता था। धीरे-धीरे यह विचार सामने आया कि प्राकृतिक विधि मानव विवेक का ही रूप है, किसी सत्ता से उत्पन्न नहीं हुई है। हुकर तथा ग्रोशस की रचनाओं में यही धारणा प्रमुख थी, यद्यपि वे इसको स्पष्ट नहीं कर सके थे। उन्होंने भी धर्म-शास्त्रों तथा ऐतिहासिक उदाहरणों का सहारा लिया। हॉब्स ने इस चीज को बिलकुल स्पष्ट कर दिया। उसने कहा कि मनुष्य का विवेक ही प्राकृतिक विधि है, और कुछ नहीं। विवेक द्वारा मनुष्य के स्वभाव के जिन नियमों का पता लगता है वे ही प्राकृतिक विधि के नियम हैं।

यह विचार भी पहले के लेखकों[1] की रचनाओं में मिलता है कि राजनीतिक समाज की स्थापना से पहले प्रकृति की अवस्था थी जिसमें मनुष्य प्राकृतिक विधि के अधीन और प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करता हुआ जीवन बिताता था। किन्तु सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों तक यह विचार प्रमुखता नहीं प्राप्त कर सका। यद्यपि प्रकृति की अवस्था की धारणा का सम्बन्ध इतिहास से है, किन्तु इसके प्रवर्तकों

१. उदाहरण के लिए मेरियाना और ग्रोशस।

ने ऐतिहासिक पद्धति द्वारा कभी इसकी समीक्षा नहीं की थी। इसको प्राकृतिक विधि और प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत का आवश्यक आधारतत्व मान लिया गया था। लोक-प्रभुत्व के सिद्धांत और मनुष्य के अलंघनीय (असंक्राम्य) अधिकारों का समर्थन करने के लिये यह कल्पना कर लेना आवश्यक था कि राज्य की सत्ता और विधि की स्थापना से पहले मनुष्य जाति का एक आदि समाज था। प्रकृति की अवस्था के सम्बन्ध में दो मुख्य धारणाओं का उदय हुआ। एक के अनुसार प्रकृति की अवस्था सादगी और सद्गुण की आदर्श स्थिति थी जिसका राजनीतिक सत्ता की स्थापना से नाश होगया था और जिसकी पुनः स्थापना करना मनुष्य का कर्तव्य था। दूसरी धारणा यह थी कि प्रकृति की अवस्था में संघर्ष और हिंसा का बोलबाला था; कि राजनीतिक सत्ता की स्थापना से उसका नाश होगया; और यदि मनुष्यों ने राजनीतिक बुद्धिमानी और सक्रियता का परिचय न दिया तो वे पुनः उसी स्थिति में लौटकर जा गिरेंगे। मध्ययुग में मनुष्य के पतन के सिद्धांत का अधिक प्रभाव था, और चर्च राज्य के प्रति शत्रुता का आचरण करता था, अतः यह कल्पना की गई कि राजनीतिक समाज एक बुराई है, और अराजकता तत्वतः सुखप्रद है। सोलहवीं शताब्दी आर्थिक परिवर्तनों और राजनीतिक प्रसार का युग थी। अन्तः पुरातन व्यवस्था की निन्दा होने लगी और नये विचारों का स्वागत हुआ। राजनीतिक सिद्धान्तियों ने, विशेषकर उन्होंने जो राजा की शक्ति की वृद्धि करना चाहते थे, प्रकृति की अवस्था को नितान्त बर्बरता की दशा बतलाया और सुव्यवस्थित तथा सुशासित राजनीतिक समाज को सभ्यता की श्रेष्ठतम कृति माना। हॉब्स का यही दृष्टिकोण था। रूसो के समय तक आदिम सादगी की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में एक 'रोमांटिक' धारणा उत्पन्न हो गई थी। इस काल के साहित्य में श्रेष्ठ बर्बर की प्रशंसा भरी पड़ी है। अतः रूसो की कल्पना थी कि प्रकृति की अवस्था में मनुष्य का जीवन निर्दोष और उल्लासमय था; और उसका कथन था कि प्राकृतिक सरलता की ओर पुनः लौटने से ही वर्तमान जीवन की बुराइयों का निराकरण हो सकता है।

यह विचार भी नया नहीं था कि राज्य की उत्पत्ति समझौता अथवा संविदा से हुई है। प्लेटो और अरस्तू ने इसका उल्लेख किया था, और आलोचना भी की थी। **पुराने इच्छापत्र** में भी इसकी कल्पना की गई थी, और चर्च द्वारा इसका मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन में समावेश हुआ था। सामन्ती व्यवस्था में अधिपति और सामन्त स्वेच्छा से आपसी दायित्वों को निश्चित कर लिया करते थे। इससे भी इस धारणा का मार्ग तैयार हुआ कि शासक तथा प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों का आधार संविदा है। विधिक दृष्टि से इस धारणा का रोम की साझेदारी और निगमों की विधि से सम्बन्ध था। चौदहवीं शताब्दी में विलियम ओकम ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया, और शासितों की इच्छा को सरकार तथा निजी सम्पत्ति का आधार बताया। सोलहवीं शताब्दी तक इस विचार से लोग भली-भाँति परिचित हो चुके थे, और राजाओं के प्रजा पर निरंकुश

आधिपत्य के दावे का विरोध करने के लिये इसका प्रयोग किया गया था। जैसुइटों ने भी इसका प्रयोग किया। इससे उन्हें यह सिद्ध करते में सहायता मिलती थी कि ईश्वरीय इच्छा पर आधारित चर्च की सत्ता के मुकाबिले में मानवीय संविदा पर स्थित लौकिक सत्ता बहुत घटिया है। बुकनन, आल्थूसियस और विंडिकोई के सिद्धान्तों में इस विचार का प्रमुख स्थान था। इस धारणा के कई रूप थे। कुछ विचारकों की कल्पना थी कि ईश्वर तथा प्रजा के बीच सच्चे धर्म की रक्षा करने के लिये एक समझौता हुआ था। कुछ ने कहा कि प्रत्येक मनुष्य ने दूसरे के साथ एक राजनीतिक समाज स्थापित करने के लिये करार किया। कभी-कभी यह कल्पना की गई कि शासक तथा प्रजा के बीच समझौता हुआ जिससे वे शर्तें निश्चित की गईं जिन पर शासक की सत्ता आधारित थी।

इंगलैंड में रिचार्ड हुकर ने १५९४ में ही सामाजिक संविदा के सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत कर दी थी। आर्थिक हितों के महत्व, नये तथा धनी व्यापारिक वर्ग के प्रभाव और वकीलों की सुदृढ़ स्थिति के कारण उस देश में सामाजिक संविदा का सिद्धान्त विशेषकर लोकप्रिय हुआ। गृह-युद्ध के दौरान में इस सिद्धान्त ने प्रमुखता प्राप्त कर ली। इसके आधार पर दैवी अधिकारों पर आधारित राजतंत्र के विरुद्ध लोकतंत्रीय दल का समर्थन करने में सहायता मिली। कॉमनवेल्थ काल के लेख्य "जनता के करारों" के रूप में प्रस्तुत किये गये थे। इस प्रकार यह सिद्धान्त ह्विगदल के राजनीतिक विचारों का मुख्य अंग बन गया। पुनःस्थापना के बाद के प्रतिक्रिया के काल में इसके एक विवरण को १६१२ में आक्सफर्ड में जला दिया गया था। १६८८ की क्रान्ति के बाद उसकी पुनः पुष्टि की गई, और जेम्स द्वितीय की पदच्युति को इस आधार पर उचित ठहराया गया कि उसने अपने कुशासन द्वारा राजा और प्रजा के बीच गई मूल संविदा को भंग किया था।

प्राकृतिक सम्बन्धों के स्थान पर सामाजिक संबंधों की स्थापना करनेवाली संविदा के सिद्धांत को सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के और संपूर्ण अठाहरवीं के सभी प्रमुख विचारकों ने स्वीकार कर लिया। उस समय दैवी अधिकार के सिद्धांत का यही एक युक्तिसंगत विकल्प जान पड़ता था। स्वतंत्रता का समर्थन करनेवालों को यह सिद्धांत विशेषकर रुचिकर प्रतीत हुआ क्योंकि इससे राजाओं की निरंकुश सत्ता पर नियंत्रण लगाने का एक तरीका निकल आया था। उन दार्शनिक और बौद्धिक विचारकों ने जो चिन्तन की धर्मतांत्रिक पद्धति से पिंड छुड़ाना चाहते थे इस सिद्धान्त को अपनाया, क्योंकि इससे सत्ता का आधार मानवीय हो गया जिसकी समीक्षा और आलोचना हो सकती थी।

साधारण जनता को भी यह सिद्धान्त पसन्द आया, क्योंकि इसने सामाजिक विकास में सचेत मानवीय इच्छा को अधिक महत्व दिया; इसके अनुसार प्राकृतिक

अधिकारों को धारण करनेवाले व्यक्ति के हितों को भी सर्वोपरि माना गया था। इसमें सन्देह नहीं कि इस सिद्धांत का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं था, और आगे चलकर ह्यूम, बैंथम, बर्क, और कांट की आलोचनाओं ने इसको ध्वस्त कर दिया ; फिर भी इसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा, विशेषकर इंगलैंड, अमेरिका और फ्रांस में जहाँ लॉक और रूसो की रचनाओं के द्वारा इसने लोकतंत्र और वैयक्तिक स्वतंत्रता को जन्म देनेवाली क्रांतियों का मार्ग प्रशस्त किया।

हॉब्स

टॉमस हॉब्स (१५८८-१६७९)[2] प्रथम अँग्रेज था जिसने राजनीतिदर्शन पर एक व्यापक ग्रन्थ की रचना की। हॉब्स राजनीतिक विचारक की दृष्टि से ही नहीं, व्यक्ति के रूप में भी एक दिलचस्प मनुष्य था। उसने सरकार के "सुख" का जो सिद्धांत प्रतिपादित किया उसके निरूपण में उसके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण प्रभाव था।

उसका जन्म माल्सबरी में हुआ था। उसकी माता स्पेन के आर्मेडा का समाचार सुनकर घबड़ा गई, इसलिये वह समय से पहले ही उत्पन्न हो गया। हॉब्स ने स्वयं लिखा है कि इस घटना का उस पर इतना प्रभाव पड़ा था कि उससे वह कभी मुक्त नहीं हो सका। उसके जीवनचरित के रचयिता जॉन ओब्रे ने लिखा है कि जो असाधारण भीरुता उसको जीवन पर सताती रही उसका मुख्य कारण उसके जन्म की परिस्थितियाँ थीं।[3] हॉब्स को एक और आपत्ति का शिकार होना पड़ा ; उसके बाल्यकाल में ही उसका परिवार टूट गया। उसके पिता ने, जो वैस्टपोर्ट का विकार था, अपनी पत्नी और बच्चों को छोड़ दिया। आगे के जीवन में हॉब्स को इससे भी कम शान्ति मिली। गृह-युद्ध के दौरान में उसे भागकर फ्रांस जाना पड़ा। बाद में उसे इंगलैंड में इस शर्त पर बसने की आज्ञा मिल गई कि वह राजनीतिक वादविवाद से दूर रहेगा। इस काल की मुसीबतों ने हॉब्स को और भी अधिक कष्ट पहुँचाया, क्योंकि उसके सिद्धांतों ने गणतंत्रवादियों और राजतंत्रवादियों, दोनों को ही अप्रसन्न कर दिया। क्रॉमवेल के समर्थकों के लोकतांत्रिक विचारों से उसे तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। और उसके उपयोगितावादी सिद्धांतों ने दैवी अधिकारों के आधार पर राजतंत्र का समर्थन करनेवालों को ऐसी गहरी चोट पहुँचाई कि उससे वे कभी सँभल नहीं सके, यद्यपि कहने को वह उनका पक्षपोषक था।

हॉब्स का विश्वास था कि इनमें से कोई पक्ष ऐसा नहीं है कि स्थिरता और

Leviathan (*1651*). देखिये Oakeshott का संस्करण। हॉब्स की अन्य राजनीतिक रचनाएँ थीं : *The Elements of Law* (१६४० में लिखित, १६५० में प्रकाशित), *De Cive* (1642), और *Behemoth or a Dialogue on Civil Wars* (1672).

O. L. Dick., ed., *John Aubrey's Brief Lives* (1949), p. 156.

शान्ति की स्थापना कर सके। शांति ऐसी सरकार पर निर्भर होती है जिसमें सभी प्रकार के विरोध को कुचलने को शक्ति हो, किंतु उसकी निरंकुशता इतनी आवश्यक प्रतीत हो कि बिना व्यापक विरोध के उसे स्वीकार कर लिया जाय। लेकिन हॉब्स के सामने प्रश्न यह था कि सर्वशक्तिमान सरकार की आवश्यकता को सिद्ध कैसे किया जाय। उसने बतलाया है कि एक बार उसे संयोग से अपने मित्र के पुस्तकालय में यूक्लिड रचित **रैखिकी के तत्व** नाम की पुस्तक मिल गई। पुस्तक उस पृष्ठ पर खुली हुई थी जिस पर ४७वीं प्रस्तापना का वर्णन था। वह चिल्ला पड़ा, "हे ईश्वर। यह तो असम्भव है।" किन्तु बाद में जब उसने देखा कि यह सम्भव ही नहीं बल्कि अपरिहार्य है तो उसे रैखिकी से प्रेम हो गया।[४] उसे एक ऐसी पद्धति का पता चल गया जिससे कि वह अपनी प्रस्थापनाओं की सत्यता को प्रदर्शित कर सकता था।

जिस प्रकार यूक्लिड ने कुछ आदि सिद्धान्तों को अपनी रैखिकी का आधार बनाया था, उसी प्रकार हॉब्स अपनी प्रस्थापनाओं को जीवन के दो तथ्यों पर आधारित करना चाहता था। ये दो तथ्य थे पदार्थ (भूत) और गति। इन दोनों के घात-प्रतिघात के आधार पर वह सभी समस्याओं को समझाना चाहता था। इसके लिये उसने एक विशाल ग्रन्थ लिखने की योजना बनाई, और उसको तीन खंडों में विभक्त करने का संकल्प किया। उसकी योजना थी कि पहले खंड **डी कौरपरे** में पदार्थ तथा गति का सामान्य विवेचन होगा; दूसरे, **डी होमीने** में मनुष्य की इच्छाओं को प्रेरित करनेवाली शक्तियों की समीक्षा होगी, और तीसरी, **डी सिवे** में समाज अथवा राज्य का अध्ययन किया जायगा। अन्त में हॉब्स इस बड़े ग्रन्थ के तीनों ही खंडों को समाप्त करने में सफल हुआ। किन्तु उसको शक्तिशाली सरकार की सबसे अधिक फिक्र थी, अतः उसने तीसरा खंड पहले लिखा।

इस ग्रन्थ में उसकी प्रस्थापना थी, जैसी कि उससे आगे चलकर **लिवियथन** में थी, कि समाज में रहनेवाले मनुष्य का आचरण एक आधारभूत सिद्धान्त द्वारा संचालित होता है। यह सिद्धान्त है आनन्द की इच्छा और पीड़ा से बचने का प्रयत्न। यदि मानवीय व्यवहार का विश्लेषण किया जाय तो पता लगेगा कि उसके सभी स्तर के कार्य-कलाप इसी आनन्द-पीड़ा रूपी यंत्र से नियंत्रित होते हैं। प्रत्येक जीवित पिंड प्रभुत-भूत अहं के द्वारा अपने को कायम रखने की स्वभाव से ही कामना करता है। और जब

४. वहीं, पृष्ठ १५०। यह वह युग था जिसमें गणित तथा नये भौतिक विज्ञानों का तेजी से उत्कर्ष हो रहा था। हॉब्स ने कुछ समय तक फ्रांसिस बेकन के सचिव के रूप में कार्य किया, और जब फ्रांस में था तो देकार्ते से उसका सम्पर्क हुआ था। इसलिये यह आश्चर्य की बात नहीं है कि वह समझता था कि राजनीति को भी भौतिकशास्त्र की भाँति एक विज्ञान का रूप दिया जा सकता है।

यह इच्छा पूरी हो जाती है तो वह अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करके अपने प्राण तत्व को और भी अधिक परिवर्धित करने का प्रयत्न करता है।[५]

मनोवैज्ञानिक तत्वों का विश्लेषण करने के उपरान्त हॉब्स ने राजनीति की ओर ध्यान दिया। उसकी धारणा थी कि मूलतः मनुष्य प्रकृति की अवस्था में रहता था, और सरकार से मिलनेवाली सुविधाओं से वंचित था। व्यक्तिगत अहंता और आत्म-संरक्षण की अभिलाषा से ही उसके सम्पूर्ण कार्य नियंत्रित होते थे। हॉब्स के मतानुसार इस काल में मनुष्य का जीवन "एकाकी, दरिद्रतापूर्ण, गन्दा, पशुवत और अल्प[६]" था। मनुष्य सब एक दूसरे के समान थे, यही चीज सब आपत्तियों की जड़ थी। "प्रकृति ने मनुष्यों को ऐसा समान बनाया है," कि कोई आदमी यह दावा नहीं कर सकता कि अमुक सुविधाएँ मुझको मिलनी चाहिए, और अन्य लोगों का उनके लिये कोई हक नहीं है।[७] और लोगों में जो भिन्नता है वह अधिक नहीं है। अतः दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति में भी इतनी शक्ति होती है कि बलशाली से बलशाली आदमी की हत्या करदे। किन्तु लोगों की कठिनाई यह थी कि उनमें प्रतिस्पर्धा, एक दूसरे का भय और वैभव की आकांक्षा बलवती थी। इसमें निरन्तर झगड़े उठते रहे थे। फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति हर अन्य व्यक्ति के विरुद्ध निरन्तर युद्ध में संलग्न रहता था। इस काल में न कोई काम न्यायपूर्ण कहा जा सकता था और न अन्यायपूर्ण, क्योंकि न कोई कानून था और न मनुष्यों में सम्यक और असम्यक का विवेक। केवल "शक्ति और छल-कपट" का बोलबाला था।

किन्तु मनुष्य में दो स्वाभाविक गुण विद्यमान थे :—विवेक और हिंसात्मक मृत्यु का भय। यदि ये गुण न होते तो पूर्वोक्त अवस्था अनिश्चित काल तक चलती रहती। मनुष्य के विवेक ने बतलाया कि युद्ध की अपेक्षा शान्ति का अधिक मूल्य है; और अस्वाभाविक मृत्यु के भय ने उसकी मूलप्रवृत्तियों के वेग को कम करके उन पर विवेक का अंकुश स्थापित किया। लोगों ने दो आधारभूत सिद्धान्त जो कि शान्ति-स्थापना के लिये परमावश्यक हैं, स्वीकार कर लिये। पहला सिद्धान्त यह है कि "प्रत्येक व्यक्ति को यथासामर्थ्य शान्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिए।" दूसरा सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक मनुष्य को "उतनी स्वतंत्रता से सन्तोष कर लेना चाहिए जितनी कि वह अपने

Leviathan, Chap. 11. इस प्रकार हॉब्स ने अहंता को मानव आचरण का एक वैज्ञानिक सिद्धान्त मान लिया, और उसको एक सामाजिक आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया। देखिये G. H. Sabine, *A History of Political Theory*, rev. ed. (1950) pp. 461-464.

६. *Leviathan*, Chap. 13.

७. वहीं।

८. वहीं।

मुकाबिले में दूसरों को देने के लिये तैयार है।"[९] इस आधार पर लोगों के लिये एक दूसरे के साथ समझौता करना, और एक ऐसी प्रभु-शक्ति की स्थापना करना सम्भव हो सका जिसे सम्पूर्ण सत्ता सौंपी जा सके। इस शक्ति का धारण करनेवाला एक व्यक्ति हो सकता था और एक व्यक्ति समूह भी। उसकी तात्विक विशेषता केवल यह थी कि वह सर्वशक्तिमान होना चाहिए। इस प्रकार स्थाई शान्ति के लोभ से व्यक्तियों ने बाध्य होकर अपने प्राकृतिक अधिकार एक ऐसी "सार्वजनिक शक्ति को सौंप दिये जो उन पर आतंक जमा सकती और उनके कार्यों को सामान्य हित की दिशा में मोड़ सकती।"[१०] किन्तु जिस व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह को यह शक्ति सौंपी गई वह इस संविदा में सम्मिलित नहीं था। बल्कि वह तो इस संविदा का परिणाम था और इसलिये उससे परे था। फलस्वरूप उसे असीम शक्ति का जिससे उसे कोई वंचित नहीं कर सकता था, प्रयोग करने की छूट मिल गई। वह अपनी शक्ति को अस्थाई रूप से तो किसी को प्रदान का सकता था, किन्तु अपने को उससे पूर्णतया मुक्त करने का उसे कोई अधिकार नहीं था। एक बार सम्पादित हो जाने पर समझौता भंग नहीं किया जा सकता था, क्योंकि जो भी उसका पालन करने से इन्कार करता वह लौटकर युद्ध की मूल अवस्था में पहुँच जाता, अतः उसका विनाश करना उचित हो जाता।

यद्यपि हॉब्स का यह आग्रह नहीं था कि प्रभुत्व का एक ही व्यक्ति में निहित करना आवश्यक है, फिर भी उसका विश्वास था कि राजतंत्र सरकार का सबसे अच्छा रूप है, क्योंकि इसके गृह-युद्ध द्वारा नष्ट होने की सबसे कम सम्भावना होती है। उसका आग्रह था कि प्रभुत्व निरंकुश होना चाहिए, विभक्त न किया जाय, और एक सरल-से अंग में निहित किया जाय। उसे सीमित राजतंत्र के सिद्धान्त से घृणा थी। और न हॉब्स ने इसी बात पर बल दिया कि संविदा द्वारा राज्य की स्थापना एक सच्ची ऐतिहासिक घटना थी। उसका अभिप्राय तो यह था कि यदि राजनीतिक व्यवस्था का नियंत्रण न रहे तो तर्कतः मनुष्य प्रकृति की अवस्था में जा पड़ेगा और वही उसकी सामान्य गति होगी।

हॉब्स ने इस बात को एकदम स्पष्ट कर दिया कि यदि शासक अत्याचारी भी हो जाए तो भी लोगों को उसका विरोध करने का अधिकार नहीं है। अन्यायी राजा को दंड देने का काम ईश्वर पर छोड़ दिया जाना चाहिये। प्रजा को उन्हीं कामों की स्वतंत्रता हो सकती है जिन पर प्रभु कोई प्रतिबन्ध न लगाये, और वे उन्हीं अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं जिनका त्यागना उनके लिये सम्भव ही नहीं हो सकता, उदाहरण के लिये आत्मरक्षा और आत्म-अभियोग। किन्तु प्रभु की स्थापना इसलिये

९. *Leviathan*, Chap. 14.
१०. वहीं।

हुई है कि वह सुरक्षा प्रदान कर सके, इसलिये जब तक वह अपने दायित्व को पूरा करने में समर्थ है तभी तक प्रजा को उसके प्रति वफादार रहना चाहिये। यदि उसके विरुद्ध क्रान्ति हो और सफल हो जाय तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह शान्ति कायम रखने और संविदा का परिपालन करने में असमर्थ है। अतः उसके विधिक अधिकार विलुप्त हुए मान लिये जायँगे। हॉब्स के सिद्धान्त के इस भाग में तार्किक असंगति स्पष्ट दिखाई देती है। किन्तु वह पित्रतंत्रीय शासन को पसन्द नहीं करता था। उसका कहना था कि यद्यपि प्रभु को विस्तारपूर्वक कानून बनने का अधिकार है। किन्तु व्यवहार में उसे उन चीजों पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिये जिनसे शान्ति भग होने का डर नहीं है। कानून थोड़े और सरल हों। हॉब्स इस धारणा से अपरिचित था कि राज्य का काम सामाजिक कल्याण का संवर्धन करना है। वह राज्य को एक आवश्यक बुराई समझता था, जिसका काम मनुष्य की उसकी बर्बर प्रवृत्तियों से रक्षा करना है।

हॉब्स की परिभाषा के अनुसार विधि प्रभु का प्रजा को औपचारिक रूप से दिया हुआ आदेश है, और नैतिकता तथा नीति के स्पष्टतः भिन्न है। केवल प्रभु को ही विधि के निर्माण और रद करने का अधिकार है, किन्तु वह स्वयं उससे ऊपर है, उसके आधीन नहीं है। हॉब्स ने प्राकृतिक विधि की सामान्यतः मान्य धारणा का खंडन किया, और कहा कि यदि कोई ऐसी विधि हो भी तो हर व्यक्ति उसका अपने-अपने ढंग से अर्थ लगायगा। इंगलैंड के विभिन्न राजनीतिक गुटों ने नैतिक विधि, रूढ़ि और पूर्वोदाहरण के आधार पर अपने-अपने दृष्टिकोणों का समर्थन करने का प्रयत्न किया था किन्तु हॉब्स ने इन सब को तिलांजलि देदी और प्रभु की इच्छा को ही प्राधिकारपूर्ण माना। उसके इस सिद्धान्त को कि विधि प्रकृष्ट (सुपीरियर) का आदेश और दंड द्वारा प्रवर्तनीय है, आगे चल कर ऑस्टिन ने अपना लिया। किन्तु हॉब्स ने यह भी कहा कि यदि कोई व्यक्ति विधि से अनविज्ञ है और इसमें उसका कोई दोष नहीं है, तो उसे उसके लिये उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

हॉब्स का मत था कि प्रभु की सत्ता आध्यात्मिक विषयों में भी उसी प्रकार सर्वोच्च है जिस प्रकार लौकिक विषयों में, किन्तु व्यवहार में उसने धार्मिक सहिष्णुता की सलाह दी। उस समय इंगलैंड में प्यूरिटनों तथा कैथोलिकों के जो दावे थे उनसे राज्य के निरंकुश प्रभुत्व को जिसे वह परमावश्यक मानता था, खतरा था। अतः उसने कैथोलिक चर्च पर सबसे भयंकर आरोप लगाये और उस धार्मिक व्यवस्था तथा मतवादों का खंडन किया जिनके द्वारा वह मनुष्यों के मस्तिष्क को नियंत्रित किया करता था। उधर पादरियों ने हॉब्स की कटु आलोचना की और उस पर नास्तिक होने का आरोप लगाया; अनेक वर्षों तक स्वतन्त्र विचारों को हॉब्सवाद कह कर बदनाम किया गया।

हॉब्स की राजनीतिक व्यवस्था ने तत्काल लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। उसकी शैली बड़ी ही प्रसादगुण सम्पन्न थी। यही कारण था कि उसकी रचनाओं को जितने लोगों ने पढ़ा उतने सामान्यतः दार्शनिकों की कृतियों को नहीं पढ़ते हैं। उसके सम्बन्ध में सामान्यतया लोगों का कहना था कि यद्यपि उसके विचारों में अनेक आधारभूत त्रुटियाँ हैं, किन्तु उनको उसने इतनी चतुराई से व्यक्त किया है कि "क्लाविउस जैसे विचारक के साथ सहमत होने से तो उसकी भूलों को स्वीकार करना अच्छा है"[11] किन्तु यह कथन उसकी साहित्यिक शैली के ही सम्बन्ध में सत्य है, क्योंकि उसके राजनीतिदर्शन से सहमत होनेवाले व्यक्ति बहुत ही कम थे। स्टर्लिंग लाम्पेक्ट का कहना है कि "हॉब्स के राजनीतिदर्शन की उसी के काल में इतनी व्यापक और कटु निन्दा हुई जितनी आधुनिक युग में अन्य किसी दर्शन की नहीं हुई है। यह सत्य है कि हॉब्स की आलोचना में जितनी पुस्तिकाएँ लिखी गईं उनमें से अधिकतर नष्ट हो चुकी हैं। किन्तु हम इक्यावन ऐसी आलोचनाएँ गिना सकते हैं जो उसके विरुद्ध उसके जीवन काल में अथवा उसके बाद के दशक में प्रकाशित हुई थीं, और पक्षपोषण करनेवाले केवल दो ही व्यक्ति थे (वे दोनों महाद्वीप के निवासी थे)।[12]

हॉब्स के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा लेखक नहीं हुआ है जिसने प्रभुत्व के सम्बन्ध में ऐसा अतिवादी दृष्टिकोण अपनाया हो। मैकियावेली ने व्यवहार के क्षेत्र में राजनीति को धर्म तथा नैतिकता से पृथक किया था, हॉब्स ने राजनीतिदर्शन के क्षेत्र में राजनीति को धर्म तथा नैतिकता के ऊपर माना। बोदें ने प्रभुत्व को ईश्वरीय विधि, प्राकृतिक विधि और सार्वराष्ट्रीय विधि द्वारा सीमित किया था, इसके विपरीत हॉब्स ने प्रभुत्व को सर्वशक्तिमान और असीमित बनाया। ग्रोशस ने सिखाया था कि प्राकृतिक विधि और सार्वराष्ट्रीय विधि सभी राज्यों पर लागू होनी चाहिये, इसके विरुद्ध हॉब्स का सिद्धान्त था कि प्राकृतिक विधि, सार्वराष्ट्रीय विधि और यहाँ तक कि ईश्वरीय विधि भी मनुष्यों पर उनके प्रभु की इच्छा से ही लागू की जा सकती है। उसने कहा कि राज्य प्रकृति की अवस्था में रहते हैं, और सार्वराष्ट्रीय विधि विवेक का आदेश है जिससे यह पता लगता है कि हर राष्ट्र की इच्छाओं को पूरा करने के लिये कौन से नियम सबसे अच्छे हैं। यद्यपि हॉब्स के प्रभुत्व सिद्धान्त का परिणाम निरंकुशवाद हुआ। फिर भी उसका आधार यह सिद्धांत था कि सभी मनुष्य समान हैं, और मनुष्य के लिये बड़ी मात्रा में वैयक्तिक स्वतंत्रता वांछनीय है। सामाजिक संविदा के सिद्धांत के आधार पर निरंकुशवाद का समर्थन करने का प्रयत्न पूर्णतया विफल रहा, और आगे चलकर लॉक ने क्रांति तथा लोकतन्त्र की दिशा में ले जानेवाली विचारधारा का विकास किया।

11. Dick, *Op. Cit*, p. 151.
12. S. P. Lamprecht, ed., *De Cive* (1949), p. XX.

पुनःस्थापना का राजनीतिक सिद्धान्त

१६६० में इंगलैंड के राजतंत्र की पुनःस्थापना हुई, इससे राजा तथा स्थापित चर्च की मैत्री सुदृढ़ होगई, और दैवी अधिकार तथा विनम्र आज्ञापालन के सिद्धान्त को प्रोत्साहन मिला। उस काल में फिल्मर का ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय था। इससे पता चलता है कि उस युग का प्रमुख सिद्धांत क्या था। राजा तथा एंग्लीकन चर्च के समर्थक टोरी कहलाते थे और उनके विरोधी ह्विग। ह्विगों ने राजसत्ता को सीमित करने और चर्च तथा राज्य की संस्थाओं को उदार बनाने के लिये जो प्रयत्न किये उनका टोरियों ने डट कर मुकाबिला किया। उन्होंने इस सिद्धान्त का कि राज्य का आधार संविदा है खंडन किया, और अत्याचारी शासक का विरोध करना भी उचित नहीं ठहराया। इन प्रतिक्रियावादी सिद्धांतों की बाढ़ के फलस्वरूप हैरिंगटन को कारागार में डाल दिया गया और मिल्टन के ग्रन्थों को जल्लाद द्वारा जलवा दिया गया।

प्रोटेस्टेंट सम्प्रदायों ने धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन किया किन्तु उन्होंने राजनीति में सक्रिय भाग लेना बन्द कर दिया; और जिन राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धान्तों का उन्होने पोषण किया था वे लगभग विलुप्त हो गये। प्रोटेस्टेंट डिसेंटरों तथा कैथोलिकों के डर के कारण धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना न हो सकी। इस काल में चर्च दल डिसेंटरों के साथ उदारता का व्यवहार करने के लिये तैयार था किन्तु कैथोलिकों से डरता था। किन्तु चार्ल्स द्वितीय को प्रोटेस्टेंट पन्थों से कोई सहानुभूति नहीं थी और कैथोलिकों का पक्ष लेता था। जेम्स द्वितीय के, जो स्पष्टरूप से कैथोलिक था, सिंहासनारोहण का परिणाम यह हुआ कि एंग्लीकन चर्च के अनुयायियों और डिसेंटरों में मेल हो गया, राजा के परमाधिकारों का झगड़ा फिर उठ खड़ा हुआ, और शक्ति ह्विग दल के हाथों में आगई। जेम्स सिंहासन से हटाया गया, एक क्रांतिकारी सम्मेलन के प्रस्ताव से विलियम और मेरी को गद्दी पर बिठलाया गया और अधिकार-अधिनियम पास हुआ। इससे राजतंत्र के समर्थकों के राजनीतिक सिद्धांत के मुकाबिले में संसदीय दल के सिद्धांत की विजय स्पष्ट हो गई। किन्तु १६८८ की क्रांति पुरातनपोषी और व्यवहारकुशल लोगों का काम थी जिन्हें न तो गणतंत्रीय सरकार में आस्था थी और न समता के सिद्धांत में। वे दैवी अधिकारों के सिद्धांत के तो विरोधी थे, किन्तु सीमित राजतंत्र और सरकार पर अभिजातवर्ग के नियंत्रण को अच्छा समझते थे। इस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व जॉन लॉक के राजनीतिदर्शन में मिलता था।

लॉक से पहले एल्जरनोन सिडनी (१६२२-१६८३) जो प्रगतिशील ह्विगों का नेता और स्वतन्त्रता का पक्का समर्थक था, फिल्मर की चिनौती को स्वीकार कर चुका था। सिडनी पर राई हाउस षड्यंत्र के उपरान्त राजद्रोह का मुकद्दमा चलाया गया और मृत्यु दंड दे दिया गया। उस पर जो आरोप लगाये गये थे उनमें उसके

अप्रकाशित ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्त भी सम्मिलित थे।[13] उसने दैवी अधिकार के सिद्धान्त का युक्तियुक्त खंडन किया, और इस सिद्धान्त का कि सत्ता का आधार लोक सम्मति है नये ढंग से समर्थन किया। सिडनी की रचना से स्पष्ट है कि उसने इतिहास का व्यापक और गम्भीर अध्ययन किया था, और रोम की गणतन्त्रीय व्यवस्था से वह विशेषकर प्रभावित हुआ था। उसकी **डिस्कोर्सेज** कई दृष्टि से मैकियावेली की **डिस्कोर्सेज ऑन लिवी** से मिलती जुलती है।

सिडनी ने सीमित संविदा के सिद्धांत का प्रतिपादन करने में मिल्टन का अनुसरण किया। उसका कहना था कि संविदा द्वारा जनता ने अपने कुछ अधिकार शासक को दे दिये, और कुछ स्वतंत्रता अपने पास रहने दी। उसका यह भी तर्क था कि समझौते की शर्तें उन्हीं पर लागू होती हैं जिन्होंने समझौता किया है अथवा अधिक से अधिक उनके वंशजों पर लागू हो सकती हैं, और उसको तभी तक लागू माना जा सकता है जब तक राजा अपनी सत्ता का लोक-कल्याण के लिये प्रयोग करता रहता है। सिडनी ने स्वतन्त्रता की प्रशंसा की किन्तु समता से उसे घृणा थी। वह संयत और सांविधानिक ढँग की शासन-व्यवस्था के पक्ष में था। उसने पुनःस्थापना के अन्धकारमय दिनों में स्वतन्त्रता की ज्योति को जलता रक्खा, और १६८८ की सांविधानिक क्रान्ति को, जिसने इंगलैंड में दैवी अधिकार के सिद्धांत को सदैव के लिये नष्ट कर दिया, प्रेरणा दी।

पुनःस्थापना काल का सबसे मौलिक विचारक जार्ज सेवाइल, मार्क्विस ऑव हैलीफेक्स (१६३३-१६६५) हुआ।[14] उसने टोरियों और ह्विगों के संघर्ष में बीच का मार्ग अपनाया। यद्यपि उसने कोई पूर्ण ग्रन्थ नहीं लिखा, किन्तु उसकी पुस्तिकाओं से गम्भीर चिन्तन और निरीक्षण का परिचय मिलता है; साथ ही साथ उनमें विनोद और सूक्तियों का अच्छा पुट है। हैलीफेक्स स्वभाव से ही पुरातनपोषी प्रवृत्ति का था और समझौते की नरम नीति का समर्थक था। मनुष्य के स्वभाव के सम्बन्ध में उसका भी दृष्टिकोण हॉब्स की भाँति निराशापूर्ण था। उसने उत्पीड़न और हिंसा का विरोध किया, और वह गृह-युद्ध को टालना चाहता था। वह सीमित राजतन्त्र और नियन्त्रित वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समर्थक था, और सांविधानिक और विधिक तरीकों को पसन्द

१३. उसकी पुस्तक *Discourses Concerning Government* फिल्मर की *Patriarcha* के उत्तर में लिखी गई थी, किन्तु १६६८ से पहले उसका प्रकाशन नहीं हुआ। अठारहवीं शताब्दी में पुरानी तथा नई दोनों दुनियाओं में चाव से उसका अध्ययन हुआ था।

१४. देखिए उसकी रचनाएँ *The Character of Trimmer* (1684), *Letter to a Dissenter* (1694), और *Thoughts and Reflections.*

करता था। वह नॉन-कानफर्मिस्टों (एंग्लीकन चर्च का अनुगमन न करने वाले प्रोटेस्टेंट लोग) और कैथोलिकों के साथ सहिष्णुता का व्यवहार करने के पक्ष में था, यद्यपि वह कैथोलिकों को सरकारी पदों पर नियुक्त करने के विरुद्ध था। परराष्ट्र-नीति के सम्बन्ध में उसका मत था कि इंगलैंड को हालैंड के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये और फ्रांस तथा स्पेन के बीच शक्ति का सन्तुलन कायम रखने का प्रयत्न करना चाहिए। उसका कहना था कि क्रॉमवेल ने दुर्बल राष्ट्रों के विरुद्ध शक्तिशाली देशों को सहायता देकर भूल की थी। उसका विश्वास था कि इंगलैंड की सुरक्षा के लिये शक्तिशाली नौसेना बहुत आवश्यक है। हैलीफेक्स ने राजनीति की समस्याओं को आनुभविक भावना से समझने की कोशिश की, और सिद्धांतों को व्यवहार की कसौटी पर परखा। उसने राजतन्त्रवादियों के दैवी अधिकार के सिद्धांत और गणतन्त्रवादियों के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त, दोनों का ही खंडन किया। जिस काल में लोग या तो धर्मशास्त्रों और पूर्वोदाहरणों को मान कर चलते थे अथवा प्राकृतिक विधि के नियमों का सहारा लेते थे, उसमें उसके विचारों का आधुनिकपन बहुत ही आकर्षक प्रतीत होता था।

ह्विगों के, विशेषकर सिडनी और लॉक द्वारा प्रतिपादित, सिद्धांतों का फ्रांस में अनेक लोगों ने समर्थन किया। सिडनी के **डिस्कोर्सज** का १७०२ में फ्रेंच में अनुवाद हुआ, और रूसो ने उसको पढ़ा। लुई चौदहवें के दरबार के प्रसिद्ध उपदेशक बोर्दालो ने राजा के समक्ष उसके विचारों का प्रचार किया। १७५० में द आर्गेन्सों ने लिखा "अंग्रेजों के राजनीत और स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों ने समुद्र पार कर लिया है और यहाँ उनको अंगीकार किया जारहा है।"[१५] अमेरिका में उपनिवेशियों ने ह्विग सिद्धांतों को ग्रहण कर लिया और बाद में उन्हें **स्वतन्त्रता की घोषणा** और **अधिकार अधिनियम** में समाविष्ट कर लिया गया।

लॉक

१६८८ की क्रांति का महानतम सैद्धान्तिक समर्थक जॉन लॉक (१६३२-१७०४) था। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में[१६] संसदीय दल का दार्शनिक दृष्टि से पक्षपोषण किया। इंगलैंड में उदार भावनाओं और विचारों का जो सूत्रपात हो रहा था, उसका लॉक पर भी प्रभाव पड़ा। वह ह्विग दल के संस्थापक लार्ड शैफ्ट्सबरी का सचिव था, और व्यावहारिक राजनीति का उसे कुछ अनुभव था। उसने परवर्ती स्टुअर्ट काल में प्रचलित धार्मिक तथा राजनीतिक तरीकों का विरोध किया। उसने एंग्लीकनों के दैवी अधिकार के

15. J. Texte, *Rousseau et les origines du Cosmopolitisme litteraire* (*1895*) pp. 25-26.
16. *Two Treatises of Government* (1690). उसके *Letters on Toleration* (1685) में राज्य तथा चर्च के सम्बन्धों के विषय में उसके विचार मिलते हैं।

सिद्धांत और फिल्मर के विचारों का तथा हॉब्स के संविदा पर आधारित निरंकुशवाद का खंडन किया। किन्तु साथ ही साथ उसे उग्रपन्थी ह्विगों के प्रतिवादी सिद्धांतों से कोई सहानुभूति नहीं थी।

लॉक ने अपने ग्रंथ का प्रथम खंड राजा के दैवी अधिकार पर आधारित परमाधिकारों के सिद्धांत का खंडन करने के लिये लिखा। उसने सिडनी की पद्धति का अनुकरण करके फिल्मर की **पैट्रियार्का** के तर्कों का क्रमशः एक-एक करके काट किया। दूसरे खंड—**ऑव सिविल गवर्नमेंट**—में उसने सरकार की उत्पत्ति, स्वभाव और कार्य क्षेत्र का विशद विवेचन किया। प्रच्छन्न रूप से इसका उद्देश्य हॉब्स का खंडन करना था, किंतु स्पष्टतः लॉक ने **लिवियथन** के तर्कों का जानबूझ कर उत्तर नहीं दिया। वह अपने अनेक विचारों के लिये हुकर का ऋणी था, और ऋण को स्वीकार भी किया करता था। वह हॉब्स के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और सामाजिक संविदा के सिद्धांत से सहमत था, किंतु हॉब्स के दर्शन के लगभग प्रत्येक आधार-सिद्धान्त का विरोधी था।

लॉक के अनुसार प्रकृति की आदि अवस्था शांति और विवेक की अवस्था थी। वह प्राक्राजनीतिक थी, प्राक्सामाजिक नहीं। उसमें विधि का अभाव नहीं था, क्योंकि मनुष्य प्राकृतिक विधि के अनुसार जीवन बिताते थे। इस विषय में लॉक ने ग्रोशस का अनुकरण किया और बतलाया कि प्राकृतिक विधि वह नियमावली है जिसका विवेक द्वारा उद्घाटन होता है, और जिससे प्रकृति की अवस्था में मनुष्य का पथ-प्रदर्शन होता है। प्रकृति की अवस्था में सभी मनुष्य समान थे और समान प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करते थे। **स्वतन्त्र पंथियों** का अनुकरण करते हुए लॉक ने जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति को मुख्य प्राकृतिक अधिकार माना; और कहा कि इनमें से सम्पत्ति सबसे पहले का अधिकार है और सबसे महत्वपूर्ण है। लॉक का विश्वास था कि सम्पत्ति के अधिकार में व्यक्तित्व का अधिकार सम्मिलित है और यही जीवन तथा स्वतंत्रता के अधिकार का आधार है। निजी सम्पत्ति का उदय मनुष्य के परिश्रम के द्वारा हुआ। जब मनुष्य ने किसी वस्तु में अपना श्रम समाविष्ट कर दिया तो वह वस्तु उसकी निजी सम्पत्ति हो गई। यदि कोई व्यक्ति अपने उद्यम से किसी भूखंड का मूल्य बढ़ा दे और यदि बढ़ा हुआ मूल्य केवल उसी की वजह से हो तो उसे उसका लाभ मिलना चाहिये। संक्षेप में, यही लॉक का प्रसिद्ध 'मूल्य का श्रम' सिद्धान्त था। इसका दुहरा प्रभाव हुआ, और आज तक चला आ रहा है। इसने स्वतंत्र उद्यम और लाभ की प्रथा को उचित ठहराकर पूँजीतंत्री अर्थव्यवस्था का पक्षपोषण किया। और कार्ल मार्क्स तथा अन्य विचारकों ने आधुनिक समाजवाद का समर्थन करने के लिये इस सिद्धांत का प्रयोग किया। मार्क्स का तर्क था कि यदि किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन में व्यय किये गये श्रम से निर्धारित होता है तो स्वामियों को नहीं बल्कि श्रमिकों को अपने उत्पादन का पूर्ण मूल्य मिलना चाहिये।

लॉक का कथन था कि प्रकृति की अवस्था में लोग प्राकृतिक विधि क्या है, इस सम्बन्ध में एक मत नहीं थे और न विवादों का निपटारा करने के लिये न्यायाधीश थे। इसके अतिरिक्त व्यक्ति में इतनी योग्यता नहीं थी कि अन्याय के मुकाबिले में अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा कर सकता। इससे अनिश्चितता उत्पन्न हुई जो असह्य थी। अतः व्यक्तियों ने सामाजिक संविदा द्वारा राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण कर लिया। सब लोगों ने प्राकृतिक विधि के निर्वचन और लागू करने के अपने अधिकार को त्याग दिया और उसके बदले में उन्हें जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा की गारंटी मिल गई। इस प्रकार समझौता विशिष्ट उद्देश्य के लिये और सीमित था, हॉब्स की संविदा की भाँति सामान्य और व्यापक नहीं। इसके अतिरिक्त व्यक्तियों ने अपनी जिस शक्ति का त्याग किया वह किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह में नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज में निहित की गई। राजनीतिक समुदाय अथवा राज्य का भी प्रभुत्व निरंकुश नहीं था, उसका काम केवल प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना था। वास्तविकता तो यह है कि लॉक की पुस्तक में "प्रभुत्व" शब्द का उल्लेख ही नहीं है।

इस प्रकार की संविदा का अभिप्राय था कि शासन बहुसंख्यकों के हाथों में हो। व्यक्ति ने प्राकृतिक विधि के निष्पादन का अधिकार समाज को दे दिया, अतः अल्प संख्यकों को बहुसंख्यकों की इच्छा को स्वीकार करना चाहिये, और बहुसंख्यक आवश्यकता पड़ने पर शक्ति का भी प्रयोग कर सकते हैं। व्यक्ति राजनीतिक समाज का सदस्य होने की सम्मति व्यक्त अथवा मौन रूप से दे सकते हैं। मौन सम्मति समाज में बने रह कर अथवा उसके अन्तर्गत सम्पत्ति धारण करके दी जा सकती है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि मूल संविदा की शर्तें उसके संस्थापकों के वंशजों पर भी लागू होती हैं। लॉक को हॉब्स के मुकाबिले में संविदा को ऐतिहासिकता में अधिक विश्वास था, यद्यपि वह उसकी उत्पत्ति की अपेक्षा अभिप्राय को अधिक महत्व देता था।

लॉक ने राज्य तथा सरकार के भेद को स्वीकार किया, यद्यपि उसने इसका स्पष्टतः वर्णन नहीं किया। उसके ग्रन्थ में कहीं-कहीं एक दूसरी संविदा का भी आभास मिलता है जिसके द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना के बाद सरकार का निर्माण हुआ। पहले के राजतंत्र-विरोधियों ने राजा तथा प्रजा के बीच सम्पादित हुई "शासकीय संविदा" पर जोर दिया था, जिसके द्वारा शासक की सत्ता का निर्माण हुआ था। इसके विपरीत हॉब्स और लॉक ने जनता के मध्य हुई "सामाजिक संविदा" को जिसके द्वारा राज्य का सृजन हुआ, महत्व दिया। लॉक ने अरस्तू की परम्परा का अनुसरण करते हुए विधायी सत्ता के निवास स्थान की कसौटी के आधार पर सरकारों को तीन वर्गों में विभक्त किया, राजतंत्रीय, अभिजाततंत्रीय और लोकतंत्रीय। उसने कार्यपालिका और न्यायपालिका को स्पष्टतः विधायिक अंग के अधीन माना। किन्तु उसने अपने विचारों में

अन्तर्निहित पृथकत्व के सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से निरूपण नहीं किया। वह सीमित लोक-तंत्र को शासन का सर्वोत्तम रूप मानता था। वह राजा के पद को बनाये रखने को तैयार था, शर्त यह थी कि राजा के हाथों में विधि-निर्माण की शक्ति न हो, और यह मान लिया जाय कि उसका शासन करने का अधिकार प्रजा की सम्मति पर निर्भर होगा।

यद्यपि लॉक ने विधान-मंडल को सरकार का सर्वोच्च अंग माना, किन्तु वह उसको निरंकुश बनाने के पक्ष में नहीं था। उसका कहना था कि समाज सर्वोपरि है, वह अपने प्राकृतिक अधिकारों को अपने हाथों में ही रखता है, और उसे अधिकार है कि यदि सरकार अपने न्याय की शर्तों के विरुद्ध काम करें तो उसे हटा दे। यदि अन्याय स्पष्ट हो जाय तो जनता राजनीतिक सत्ता का विरोध कर सकती है। लॉक ने कहा कि यदि सरकार प्रजा की सम्पत्ति पर आक्रमण करने का प्रयत्न करे और जनता के जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के सम्बन्ध में मनमानी करने लगे तो विद्रोह करने की आवश्यकता उठ खड़ी होती है। विद्रोह करने के इस अधिकार पर लॉक ने केवल दो प्रतिबन्ध लगाये। जब तक कि स्थिति अत्यधिक गम्भोर न हो जाय, तब तक शक्ति का प्रयोग न किया। और दूसरे, केवल बहुसंख्यक लोगों को ही सरकार को उलट देने का अधिकार है। लॉक के क्रान्तिविषयक सिद्धान्त का जैफर्सन तथा अन्य राजनीतिज्ञों पर अधिक प्रभाव पड़ा, इस दृष्टि से उसका सिद्धान्त उसके चिन्तन का सबसे महत्वपूर्ण अंग है।

राजा तथा चर्च के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में लॉक का कहना था कि किसी भी धर्मतांत्रिक सरकार को राजनीतिक सत्ता धारण करने का अधिकार नहीं हो सकता। राज्य का काम केवल शान्ति और व्यवस्था कायम रखने तक ही सीमित होना चाहिए, मनुष्यों के अन्तकरण के मामलों में उसका हस्तक्षेप अनुचित है। उसका विचार था कि चर्च एक ऐच्छिक समुदाय है और उसे बल-प्रयोग करने का अधिकार नहीं है। लॉक धार्मिक सहिष्णुता का पक्षपाती था। उसकी सलाह थी कि राज्य विचारों का दमन तभी करे जब कि उनसे लोक शान्ति के भंग होने का डर हो। उसने केवल कैथोलिकों, मुसलमानों और नास्तिकों को सहिष्णुता का अधिकारी नहीं माना। कैथोलिक एक विदेशी शक्ति के प्रति वफादार थे; इस्लामी नैतिकता के नियमों को वह अँग्रेजी सभ्यता के विरुद्ध मानता था, और नास्तिकों के सम्बन्ध में उसका कहना था कि उनके यहाँ सदाचार का कोई आधार ही नहीं है।

यद्यपि लॉक के सिद्धान्तों में ऐसे तत्व बहुत कम थे जिनका उसके पूर्वगामी विचारकों ने विकास न कर लिया हो, फिर भी उसने प्राकृतिक अधिकारों, लोक-नियंत्रण और प्रतिरोध के अधिकार के विचारों को निश्चित रूप प्रदान किया। उसके सिद्धान्त ने सामाजिक संविदा के विचार में निहित व्यक्तिवादी धारणा पर भी बल दिया। जब कि हॉब्स का उद्देश्य सत्ता को निरंकुश बनाना था, लॉक उसकी सीमाएँ निर्धारित करना

था चाहता था । उसने सम्मति के महत्व पर बल दिया, और हॉब्स की भाँति व्यक्ति के सुख को सर्वोच्च महत्व प्रदान किया । उसने मानव विवेक और मानव समाज की कृत्रिमता पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया और राज्य के जैविक स्वभाव की पूर्ण उपेक्षा की । आगे चलकर रूसो ने उसकी इस भूल को सुधारा । लॉक का सिद्धान्त उसके पूर्वगामियों के मुकाबिले में राजनीतिक दृष्टि से अधिक शुद्ध था । उसे पहले के राजतंत्र-विरोधियों की भाँति धार्मिक अत्याचारी का विरोध करने से कोई प्रयोजन नहीं था । उसने राज्य तथा चर्च का पृथक्करण चर्च की स्वतंत्रता स्थापित करने के लिये नहीं बल्कि राज्य की प्रमुखता कायम करने के लिये किया ।

लॉक का सिद्धांत तत्वतः नरम और व्यावहारिक था, किन्तु उसमें हॉब्स की सी स्पष्टता और संगति नहीं थी । लेकिन समसामयिक समस्याओं से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध था । उसका उद्देश्य ऐसी शासन-व्यवस्था कायम करना था जिससे लोक सम्मति प्रभावकारी हो सके और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा की जासके । यद्यपि लॉक की सभी प्रस्थापनाओं पर व्यावहारिकता की गहरी छाप थी, और उनमें अर्धसत्य और हिचकिचाहट का समावेश था फिर भी वे उस व्यवस्था के पूर्णतः अनुरूप थीं जिसकी इंगलैंड में ह्विगों ने स्थापना की । उसके सिद्धांत ने पूँजीतन्त्र को उचित ठहराया, और जेम्स द्वितीय के विरुद्ध ह्विगों ने जो कार्यवाही की थी उसका सैद्धांतिक आधार प्रदान करके उलझन को दूर किया ।

परवर्ती लेखकों पर लॉक का व्यापक प्रभाव पड़ा । विलियम मौलीनो ने उसी के विचारों के सैद्धांतिक आधार पर आयरलैंड की स्वतन्त्रता की माँग को आगे बढ़ाया । फ्रांस के यूगनों लोगों और डचों ने उसके अनेक सिद्धान्तों को ग्रहण कर लिया । मौंतेस्क्यू ने लॉक के शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को अपने विचारों का मुख्य आधार बनाया । रूसो ने लॉक के सिद्धान्तों को और भी अधिक उग्र दिशा में विकसित किया, और फ्रांस की क्रान्ति में वे अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गये । अमेरिका में **स्वतन्त्रता की घोषणा** के रचयिताओं और अमरीकी संविधान के निर्माताओं ने लॉक के विचारों से बहुत कुछ ग्रहण किया । लॉक के सिद्धान्तों में प्रबोध की दिशा में अग्रसर करनेवाली शक्तियों का जितना पूर्ण प्रतिबिम्ब मिलता है उतना अन्य किसी लेखक की रचनाओं में उपलब्ध नहीं होता । उसने स्वतन्त्रता, आलोचना, व्यक्तिवाद और लोकतन्त्र की उस भावना का प्रतिनिधित्व किया जो धर्मसुधार आन्दोलन तथा सत्रहवीं शताब्दी की क्रान्ति में मुखरित हुई थी और जो अठारहवीं शताब्दी की मानसिक, राजनीतिक और आर्थिक क्रान्तियों में पराकाष्ठा को पहुँची । मनुष्यों के विचारों और संस्थाओं पर प्रभाव डालने की दृष्टि से अन्य कोई दार्शनिक इतना महत्वशाली नहीं हुआ जितना कि लॉक ।

पठनीय ग्रन्थ

Czajkowski, C. J., *The Theory of Private Property in John Locke's Political Philosophy* (Notre Dame, Univ. of Notre Dame, 1941.)

Dick, O. L. ed ; *John Aubrey's Brief Lives* (London, Secker & Warburg, 1949) pp. 147-160.

Foxcroft, H. C., *A Character of the Trimmer : Being a Short Life of the First Marquis of Halifax* (Cambridge, Cambridge Univ. Press, 1946.)

Gouch, J. W., *John Locke's Political Philosophy* (Oxford, Clarendon Press, 1950.)

Kendall, Willmoore, *John Locke & the Doctrine of Majority Rule* (Urbana, Univ. of Illinois Press, 1941.)

Laird, John, *Hobbes* (London, Benn, 1934)

Lamprecht., S. P., "Hobbes and Hobbism," *American Political Science Review*, Vol. 34 (February, 1940.)
The Moral and Political Philosophy of John Locke (New York, Columbia Univ. Press, 1918)

Landy, Bernard, *Hobbes* (Paris, Alcan, 1930)

Larkin, Pascal, *Property in the Eighteenth Century, with Special Reference to England and Locke.* (Cork, Cork Univ. Press. 1930)

Laski, H. J., *Political Thought in England from Locke to Benthan* (New York Holt, 1920), Chap. 1-2.

Sabine, G. H., *A History of Political Theory*, rev. ed. (New York, Holt, 1950) Chap. 23, 26.

Strauss, Leo, *The Political Philosophy of Hobbes*, trans. by Elsa Sinclair (Oxford, Clarendon Press, 1936)

Texte, Joseph, Rousseau et les origines du Cosmopolitism litteraire (Paris, Hachettee, 1895), pp. 25 ff.

————

अध्याय १५

स्पिनोजा से ह्यूम तक

सत्रहवीं शताब्दी में महाद्वीपीय राजनीति

सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्धं में महाद्वीप के लोगों का ध्यान **तीस वर्षीय युद्ध** में लगा रहा। इस संघर्ष का आरम्भ जर्मनी के धार्मिक कलह के कारण हुआ, किन्तु अन्त में यूरोप के अनेक राज्य उसमें उलझ गये, और उसका रूप भी अधिकाधिक राजनीतिक होता गया। १६४८ में **वेस्टफेलिया की शान्ति के** द्वारा उसका अन्त हुआ। उस शान्ति-सन्धि का सम्पादन एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन द्वारा हुआ जो अपने ढँग का पहला महान सम्मेलन था। इस शान्ति के साथ-साथ यूरोपीय राजनीति में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। धार्मिक विश्वासों पर आधारित मतभेदों का महत्व घट गया। यूरोपीय राजनय में पोपतंत्र की प्रमुखता समाप्त होगई। पवित्र रोमन साम्राज्य की परम्परागत एकता और महत्व भी क्षीण होगया। उसकी सीमाओं के बाहर नये शक्तिशाली राज्य उठ खड़े हुए थे; जर्मनी अनेक स्वतंत्र इकाइयों में विभक्त होगया था; और सम्राट की सत्ता केवल उसके हैप्सबर्ग राज्यक्षेत्र तक सीमित रह गई थी।

वेस्टफेलिया की शान्ति पर ग्रोशस के सिद्धान्तों का विशेष प्रभाव पड़ा, और अन्त में यह विचार सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया कि यूरोप स्वतंत्र और प्रमुख सम्पन्न राज्यों का परिवार है, और वे राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अपने-अपने शासकों की निजी सम्पत्ति है। यूरोप की राजनय में शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त का प्रभुत्व कायम होगया; और यह विचार भी प्रभावशाली होगया कि यूरोप की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में मिलकर काम करें। स्पेन, जो सोलहवीं शताब्दी में सबसे शक्तिशाली राज्य था, अब इतना दुर्बल होगया कि अधिक शक्तिशाली राज्य उसका बँटवारा करने की योजनाएँ बनाने लगे। रिशल्यू तथा मज़ारें की प्रतिभा के कारण फ्रांस यूरोप की प्रमुख शक्ति बन गया। इसके अतिरिक्त उसे अपने यहाँ सर्वाधिक केन्द्रीयकृत और शक्तिशाली राष्ट्रीय राजतंत्र की स्थापना करने में भी सफलता मिली।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फ्रांस के लुई चौदहवें की महत्वाकांक्षी नीति यूरोपीय राजनीति का केन्द्र बन गई। इस काल की अनेक विशेषताएँ थीं। शक्तिशाली शासकों का उदय हुआ; राज्यों के भीतर निरंकुश वंशगत सरकारों की स्थापना हुई; और इन राज्यों ने एक दूसरे के विरुद्ध आक्रामक और सिद्धान्तहीन नीति का अनुसरण किया। शासकगण अपने-अपने राज्यों को अपनी निजी सम्पत्ति समझते; अपना

राज्यक्षेत्र बढ़ाने के लिये सदैव उत्सुक रहते, और जनता के हितों के मुकाबिले में अपने वंश की शक्ति और प्रतिष्ठा को अधिक महत्व देते। औपनिवेशिक और व्यापारिक प्रतिस्पर्धा बड़ी तीव्र होगई; और हर राज्य दूसरों को हानि पहुँचा कर अपने लाभ की चिन्ता करने लगा। आर्थिक हितों और वैदेशिक व्यापार नीति का राजनीतिक चिन्तन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ने लगा। १६८८ ई० में जब ऑरेंज का विलियम इंगलैंड के सिंहासन पर बैठ गया तो इंगलैंड भी यूरोपीय राजनीति की धारा में पूरी तरह से कूद पड़ा। उसने लुई चौदहवें के विरुद्ध हॉलेंड भी रक्षा में सहायता दी, और फ्रांस का मुख्य प्रतिद्वन्दी बन गया। इस प्रकार एक संघर्ष आरम्भ हुआ जो उन्नीसवीं शताब्दी तक चलता रहता।

लुई चौदहवें की महत्वाकांक्षाओं के फलस्वरूप हुए युद्धों के दौरान में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में कुछ प्रगति हुई। राजदूतों के अधिकारों और उन्मुक्तियों को सामान्यतया स्वीकार कर लिया गया। शक्ति-सन्तुलन कायम रखने के उद्देश्य से हस्तक्षेप करने के सिद्धान्त का इस काल के राजकीय पत्रों में गम्भीर विवेचन मिलता है। सामुद्रिक युद्ध के नियम भी सामान्यतया प्रचलित हो गये और उनका अनुसरण किया जाने लगा। इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि पुरानी सामुद्रिक विधि-संहिताओं के अवशेष चले आरहे थे, उदाहरण के लिये **कौंसोलातो दे मारे** जिसके सिद्धान्तों को यूरोप के प्रमुख राष्ट्र ने मान्यता दी। किन्तु १६८१ में फ्रांस का प्रसिद्ध **सामुद्रिक[1] अध्यादेश** जारी किया गया जिसके अनुसार यह मान लिया गया कि युद्धकारी राज्यों को तटस्थों के व्यापार में हस्तक्षेप करने का भी अधिकार है। सैल्डन के विरोधी तर्कों के बावजूद[2] समुद्रों की स्वतंत्रता का सिद्धान्त सामान्य तौर पर मान लिया गया, और परिदर्शनान्वेषण, समवरोध (नाके बन्दी) और विनिषिद्ध (विधिनिषिद्ध) के सम्बन्ध में कुछ नियम निश्चित कर लिये गये।

महाद्वीप में राजनीतिक सिद्धान्त के विकास के लिये परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थीं। स्पेन, जिसके लेखकों का विगत शताब्दी में बड़ा महत्व रहा था, मानसिक गति-हीनता का शिकार हो गया था। फ्रांस में केवल एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना हुई जिसमें धर्मतांत्रिक पद्धति से दैवी-अधिकार पर आधारित राजतंत्र की प्रशंसा की गई। जर्मनी और हालेंड में धार्मिक तथा मानसिक उदारता का अधिक प्रभाव था और राजनीतिक निरंकुशता भी कम थी, अतः वहाँ ग्रोशस तथा हॉब्स की बुद्धिवादी पद्धतियों का प्रभाव जारी रहा, और इस प्रकार इंगलैंड के राजनीतिक चिन्तन का यूरोप में प्रवेश हुआ। जैसा कि राजनीतिक उपद्रवों के समय में सामान्यतया हुआ करता है, इस काल में लोगों की

---

१. देखिये Henry Wheaton, *History of Law of Nations* (1845). pp. 107-161
२. देखिये उसकी रचना *Mare Clausum seu de dominio maris* (1635).

राजनीतिक सिद्धान्त के नैतिक पक्ष में अधिक रुचि थी, और यह बात प्रजा तथा राजा के बीच के सम्बन्धों और राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों—दोनों ही क्षेत्रों में चरितार्थ हुई।

हॉलैंड में राजनीतिक चिन्तन

हॉलैंड में सत्रहवीं शताब्दी में पुर्तगाल के यहूदी स्पिनोजा (१६३२-१६७७) ने, जो वहाँ जाकर बस गया था, ग्रोशस के प्रभुत्व-सिद्धान्त और हॉब्स के कुछ मनोवैज्ञानिक विचारों का विकास किया।[3]

यद्यपि स्पिनोजा ने धर्म तथा नीति-शास्त्र के क्षेत्र में विशेष कार्य किया और उसी के लिये उसकी ख्याति है, किन्तु अपने समय की राजनीतिक समस्याओं में भी उसकी दिलचस्पी थी। वह इस बात में हॉब्स से सहमत था कि मनुष्य के आचरण के मूल में मुख्य प्रेरणा स्वार्थ की ही होती है, किन्तु उसका विवेकयुक्त स्वार्थ-साधन में विश्वास था जिसकी कल्पना हॉब्स नहीं कर पाया था। स्पिनोजा राज्य को आवश्यक बुराई नहीं बल्कि अस्तिमूलक अच्छाई समझता था। राज्य की उत्पत्ति भय से नहीं हुई, बल्कि लोगों ने अनुभव किया कि इससे सार्वजनिक कल्याण का संवर्धन हो सकता है, इसलिये ऐच्छिक समझौते के आधार पर उसका सृजन किया। व्यक्तियों ने अपनी शक्तियाँ संयुक्त कर लीं, अपने प्राकृतिक अधिकारों को, जिनके अनुसार वे अपने लाभ के लिये जो कुछ उचित समझते कर सकते थे, त्याग दिया और एक शासकीय सत्ता की स्थापना करली और उसे सम्पूर्ण समाज के प्राकृतिक अधिकारों का प्रयोग करने की शक्ति दे दी। लेकिन स्पिनोजा ने संविदा के ब्यौरे, उसके विधिक अभिप्राय और इस प्रकार स्थापित प्रभुत्व के यथार्थ स्वभाव का स्पष्टीकरण नहीं किया। हॉब्स की तुलना में उसका तात्कालिक राजनीतिक समस्याओं से लगाव कम था। इससे उसे प्रभुत्व को धारण करनेवाले राज्य और व्यक्तिगत शासक के बीच भेद स्पष्ट करने में सहायता मिली। यद्यपि उसने भी राज्य की एकता पर बल दिया, किन्तु एकता से उसका अभिप्राय था राज्य के सम्पूर्ण सदस्यों की इच्छाओं की विवेकमूलक एकता, अथवा कम से कम बहुसंख्यकों भी इच्छाओं की एकता, न कि एक शासक की निजी इच्छा। उसने राज्य की जैविक एकता पर बल दिया, और उसके प्रभुत्व के सम्बन्ध में कहा कि वह उसके सदस्यों के सार्वजनिक विवेक अथवा सामान्य मन में निवास करता है। इन विचारों को आगे चल कर रूसो ने अपने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का केन्द्र-विन्दु बनाया। इस प्रकार स्पिनोजा ने प्रभु-शक्ति तथा उसका प्रयोग करनेवाले

३. देखिये उसकी रचनाएं *Tractatus Theologica Politicus* (1670), **Tractatus Politicus (1677) और Ethics (1677).**

विशिष्ट अंग को एक दूसरे से पृथक माना, और राज्य तथा सरकार के अन्तर को स्पष्ट किया। सरकार के विभिन्न रूपों का विवेचन करते हुए स्पिनोजा ने अभिजातवर्गीय गणतंत्र को अच्छा माना। उग्र लोकतंत्र में उसकी आस्था नहीं थी, और राजतंत्र के सम्बन्ध में उसका कहना था कि सैद्धान्तिक दृष्टि से वह अनुचित और व्यवहार में असम्भव है।

हॉब्स का मुख्य उद्देश्य प्रभुत्व की निरंकुशता की स्थापना करना था; इसके विपरीत स्पिनोजा को व्यक्ति की स्वतंत्रता की सुरक्षा की चिन्ता थी। उसका कहना था कि राज्य का मुख्य उद्देश्य वैयक्तिक स्वतंत्रता का संरक्षण करना है ताकि मनुष्य अपने विवेकानुसार जीवन बिता सकें। व्यक्तियों के प्राकृतिक अधिकार राज्य की शक्ति पर अंकुश का काम करते हैं। राज्य का कार्यक्षेत्र सामान्य कल्याण के कार्यों तक ही सीमित होना चाहिए। कार्यकुशलता प्रभु की कसौटी है। उसकी सत्ता का प्रसार वहीं तक है जहाँ तक कि वह अपराधियों के विरुद्ध नागरिकों को सहायता दे सकता है। यदि शासक विवेकयुक्त जीवन के लिये आवश्यक परिस्थितियों को बनाये रखने में असमर्थ सिद्ध हो तो उसका शासन करने का अधिकार जाता रहता है। स्पिनोजा ने चिन्तन तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मूल्य पर विशेष जोर दिया, केवल इसलिये नहीं कि वह स्वतंत्रता को व्यक्ति के विकास तथा प्रतिष्ठा के लिये आवश्यक मानता था, बल्कि इसलिये भी कि उसकी निगाह में स्वतंत्रता राज्य की सुरक्षा तथा कल्याण के लिये भी आवश्यक थी। स्पिनोजा स्वयं धार्मिक असहिष्णुता का शिकार बन चुका था, अतः उसने धार्मिक स्वतंत्रता का समर्थन किया। स्पिनोजा का अधिकारों का सिद्धान्त हॉब्स के सिद्धान्त के मुकाबिले में स्पष्टतः प्रगतिशील था। हॉब्स का विश्वास था कि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार हैं जो राज्य की सत्ता पर निर्भर नहीं हैं। इसके विपरीत स्पिनोजा का कहना था कि राज्य द्वारा दिये गये अधिकारों के अतिरिक्त व्यक्ति के और कोई अधिकार नहीं हो सकते। सभी अधिकार राज्य के सदस्यों की लोक-कल्याण की चेतना से विस्तृत होते हैं; प्रत्येक अधिकार के मूल में लोक-स्वीकृति का होना आवश्यक है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्पिनोजा ने मैकियावेली के, जिसकी वह बहुत प्रशंसा किया करता था, अनेक विचार ग्रहण कर लिये। नेदरलैंडस को यूरोपीय राजनय के क्षेत्र में वैसी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था जैसी कि पन्द्रहवीं शताब्दी में इटली के नगरों के सामने आई थी। उसकी अभिजाततंत्रीय शासन-प्रणाली भी बहुत कुछ फ्लोरेंस और वेनिस के ढँग की थी। मैकियावेली की भाँति स्पिनोजा ने सिखाया कि व्यक्तियों पर लागू होनेवाले सिद्धान्त राज्यों पर सदैव लागू नहीं किये जा सकते। राज्य का कर्तव्य अपने सदस्यों के हितों की रक्षा करना है। इसलिये वह उन सन्धियों के अधिबन्धन को स्वीकार नहीं कर सकता जिनसे उसके मुख्य मंतव्य में बाधा पड़े। उसका विश्वास था कि जब तक एक ऐसी संगठित शक्ति की स्थापना नहीं हो जाती

जो कि प्रत्येक राज्य से अधिक शक्तिशाली हो तब तक राज्यों के बीच युद्ध अनिवार्य है। युद्ध को रोकने के लिये राज्यों के सघ वांछनीय हैं।

लगभग एक शताब्दी तक महाद्वीप में स्पिनोजा के ग्रन्थों की ओर लोगों का ध्यान नहीं गया, और राजनीतिक चिंतन भिन्न दिशा में चलता रहा। उसके सर्वेश्वरवादी विचारों से लोग अत्यधिक क्रुद्ध हुए और उसे नास्तिक समझने लगे। उसके ग्रन्थों का यूरोप की व्यावहारिक राजनीति पर प्रभाव नहीं पड़ा। इसके दो कारण थे। एक तो वह जाति का यहूदी था, और दूसरे कट्टरपंथियों ने उसको अकारण ही बदनाम किया। लॉक अवश्य यूरोपीय दार्शनिकों की रचनाओं से परिचित था, इसलिये उस पर सम्भवतः स्पिनोजा के विचारों का प्रभाव पड़ा। वैयक्तिक स्वतंत्रता के सम्बन्ध में उसके विचार स्पिनोजा से विशेषकर बहुत मिलते-जुलते हैं। और आगे चलकर रूसो ने स्पिनोजा के अनेक विचारों को ग्रहण किया। उसके द्वारा उनका यूरोप के क्रान्तिकारी आन्दोलनों से सम्पर्क हुआ।

जर्मनी में राजनीतिक चिन्तन

जर्मनी में धर्मसुधार के बाद के काल में मिथ्या धार्मिक वादविवाद चलते रहे और तीस वर्षीय युद्ध हुआ; ये परिस्थितियाँ राजनीतिक चिन्तन के अनुकूल नहीं थी। देश के स्वतंत्र राज्यों में विभक्त हो जाने से राष्ट्रीयता की भावना भी क्षीण हो गई। जर्मन लोग अपनी भाषा और संस्कृति पर लज्जित होने लगे और अपने आचार-विचार तथा राजनीतिक संस्थाओं को फ्रेंच दरबार के नमूने पर ढालने लगे। जर्मनी में बुद्धिवादी चिन्तन और आधुनिक प्रबुद्ध दृष्टिकोण का पहला प्रतिनिधि सेमुअल पूफेंडोर्फ (१६३२-१६९४)[४] हुआ। स्पिनोजा की भाँति पूफेंडोर्फ ने हॉब्स के निरंकुश प्रभुत्व के सिद्धान्त और ग्रोशस के सीमित नैतिक प्रभुत्व के विचार के बीच मेल स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसकी पद्धति बुद्धिवादी थी, न तो उसने ग्रोशस की भाँति यूनानी तथा रोमन विचारकों का हवाला दिया, और न हॉब्स की तरह धर्मशास्त्रों को उद्धृत किया। उसे अपने समय के दैवी अधिकारों का समर्थन करनेवाले धर्मशास्त्रियों के गूढ़ तथा अस्पष्ट सिद्धान्तों से विशेष चिढ़ थी। पूफेंडोर्फ ने प्राकृतिक विधि को अपने सिद्धान्त का आधार बनाया और उसका परिवर्धन करके एक सुव्यवस्थित दार्शनिक व्यवस्था का रूप दे दिया। प्राकृतिक विधि की परिभाषा के सम्बन्ध में उसने ग्रोशस का अनुसरण किया और कहा कि उचित तथा अनुचित के सम्बन्ध में विवेक का जो आदेश है वही प्राकृतिक विधि है। साथ ही साथ उसने हॉब्स का उपयोगितावादी दृष्टिकोण भी अपनाया, स्वार्थ को मानव आचरण की मूल प्रेरणा माना और उपयोगिता को संस्थाओं की कसौटी बतलाया।

४. देखिये उसकी रचना De jure Naturae et Gentium (1672).

पूफेंडोर्फ प्रकृति की अवस्था की धारणा को लेकर चला, और इतिहास तथा तर्क दोनों की ही दृष्टि से उसको उचित ठहराया। उसका विश्वास था कि सामाजिक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर मनुष्यों ने समाज की रचना की। किन्तु उस समाज में प्राकृतिक विधि का ही शासन था, मानवीय सत्ता का नितान्त अभाव था। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों का जीवन दुखी और दयनीय था, क्योंकि स्वभाव से लोग स्वार्थी थे और बहु-संख्यक लोग आवेशों के वशीभूत थे, विवेक के नहीं। पूफेंडोर्फ हॉब्स के इस विचार से सह-मत नहीं था कि प्रकृति की अवस्था में निरन्तर संघर्ष चला करता था, किन्तु इस बात से सहमत था कि स्थिति असह्य थी जिसमें बहुसंख्यकों के अज्ञान तथा बुद्धिहीनता के कारण सम्यकता तथा न्याय की स्थापना करना सम्भव नहीं था। मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं से उत्पन्न बुराइयों से बचने के लिये ऐच्छिक संविदा के आधार पर समाज की स्थापना हुई। संविदा दुहरी थी। हॉब्स के ढंग की सामाजिक संविदा और पहले के राजतंत्र-विरो-धियों की प्रशासनीय संविदा दोनों ही आवश्यक थीं। पहले, व्यक्तियों ने आपस में करार करके एक राज्य की स्थापना की और बहुमत से निश्चय कर लिया कि राज्य का रूप क्या होगा। दूसरे, सम्पूर्ण समाज और नामोद्दिष्ट शासकों के बीच समझौता हुआ। समाज ने आज्ञापालन का वचन दिया और शासकों ने अपनी सत्ता का लोक-कल्याण के लिये प्रयोग करने की प्रतिज्ञा की।

किन्तु इस प्रकार स्थापित प्रभुसत्ता निरंकुश नहीं था। वह सर्वोच्च इस अर्थ में थी कि उससे उच्चतर कोई मानवीय सत्ता नहीं थी और न कोई ऐसी विधि थी जिसके अधीन उसे रहना पड़ता। किन्तु उस पर प्रकृत्ति तथा ईश्वर की विधि, रूढ़ि तथा परम्पराओं और जिस उद्देश्य के लिये उसका निर्माण हुआ था उसका अंकुश था। पूफेंडोर्फ ने कहा कि राज्यों और व्यक्तियों को चतुर तथा समझदार व्यक्तियों द्वारा बतलाई हुई विवेक की विधि के अनुकूल आचरण करना चाहिए। प्रभु उच्चतम शक्ति का धारणकर्ता है, सम्पूर्ण शक्ति का नहीं। अपने ग्रन्थ के इस भाग में पूफेंडोर्फ ने हॉब्स की अपेक्षा ग्रोशस का अनुगमन किया। उसने स्वीकार किया कि निर्वाचित अथवा सीमित राजा वास्तविक प्रभु हो सकता है, और उसका विश्वास था कि संसद के विधायी कार्य में भाग लेने से राजा का प्रभुत्व घट नहीं जाता।

पूफेंडोर्फ ने बतलाया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि जो राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियमन करती है, प्राकृतिक विधि का ही अंग है। इसके नियमों का उद्घाटन हम विवेक द्वारा कर सकते हैं, और कसौटी यह है कि उनसे सामान्य कल्याण का संवर्धन होता हो। किन्तु उसने इस मत का स्पष्ट रूप से खंडन किया कि राष्ट्रों की सर्व-सम्मति पर आधारित मानवकृत अथवा ऐच्छिक विधि विद्यमान है। इस विषय में उसने ग्रोशस की अपेक्षा हॉब्स के दृष्टिकोण को स्वीकार किया और कहा कि प्राकृतिक विधि ही सार्वराष्ट्रीय विधि है, राज्यों के आपसी सम्बन्धों का नियमन करनेवाले

विधि अथवा संधियों अथवा राज्यों के सामान्य आचरण पर आधारित कोई ऐसे नियम नहीं हैं जो सभी राज्यों पर लागू हो सकते हों। १६६१ में जब हाइडिलबर्ग के विश्व-विद्यालय में प्राकृतिक विधि और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अध्ययन के लिये एक विभाग[५] खोला गया तो पूफेंडोर्फ उसका अध्यक्ष नियुक्त हुआ।

पूफेंडोर्फ के सिद्धान्त का व्यापक प्रभाव पड़ा। इसके दो कारण थे। उसके विचार संयत थे, और दूसरे, उनमें अन्तर्विरोध देखने को मिलता था। उसने जर्मन राज्यों के उदार निरंकुशवाद का वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भावना से साथ मेल स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसके लिये उसने एक ओर तो प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य को सर्वोच्च माना, किन्तु साथ ही साथ उसे नागरिकों के जीवन और कार्यों पर पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार नहीं दिया। पूफेंडोर्फ का सिद्धान्त जर्मनी में कांट से पहले तक सबसे प्रभावशाली सिद्धांत था। उसके अनुयायियों ने उनमें थोड़ा-सा संशोधन अवश्य कर दिया। गोटफ्रीड लाइबनित्स और योहान हौर्न ने उसका विरोध किया––लाइबनित्स बुद्धिवादियों के प्राकृतिक विधि को धर्मविद्या से पृथक करने के प्रयत्न के विरुद्ध था, और हौर्न दैवी अधिकार का समर्थक था।[६] जर्मनी के सभी धर्मशास्त्रियों ने उसका विरोध किया क्योंकि उसमें धर्म की शिक्षाओं को छोड़कर मानव विवेक को सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं की कसौटी माना गया था। पूफेंडोर्फ का अनुगमन करनेवाले बुद्धिवादियों में वोल्फ टोमासियस प्रमुख थे।

फ्रांस में राजनीतिक चिन्तन

लुई तेरहवें के शासन काल में फ्रांस के राजनीतिक विचारकों ने धीरे-धीरे बोदें के इस सिद्धान्त को त्याग दिया कि राज्य के कुछ ऐसे आधारभूत नियम हैं जिनका राजा भी अतिक्रमण नहीं कर सकता और यह मत अंगीकार कर लिया कि राजा की शक्ति पर उसके अन्तःकरण के अतिरिक्त अन्य कोई अंकुश नहीं हो सकता। लुई चौदहवें के शासन-काल के प्रमुख विचारकों ने निरंकुश राजतंत्र को शासन का सर्वोत्तम रूप ठहराया, राजा को ईश्वर का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि बतलाया, दैवी अधिकार सिद्धान्त का समर्थन किया, आग्रह किया कि प्रजा को पूर्ण रूप से राजा का अनुवर्तन करना चाहिए, और पोप के दावों के मुकाबिले में राजा की आधीनता में फ्रांसीसी चर्च की स्वतंत्रता को उचित ठहराया। फ्रांस यूरोप में सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र था और उसके महत्वाकांक्षी शासक बाहर अपने राज्यक्षेत्र का विस्तार करने और देश में अपनी निरंकुश सत्ता स्थापित करने का सदैव प्रयत्न करते रहे। लुई चौदहवें के शासन के

५. इसकी स्थापना Elector Palatine ने की थी और यह इस विषय का प्रथम विभाग था।

६. अपने ग्रन्थ *Politicorum Pars Architectionca de Civitate* (1664).

प्रारम्भिक वर्षों में फ्रोंन्द नामक दल ने निरंकुश राजतंत्र के सिद्धान्त के विकास को रोकने की चेष्टा की। उसके शासन के परवर्ती काल में जब निरन्तर चलनेवाले युद्धों के भारी व्यय और दरबार की अपव्ययता के कारण देश आर्थिक संकट में फँस गया तो यदाकदा लोगों ने **महान राजा** की आलोचना भी की। उदाहरण के लिये मार्शल वोबाँ[७] ने, जो अपनी अभियांत्रिक, (इंजीनियरी,) कुशलता के लिये विख्यात था, प्रस्ताव किया कि जनता की भलाई के लिये कर व्यवस्था में संशोधन किया जाय। वह श्रम को, विशेषकर कृषि के क्षेत्र में, सम्पत्ति का आधार मानता था, और एकल कर सिद्धान्त का समर्थक था। पियर ब्वागिल्वेयर[८] ने लोक-वित्त की व्यवस्था की विवेचना की और राजा की नीति की बुद्धिमानी में सन्देह प्रकट किया। उसका कहना था कि सम्पत्ति उद्योग-धन्धों के स्वामिक सन्तुलन पर निर्भर होती है, राज्य की नीति पर नहीं। उसने करों के समान वितरण पर भी जोर दिया। फेंनेलों ने अपनी साहित्यिक रचनाओं[९] में विशाल जन समूह पर एक व्यक्ति के स्वेच्छाचारी शासन को अनुचित ठहराया, और व्यापार की स्वतंत्रता का समर्थन किया। किन्तु सामान्य तौर पर राजनीतिक चिन्तन, मुख्यतः धर्मशास्त्रियों का, राजा की इच्छा के ही आधीन रहा। लुई तेरहवें के मन्त्री कार्डीनल रिशल्यू ने[१०] इस विश्वास को दृढ़ करने में विशेष योग दिया कि राजा की शक्तियाँ अपरिमित हैं। उसने अपनी नीति को उचित सिद्ध करने के लिये सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

विख्यात वक्ता तथा धर्मशास्त्री बिशप ज़ाकस बोसुये (१६२७-१७०४) ने, जिसे लुई चौदहवें ने अपने पुत्र का अध्यापक नियुक्त किया, विशेष उत्साह के साथ राज-शक्ति के दैवी स्वभाव का निरूपण किया। बोसुये ने अपने राजनीति विषयक ग्रन्थ की रचना फ्रांस के सिंहासन के उत्तराधिकारी को अपने पद की महत्ता और उसके उत्तरदायों का सही ज्ञान कराने के उद्देश्य से की थी। सामान्यतः उसने पांडित्यवादियों की पद्धति का अनुसरण किया। पहले उसने आधारभूत सिद्धान्त प्रस्तुत किये और फिर धर्मशास्त्रों से उद्धरण देकर उनकी पुष्टि की। किन्तु साथ ही साथ उस पर तत्कालीन दर्शन की बुद्धिवादी पद्धतियों का भी प्रभाव पड़ा था, विशेषकर हॉब्स का, जिसके ग्रन्थों का फ्रेंच में अनुवाद हो चुका था और जो निरंकुश शासन का समर्थन करने के कारण फ्रांस में बड़े लोक प्रिय थे।

बोसुये ने सरकार का औचित्य सिद्ध करने के लिये तर्क दिया कि मनुष्य जाति

---

७. अपनी रचना *Project for a Royal Tythe* (1707) में।

8. *D'etail de la France sous le regne present* (1697) और *Factum de la France* में (1707)

९. विशेषकर *Tellemaque* (1692) नामक ग्रंथ में।

१०. सम्भवत: वह *Testament Politique* का रचयिता था।

११. *La Politique tiree dei Ecriture Sainte* (1709).

की कुप्रवृत्तियों का दमन करने के लिये उसकी आवश्यकता होती है। उसका कथन था कि राजतंत्र सरकार का सबसे पुराना और सर्वोत्तम रूप है, क्योंकि उसका रूप वही है जो परिवार पर पिता के शासन का होता है। राजत्व पवित्र है, और राजा पर आक्रमण करना पाप है। "राजाओं की उसी प्रकार रक्षा करनी चाहिए जिस प्रकार के पवित्र वस्तुओं की।" राजा का पद पिता के पद के समान है, अतः राजा को अपनी प्रजा की उसी प्रकार देख-भाल करनी चाहिये जिस प्रकार पिता अपनी सन्तान की करता है, और प्रजा का कर्तव्य है कि राजा की आज्ञा का विनम्र भाव से पालन करे। साथ ही साथ राजा विवेक के अधीन होता है, उसे निरंकुश ढँग से अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। राजा ईश्वरीय गरिमा का मूर्तरूप है अतः उसी के अनुरूप उसका आचरण होना चाहिए। धर्म तथा न्याय का संरक्षण करना उसका कर्तव्य है। राजा कोई निजी व्यक्ति नहीं हैं, उसका व्यक्तित्व सार्वजनिक है। "सम्पूर्ण राज्य उसमें निहित है, उसकी इच्छा में सम्पूर्ण जनता की इच्छा समाविष्ट है।" इस प्रकार बोसुये ने प्रभुत्व की विशेषताओं में, जिनका पहले विकास किया जा चुका था, पवित्रता की विशेषता और जोड़ दी। साथ ही साथ उसने शासकों के नैतिक दायित्व पर विशेष जोर दिया। "राजाओं को चाहिए कि अपनी शक्ति का प्रयोग भय और संयम के साथ करे। उन्हें अपनी शक्ति ईश्वर से प्राप्त हुई है और ईश्वर उसका हिसाब माँगेगा।" बोसुये के तर्कों को अनेक छोटे दर्जे के लेखकों ने दुहराया; **पोलीतीक** के सिद्धान्त विजयी हुए, और कुछ समय के लिये राजतंत्र विरोधियों के विचार कुचल दिये गये।

अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में राजनीतिदर्शन का कोई प्रथम श्रेणी का ग्रन्थ नहीं रचा गया। महाद्वीप पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में कुछ प्रगति अवश्य हुई। इंगलैंड में सामाजिक संविदा के सिद्धान्त की आलोचना प्रारम्भ होगई। किन्तु सामान्यतया यह काल राजनीतिक चिन्तन के विकास में अपेक्षाकृत बहुत कम महत्व का था, विशेषकर इंगलैंड में उससे पहले की एक शताब्दी और फ्रांस तथा अमेरिका में आनेवाले युग में मुकाबिले में।

महाद्वीप पर लुई चौदहवें की महत्वाकांक्षाओं से उत्पन्न युद्ध, जिनमें आखिरकार यूरोप के सभी प्रमुख राज्य फँस गये, राजनीतिक दिलचस्पी का मुख्य केन्द्र थे। पश्चिमी यूरोप में इंगलैंड और फ्रांस मुख्य प्रतिद्वन्दी थे। वे भारत और अमेरिका के औपनिवेशिक साम्राज्य के लिये, समुद्रों पर अधिकार करने, और यूरोपीय राजनय में प्रमुखता के हेतु आपस में लड़ते रहे। केन्द्रीय यूरोप में प्रुशिया और आस्ट्रिया एक दूसरे के शत्रु थे। उनके बीच जर्मनी की प्रमुखता के लिये संघर्ष आरम्भ हुआ। बड़े राज्यों ने अपने-अपने लाभ के लिये और छोटे राज्यों ने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा अथवा शक्ति-सन्तुलन

कायम रखने के उद्देश्य से अनेक सन्धियाँ और समझौते किये। युद्ध जनता के हितों को ध्यान में रखकर नहीं लड़े गये। उनका मुख्य उद्देश्य था हैप्सबर्ग, बूर्बा, होहिनत्सौलर्न आदि राजवंशों की, जिनका अपनी जनता पर निरंकुश शासन था और जो अपने-अपने राज्यों को अपनी निजी सम्पत्ति समझते थे, प्रतिष्ठा और शक्ति की वृद्धि करना। शासक लोग अपने राज्यों की कृषि, उद्योग-धन्धों और वाणिज्य को अपने निजी लाभ का साधन समझते थे; और वैदेशिक तथा औपनिवेशिक व्यापार पर सरकार के हितों की दृष्टि से कठोर नियंत्रण रखते थे। वाणिज्यवादी विचारों का प्रचार था। चूँकि राज्य तथा शासक को एक ही माना जाता था, इसलिये प्रभुत्व के स्वभाव और निवास-स्थान के सम्बन्ध में विशद चिन्तन नहीं होसका। महाद्वीप पर इस समय तक लॉक के विचारों का प्रभाव नहीं पड़ा था; दैवी अधिकार के सिद्धान्त पर आधारित निरंकुशवाद की आलोचना करनेवाला कोई नहीं था। इस काल में महाद्वीपीय चिन्तन का मुख्य विषय राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध थे।

किन्तु फ्रांस में अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के क्रान्तिकारी विचारों की नींव पड़ने लगी थी। लुई चौदहवें की मृत्यु (१७१५) के उपरान्त उदार भावना का तेजी से प्रभाव बढ़ने लगा। लुई के शासन-काल में हॉब्स के अतिरिक्त अन्य किसी अँग्रेज के विचार फ्रांस में नहीं पहुँच सके थे। अगली आधी शताब्दी में फ्रांस का कोई महत्वशाली व्यक्ति ऐसा नहीं था जिसने इङ्गलैंड का पर्यटन न किया हो अथवा अँग्रेजी भाषा न सीखी हो। जिन व्यक्तियों पर इंगलैंड की प्रशासन-संस्थाओं और विचारों का विशेष प्रभाव पड़ा उनमें वोल्तेयर, मोंतेस्क्यू, गूर्नाए और मिराबो प्रमुख थे। लॉक की रचनाओं का व्यापक रूप से प्रचार हुआ, और शेफ्ट्सबरी तथा ह्यूम के बुद्धिवादी और आलोचनात्मक चिन्तन ने फ्रांसीसी दर्शन के क्षेत्र में हलचल उत्पन्न कर दी। फ्रांस में इंगलैंड की क्रांति तथा उससे उत्पन्न सांविधानिक व्यवस्था के अध्ययन का परिणाम यह हुआ राजनीतिक सिद्धान्तों में लोगों की रुचि बढ़ी, और रूसो जैसे विचारक उठ खड़े हुए जिन्होंने फ्रांस की क्रान्ति का दार्शनिक आधार तैयार किया। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में फ्रांसीसी लेखकों ने चर्च पर आक्रमण किया, और उत्तरार्ध में राज्य उनकी आलोचना का मुख्य विषय बन गया।

१६८८ की क्रान्ति के बाद के युग में इंगलैंड में दलबन्दी पर आधारित संसदीय ढंग की शासन-प्रणाली कायम हुई। यह सिद्धान्त निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया गया कि राजा को उन मन्त्रियों की सलाह से शासन चलाना चाहिये जिन्हें संसद का विश्वास प्राप्त हो। जेम्स द्वितीय ने कैथोलिक धर्म को पुनः स्थापित करने का जो प्रयत्न किया था उसने ह्विगो तथा टोरियों में अस्थाई एकता कायम कर दी थी, किन्तु विलियम तथा मेरी के सिंहासन पर बैठने के बाद दलगत भेदभाव फिर तीव्र होने लगा। टोरी लोग सामान्यतः स्टुअर्ट वंश के प्रत्यावर्तन के पक्ष में थे, क्योंकि उन्हें वे

दैवी अधिकार के अनुसार वैध शासक मानते थे। इसके विपरीत ह्विग लोग १६८८ की क्रान्ति के समर्थक थे और बाद में हनोवर वंश के पक्षपोषक बन गये थे। राजाओं ने दलगत भेद-भाव की उपेक्षा करके मन्त्रियों को चुनने के जो प्रयत्न किये वे विफल रहे, और अन्त में उन्हें बाध्य होकर दलों के आधार पर अपने सलाहकार चुनने पड़े।

१७१४ में रानी एन की मृत्यु हो गई और ह्विग दल हनोवर वंश के राजा को सिंहासन पर बिठलाने में सफल रहा। परिणामस्वरूप शासन-शक्ति दृढ़ता के साथ उसके हाथों में आगई, और अठारहवीं शताब्दी के मध्य से पहले टोरियों की कोई सरकार न बन सकी। इस काल में दलों को एक दूसरे से पृथक करनेवाले मूल प्रश्न बहुत कुछ लुप्त हुए। टोरियों ने धीरे-धीरे दैवी अधिकार का सिद्धान्त त्याग दिया, और स्टुअर्ट वंश की पुनः स्थापना की भी उन्हें कोई आशा नहीं रही। उधर जब ह्विगों के हाथों में शक्ति आगई तो उन्होंने राज-सत्ता और शक्तिशाली सरकार का अविश्वास करना छोड़ दिया। पदों के लिये संघर्ष, न कि नीति सम्बन्धी भेद, दलगत विभाजन का आधार बन गया। दोनों ही दल उस सांविधानिक व्यवस्था के समर्थक बन गये जिसकी धीरे धीरे स्थापना हो चुकी थी। राजनीति शास्त्र के दो मुख्य काम रह गये। स्थापित व्यवस्था के स्वभाव का विश्लेषण करना, और इस बात पर विवाद करना कि सरकार की बागडोर सँभालनेवाले दल ने उसके सिद्धान्तों का परिपालन किया है अथवा नहीं।

अठारहवीं शताब्दी के लोगों के लिये प्राकृतिक विधि का विशेष आकर्षण था। यह वह समय था जब कि मनुष्यों में ऐतिहासिक भावना का अभाव था और अतीत में श्रद्धा नहीं थी। वे पुरानी परम्पराओं और रूढ़ियों से मुक्त होना चाहते थे। अन्य किसी युग के लोगों को पूर्णता की सम्भावना में इतना विश्वास नहीं था, जितना कि इस काल के मनुष्यों को था, और मानव विवेक को मनुष्य की सभी बुराइयों की राम बाण औषधि माना जाता था। राज्य के अगणित और परम्परा विरोधी कानूनों के मुकाबिले में प्रकृति के सरल नियम अधिक अच्छे समझे जाते थे। लोग निरंकुश शासकों के असह्य हस्तक्षेप से तंग आगये थे। केन्द्रीयकृत और पित्रतंत्रीय शासन के स्थान पर वे वैयक्तिक स्वतंत्रता के इच्छुक थे और राज्य के हस्तक्षेप को न्यूनतम करना चाहते थे। अलंघनीय प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास से यह विचार उत्पन्न हुआ कि जो सरकार अधिकारों का अतिक्रमण करती है वह अत्याचारी है। मानव समता और प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त उस युग की वास्तविक परिस्थितियों से तनिक भी मेल नहीं खाता था। लोगों में असन्तोष था और आलोचना की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। वे इस बात पर विचार करने लगे थे कि राज्य को किस ढंग से संचालित किया जाय जिससे कि वह प्राकृतिक विधि के अनुरूप हो सके। शताब्दी से मध्य में निरंकुश राजाओं ने पित्रतंत्रीय तरीके से प्राकृतिक विधि के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया; शताब्दी के

उत्तरार्ध में फ्रांस की क्रान्ति के द्वारा जनता ने प्राकृतिक विधि को क्रियान्वित करने का काम अपने हाथों में ले लिया।

जर्मनी में पूफेंडोर्फ के अनुयायी

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जर्मनी के राज्यों की शासन-प्रणाली निरंकुश और प्रतिक्रियाशील, तथा मानसिक जीवन अन्धविश्वासपूर्ण था। सर्वत्र धर्मशास्त्रों का आधिपत्य था; पूफेंडोर्फ के अनुयायियों ने अवश्य उसके बुद्धिशील दृष्टिकोण को कायम रखने का प्रयत्न किया। इस सम्प्रदाय के लेखकों में क्रिश्चियन टोमासियस (१६५५-१७२८)[१२] और क्रिश्चियन वोल्फ (१६७६-१७५४)[१३] प्रमुख थे। टोमासियम ने विधिशास्त्र को नीतिशास्त्र से पृथक किया और प्राकृतिक विधि को मानवविधि से भिन्न माना। इसके अतिरिक्त उसने मनुष्य में अन्तर्भूत प्राकृतिक अधिकारों तथा मानवीय विधि से उत्पन्न अर्जित अधिकारों के बीच भेद किया। उसने बतलाया कि स्वतंत्रता, प्रकृति की दी हुई चीजों का सामूहिक स्वामित्व, जीवन का अधिकार और विचार स्वातंत्र्य प्राकृतिक अधिकार हैं; सम्पत्ति धारण करना और सत्ता का प्रयोग अर्जित अधिकार है।

वोल्फ हाले के विश्वविद्यालय में आचार्य था। उसकी अपरिमित ख्याति थी। फ्रांस में वह इतना अधिक लोकप्रिय था कि एक समय तो ऐसा प्रतीत होता था कि उसकी रचनाएँ अँग्रेज लेखकों का स्थान ले लेंगी। उसने लॉक के सिद्धान्तों को आधार बनाकर ग्रोशस तथा पूफेंडोर्फ के राजनीतिक विचारों को विकसित किया, और प्राकृतिक विधि, सार्वराष्ट्रीय विधि तथा राज्य के सिद्धान्त की विवेचना की। उसने मनुष्य के नैतिक स्वभाव को प्राकृतिक विधि का, और मनुष्य के स्वाभाविक नैतिक कर्तव्यों को प्राकृतिक अधिकारों का आधार माना। उसने कहा कि सब मनुष्य इसलिये समान हैं कि उनके अधिकार और कर्तव्य समान हैं, और प्रकृति ने किसी मनुष्य को दूसरे का स्वामी नहीं बनाया है। राज्य का निर्माण व्यक्तियों ने स्वेच्छा से अपने प्राकृतिक अधिकारों का अर्पण करके किया, प्रत्येक ने उतना ही त्याग किया जितना कि सार्वजनिक कल्याण के लिये आवश्यक था। राज्य का उद्देश्य है सार्वजनिक सुरक्षा की व्यवस्था और वैयक्तिक कल्याण का संवर्धन करना।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में टोमासियस और वोल्फ के कार्य का विशेष महत्व था। टोमासियस ने राज्य के पूर्ण और अपूर्ण कर्त्तव्यों में भेद किया। वोल्फ ने शुद्ध गणित की पद्धति का अनुसरण किया, किन्तु उसका महत्व यह था कि उसने

१२. देखिये उसकी रचना *Fundamenta Juris natural et gentium.* (1705).
१३. देखिये उसकी रचना *De Politik* (1721), तथा *Institutions juris naturae et gentuem* (1750).

अपने विचारों को सरल ढंग से व्यक्त किया और साहित्यकारों तथा राजनीतिज्ञों को उनसे परिचित कराया। स्विस विधिविज्ञ एमरिक द वातेल (१७१४-१७६७) ने उसके काम को जारी रक्खा। वातेल के ग्रंथ[१४] का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। प्रभाव की दृष्टि से ग्रोशस के बाद वातेल का ही स्थान आता है। उसने पूर्फेंडोर्फ का अनुसरण करते हुए प्राकृतिक विधि को सार्वराष्ट्रीय विधि का आधार माना। किन्तु उसने कहा कि मानवकृत सार्वराष्ट्रीय विधि का भी अस्तित्व है; उसका आधार सामान्य सम्मति है; वह सम्मति व्यक्त भी हो सकती है और मौन भी, जब तक वह विधि प्राकृतिक विधि का अतिक्रमण न करे तब तक उसका पालन करना राज्यों का कर्तव्य है। वातेल का ग्रंथ यूरोप तथा अमेरिका दोनों में भी बहुत लोकप्रिय हुआ और ओटिस, सेमुअल एडम्स, जॉन एडम्स, हेमिल्टन और जैफर्सन ने उसका बार-बार हवाला दिया।

यद्यपि टोमासियस और वोल्फ के विचारों में मौलिकता का अभाव था, फिर भी उनसे जर्मनी की विवेकशील तथा प्रबुद्ध प्रवृत्तियों को विशेष प्रोत्साहन मिला। कारण यह था कि उन्होंने अपने दर्शन को जर्मन भाषा में और आम फहम शैली में प्रस्तुत किया। उनका सिद्धान्त था कि विचारों का आधार विवेक तथा अनुभव होना चाहिये। यही कारण था कि जर्मनी के रहस्यवादियों और पुण्यवादियों (पाइटिस्ट्स) ने उनकी कटु आलोचना की वोल्फ के विचारों का अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक जर्मनी में प्रधानता रहीं। तदुपरान्त लॉक, ह्यूम, शैफ्ट्सबरी और फार्युसन के ग्रन्थों का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ और उनके द्वारा इंगलैंड के चिन्तन का प्रभाव पड़ने लगा। फलस्वरूप बुद्धिवादी पद्धतियों और आदर्शों ने प्रचलित निरंकुशवादी राजनीति सिद्धान्त का रूपान्तर कर दिया, और शासकों के दरबारों तक में समता तथा प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्तों की लोकप्रियता बढ़ने लगी।

१७४० में फ्रेडरिख महान् प्रुशिया के सिंहासन पर बैठा। उसने प्रारम्भ से ही उदारवादियों का पक्ष लिया। परिणामस्वरूप शताब्दी के शेष वर्षों में बौद्धिक जगत में जो महान कार्य होने को था उसका मार्ग तैयार हो गया। सिंहासन पर बैठने से पहले ही फ्रेडरिख ने प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था,[१५] और लॉक के दर्शन की विशेषरूप से सराहना किया करता था। उसने अपने युग के प्रबुद्ध विद्वानों के साथ सहानुभूति दिखलाई। वोल्फ को, जिसे धर्मशास्त्रियों ने पदच्युत करवा दिया था, पुनः विश्वविद्यालय में अध्यक्ष के पद पर नियुक्त कर दिया, और

14. *Le droit des gens* (1754).
१५ देखिये उसकी रचनाएँ *Anti Machiavel* (1739) तथा *Essay on Forms of Government and on The Duties of Sovereigns.* इसके अतिरिक्त देखिये उसके *Posthumous Works,* Vol. V translated by T. Holcroft.

आलोचनात्मक तथा स्वतन्त्र विचारों के वोल्तेयर को बर्लिन में रहने के लिये आमंत्रित किया। फ्रैडरिख ने दैवी अधिकार के सिद्धान्त का खंडन किया। उसका विश्वास था कि राजा लोग अपनी प्रजा की सम्पत्ति से शासन करते हैं। इसके अतिरिक्त उसने शासकों के अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर अधिक बल दिया। उसने इस प्रचलित सिद्धान्त का विरोध किया कि राज्य की जनता और भूमि शासक की निजी सम्पत्ति होती है, और कहा कि राजा राज्य का प्रथम सेवक है, और जितना वह अपनी प्रजा का कल्याण करता है उसी अनुपात में उसका शासन उचित होता है।

उसने अपनी पुस्तक **एंटी मैकियावेल** में इस सिद्धान्त का कि नैतिकता के साधारण मापदंड शासकों पर नहीं लागू होते खंडन किया, और मैकियावेली के निरंकुशवादी विचारों का विरोध किया। यद्यपि सिंहासन पर बैठने के उपरान्त फ्रैडरिख ने निरंकुश सत्ता का प्रयोग किया, किन्तु वह न्याय और नैतिकता का ध्यान रखता था, और अपनी शक्ति का निजी स्वार्थों के लिये प्रयोग नहीं करता था, किन्तु प्रुशिया के हितों का संवर्धन करने के लिये उसे कुछ ऐसे तरीकों से काम लेना पड़ा जिनकी उसने स्वयं निन्दा की थी। उसकी प्रसिद्ध विधि-संहिता पर प्राकृतिक विधि का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। उसमें कहा गया है कि "मानव समाज इसलिये है कि उससे राज्य का और विशेषकर उसके नागरिकों का कल्याण हो, और कानूनों का भी यही सार्वभौम उद्देश्य है। राज्य के कानूनों और अध्यादेशों द्वारा नागरिकों की प्राकृतिक स्वतंत्रता और अधिकारों का वहीं तक परिसीमन करना चाहिये जहाँ तक कि ऐसा करना उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक हो।"

आस्ट्रिया का जोज़फ द्वितीय फ्रैडरिख का उत्साही अनुयायी और "प्रबुद्ध निरंकुश" था। उसने प्राकृतिक विधि के सिद्धान्तों की शिक्षा पाई थी, और उन्हें व्यावहारिक जीवन में लागू करने का प्रयत्न किया। उसे सुधार के लिये वास्तव में बड़ा उत्साह था। सिंहासन पर बैठने के समय उसने कहा कि मैंने "दर्शन को अपने राज्य का विधायक बनाया है।" उसका हृदय न्याय तथा साम्य की भावनाओं से ओतप्रोत था, और वह अपने राज्य की दशा का पूर्णरूप से पुनरुद्धार करना चाहता था। किन्तु उसे ऐतिहासिक विकास में श्रद्धा नहीं थी, और लोगों ने उसके सदिच्छापूर्ण किन्तु क्रान्तिकारी सुधारों का विरोध किया, अतः उसकी लगभग सभी योजनाएँ विफल रहीं।

वीको

इस काल के राजनीतिक चिन्तन में इटली ने जो योग दिया उसका श्रेय गियाम्बेटिस्टा वीको (१६६८-१७४४)[१६] को था। वीको विधिवेत्ता

१६. देखिये उसकी *De Universi juris uno principio et fine uno* (1720), *De constantio juris frontentis* (1721), *Principii d'uno suinza nuovn* (1725-30)

और दार्शनिक था, उसने राजनीति दर्शन में मनोवैज्ञानिक-ऐतिहासिक पद्धति की नींव डाली। उस पर फ्रांसिस बेकन और ग्रोशस का प्रभाव पड़ा था; मैकियावेली और बोदें का भी उसने प्रायः हवाला दिया, और उनके दृष्टिकोण से वह सामान्यतः सहमत था। वीको की पद्धति उस काल के प्राकृतिक-विधि को मानने वाले दार्शनिकों की पद्धति से बिलकुल भिन्न थी। उसको उनके इस सिद्धान्त से कोई सहानुभूति नहीं थी कि एक ऐसी विधि-संहिता का अस्तित्व है जो पूर्ण विवेक के अनुरूप है और हर देशकाल के लिये उपयुक्त है। उसका आग्रह था कि हर जाति की राजनीतिक संस्थाएँ और विचार उसके वातावरण तथा राष्ट्रीय चरित्र के अनुसार बदलते रहते हैं। अतः शासन-व्यवस्था और विधि में समय की आवश्यकताओं और लोगों के सामान्य बौद्धिक स्तर के अनुरूप भिन्नता हुआ करती है। वीको के इन विचारों का मौंतेस्क्यू के विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

वीको अपने अनेक विचारों के लिये रोम के इतिहास का ऋणी था, और उसने सरकारों के उदय तथा पराभव की प्रक्रिया के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला। उसका विश्वास था कि सर्वप्रथम मनुष्य धर्मतांत्रिक अवस्था में होकर गुजरते हैं; उस अवस्था में राजनीतिक सिद्धान्त ईश्वर की इच्छा पर निर्भर होता है, और पैगम्बरों आदि के द्वारा व्यक्त होता है। इसके बाद अभिजाततंत्र की अवस्था आती है जिसके अन्तर्गत सर्वोच्च सत्ता विशिष्ट परिवारों के प्रमुखों के हाथों में होती है। अन्तिम अवस्था लोकतंत्र की है जिसमें सम्पूर्ण जनता राज्य का अभिन्न अंग बन जाती है। लोकतंत्र के दो रूप हो सकते हैं, गणतांत्रिक और राजतंत्रीय। राजतंत्र में जनता राजा को अपनी शक्ति का प्रयोग करने का अधिकार दे देती है। सरकार के मिश्रित रूप उक्त प्रकारों के बीच की अवस्थाओं के द्योतक होते हैं। वीको का विश्वास था कि ये दैवी, शूरत्वप्रधान और मानवीय रूप मानव स्वभाव तथा दर्शन के सामान्य सिद्धान्तों के अनुरूप हैं। इस प्रक्रिया में मानवकृत विधि बहुत कुछ सार्वभौम अथवा प्राकृतिक विधि के निकट आ जाती है। वीको ने बतलाया कि रोम के पतन के बाद यूरोप धर्मतांत्रिक और अभिजाततंत्रीय अवस्थाओं में होकर गुजर चुका है, और लोकनियंत्रित राजतंत्र तथा गणतंत्र के युग में प्रवेश करनेवाला है। यद्यपि वीको का समस्त शासन-प्रणालियों को इन तीन प्रवर्गों में बाँटने का यह प्रयत्न कुछ मनमाना था, फिर भी उसने राजनीतिक चिन्तन के प्रति पहले से अधिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का निर्माण करने में महत्वपूर्ण योग दिया। अपने जीवन काल में वीको नेपल्स के विधिवेत्ताओं के छोटे से समूह को छोड़कर बाहर अधिक विख्यात नहीं हुआ, और कांट के दर्शन के व्यापक प्रचार के कारण उसके विचारों का अधिक प्रभाव नहीं हुआ।

बोलिंगब्रुक तथा ह्यूम

१६८८ की क्रान्ति के बाद इंगलैंड में आत्म-सन्तोष का युग प्रारम्भ हुआ जो

एक शताब्दी तक चलता रहा। शासकों की शक्ति का स्रोत जनता है, यह सिद्धान्त दृढ़ता से स्थापित हो गया। साधारण जन गृह-युद्ध के निरन्तर भय से तंग आगये थे; और चाहते थे कि उनके जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो। यह समृद्धि का युग था। कृषि, वाणिज्य तथा नगरों की उन्नति से औद्योगिक क्रान्ति की भूमिका तैयार होगई। धर्मशास्त्रियों ने राजनीतिक झंझटों से मुख मोड़ लिया और आराम का जीवन बिताने लगे। राजनीतिज्ञ लोग भ्रष्टाचारपूर्ण दलबन्दी में फँस गये, और वालपोल ने, जो विवाद-ग्रस्त प्रश्नों को टालने का इच्छुक रहता था, उस दलबन्दी की प्रथा में से संसदीय प्रणाली (केबिनेट प्रणाली) की सरकार का निर्माण करने का प्रयत्न किया। राजनीतिक चिन्तन में गत शताब्दी की सजीवता नहीं रही, और उसका रूप बहुत कुछ शास्त्रीय और साहित्यिक होगया। मुख्यतया निबन्धों के रूप में उसकी अभिव्यक्ति हुई। पोप का '**ऐसे ऑन मैन**' नाम का निबन्ध जिसमें उसने मानव-समाज का गुणगान किया, इस युग की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। बिशप बर्कले ने इस काल की सट्टेबाजी की प्रवृत्ति से जिसकी परिणति **दक्षिण सागर के बुलबुले** (साऊथ सी बबूल) में हुई क्षुब्ध होकर इंगलैंड के पतन का वर्णन किया।[१७] किन्तु उसकी रचना उस समय इंगलैंड की शासन-प्रणाली का जो सर्वत्र गुण-गान हो रहा था, उसका अपवाद मात्र थी। सामान्यतः लोगों का विश्वास था कि इंगलैंड की व्यवस्था जिसमें राजतंत्र, अभिजाततंत्र और लोकतंत्र का समन्वय है, पूर्ण है। उनकी धारणा थी कि मिश्रित प्रकार की सरकार के अन्तर्गत स्वतंत्रता की सबसे अच्छी रक्षा हो सकती हैं; और इंगलैंड की व्यवस्था की रोम से तुलना करना एक फैशन बन गया था।

राज्य तथा चर्च के बीच के सम्बन्धों और विशेषकर स्थापित चर्च तथा उससे सहमत न होनेवाले प्रोटेस्टेंट सम्प्रदायों (नॉन कनफौमिस्टों) के सम्बन्धों के बिषय में कुछ विवाद चला। एंग्लीकन चर्च ने काल्विनमंत्री विलियम ऑव ओरेंज के सिंहासनारोहण को अनिच्छा से स्वीकार किया; और जब पादरियों को राजभक्ति की शपथ लेने के लिये बाध्य किया गया तो चर्च में अच्छी-खासी फूट पड़ गई और कुछ योग्यतम पादरियों ने शपथ लेने से इन्कार कर दिया। कहा गया कि चर्च राज्य के नियंत्रण से स्वतंत्र है; उसका अपना व्यक्तित्व तथा इच्छा है और राज्य के साथ उसका सम्बन्ध संघीय ढंग का है।[१८] चर्च अपनी स्वतंत्र तथा दैव-विहित स्थिति को कायम रखने का इच्छुक था, और राज्य प्रभुत्वसम्पन्न था और अपने अन्तर्गत सभी संस्थाओं में सर्वोपरि था। इन दोनों के सम्बन्धों का समायोजन करना वास्तव में एक कठिन काम था। राज्य ने स्थापित चर्च को अपनी सरकार का एक अधीन विभाग बनाने का प्रयत्न किया। चर्च स्वतंत्रता का

---

१७. देखिये उसका निबन्ध *Essays or towards Preventing the Ruiu of Great Britain.* (1721)

१८. देखिये *Bishop Warburton's Alliance between Church and State* (1736)

इच्छुक था, वह राज्य के अन्तर्गत अपनी विशेषाधिकृत स्थिति को त्यागना नहीं चाहता था और न इतर सम्प्रदायों के साथ समानता क व्यवहार करने को तैयार था। अठारहवीं शताब्दी के **आक्सफर्ड आन्दोलन** और आधुनिक काल के प्रभुत्व के बहुवादी सिद्धान्त, दोनों पर इस युग के धार्मिक विवादों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई होता है।[१९]

राजनीतिक समस्याओं पर लिखनेवालों में वाइकाउंट बोलिंगब्रुक (१६७८-१७५१)[२०] और डेविड ह्यूम (१७११-१७७६)[२१] प्रमुख थे। रानी एन के शासन काल में बोलिंगब्रुक ने उच्च पद पर काम किया, किन्तु हनोवर वंश के सिंहासनारूढ़ होने पर, वालपोल ने उसका स्थान लेलिया। उसने टोरियों तथा ह्विग दल के असन्तुष्ट लोगों के बीच मैत्री स्थापित करवाकर अपने उत्तराधिकारी वालपोल को अपदस्थ कराने की चाल चली, और टोरियों की जैकोबाइटी प्रवृत्ति को नष्ट करने का भी प्रयत्न किया। उसके राजनीतिक विचारों का इंगलैंड की तात्कालिक स्थिति से विशेष सम्बन्ध था। वालपोल से वह घृणा करता था, इन चीज ने भी उसके राजनीतिक चिन्तन को बहुत कुछ प्रभावित किया। उसने **क्राफ्समैन** नाम के पत्र की नींव डाली। इंगलैंड में वह एक राजनीतिक दल का प्रथम अधिकारीय मुखपत्र था। बोलिंगब्रुक ने प्रेस की स्वतंत्रता का समर्थन किया, क्योंकि वह खुलकर वालपोल से लड़ना चाहता था और दण्ड से भी बचना चाहता था। जिस समय वह सरकारी पद पर था उसने दलगत विभाजन को बहुत अच्छा माना, किन्तु जब शक्ति उसके हाथ से निकल गई तो दलबन्दी का विरोधी बन गया, और कहने लगा कि दल सिद्धान्तों और समस्याओं को लेकर नहीं चलते बल्कि पदों की लालसा से काम करते हैं। बोलिंगब्रुक की कथनी और करनी में प्रायः विरोध रहता था और उसके विचारों में ईमानदारी की कमी थी।

बोलिंगब्रुक ने शक्ति-सन्तुलन पर आधारित मिश्रित शासन-व्यवस्था की प्रशंसा की, और वालपोल की भ्रष्टाचारमूलक व्यवस्था का खंडन किया। उसका कहना था कि भ्रष्टाचार के परिणामस्वरूप स्वतंत्र संसद का राजा पर जो नियंत्रण होना चाहिये वह दुर्बल पड़ गया है। उसने अपने समय भी सामान्य विचारधारा का अनुसरण करते हुए जनता को सत्ता का आधार माना, और प्रभु तथा प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धों को संविदामूलक बतलाया। उसने सरकार के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों को भी संविदामूलक ठहराया। बोलिंगब्रुक सशक्त परराष्ट्रनीति के पक्ष में था, उपनिवेशों में अधिक व्यापक व्यापारिक स्वतंत्रता का समर्थक था, और कहा करता था कि इंगलैंड को

---

१९. देखिये H. J. Laski, *The Problem of Sovereignty* (1917)

२०. देखिये उसके *Dissertation on Parties* (1734), *Letters on the Study of History*(1735) और *Idea of a Patriot King* (1738).

२१. देखिये उसको Essays, Moral, Political & Literary (1741—2) और Political Discourses (1752.)

चाहिए कि आस्ट्रिया के विरुद्ध फ्रांस की महत्त्वाकांक्षाओं को बढ़ावा दे। उसने नौसेना के महत्व पर विशेष बल दिया। बोलिंगब्रुक के सिद्धान्तों का, विशेषकर उसके देशभक्त राजा के आदर्श का, जार्ज तृतीय पर और कुछ समय के लिये चैथम और डिज़ाइली पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा।

ह्यूम का आलोचनात्मक दर्शन शताब्दी का सबसे अधिक ध्वंसात्मक तत्व सिद्ध हुआ। उसने राज्य की धर्मतांत्रिक धारणा और संविदा के सिद्धान्त दोनों का ही खंडन किया। दर्शन के क्षेत्र में वह लॉक का बहुत ऋणी था। इसके अतिरिक्त उस पर फ्रांसिस हचीसन तथा उसके सम्प्रदाय के उन दार्शनिकों का प्रभाव था जो मनोविज्ञान को नीति, राजनीति तथा अर्थशास्त्र से मिलाने का प्रयत्न कर रहे थे। ह्यूम ने कहा कि दैवी अधिकार और सामाजिक संविदा के सिद्धान्तों की पुष्टि करने के लिये इतिहास का प्रयोग करना अनुचित है। उसका मत था कि इष्टकर क्या है और क्या नहीं, इस सम्बन्ध में सर्वसाधारण की जो राय होती है वही नैतिकता का आधार है, नैतिकता को मानव विधि से पृथक नहीं किया जा सकता। उसने प्राकृतिक विधि को मानने वाले बुद्धिवादियों का विरोध किया और बतलाया कि इतिहास तथा मनोविज्ञान से राजनीतिदर्शन के लिये सामग्री मिल सकती है। इस प्रकार हमें उसके विचारों में बर्क की ऐतिहासिक पद्धति का, जिस पर आधुनिक अनुदारवाद आधारित है, और बेंथम के उपयोगितावादी सिद्धान्तों का, जो उग्र विचारों की अभिव्यक्ति का साधन सिद्ध हुए, पूर्वाभास मिलता है।

ह्यूम ने सामाजिक संविदा के सिद्धान्त के ऐतिहासिक तथा तार्किक दोनों ही पहलुओं का खंडन किया। उसने कहा कि ऐतिहासिक दृष्टि से आदिम मानव इतना बुद्धिमान नहीं था कि ऐच्छिक संविदा का विचार उसके दिमाग में आ सकता; इसके अतिरिक्त इतिहास में मूल संविदा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता; फिर मूल संवेदकों की सम्मति उनके वंशजों पर लागू नहीं हो सकती, और यह विचार कि राजनीतिक सत्ता का आधार सम्मति है संसार के अनेक देशों में बेहूदा समझा जायेगा। ह्यूम ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि राज्यों की स्थापना प्रायः विजय अथवा छीना-झपटी द्वारा हुआ करती है, और लोग रूढ़िवश अथवा आदत के कारण राज्य की आज्ञा का पालन करते हैं। मनुष्यों का जन्म ही राज्य में होता है, अतः वे उसकी उत्पत्ति अथवा आदि कारण की ओर ध्यान भी नहीं देते। उसने कहा कि बहुत-सी क्रान्तियाँ मुट्ठी भर लोगों द्वारा सम्पादित होती हैं, बहुसंख्यक लोग उनके सम्बन्ध में बुद्धिपूर्वक सोच विचार नहीं करते। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त का कि लोग इच्छा से अपने शासकों की आज्ञाओं का पालन करते हैं, अर्थ होगा कि वे राज्य से पृथक भी हो सकते हैं, किन्तु ऐसा कभी देखने में नहीं आता।

यह सिद्ध करके कि राज्य के आधार के सम्बन्ध में ऐच्छिक संविदा का सिद्धान्त

इतिहास की शिक्षाओं तथा राजनीतिक जीवन के वास्तविक तथ्यों, दोनों के ही विपरीत है, ह्यूम ने उक्त सिद्धान्त के दार्शनिक पहलू की ओर ध्यान दिया। उसे मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियों में सत्ता का आधार दिखाई दिया। उसने कहा कि राज्य के अस्तित्व का मुख्य कारण यह है कि उससे मनुष्य को स्पष्ट लाभ होता है। ह्यूम का विश्वास था कि मनुष्य विश्वासों और मतों के वशीभूत होकर काम करते हैं, विवेक के आधार पर नहीं; और लोग सामान्यतया उन्हीं विचारों को ग्रहण करते हैं जिनसे उनका स्वार्थ सिद्ध होता है। ह्यूम हॉब्स के इस मत से सहमत था कि मनुष्य तत्वतः स्वार्थी होते हैं, और उसका विश्वास था कि कानूनों तथा दंडाधिकारियों की इसलिये आवश्यकता होती है कि सबल तथा अन्यायी लोग दूसरों पर अत्याचार न कर सकें। अतः राज्य का होना उचित है क्योंकि उसकी आवश्यकता है; मनुष्यों को सत्ता की आज्ञा का इसलिये नहीं पालन करना है कि उन्होंने आज्ञा पालन का वचन दिया था, बल्कि इसलिये कि उसके बिना मानव समाज का अस्तित्व ही नहीं रह सकेगा।

यद्यपि ह्यूम लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली के विरुद्ध था, किन्तु उसकी रचनाओं में तत्कालीन राजनीतिक समास्याओं का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। वह हैरिंगटन के इस मत से सहमत था कि शासन-सत्ता का धन के वितरण से सदैव सम्बन्ध रहता है। उसने विकासशील लोकतंत्र के महत्व को समझा, जिसके कारण लोकसभा राजनीतिक शक्ति का केन्द्र बन रही थी। वह यह भी भलीभाँति समझता था कि लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली में दलबन्दी अनिवार्य और स्वतंत्र प्रेस आवश्यक है। उसके आर्थिक विचार समय से बहुत आगे थे। उसने वाणिज्यवादियों के इस सिद्धान्त का विरोध किया कि व्यापार का कठोरता के साथ नियमन होना चाहिये। वह उनके इस विचार से भी सहमत नहीं था कि राष्ट्रीय समृद्धि सोना-चाँदी की मात्रा से आँकी जानी चाहिये। वह मुक्त संचार और विनिमय के पक्ष में था एवं यह मानने को तैयार नहीं था कि कृषि और वाणिज्य के बीच विरोध आवश्यक है, तथा उसका विश्वास था ऊँची मजूरी आर्थिक दृष्टि से लाभदायक होती है। उधर वह इस सर्वसम्मत दृष्टिकोण से सहमत था कि अपनी सुरक्षा के लिये इंगलैंड को योरोप के देशों को एक दूसरे से भिड़ाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। उसकी रचनाओं में बाद के अहस्तक्षेप के सिद्धान्त के अनेक विचार देखने को मिलते हैं।

ह्यूम तथा बर्क के बीच की पीढ़ी ने राजनीतिक चिन्तन में कोई योग नहीं दिया। फिर भी सम्पूर्ण देश में लोकतांत्रिक चेतना का विकास हुआ और मतदाताओं ने अपने संसदीय प्रतिनिधियों पर पहले से अधिक नियन्त्रण का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। यद्यपि व्यवहारिक दृष्टि से प्रशासकीय संस्थाओं के विकास पर लॉक के विचारों का प्रभाव पड़ रहा था, किन्तु ह्यूम के निर्मम तर्क प्राकृतिक अधिकारों और सामाजिक संविदा के सिद्धान्तों की दार्शनिक जड़ों का उन्मूलन कर रहे थे। किन्तु

महाद्वीप में स्थिति भिन्न थी। इंगलैंड के विचारों का फ्रांसीसी लेखकों पर प्रभाव पड़ रहा था, और रूसो की रचनाओं के रूप में सामाजिक संविदा के सिद्धान्त का पूर्ण विकास अभी होने को था। अमेरिका में भी लॉक के विचार लोकप्रिय थे। उसके वे सिद्धान्त जिन्होंने व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता पर जोर दिया और क्रान्ति को उचित ठहराया, समय की समस्याओं पर लागू हो सकते थे। इंगलैंड में प्राकृतिक अधिकारों के विचार ने उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित व्यक्तिवाद का रूप ले लिया, और बैंथम, मिल तथा एडम स्मिथ के कार्य के लिये मार्ग प्रशस्त किया।

पठनीय ग्रन्थ

Bowle, John, *Western Political Thought* (New York, Oxford Univ. Press, 1948), pp. 376-398.

Croce, B., *The Philosophy of Giambattista Vico trans. by* R. G. Collingwood (New York, Macmillan, 1913)

Duff, R. A , *Spinoza's Political & Ethical Philosophy* Glasgow, Maclehose, 1903)

Laing, B. M., *David Hume* (London, Benn, 1932)

Laird, John, *Hume's Philosophy of Human Nature* (London, Methuen, 1932)

Laski, H. J. *Political Thought in England from Locke to Bentham* (New York, Holt, 1920), Chap. 3-4.

The Problem of Sovereignty (New Heven, Yale, Univ. Press 1917)

Rensi, Giuseppe, *Spinoza* (Milan Bocca, 1942)

Sabine, G. H. *A History of Political Thought*, rev. ed. (New York, Holt, 1950) pp. 597-606.

See, H., *Les Idees Politiques en France ab XVII siecle* (Paris, Giard, 1923)

Smith, N. K., *The Philosophy of David Hume* (London, Macmillan, 1941)

Swinny, S. H., "Giambattista Vico," *Sociological Review*, Vol. 7 (January, 1914)

Wheaton, Henry, History of the Law of Nations (New York, Gould Banks 1845) pp. 107-161.

अध्याय १६

मोंतेस्क्यू और रूसो

लुई चौदहवें के बाद फ्रांस की दशा

अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस का सामाजिक संगठन सामन्ती ढँग का था और सरकार स्वेच्छाचारी थी। देश की कुल जनसंख्या लगभग ढाई करोड़ थी। उसमें से लगभग ढाई लाख सामन्त तथा पादरी थे। राष्ट्र की आधी भूमि पर उनका स्वामित्व था। सामन्ती करों तथा चर्च के दातव्य के रूप में वे किसान से उसकी आय का एक चौथाई वसूल कर लिया करते थे, तथा राजकीय करों का एक बड़ा अंश पेंशनों तथा बड़े-बड़े वेतनों के रूप में हड़प लिया करते थे, और वे स्वयं करारोपण से मुक्त थे। सामाजिक संगठन के दोनों छोरों के बीच में एक छोटे से मध्यवर्ग (बुर्जुआज़ी) का उदय हो चुका था और वह धीरे-धीरे समृद्ध होता जाता था, किन्तु वह सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों से वंचित था। सरकार केन्द्रीयकृत और निरंकुश थी, और सामन्ती अवशेषों के कारण उसका रूप भद्दा-भौंड़ा था। वैयक्तिक स्वतन्त्रता राजा तथा उसके अधिकारियों की कृपा पर निर्भर थी। कोई प्रतिनिधि संसद न थी जो राजा की निरंकुश शक्ति पर नियंत्रण कायम रख सकती, और न्यायपालिका पर उच्च सामन्तों का आधिपत्य था।

अनावश्यक युद्धों तथा दरबार की अपव्ययता के कारण कोष खाली हो गया था, और ऋण का भारी बोझ लद गया था। सरकार के हितों की दृष्टि से ऋण की शर्तें प्रतिकूल थीं। कर भारी थे और उनका वितरण असमान था। भारी चुंगी के कारण माल देश के एक भाग से दूसरे को न जा सकता था। करों को वसूल करने का ठेका अधिकारियों को दे दिया जाता था जिनका मुख्य उद्देश्य जनता का शोषण करना था। भूमि की कीमतें बहुत कम थीं। सरकार इस वाणिज्यवादी सिद्धान्त को मानती थी कि व्यापार पर कठोर राजकीय नियंत्रण होना चाहिये। वैदेशिक व्यापार के क्षेत्र में अनुकूल व्यापारान्तर का अधिक महत्व माना जाता था। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में आर्थिक-राजनीतिक चिन्तन में परिवर्तन आने लगा जिसका प्रतिबिम्ब हमें फिज़ियोक्रेट सम्प्रदाय के लेखकों की रचनाओं में देखने को मिलता है। उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का समर्थन किया और उनके आधार पर अहस्तक्षेप की नीति को श्रेष्ठ ठहराया। उन्होंने कृषि को सम्पत्ति का मुख्य साधन बतलाया एवं करारोपण के पहले से अच्छे तरीकों का सुझाव दिया। अर्थशास्त्रियों की रचनाओं ने सरकार तथा जनता के बीच खाई को और भी अधिक चौड़ा कर दिया।

लुई चौदहवें की मृत्यु के उपरान्त फ्रांसीसी राजतंत्र की दमन-नीति के विरुद्ध स्पष्ट प्रतिक्रिया होने लगी। धर्म के क्षेत्र में सन्देहवादी प्रवृत्तियाँ उभड़ने लगीं, और चिन्तन में बौद्धिक स्वतंत्रता की माँग होने लगी। इंगलैंड के, विशेषकर लॉक के, राजनीतिक विचारों का फ्रांस में प्रवेश हुआ। लोगों ने इंगलैंड की राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन किया और उन्हें फ्रांस की संस्थाओं से एकदम भिन्न पाया। तुलना में फ्रांस का राजतंत्र बहुत घटिया निकला। अँग्रेज जाति की स्वतंत्रता की फ्रांसीसी लोग भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। इस प्रकार से उत्पन्न सन्देहवादी और बुद्धिपरक दर्शन का परिणाम यह हुआ कि लोग राज्य तथा चर्च दोनों से ही घृणा करने लगे, स्थापित व्यवस्था के प्रति उनका असन्तोष भड़क उठा और उनके हृदय में परिवर्तन की उत्कट अभिलाषा जाग उठी। सामाजिक संस्थाओं की आमतौर से आलोचना होने लगी और विशेषाधिकृत वर्ग भी अपनी निरर्थकता की चर्चा करने लगे। इस प्रकार की चर्चा कुछ तो भावुकता मात्र थी, किन्तु कुछ सामन्त वास्तव में अपेन कर्तव्यों का, जिन्हें वे बहुत पहले छोड़ बैठे थे, पालन करने के उत्सुक थे। लेकिन सामान्य तौर पर उच्च वर्गों का दृष्टिकोण स्वार्थ पूर्ण ही रहा और वे साधारण जनों को घृणा भी दृष्टि से देखते रहे। नये विचारों का प्रभाव मुख्यकर अधिकारों से वंचित साधारण जनता पर ही पड़ा।

यद्यपि जाँ बोदँ के बाद फ्रांस में मौंतेस्क्यू और रूसो ही प्रमुख विचारक हुए जिन्होंने राजनीतिदर्शन की विशद विवेचना की, किन्तु अनेक अन्य लेखक भी हुए जिन्होंने इस कार्य में योग दिया। लुई चौदहवें के शासन-काल के उत्तरार्ध में **फैनेलों**[1] नाम का एक विचारक हुआ जिसने उदार-शासन प्रणाली का समर्थन किया। सम्राट की मृत्यु के बाद फैनेलों के विचारों की ओर लोगों का ध्यान गया। आबे द सैंत पियर[2] बड़ा ही कटु आलोचक था। उसने स्वतंत्रतापूर्वक फ्रांस की शासन-व्यवस्था की आलोचना की और प्रस्ताव किया कि राज्य के प्रत्येक ज़िले के शासन के लिये परिषद् होनी चाहिए। १७१३ में उसने **प्रोजे द पैं परपैचुएल** (स्थायी शान्ति की योजना) प्रस्तुत की जिसका उन विभिन्न योजनाओं पर विशेष प्रभाव पड़ा जो विश्व शान्ति की स्थापना हेतु बनाई गई और जिनकी आगे जाकर पवित्र संघ में परिणत हुई। मार्की द अर्ज़ांसों ने एक सुधार योजना बनाई जिसका उद्देश्य बूर्बां निरंकुशतंत्र को प्रबुद्ध और उदार राजतंत्र में परिवर्तित करना था।

इस काल का सबसे शक्तिशाली आलोचक वोल्तेयर (१६९४-१७७८)[3] हुआ। उसने तीन वर्ष इंगलैंड में बिताए थे, बोलिंगब्रुक से उसकी घनिष्टता थी, और बेकन,

१. देखिये उसकी पुस्तक *Telemaque* (1699).
२. देखिये उसकी *Discours sui la polysynodie* (1718).
३. देखिये उसकी *Letters sur les Anglais* (1728).

न्यूटन और लॉक की रचनाओं का उसने अध्ययन किया था। उसने अंग्रेजी विचारों का फ्रांस में प्रचार करने के लिये बहुत काम किया। वोल्तेयर ने अन्धविश्वासों और चर्च के आधिपत्य पर आक्रमण किया, हर प्रकार के उत्पीड़न का विरोध किया और बौद्धिक, धार्मिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता के लिये संघर्ष चलाया। उसने प्रेम की स्वतंत्रता, चुनावों की स्वतंत्रता और संसदों की स्वतंत्रता का पक्षपोषण किया और मध्यवर्ग के लिये, जो कि व्यापार और उद्योग में खूब फल-फूल रहा था, राजनीतिक अधिकारों की माँग थी। किन्तु उसे इस बात में विश्वास नहीं था कि निम्न वर्गों में भी स्वशासन की क्षमता हो सकती है। उसे उदार तथा प्रबुद्ध राजतंत्र पसन्द था, किन्तु उसका कहना था कि चूँकि राजाओं पर इस बात का विश्वास नहीं किया जा सकता कि वे भली-भाँति शासन करेंगे, इसलिये गणतंत्रीय शासन-प्रणाली ही सबसे अच्छी है। वोल्तेयर का सिद्धान्त था कि सभी मनुष्यों का यह समान प्राकृतिक अधिकार है कि उन्हें स्वतंत्रता, सम्पत्ति और विधिक संरक्षण प्राप्त हो। उसने सामन्ती करों का और पितृतंत्रीय राजतंत्र के व्यापक कानूनों का विरोध किया। परन्तु उसका इरादा लोगों को क्रान्ति के लिये तैयार करना नहीं था; उसे आशा थी कि सुधार का काम शासक लोग स्वयं कर लेंगे।

जागरण की प्रक्रिया में विश्वकोष के रचयिताओं ने भी पर्याप्त योग दिया। उनमें दिदरो (१७१३-१७८४) और दा लेम्बेर (१७१७-१७८३) प्रमुख थे। उन्होंने अट्ठाईस जिल्दों के एक विशाल कोष की रचना की। उद्देश्य विज्ञान तथा इतिहास के तथ्यों को संकलित और सुव्यस्थित करना था, जिससे कि विश्व और जीवन के ऐसे दर्शन का निर्माण हो सके जो पुरानी विचारधाराओं का स्थान लेले और पुरातन शास्त्रों पर आधारित विश्वासों का खंडन कर सके। विश्वकोष में उन्होंने लॉक के सिद्धान्तों के अनुसार प्राकृतिक स्वतंत्रता की परिभाषा की और कहा कि सब मनुष्यों को अधिकार है कि वे अपने जीवन और सम्पत्ति का जैसे चाहें प्रयोग करें, उन्हें केवल प्राकृतिक विधि का नियंत्रण स्वीकार करना है। प्रकृति से सभी मनुष्य समान हैं, और समाज की स्थापना के बाद सभी नागरिक स्वतंत्रता के अधिकारी हैं।

मोंतेस्क्यू

अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस में मोंतेस्क्यू (१६८९-१७५५) पहला व्यक्ति था जिसने राजनीतिशास्त्र पर एक सुव्यवस्थित ग्रन्थ की रचना की। उसने साहित्य तथा इतिहास का गहन अध्ययन किया, और अपने समय के बौद्धिक आन्दोलनों से उसे पूर्ण सहानुभूति थी। १७२१ में ही उसने पर्शियन लैटर्स में फ्रांस की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं का मखौल उड़ाया था। उसके बाद शीघ्र ही उसने अन्य देशों की संस्थाओं का अध्ययन करने के उद्देश्य से यात्रा का संकल्प किया। पहले उसने यूरोप के राज्यों का भली-भाँति पर्यटन किया, और फिर दो वर्ष इंगलैंड में

बिताए। वहाँ उसका प्रमुख राजनीतिज्ञों से सम्पर्क हुआ, और अँग्रेजों की स्वतन्त्रता की धारणा और इंगलैंड की शासन-प्रणाली का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा। मोंतेस्क्यू को रोम के इतिहास तथा राजनीति में बड़ी दिलचस्पी थी ; उसने एक निबन्ध लिखा और उसमें रोमन साम्राज्य के उत्थान और पतन का दार्शनिक विश्लेषण किया। रोम का इतिहास तथा इंगलैंड की संस्थाएँ ही मुख्य स्रोत थीं जिनसे उसके राजनीति दर्शन की व्युत्पत्ति हुई। लम्बी तैयारियों के बाद उसने १७४८ में अपने ग्रन्थ **द लेस्प्री देल्वा (विधि की भावना)** का प्रकाशन किया।

मोंतेस्क्यू ने बुद्धिवादी अथवा विचारवादी (आइडियलिस्टिक) पद्धति का अनुसरण न करके आनुभविक प्रणाली को अपनाया, और राजनीतिक प्रश्नों का निरपेक्ष राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर नहीं, बल्कि वास्तविक परिस्थितियों को ध्यान में रख कर विवेचन किया। उस समय के अधिकतर लेखकों की भाँति मोंतेस्क्यू का भी विश्वास था कि विधि तथा न्याय के आधारभूत सिद्धान्त प्रकृति में विद्यमान हैं; किन्तु उसका कहना था कि प्रकृति के सिद्धान्तों को हम विवेक पर आधारित अभिधारणाओं का सहारा लेकर नहीं निकाल सकते हैं, उसके लिये हमें इतिहास के तथ्यों और राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओं का अनुगमन करना होगा। उसे निरपेक्ष न्याय में विश्वास नहीं था और न परिपूर्ण कानूनों की एक व्यवस्था स्थापित करने का ही उसने प्रयत्न किया। वह प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त को लेकर चलनेवाले सम्प्रदाय का सदस्य नहीं था, बल्कि ऐतिहासिक पद्धति के अनुयायियों का पूर्वगामी था।

मोंतेस्क्यू के विचार उस समय के प्राकृतिक-विधि दर्शन से ही कुछ पृथक नहीं थे। बल्कि फ्रांस के तत्कालीन प्रश्नों से भी उनका कम लगाव था। वह न तो विद्यमान व्यवस्था का पक्षपोषक ही था, और न उसका शत्रु। उसका उद्देश्य उस व्यवस्था का सुधार करना था। उसने नागरिकों के अधिकारों से सम्बन्धित सिद्धान्तों अथवा राजा के परमाधिकारों का विवेचन नहीं किया, बल्कि न्याय और प्रशासकीय दक्षता के व्यावहारिक प्रश्नों की समीक्षा की। मोंतेस्क्यू के ग्रन्थ में प्रभुत्व के स्वभाव, मानव अधिकारों और प्राकृतिक समता की बहुत कम चर्चा है। वह फ्रांस की भावना का परिरक्षण करना और फ्रांसीसी राजतन्त्र को कायम रखना चाहता था ; किन्तु स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये उसने सरकार की विधायी और कार्यपालक शाखाओं को एक दूसरे से पृथक करने का सुझाव दिया। उसके ग्रन्थ का उद्देश्य राजनीतिक समस्याओं के सामान्य स्वभाव की व्याख्या करना था, केवल फ्रांस की संस्थाओं का अध्ययन करना नहीं। विषयवस्तु की दृष्टि से मोंतेस्क्यू का ग्रन्थ इतना व्यापक था कि उसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन की लगभग सभी संस्थाएँ समाविष्ट थीं। उसमें लेखक ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि भौगोलिक परिस्थितियों, जातीय (नस्लगत) विशेषताओं, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक रूढ़ियों तथा सरकारी संस्थाओं का राजनीतिक

और नागरिक स्वतन्त्रता से क्या सम्बन्ध होता है। उसने विभिन्न देशों और युगों की वास्तविक संस्थाओं के अध्ययन के आधार पर राजनीति और विधि के एक तुलनात्मक सिद्धान्त की रचना करने का प्रयत्न किया; उसी प्रकार विधान (विधि-निर्माण) के एक ऐसे तुलनात्मक सिद्धान्त की खोज की जो कि विभिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। ग्रन्थ का सबसे महत्वपूर्ण अंश वह था जिसमें मोंतेस्क्यू ने स्वतन्त्रता का विवेचन किया और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये शक्तियों के पृथकत्व का मूल्य समझाया।

विधि के सम्बन्ध में उस समय दो प्रमुख धारणाएँ प्रचलित थीं, पहली यह कि विधि प्रकृति में विद्यमान है और विवेक द्वारा उसको खोज निकाला जा सकता है, और दूसरी यह कि प्रभु का निश्चित समावेश ही विधि है। इन दोनों को ही मोंतेस्क्यू ने अस्वीकार किया, और विधि की धारणा को इतना व्यापक रूप दिया कि कारण-कार्य के सामान्य सम्बन्ध को उसके अतन्र्गत समाविष्ट कर लिया। उसका विश्वास था कि संस्थाओं और विधान के स्वभाव को निर्धारित करने में कुछ सिद्धान्त निरन्तर कार्य करते रहते हैं। राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों से सार्वराष्ट्रीय विधि का प्रादुर्भाव होता है। नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध व्यावहारिक विधि को जन्म देते हैं। सार्वराष्ट्रीय राजनीतिक और व्यावहारिक विधि हर राज्य में पृथक-पृथक होती है और उसकी अपनी विशिष्ट परिस्थितियों पर निर्भर होती है। सरकार के उसी रूप को और विवि की उसी व्यवस्था को स्वाभाविक मानना चाहिए जो जनता के जीवन की परिस्थितियों और उसके चरित्र को निर्माण करनेवाले तत्वों के अनुरूप हो। इन तत्वों अथवा प्रभावों को ही मोंतेस्क्यू ने "विधि की आत्मा" का नाम दिया, और इनका विवेचन करते समय उसने शुद्ध राजनीति के अतिरिक्त भूगोल, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और विधिशास्त्र का भी ध्यान रक्खा।

मोंतेस्क्यू ने सरकार के सभी रूपों में निहित सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया। सरकारों को उसने तीन वर्गों में विभक्त किया—निरंकुशतंत्रीय जिसमें एक व्यक्ति बिना विधि के शासन करता है, राजतंत्रीय जिसमें एक व्यक्ति विधि के अनुसार शासन चलाता है और गणतंत्रीय जिसके अंतर्गत राजनीतिक शक्ति सम्पूर्ण जनता के हाथों में होती है। गणतंत्रीय सरकारों के पुनः दो रूप हो सकते हैं, अभिजाततंत्र और लोकतंत्र। उसका विश्वास था कि सरकार के प्रत्येक रूप का एक विशिष्ट सिद्धान्त से सम्बन्ध होता है। निरंकुशतंत्र का आधार भय है; राजतंत्रीय सरकारें सम्मान पर आधारित होती हैं; अभिजाततंत्रीय संयताचार पर और लोकतंत्रीय राजनीतिक गुण (चेतना) अथवा देशभक्ति पर। मोंतेस्क्यू ने प्रत्येक प्रणाली में निहित दोषों का भी विवेचन किया, और बतलाया कि किस प्रणाली के लिये कौन सी संस्थाएं और कानून उपयुक्त हो सकते हैं। उसने अनेक महत्वपूर्ण प्रशासकीय युक्तियों और राजनीतिक सिद्धान्तों का विशिष्ट प्रणालियों और विशिष्ट परिस्थितियों के प्रसंग में विवेचन किया।

मोंतेस्क्यू का कहना था कि सरकार का कोई रूप स्वयं अच्छा अथवा बुरा नहीं होता; उसका महत्व सापेक्ष होता है। जब इस भावना में परिवर्तन हो जाता है जिस पर कोई प्रणाली आधारित होती है तो क्रान्ति अनिवार्य हो जाती है। राजनीतिक चेतना (देशभक्ति) और समानता की भावना के अभाव में लोकतंत्र का चलना असम्भव हो जाता है। शासक वर्ग के आचरण में संयम के न रहने पर अभिजाततंत्र नहीं टिक सकता। शासकों के सम्मान की भावना से शून्य हो जाने पर राजतंत्र का कायम रहना असम्भव है। निरंकुशतंत्र तो अपने स्वभाव से ही अस्थिर होता है। किन्तु क्रान्तियों का कोई नियमित क्रम नहीं होता; नया रूप प्रत्येक क्रान्ति की विशिष्ट परिस्थितियाँ पर निर्भर रहता है।

राज्यक्षेत्र के विस्तार को मोंतेस्क्यू ने विशेष महत्व किया। उसका कहना था निरंकुशतन्त्र विस्तीर्ण राज्यों के लिये स्वाभाविक होता है; राजतन्त्र मध्यम आकार के राज्यों के लिये; और गणतन्त्र छोटे राज्यों के लिये। उसका विचार था कि फ्रांस गणतंत्रीय प्रणाली की दृष्टि से बहुत बड़ा है। राज्य के आकार में परिवर्तन हो जाने पर शासन-प्रणाली का बदलना भी स्वाभाविक हो जाता है। चूँकि आकार की वृद्धि से अवांछनीय प्रकार की शासन-प्रणाली का उदय होता है, इसलिये मोंतेस्क्यू ने मैकियावेली के प्रसार के सिद्धान्त का विरोध किया। छोटे गणतन्त्रीय राज्य को सुरक्षा की कठिनाई होती है, इसको ध्यान में रखते हुए मोंतेस्क्यू ने संघ-सिद्धान्त का समर्थन किया। उसके इन दो सिद्धान्तों का—राज्य के आकार तथा उसकी शासन-प्रणाली के बीच सम्बन्ध, और संघ का सिद्धान्त—अमेरिका के उन राजनीतिज्ञों पर विशेष प्रभाव पड़ा जिन्होंने स्वाधीनता संग्राम के बाद संघ का निर्माण किया।

स्वतन्त्रता का स्वभाव एक ऐसा विषय था जिसकी ओर मोंतेस्क्यू ने विशेष ध्यान दिया। इस सम्बन्ध में उसने लॉक से अनेक विचार ग्रहण किये। किन्तु उनका भिन्न दिशा में विकास किया और प्राकृतिक अधिकारों अथवा व्यक्तिवाद पर कम बल दिया। उसने राजनीतिक स्वतंत्रता और नागरिक स्वतन्त्रता को एक दूसरे से पृथक माना। राजनीतिक स्वतंत्रता का आधार मनुष्य तथा राज्य के बीच सम्बन्ध है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति को विधि का संरक्षण प्राप्त हो जिससे वह विधि के अंतर्गत अपनी इच्छानुसार आचरण कर सके। यह निरंकुशतंत्र के विपरीत होती है। नागरिक स्वतंत्रता मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न होती है। यह दासता के विपरीत है और प्राकृतिक विधि से इस का अधिक निकट का सम्बन्ध है। मोंतेस्क्यू ने दासता का समर्थन करनेवाले प्रचलित सिद्धान्तों का खंडन किया और बड़े आवेश के साथ दास-प्रथा पर आक्रमण किया।

मोंतेस्क्यू की मुख्य दिलचस्पी एक ऐसी शासन-व्यवस्था के ढूँढ़ निकालने में थी जिसके अन्तर्गत राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा हो सके। इसके लिये

था कि व्यक्ति के स्वेच्छाचार से रक्षा की जाय, और यह तभी हो सकता था जबकि शासन विधि का हो; किसी मनुष्य की इच्छा का नहीं। मोंतेस्क्यू का विश्वास था कि स्वतंत्रता वहीं सम्भव हो सकती है जहाँ कि सरकार की शक्तियाँ सीमित होती हैं। अत्याचार से बचाव का और स्वतंत्रता की गारंटी का यही एक उपाय है कि कार्यपालक, विधायी और न्यायिक शक्तियों को पृथक-पृथक रक्खा जाय। हर शक्ति का प्रयोग सरकार का एक पृथक अंग करे और नियंत्रण तथा सन्तुलन की व्यवस्था की स्थापना की जाय। कार्यपालक तथा विधायी शक्तियों का पृथक्करण विशेषकर अति आवश्यक है आपराधिक विधि तथा प्रक्रिया को उन दोषों से मुक्त रक्खा जाय जिनसे कि अन्याय की सम्भावना होती है। मोंतेस्क्यू समझता था कि इंगलैंड का संविधान भी शक्तियों के पृथक्करण पर आधारित है, किन्तु उसकी यह धारणा गलत थी, क्योंकि मंत्रिमंडलीय प्रणाली के उदय से सरकार के हाथ में कार्यपालक तथा विधायी, दोनों ही प्रकार की शक्तियाँ केन्द्रित होने लग गई थी ; फिर भी पृथक्करण के सिद्धान्त का अमेरिका पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसका संघ तथा राज्यों, दोनों के ही संविधानों में प्रयोग किया गया, और कई राज्यों के अधिकार अधिनियमों में उसको समाविष्ट कर लिया गया। फ्रांस की क्रांतिकारी सभा द्वारा जारी की गई घोषणा में भी इस सिद्धान्त को स्थान दिया गया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है बोदँ की भाँति मोंतेस्क्यू का भी विश्वास था कि भौगोलिक परिस्थितियों का राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव पड़ता है। अपने ग्रन्थ में इस चीज़ की ओर उसने पर्याप्त ध्यान दिया, विशेषकर जलवायु तथा भूमि के उर्वरापन पर। उसका कहना था कि राजनीतिक स्वतंत्रता ठंडे देशों के लिये स्वाभाविक होती है; और दासता गर्म देशों के लिये। पर्वतीय प्रदेश स्वतंत्रता के लिये अनुकूल होते हैं ; उर्वर मैदान अत्याचारी शासन के लिये। एशिया के विशाल भूखंडों में निरंकुशतंत्र को प्रोत्साहन मिलता है; यूरोप के छोटे देशों में स्वतंत्रता का पोषण होता है। महाद्वीपीय जनता के मुकाबिले में द्वीपों के निवासियों की लोकतंत्र की ओर अधिक प्रवृत्ति होती है।

मोंतेस्क्यू का विश्वास था कि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों का विधि पर प्रभाव पड़ता है, अतः उसका सुझाव था कि विधि प्रचलित मान्यताओं और रूढ़ियों के अनुरूप होनी चाहिये। उसने जनसंख्या, दरिद्रों की सहायता, मुद्रा, वाणिज्य आदि के प्रश्नों का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन किया और इतिहास तथा अपने समय की परिस्थितियों से उदाहरण देकर समझाया। हैरिंगटन की भाँति मोंतेस्क्यू की भी धारणा थी कि राजनीतिक शक्ति सम्पत्ति का अनुगमन करती है। अत्यधिक विकसित व्यापार राजतंत्रों के अनुकूल नहीं होता; स्वतंत्र शासन के अन्तर्गत एकाधिकार प्राप्त कम्पनियों को नहीं पनपने देना चाहिए। वह फिजियोक्रेटों के इस मत से सहमत था कि प्रतियोगिता तथा वैयक्तिक उद्योग का आर्थिक विकास में विशेष महत्व है।

यद्यपि मोंतेस्क्यू की ईसाई धर्म में आस्था थी, किन्तु धर्म तथा राजनीति के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में उसका दृष्टिकोण मैकियावेली के सदृश्य था। उसका मत था कि इस्लाम निरंकुश शासन के अनुकूल पड़ता है, और ईसाईमत सीमित शासन के; कैथोलिक धर्म राजतंत्र के अनुरूप है और प्रोटेक्टेंट धर्म गणतंत्र के। उसने धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन किया, और कहा कि नैतिकता और धार्मिक समस्याओं का नियमन राज्य के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आता।

मोंतेस्क्यू ने अरस्तू, मैकियावेली और बोदें की ऐतिहासिक तथा उद्गमन पद्धति का अनुसरण किया; और उनकी भाँति उसकी व्यावहारिक राजनीति में रुचि थी, न कि राज्य की उत्पत्ति और स्वभाव के सिद्धान्तों में। उसने इतिहास तथा निरीक्षण के क्षेत्र को अधिक विस्तार दिया और उसके अन्तर्गत प्राक्ऐतिहासिक और असभ्य जातियों को भी सम्मिलित कर लिया। उसने चीन, जापान, अफ्रीका और दक्षिणी समुद्र के द्वीपों की संस्थाओं की जानकारी के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले; किन्तु न तो उसकी जानकारी ही पूर्णरूप से सही थी और न सब निष्कर्ष ही सत्य थे। उसने राजनीति को सामान्य सामाजिक विज्ञान में विलीन करने और राजनीतिक सिद्धान्तों को व्यापक उद्गमनात्मक सामान्य कारणों पर आधारित करने का जो प्रयत्न किया वह तत्कालीन राजनीतिदर्शन की मुख्य धारा के बाहर था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त के राजनीतिक आन्दोलन लॉक के प्राकृतिक अधिकारों, सामाजिक संविदा और क्रान्ति के सिद्धान्तों के उस विकसित रूप पर आधारित थे जिनकी अभिव्यक्ति रूसो की रचनाओं में हुई।

रूसो

जॉ ज़क रूसो (१७१२-१७७८) की रचनाओं[४] की दो मुख्य विशेषताएँ थीं। एक तो उनमें तत्कालीन फ्रांस की परिस्थितियों का सर्वाधिक सही प्रतिबिम्ब मिलता है, और दूसरे उनका उद्देश्य उस युग के सामाजिक और राजनीतिक अन्याय को दूर करना था। जिस समय इंगलैंड में ह्यूम सामाजिक संविदा के सिद्धान्त की जड़ें खोद रहा था, उसी समय रूसो ने उस सिद्धान्त का प्रयोग राज्य विषयक एक ऐसे दृष्टिकोण का पोषण करने के लिये किया जो कि हॉब्स के निरंकुशवाद और लॉक के संयत संविधान-वाद दोनों से भिन्न था। उसका ग्रन्थ हॉब्स के ग्रन्थ से कहीं अधिक आग्रहपूर्ण और लॉक की रचना से अधिक लोकप्रिय था; और अशुद्धियों तथा असंगतियों से भरा पड़ा था, फिर

४. *Contract Social* (1762) trans. by H. J. Tozer. उसके दो अन्य निबन्ध थे *Discourse on the Progress of Arts & Sciences* (1749) और *Discourse on Inequality* (1759) इनमें उसने प्रकृति की अवस्था के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्तकिये और सभ्यता से उत्पन्न दोषों का निरूपण किया। उसका अन्य ग्रन्थ **Emir** (1762) है, इसका सम्बन्ध शिक्षा से है, किन्तु इसमें भी उसके कुछ राज-नीतिक विचार मिलते हैं।

भी उसका उस युग पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। रूसो का इतिहास से तथा अपने पूर्णगामी राजनीतिक दार्शनिकों की रचनाओं से ऊपरी परिचय था। यूनान तथा रोम के गण-राज्यों का वह प्रशंसक था। उसका बाल्यकाल जिनेवा में बीता था, जहाँ की व्यवस्था फ्रांस से एकदम भिन्न थी। वहीं के प्रभाव का कारण था कि उसे छोटे राज्यों और और प्रत्यक्ष गणतंत्र से विशेष प्रेम था। अपने अनेक विचारों के लिये वह पूफेंडोर्फ, लॉक और मोतेस्क्यू का ऋणी था। उसका लोक-प्रभुत्व का सिद्धान्त कई बातों में अल्थूसियस के सिद्धान्त से मिलता-जुलता है; किन्तु यह कठिन है कि उस पर अल्थूसियस का कितना प्रभाव था, क्योंकि नाम से उसने उन्हीं लेखकों का उल्लेख किया है जिनसे वह असहमत था, जिनके विचारों को ग्रहण किया उनका नहीं। हॉब्स तथा ग्रोशस के सिद्धातों से उसे विशेष घृणा थी।

उसके विचारों पर उसके व्यक्तित्व की तथा उन परिस्थितियों की जिनमें उसका पालन-पोषण हुआ था, स्पष्ट छाप थी। पालन-पोषण तो वास्तव में उसका हुआ ही नहीं था। उसकी माता प्रसव में हो कर गई थी; और जब वह ११ वर्ष का था तभी उसके पिता ने उसे त्याग दिया। अतः उसे अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ा, और वह आवारा की भाँति मारा-मारा फिरा। फलस्वरूप उसके स्वभाव में अहंकार एवं भावुता का प्राधान्य और संयम का अभाव था जिसके कारण उसने सभी प्रकार की सामाजिक रूढ़ियों और बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह किया और तथा सभ्यता की आलोचना की। तत्कालीन फ्रांस की दशा सच-मुच निन्दनीय थी। दैवी अधिकार पर आधारित राजतंत्र, सामन्ती वर्ग-भेद और उच्छृंखल सामाजिक जीवन से देश की स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। किन्तु रूसो को प्रबुद्ध राजतंत्र के समर्थक वोल्तेयर, विश्वकोष के रचियताओं और फिज़ियोक्रेटों के नरम सुधारवादी विचारों से सहानुभूति नहीं थी, और न मोंतेस्क्यू के, जो इंगलैंड के संविधानिक नियंत्रणों और सन्तुलन को अपनाने के पक्ष में था, विचार ही उसे पसन्द थे। रूसो की इच्छा थी कि किसानों, श्रमिकों और मध्यवर्ग सभी को समान अधिकार मिलने चाहिए। उसने बुद्धिजीवियों के इस विश्वास का खंडन किया कि ज्ञान के प्रसार से उन्नति होगी। उसे मनुष्य की कला और विज्ञान सम्बन्धी उपलब्धियों पर आधारित कृत्रिम सभ्यता में आस्था नहीं थी। वह प्रत्यक्ष लोकतंत्र तथा समता की स्थापना करना और सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का आमूल पुनर्निर्माण करना चाहता था। इसीलिये उसके आदर्शों ने क्रान्ति को जन्म दिया।

रूसो के सिद्धान्तों का आधार यह धारणा थी कि राज्य की उत्पत्ति से पहले मनुष्य प्रकृति की अवस्था में रहते थे, सब लोग समान, स्वावलम्बी और सन्तुष्ट थे। उनके आचरण का आधार बुद्धि नहीं, स्वार्थ और दया की भावनाएँ थीं। सभ्यता की उन्नति से बुराइयाँ उत्पन्न हुईं। शिल्पों के विकास और निजी सम्पत्ति के उदय ने श्रम-विभाजन को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप धनिकों और दरिद्रों के बीच भेद उत्पन्न

हुआ, और मानव जाति की आनन्दमय प्राकृतिक अवस्था छिन्न-भिन्न होगई और समाज की स्थापना की आवश्यकता हुई। रूसो को प्रकृति की अवस्था की ऐतिहासिकता में हॉब्स और लॉक से अधिक विश्वास था। उनसे उसका एक और मतभेद था—उसने बुद्धि को कम महत्व दिया। ग्रोशस, हॉब्स, पूर्फेंडोर्फ और लॉक का मत था कि बुद्धि के कारण ही प्राकृतिक मानव सामाजिक और राजनीतिक संगठन की रचना करने में सफल हुआ। रूसो का विचार था कि संगठित समाज के कृत्रिम जीवन से बुद्धि और विवेक की उत्पत्ति और वृद्धि हुई है, और उनके विकास के परिणाम बड़े ही घातक हुए हैं। "श्रेष्ठ बर्बर" रूसो का आदर्श था। उसकी निगाह में राज्य एक बुराई थी और मनुष्यों की पारस्परिक असमानताओं के उदय से उसका निर्माण आवश्यक हो गया था।

राजनीतिक समाज की रचना एक सामाजिक संविदा के आधार पर हुई, क्योंकि सम्मति और समझौते से ही सत्ता को उचित ठहराया जासकता है। रूसो के सिद्धान्त के इस अंश पर हॉब्स तथा लॉक दोनों का प्रभाव था; इसमें हॉब्स की पद्धति और लॉक के निष्कर्षों का विचित्र समन्वय देखने को मिलता है। रूसो का कथन था कि प्रत्येक व्यक्ति ने अपने सम्पूर्ण प्राकृतिक अधिकार समग्र समाज को अर्पित कर दिये। इस प्रकार एक ऐसे राजनीतिक समाज को रचना हुई जिसका अपना जीवन और अपनी इच्छा थी। किन्तु इससे व्यक्ति को हानि नहीं हुई। चूँकि समग्र समाज के प्रभुत्व में प्रत्येक व्यक्ति का समान और अलंघनीय साझा था, इसलिये जो अधिकार उसने त्याग दिये थे वे उसे राज्य के संरक्षण में वापस मिल गये। समाज-रचना की इस प्रक्रिया का सारांश रूसो ने निम्न शब्द में व्यक्त किया है।

एक ऐसे समुदाय का निर्माण करना जो प्रत्येक सदस्य के जीवन और सम्पत्ति की सम्पूर्ण समाज की शक्ति द्वारा रक्षा कर सके और जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अन्य सब लोगों के साथ मिलने पर भी केवल अपनी ही आज्ञा का पालन करे और पूर्ववत् स्वतंत्र बना रहे। यह मूल समस्या है जिसका हल सामाजिक संविदा है। संक्षेप में, जब हर आदमी अपने को सबके अर्पण कर देता है, तो वास्तव में कोई अपने को किसी के अपर्ण नहीं करता; और जब कोई ऐसा सदस्य नहीं है जिसके ऊपर हमें वे ही अधिकार नहीं मिल जाते जो हमने अपने ऊपर उसको वे रक्खे हैं तो हमने जो अधिकार त्यागे हैं, उनके बराबर ही अधिकार हमें बदले में मिल जाते हैं और अपने पास जो कुछ है उसकी रक्षा करने लिये हमें पहले से अधिक शक्ति मिल जाती है।[६]

इस प्रकार जिस सत्ता की स्थापना हुई वह निरंकुश थी, और फिर भी व्यक्ति समान अधिकारों का उपभोग करते रहे। पहली बात हॉब्स के और दूसरी लॉक के

६. *Social Contract*, chap. 6.

सिद्धान्तों के अनुकूल थी। इस चीज को समझना कठिन है। किन्तु रूसो का विश्वास था कि सत्ता को सम्पूर्ण समाज में निहित करने और व्यक्तियों की स्वतंत्रता इन दो चीजों में कोई विरोध नहीं हो सकता।

रूसो के अनुसार सामाजिक संविदा के फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा सामान्य इच्छा में विलीन हो जाती है। सामान्य इच्छा समाज के सब सदस्यों के समवर्ती हितों के अनुरूप होती है, विशिष्ट व्यक्तियों के हितों के अनुरूप नहीं। सामान्य इच्छा का पता लगाने का तरीका यह है कि प्रत्येक व्यक्ति से पूछ लिया जाय कि सामान्य हित की दृष्टि से वह किसी चीज को अच्छा समझता है और फिर बहुसंख्यकों की जो राय हो उसे स्वीकार कर लिया जाय। रूसो मानता था कि बहुसंख्यकों की राय भी गलत हो सकती है, किन्तु उसका कहना था कि सामान्य इच्छा को पहिचानने में बहुसंख्यक लोग अन्य किसी भी समूह से कम भूल करेंगे, क्योंकि सामूहिक हित में उनको जो रुचि होती है उसे सरलता से भ्रष्ट नहीं किया जा सकता।

रूसो का यह भी विश्वास था कि बहुसंख्यकों की राय से असहमत होनेवाले व्यक्तियों को भी उस राय का अनुसरण करने से लाभ होगा। अल्पसंख्यक लोग अपनी इच्छानुसार आचरण करने पर उतने स्वतंत्र नहीं होंगे जितने कि उस स्थिति में जबकि उनकी राय बहुसंख्यकों द्वारा रद हो जाय, क्योंकि अपनी इच्छानुसार चलने का अर्थ होगा कि वे अपने संकीर्ण स्वार्थों से चिपटे हुए हैं और उन स्वार्थों को भूल से सामान्य इच्छा मान बैठे हैं। बहुसंख्यकों के मत को स्वीकार करने का अर्थ है अपने व्यापक हितों का अनुसरण करना।

सामान्य इच्छा के कार्य ही वास्तविक अर्थ में विधि हैं। अतः आवश्यक है कि विधि सामान्य जनता से व्युत्पन्न हो और समाज के सामान्य हितों से ही उसका सम्बन्ध हो। जब सरकार का कोई अंग अधिनियम बनाता है तो उसका तो अर्थ यह होता है कि वह वास्तविक विधि-निर्माण करनेवाले निकाय के उच्च समादेशों को व्यावहारिक रूप देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो का विधि सम्बन्धी विचार आधुनिक मूलविधि अथवा संविधान की, जिसके अनुसार सभी सरकारी शक्तियों का प्रयोग किया जाता है, धारणा के बहुत निकट है।

रूसो ने राज्य तथा सरकार के भेद को भी स्पष्ट किया। उसके अनुसार सम्पूर्ण राजनीतिक समाज ही राज्य है, जिसकी सर्वोच्च और प्रभुत्वसम्पन्न सामान्य इच्छा के रूप में अभिव्यक्ति होती है; सरकार उन व्यक्तियों का समूह है जिन्हें समाज द्वारा सामान्य इच्छा को क्रियान्वित करने के लिये चुन लिया जाता है। सरकार की रचना संविदा द्वारा नहीं होती; उसका निर्माण करना प्रभुत्वसम्पन्न जनता का काम है। जनता अपनी

इच्छानुसार उसे बदल सकती है, और वह जनता की अभिकर्ता (एजेंट) मात्र होती है। रूसो प्रभुत्वसम्पन्न जनता के अलोप्य अधिकारों के विषय में इतना आश्वस्त था कि वह सरकार को वे शक्तियाँ देने को तैयार था जिनका दिया जाना लॉक और मोन्तेस्क्यू तक खतरनाक समझते थे। कार्यपालिका को समाज की इच्छा का अभिकर्ता मानकर रूसो ने अधिनायकतंत्र का भी समर्थन कर डाला। आगे चलकर जब फ्रांस में **लोक सुरक्षा समिति** का शासन स्थापित हुआ तो इसी विचार के अनुसार कार्य किया गया।

रूसो ने सरकारों को चार वर्गों में विभक्त किया, राजतंत्रीय, अभिजाततंत्रीय, लोकतंत्रीय और मिश्रित; और सरकार के रूप का आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के साथ साम्य स्थापित करने के सम्बन्ध में उसने मोंतेस्क्यू के अनेक विचारों को अपना लिया। उस समय के प्रचलित आर्थिक सिद्धातों का अनुसरण करते हुए उसने जनसंख्या की वृद्धि को अच्छी सरकार की कसौटी माना। इस बात को मानते हुए कि विधि-निर्माण के सम्बन्ध में प्रभुत्वसम्पन्न जनता को स्वयं प्रत्यक्ष रूप से कार्य करना चाहिए, रूसो ने प्रत्यक्ष लोकतंत्र का समर्थन किया और कहा कि प्रतिनिधि सभाएँ राजनीतिक पतन का चिन्ह होती हैं। उसने देखा कि सरकारों की लोक-नियंत्रण से बचने और अपनी शक्तियों का प्रसार करने की प्रवृत्ति होती है। अतः उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि छोटे राज्यों में और सरल जीवन के बीच ही सामान्य इच्छा अपनी सर्वोच्चता को स्थाई रूप से कायम रख सकती है। बड़े तथा जटिल राज्यों में सरकार द्वारा शक्ति के अपहरण को रोकने के लिये रूसो का सुझाव था कि प्रभुत्वसम्पन्न जनता की समय-समय पर सभाएँ हुआ करें जिनमें वह इस बात का निर्णय करे कि विद्यमान शासन प्रणाली को कायम रक्खा जाय अथवा नहीं और पदारूढ़ अधिकारियों को आसीन रहने दिया जाय अथवा अपदस्थ कर दिया जाय। उसका यह भी कहना था कि जब जनता प्रभुत्वसम्पन्न सभा के रूप में एकत्र होती है तो उस समय सरकार का क्षेत्राधिकार समाप्त हो जाता है। इस प्रकार रूसो के विचारों में हमें इस सिद्धान्त का पूर्वाभास मिलता है कि संविधान के संशोधन के हेतु और अधिकारियों को पदासीन रखने के लिये समय-समय पर जनता का मत ले लिया जाया करे। इस विचार को कि प्रत्येक पीढ़ी के लोगों को अपने संविधान की पुनः परीक्षा करने का अधिकार होना चाहिए, जैफर्सन ने अपनाया; और अमेरिका के अनेक राज्यों ने अपने-अपने संविधानों में निश्चित अवधि के उपरान्त संविधान सभाओं को बुलाने के सिद्धान्त को स्थान दिया।

रूसो तथा लोकतांत्रिक संस्थाएँ

रूसो की मृत्यु के बाद के काल में सरकारों में जो परिवर्तन हुए उनमें हमें उसके विचारों और भावनाओं की झलक मिलती है। उसके मानव समता और लोक-प्रभुत्व के सिद्धान्त तथा प्राकृतिक जीवन की ओर पुनः लौटने के विचार विशेष रूप से लोकप्रिय हुए। फ्रांसीसी क्रान्ति के दौरान में जो राजनीतिक प्रयोग हुए उनमें उसके

अनेक सिद्धान्तों को लागू किया गया, और १७८९ की **मानव अधिकारों की घोषणा** में उनकी अभिव्यक्ति हुई। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि वैयक्तिक अधिकारों के अधिनियम का विचार अमेरिका में उत्पन्न हुआ था, रूसो उसका जन्मदाता नहीं था। उसके इस सिद्धान्त से कि संविदा के समय व्यक्ति ने अपने सम्पूर्ण प्राकृतिक अधिकार सामान्य इच्छा के अर्पण कर दिये, एक ऐसे लोकप्रभु की स्थापना हुई जो हॉब्स के प्रभु की भाँति ही निरंकुश था। प्रभुत्वसम्पन्न जनता के मुकाबिले में व्यक्ति को रूसो ने कोई अधिकार नहीं दिये। फिर भी उसने स्वतंत्रता, समानता और लोकप्रभुत्व पर जो बल दिया उसी के प्रभाव से फ्रांस की जनता ने अमेरिका के अधिकारों की घोषणा के विचार का इतने उत्साह के साथ स्वागत किया।

रूसो की मृत्यु के बाद के दशक में फ्रांस के लोग अमरीकी राज्यों की, जिन्होंने इंगलैंड से लड़कर अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर ली थी, संस्थाओं में विशेष दिलचस्पी लेने लगे। उन्हें ऐसा लगा कि रूसो ने अपने **सामाजिक संविदा** में प्रभुत्व तथा लोक-निर्मित मूल विधि (संविधान) के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था वे अमरीकी राज्यों की सरकारों के रूप में सरकार हो गये हैं। इन नये राज्यों के संविधानों में आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण था, और उनमें तथा उनके अन्तर्गत स्थापित सरकारों में भेद यह था कि सैद्धान्तिक दृष्टि से, उनकी (संविधानों की) व्युत्पत्ति जनता से हुई थी और सरकारों के मुकाबिले में उनकी सत्ता अधिक ऊँची थी। अतः उनसे रूसो के विधि सम्बन्धी विचारों की पूर्ति होती थी। इस संयोग का, जिसका कारण यह था कि रूसो तथा अमरीकियों, दोनों ने ही अपने विचार १७वीं शताब्दी के इंगलैंड के सिद्धान्तों और व्यवहार से ग्रहण किये थे, फ्रांस की क्रान्ति के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ा।

रूसो तथा जर्मन विचारवाद

जर्मनी में रूसो का शक्तिशाली प्रभाव पड़ा, किन्तु विरोधी दिशा में। जर्मनी के विचारवादी सम्प्रदाय को रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा ने अधिक प्रभावित किया। कांट ने लिखा है कि रूसो के **एमिल** के अध्ययन से ही मैं अपने दर्शन के आधारभूत निष्कर्षों पर पहुँचा था। रूसो जर्मनी के उन सिद्धान्तों से, जिनका उसके नाम के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाता है, कभी सहमत न होता, किन्तु उसके विचारों में दो असंगतियाँ थी जिनके कारण उनकी वह व्याख्या सम्भव हो सकी जो परवर्ती जर्मन दार्शनिकों ने की।

जर्मनी के दार्शनिकों ने रूसो की सामान्य इच्छा की धारणा को अपने "जनता की इच्छा" सम्बन्धी सिद्धान्तों का आधार बनाया। थोड़े से परिवर्तन के साथ इसने जनता की "वास्तविक" इच्छा का रूप लेलिया, और अन्त में यह निष्कर्ष निकाल लिया गया कि जनता की वास्तविक इच्छा उसकी उस इच्छा के विरुद्ध होती है जिसे वह

भ्रमवश अपनी इच्छा समझ बैठती है। और फिर राज्य की ऐतिहासिक इच्छा ही जनता की वास्तविक इच्छा मान ली गई, और वैयक्तिक मतभेद के लिये कोई गुंजाइश ही नहीं थी।

रूसो के विचारों का दूसरा पहलू और भी अधिक दुर्बल था, जिसका कि उल्टा अर्थ लगाया जा सकता था। एक बात में उसने दिदरो तथा अपने अन्य समसामयिकों से एक दम मुख मोड़ लिया था। दिदरो के लिये बुद्धि ही सब कुछ थी। किन्तु रूसो को बुद्धि पर विश्वास नहीं था और उसे वह अपने युग की कृत्रिमता समझता था। उसका कहना था कि बुद्धि की अपेक्षा मनुष्य के मूल संवेगों का विश्वास करना अधिक उपयुक्त है। जनता के राजनीतिक जीवन को संचालित करने के तीन तरीके हो सकते हैं। पहला, बल प्रयोग द्वारा उससे काम करवाना; दूसरा, तर्क द्वारा समझाकर; और तीसरा, उसके संवेगों को उत्तेजित करके। पहला तरीका अन्यायपूर्ण है और इसलिये उसकी सफलता असम्भव है। दूसरे की सफलता में इसलिये सन्देह है कि उससे कृत्रिमता को प्रोत्साहन मिलता है और जनता के हृदय को स्पर्श करना कठिन होता है। अन्त में तीसरा तरीका ही बच रहता है। अतः करुणा आदि मूल संवेगों को जागृत करना और उन्हें लोक-कल्याण का आधार बनाना ही सबसे अच्छा तरीका है। रूसो के इन्हीं विचारों से १९वीं शताब्दी के रोमांटिसिज्म का श्रीगणेश हुआ। इसके अतिरिक्त इसका सहारा लेकर ह्यूम के युक्तिसंगत तर्कों का खंडन करना भी सरल था। जर्मन दार्शनिकों ने ह्यूम द्वारा बतलाई गई बुद्धि के स्थान पर एक नई बुद्धि को प्रतिष्ठित किया। इस बुद्धि को उन्होंने बुद्धि का एक उच्चतर रूप माना और बतलाया कि जगत में ईश्वरीय विकास का जो क्रम चल रहा है उसकी तह में भी यही बुद्धि कार्य करती है। मूल्यों और मान्यताओं की व्यवस्थाओं को या तो उचित ठहराया जाय अथवा पूर्णतया त्याग दिया जाय। ह्यूम ने स्वीकृत मान्यताओं पर जो प्रहार किया था यदि उसको मान लिया जाता तो उसका अर्थ यह होता कि ऐसी कोई मान्यताएँ नहीं हो सकतीं जो अन्य मान्यताओं से अच्छी अथवा बुरी कही जा सकें। और उसका यह भी निष्कर्ष निकलता कि किसी प्रकार की भी सत्ता को उचित नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि सत्ता तभी टिक सकती है जबकि सम्यकता का एक अन्तिम मापदंड हो। ह्यूम की बुद्धि के मुकाबिले में एक उच्चतर बुद्धि की प्रतिष्ठा करके जर्मन दार्शनिकों ने सत्तावाद को बचा लिया; किन्तु ऐसा करने में वे फासीवाद और साम्यवाद की ओर एक कदम और आगे बढ़ गये। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना महत्वपूर्ण होगा कि फासीवाद और साम्यवाद दोनों का आधार सत्तावाद और सम्पूर्णवाद का योग है। उनमें आधार भूत अन्तर केवल इतना है कि फासीवादियों ने अपना काम बनाने के लिये जनता के संवेगों को उभाड़ना ही सबसे अच्छा तरीका माना है, जैसा कि रूसो का सुझाव था, जबकि साम्यवादियों ने अपने सत्तावाद का गलत-गलत आर्थिक सिद्धांतों के साथ संयोग किया है।

हॉब्स, लॉक तथा रूसो

हॉब्स, लॉक और रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संविदा के सिद्धान्तों में महत्वपूर्ण भेद थे। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक मानव स्वभावतः स्वार्थी था, और प्रकृति की अवस्था निरन्तर संघर्ष की अवस्था थी। रूसो की दृष्टि में प्राकृतिक मनुष्य स्वभाव से अच्छा था और प्रकृति की अवस्था शुद्ध आनन्द की अवस्था थी। इस सम्बन्ध में लॉक ने बीच का मार्ग अपनाया। हॉब्स और रूसो ने प्रभुत्व को निरंकुश माना, इसके विपरीत लॉक की दृष्टि में प्रभुत्व सीमित था। हॉब्स का कथन था कि प्रभुत्व एक व्यक्ति, थोड़े से व्यक्तियों अथवा अनेक व्यक्तियों में निहित किया जा सकता है, किन्तु जब जनता एक बार किसी को प्रभुत्व सौंप देती है तो फिर उसे वापिस नहीं ले सकती। रूसो का सिद्धान्त था प्रभुत्व सदैव सम्पूर्ण जनता में ही निहित होना चाहिए, और विधि जनता की सामान्य इच्छा की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होनी चाहिए। हॉब्स ने राज्य और सरकार को एक दूसरे से भिन्न नहीं माना। उसकी निगाह में वास्तविक सरकार ही वैध सरकार थी। लॉक और रूसो ने राज्य और सरकार के भेद को और वास्तविक तथा वैध सरकारों के अन्तर को भी स्वीकार किया। हॉब्स का विश्वास था कि सरकार में परिवर्तन होने से राज्य ही छिन्न-भिन्न हो जाता है और पुनः अराजकता फैल जाती है; लॉक का मत था जनता को अपनी सरकार को चुनने और असन्तोषजनक सिद्ध होने पर उसे बदलने का अधिकार है। रूसो का कहना था कि सरकार केवल अभिकर्ता (एजेंट) है, जो लोकेच्छा को क्रियान्वित करती है। लॉक और रूसो इस बात में एकमत थे कि प्रभुत्व जनता में निहित हो और सरकार की शक्तियाँ सीमित हों। किंतु लॉक का दृष्टिकोण यह था कि जनता का प्रभुत्व संरक्षित रहता है और अतिसंकट की अवस्था में ही जब कि क्रान्ति की आवश्यकता होती है, उसका प्रयोग किया जाता है। सरकार के सभी काम तब तक वैध हैं, जब तक कि उनसे जनता के अधिकारों का अतिक्रमण नहीं होता। इसके विपरीत रूसो मानता था कि जनता का प्रभुत्व निरंतर सक्रिया रहता है, और विधि-रचना के कार्य में जनता का प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना परमावश्यक है।

रूसो के बाद भी सामाजिक संविदा के सिद्धांत का राजनीतिक महत्व कायम रहा। अमेरिका में इस सिद्धांत का गहरा प्रभाव पड़ा। **स्वतंत्रता की घोषणा** में तथा राज्यों के संविधानों में समाविष्ट अधिकार अधिनियमों के रूप में उसको स्वीकार किया गया। जैफर्सन तथा मेडीसन की रचनाओं में इस सिद्धांत को अत्यधिक विकसित रूप में व्यक्त किया गया है। राजनीतिक चिंतन के इतिहास में यह एक विचित्र विरोधाभास है कि जो सिद्धांत ऐतिहासिक दृष्टि से गलत और तर्क की दृष्टि से असंगतियों से भरा हुआ था उसने इंगलैंड की १६८८ की क्रान्ति, फ्रांस की क्रांति और अमरीका की क्रांति को औचित्य प्रदान किया और आधुनिक लोकतंत्र तथा नागरिक स्वतंत्रता के लिये दार्शनिक आधार का काम दिया।

पठनीय ग्रन्थ

Babbbit, Irving, *Rousseau and Romanticism* (Boston, Houghton, 1919).

Bosanquet, Bernard, *The Philosophical Theory of the State* (London, Macmillan, 1920.)

Cattelain, Fernand, *Etude sur l'influence de Montesquieu dans les constitutions americaines* (Besancon, Imprimerie Millot freres, 1927)

Cobban, Alfred, "New Light on the Political Theory of Rousseau", *Political Science Quarterly,* Vol. 66 (June, 1951)

—*Rousseau and the Modern State* (London, G. Allen, 1934)

Derathe', Robert, *Jean-Jacques Rousseau et la Science politique de son temps* (Paris, Univ. of Paris Press, 1950)

—*Le Rationlalisme J-J. Rousseau* (Paris, Univ. of Paris Press, 1948)

Fletcher F. T. H., *Montesquieu and English Politics* (1750-1800) (London, E. Arnold & Co., 1939).

Gough, J. W., *The Social Contract* (Oxford, Clarendon Press, 1936).

Leroy, Maxime, *Histoire desidees sociales en France : de Montesquieu a Rob espierre* (Paris, Gallimard, 1946).

Sabine, G. H., *A History of Political Theory,* rev. ed (New York, Holt 1950), Chaps. 27–28.

Spink, J. S., *Jean-Jacques Rousseau et Geneve* (Paris, Boivin, 1934).

Watkins, Frederick, *The Political Tradition of the West* (Cambridge, Harvard Univ. Press, 1948) Chap. 4.

———

भाग ५

आधुनिक उदारवादी राजनीतिक चिन्तन

अध्याय १७

आर्थिक विकास तथा राजनीतिक चिन्तन

हमारी इस शताब्दी के राजनीतिक चिन्तन पर तीन परस्पर विरोधी विचार-धाराओं का आधिपत्य रहा है। उदारवाद, फासीवाद[1] और साम्यवाद। उन तीनों पर रूसो[2] का ऋण है, जिसने जान कर अथवा अनजाने सत्तावाद के विकास में भी उतना ही योग दिया जितना कि उदारवाद को वृद्धि में। अतः रूसो की चर्चा करने के उपरान्त यहाँ पहले उदारवाद की समीक्षा करना सुविधाजनक होगा, और फिर अगले अध्यायों में फासीवाद तथा साम्यवाद का विवेचन किया जायगा।

आर्थिक चिन्तन का राजनोतिक चिन्तन पर प्रभाव

आर्थिक सिद्धांत तथा व्यवहार का उदारवादी राजनीतिक संस्थाओं के विकास में महत्वपूर्ण योग रहा है। सच तो यह है कि राजनीतिदर्शन के प्रारम्भ से ही योग्यतम विचारकों ने यह स्वीकार किया है कि आर्थिक संस्थाओं और विचारों का राजनीतिक संस्थाओं और विचारों में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अरस्तू जानता था कि राजनीति को आर्थिक जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता। राज्य का स्वरूप धन के वितरण पर निर्भर रहता है और क्रान्तियाँ प्रायः आर्थिक वर्गों के बीच शक्ति के लिये चलनेवाले संघर्षों के कारण हुआ करती हैं। उसका विश्वास था कि राज्य के शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिये एक बहुसंख्यक मध्यवर्ग का होना आवश्यक है; खेतिहर जनता स्थिर, पुरातनप्रेमी और परिश्रमी होती है, जबकि व्यापारी वर्ग उपद्रवी होता है और सरलता से बकवासी नेताओं के चक्कर में आजाता है। मैकियावेली भी आर्थिक समुदायों के महत्व को समझता था, और उसने बतलाया था कि राजा को एक वर्ग को दूसरे से किस प्रकार लड़ाना चाहिए। हैरिंगटन का कहना था कि राजनीतिक शक्ति सम्पत्ति का अनुगमन किया करती है, अतः राजनीतिज्ञ का कर्त्तव्य है कि सम्पत्ति के वितरण को अधिक से अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न करे और राज्य की स्थिरता को कायम रखने के लिये एक शक्तिशाली भू-स्वामी वर्ग का पोषण करे। लॉक का मत था कि सम्पत्ति का संरक्षण ही राज्य की उत्पत्ति का मुख्य कारण था और वही राज्य के अस्तित्व का

---

१. यहाँ फासीवाद के अन्तर्गत हिटलर तथा मुसोलिनी दोनों के ही विचार सम्मिलित हैं।

२. साम्यवाद पर रूसो का प्रभाव उतना प्रत्यक्ष और महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उदारवाद और फासीवाद पर।

मुख्य ध्येय है; और यदि सरकार सम्पत्ति के अधिकार का अतिक्रमण करे तो विद्रोह का झंडा उठाना उचित हो जाता है।

आर्थिक समता के साम्यवादी विचारों का सम्बन्ध प्रारम्भिक ईसाइयत के सिद्धांतों और मध्ययुग के किसान विद्रोहों से था। इन आन्दोलनों के नेता अपने परवर्ती सहधर्मियों के मुकाबिले में अधिक उग्र थे, और उन्होंने अपने सुधारों में राजनीतिक समता की अपेक्षा सम्पत्ति की समानता पर अधिक जोर दिया। दूसरी ओर दासता और सम्पत्ति की असमानता को उचित ठहराने के लिये तर्क दिये गये, यद्यपि ये दोनों चीजें प्राकृतिक विधि के सिद्धान्तों के प्रतिकूल थीं। सिद्धांत तथा व्यवहार दोनों में ही आर्थिक व्यवस्था को राजनीति का आधार स्वीकार किया गया था। शताब्दियों तक बड़े-बड़े राष्ट्रों की सरकारों को पृथक-पृथक वर्गों—पादरी, सामन्त, व्यापारी, किसान—के आधार पर संगठित किया गया था।

वाणिज्यवाद

किन्तु सोलहवीं शताब्दी से पहले आर्थिक और राजनीतक सिद्धांतों के बीच सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण नहीं था। उस शताब्दी में आधुनिक राष्ट्रों का उदय हुआ, आर्थिक जीवन में मुद्रा का महत्व बढ़ा, करारोपण का प्रचलन हुआ और वैदेशिक व्यापार की वृद्धि हुई। मध्य युग में आर्थिक व्यवस्था बहुत कुछ घरेलू ढंग की थी, और उसका राजनोतिक महत्व नहीं था। कृषि की उन्नति की ओर लोग अधिक ध्यान देते थे और वाणिज्य से घृणा करते थे। संरक्षण तथा नियंत्रण का विचार सार्वभौम था। चर्च, नगर और श्रेणियाँ जिस एकाधिकार का उपभोग करतीं उसका विरोध करनेवाला कोई नहीं था। नये देशों की खोज के उपरांत वाणिज्य की विशेषरूप से वृद्धि हुई और बाजार सोने तथा चाँदी से पटने लगे। फलस्वरूप लोग खेती तथा अदला-बदली की अपेक्षा वैदेशिक व्यापार की ओर अधिक ध्यान देने लगे और सोने-चाँदी का महत्व बढ़ गया। लोगों की धारणा थी कि स्पेन की समृद्धि का मुख्य कारण अमेरिका से इन बहुमूल्य धातुओं की प्राप्ति है। मध्ययुगीन संस्थाओं के हाथों में जो नियंत्रण था उसे अब राष्ट्रीय राज्यतंत्रों ने अपने हाथों में ले लिया और अपनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में उस नियंत्रण का प्रयोग करने लगे। राजकीय सम्पत्ति और परमाधिकारों से प्राप्त धन से सरकार के दिन प्रति दिन बढ़ते हुए खर्च की पूर्ति न हो सकी। स्थाई सेनाओं के लिये धन की आवश्यकता थी; अतः व्यापारी वर्ग जिसकी सम्पत्ति की वृद्धि हो रही थी, राज्य में प्रभावशाली हो गया। उपनिवेशों की स्थापना से यह समस्या उठ खड़ी हुई कि मातृदेश के साथ उनके आर्थिक सम्बन्ध किस प्रकार के हों। इस विषय में सामान्य नीति थी: औपनिवेशिक व्यापार को मातृदेश तक ही सीमित रखना, और उपनिवेशों को केवल ऐसा कच्चा माल उत्पन्न करने देना जिसे मातृदेश पक्के माल में परिवर्तित करके बेच सके। व्यापारिक स्वार्थों को ध्यान में रख

कर ही वैदेशिक नीति का संचालन किया जाता था, और इस बात को सभी स्वीकार करते थे कि सरकार को उद्योग तथा व्यापार की उन्नति में सक्रिय योग देना चाहिये। यह भी सामान्य विश्वास था कि एक देश अपनी व्यापारिक उन्नति दूसरे देशों को हानि पहुँचा कर ही कर सकता है। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में इंगलैंड तथा हालैंड के बीच और आगे चल कर फ्रांस तथा इंगलैंड के बीच जो संघर्ष हुए उनके पीछे इन्हीं विचारों की प्रेरणा थी।

इन परिस्थितियों ने उस दृष्टिकोण को जन्म दिया जो वाणिज्यवाद के नाम से विख्यात है, और जो उस काल की उग्र राष्ट्रीयता का आर्थिक पहलू था। राष्ट्रीय समृद्धि के लिये कृषि की अपेक्षा निर्मित उत्पाद को अधिक आवश्यक माना जाता था; और इसी प्रकार आंतरिक व्यापार की अपेक्षा वैदेशिक व्यापार को अधिक महत्व दिया जाता था। सभी को अनुकूल व्यापरान्तर की चाह रहती थी क्योंकि उससे देश में द्रव्य आता था। लोग समझते थे कि देश में बहुमूल्य धातुओं के विशाल भंडार का होना बहुत महत्वपूर्ण है, घनी जनसंख्या राष्ट्र की शक्ति का स्रोत है, और राज्य का यह कर्तव्य है कि हर उपाय से देश के धन-जन की वृद्धि करे। प्रशुल्कों, अभ्युपकारों और प्रतिषेधों की भरमार थी। शास (चार्टर) दिये जाते थे; एकाधिकार स्थापित किये जाते और संसार के विभिन्न प्रदेश विशेषाधिकृत कम्पनियों में वितरित कर दिये जाते थे। उपनिवेशों को मातृदेश अपनी सम्पदा समझते और अपने व्यापारियों के स्वार्थ के लिये उनका शोषण किया करते थे। सोलहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं के उत्तरार्ध तक यही दृष्टिकोण प्रभावशाली रहा। प्रारम्भिक काल में सोना-चाँदी का अधिक महत्व था। बाद में अनुकूल व्यापारान्तर को अधिक महत्व दिया जाने लगा। अर्थशास्त्र राजनीति का अंग बन गया, और वाणिज्यवाद बड़े राष्ट्रों के अभ्युत्थान का एक साधन होगया। उसका उद्देश्य था शक्तिशाली, घने बसे हुए और स्वावलम्बी राज्यों का निर्माण करना।

वाणिज्यवादी नीति को सबसे पहले स्पेन के चार्ल्स पंचम ने व्यावहारिक रूप दिया। १५१६ में जब वह सिंहासन पर बैठा तो उसने वेनिस के व्यापारिक एकाधिकार को समाप्त करने के लिये प्रतिकारात्मक कार्यवाही की। वाणिज्यवाद के सिद्धांतों का व्यवस्थित ढंग से निरूपण सबसे पहले इटली के लेखक सेरा ने किया।[3] इंगलैंड में विलियम पैटी[4] ने सोना, चाँदी तथा मणियों के भंडार के महत्व पर बल दिया, सांख्यिकीय अनुसंधानों को आवश्यक बतलाया और करारोपण के बेहतर तरीकों और प्राकृतिक

३. देखिये उसकी रचना *Brief Treatise on the Causes which made Gold & Silver Abound in Kingdoms where there are no mines* (1613).

४. देखिये उसकी रचनाएँ *Essays in Political Arithmetic* (1655) और *Teatises on Taxes and Contributions* (1662).

साधनों के वैज्ञानिक विकास के संबंध में सुझाव दिये। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालक टॉमस मन[5] ने वैदेशिक व्यापार तथा अनुकूल व्यापारान्तर को महत्व दिया किन्तु इस सिद्धान्त का खंडन किया कि केवल द्रव्य ही सम्पत्ति है। हालैंड के उत्थान और स्पेन के पतन के उदाहरण देकर उसने अपने मत को पुष्ट किया। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में उसकी रचनाओं का पुनर्मुद्रण हुआ और जब तक एडम स्मिथ की **वेल्थ आव नेशन्स** प्रकाशित नहीं हुई तब तक लेखक उसको प्रामाणिक मानते रहे।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इंगलैंड में वाणिज्यवादी सिद्धान्तों का प्रभाव रहा। ह्विग दल के लोगों को, जो फ्रांस के प्रभाव से घृणा करते और उस देश के साथ व्यापार को सीमित रखना चाहते थे, यह सिद्धांत विशेषकर पसन्द था। टोरीगण चार्ल्स द्वितीय की फ्रांस के साथ घनिष्ठ संबंध बनाये रखने की नीति का समर्थन करते थे, अतः वे संसद की संरक्षी कार्रवाइयों का विरोध करते थे। डडले नॉर्थ तथा जोशिया चाइल्ड[6][7] ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया कि व्यापारिक दृष्टि से संसार एक इकाई है, और वस्तुओं का मूल्य तथा ब्याज की दर माँग तथा पूर्ति के आधार पर निर्धारित होनी चाहिए न कि राजकीय नियमन के द्वारा। इन लोगों की रचनाओं में अगली शताब्दी के अहस्तक्षेप तथा मुक्त व्यापार के सिद्धान्तों का पूर्वाभास मिलता है।

वाणिज्यवाद की निर्बन्धक नीति का सर्वाधिक उग्र रूप हमें फ्रांस के जाँ कोलबेयर (१६१९-१६८३) के कार्यों में देखने को मिलता है। वह लुई चौदहवें का योग्य वित्तमंत्री था। उसके समय में सरकार ने उद्योग तथा व्यापार पर असीम तथा निरंकुश क्षेत्राधिकार का प्रयोग किया। कोलवेयर ने संरक्षी शुल्कावलि द्वारा फ्रांस के उद्योगों का परिवर्धन किया, करारोपण की व्यवस्था में सुधार किया, एक नौसेना की रचना की और एक विशाल फ्रांसीसी औपनिवेशिक साम्राज्य के निर्माण का प्रयत्न किया। उसी की प्रेरणा से १६६४ में फ्रेंच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई। इंगलैंड में अन्न कानून, नौपरिवहन अधिनियम तथा इसी प्रकार के अन्य कानून इस काल की विशेषता थे। प्रुशिया में **महान निर्वाचक** तथा फ्रेडरिख महान के शासन-काल में कृषि तथा उद्योग के परिवर्धन और वैदेशिक व्यापार के नियंत्रण के लिये अनेक उपाय किये गये और उन्हें व्यापक रूप से कार्यान्वित भी किया गया।

जर्मन राज्यों में वाणिज्यवादी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति **कामेरवाद**[8] नाम की विचारधारा के रूप में हुई। इसमें राजनीतिक, विधिक, प्रौद्योकीरोय और आर्थिक विचारों

५. अपनी रचना *Englands Treasure by Foreign Trade.*
६. देखिये उसकी *Discourses on Trade* (1691).
७. देखिये उसकी *New Discoveries in Trade* 1690).
८. कामेर (Kammer) उस स्थान को कहते थे जहाँ राजकीय आय संग्रहीत की जाती थी।

का संयोग था और इसका मुख्य उद्देश्य उन पद्धतियों की खोज करना था जिनसे राजकीय आय का समुचित रूप से परिवर्धन और प्रशासन हो सके। जर्मन राज्यों में परस्पर फूट थी और औद्योगिक दृष्टि से वे पिछड़े हुए थे, अतः वे एक मध्ययुगीन वित्त-व्यवस्था से लिपटे रहे। निरंकुश राजा की निजी आय और सार्वजनिक कोष में कोई भेद नहीं समझा जाता था। राज्य की आय के दो मुख्य साधन थे—राजकीय भूसंपदा तथा राजा को प्राप्त लाभकारी परमाधिकार। जब सरकारी व्यय में वृद्धि हुई और आय बढ़ाने की आवश्यकता पड़ी तो राजकीय परमाधिकारों के क्षेत्र को विस्तृत करने की नीति को अपनाया गया।

तदनुकूल **कामेरवादियों** ने वैदेशिक व्यापार और अनुकूल व्यापारान्तर की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना कि हॉलैंड, इंगलैंड और फ्रांस आदि समुदीय देशों के वाणिज्यवादियों ने दिया। जर्मन लेखकों ने घरेलू उद्योगों, राष्ट्रीय साधनों के परिवर्धन और राजा की सम्पदा तथा परमाधिकारों की सुव्यवस्था और प्रबन्ध को ही अधिक महत्व दिया। किन्तु कुछ चीजों में वे वाणिज्यवादियों से सहमत थे। उदाहरण के लिये वे भी मानते थे कि आर्थिक मामलों पर सरकार का कठोर नियंत्रण होना चाहिए, उन्होंने भी बहुमूल्य धातुओं के महत्व पर बल दिया, और घनी आबादी, आर्थिक स्वावलम्ब तथा राष्ट्रीय महत्ता का उपदेश किया। अँग्रेज वाणिज्यवादी व्यापारी थे और पुस्तिकाएँ लिखा करते थे, इसके विपरीत जर्मन **कामेरवादी** वित्त-विधान[९] के आचार्य थे, और उन्होंने उस विषय पर मोटे-मोटे और सुव्यवस्थित ग्रंथों की रचना की। इन लेखकों में बैकर्स[१०] फोन होर्निग[११] युस्ती[१२] और दारीस सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं।

फिजियोक्रेट सम्प्रदाय

यद्यपि वाणिज्यवाद का अठारहवीं शताब्दी तक प्रचार रहा किंतु लॉक तथा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का समर्थन करनेवाले लेखकों की रचनाओं में उसके पतन का पूर्वाभास मिलने लगा। पित्रतंत्रीय सरकार के विनिमय और प्रतिबन्ध तेजी से बढ़ते हुए मध्यवर्ग को इतने खलने लगे कि उनसे मुक्ति पाने के लिये लोगों ने प्राकृतिक विधि के सिद्धांतों का सहारा लिया। इस सिद्धांत के आधार पर इस विचार का समर्थन किया गया कि व्यक्ति के आर्थिक कार्य-कलाप में राज्य को कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए। कहा गया कि यदि एकाधिकारी विशेषाधिकार न रहें और उद्योग तथा व्यापार पर से

९. फ्रेडरिख विलियम प्रथम ने १७२७ में अनेक जर्मन विश्वविद्यालयों में अर्थशास्त्र तथा **कामेरवादी** विज्ञानों के विभागों की स्थापना की।
10. *Political Discourse* (1667).
11. *Oesterreich uber Alles* (1684).
12. *Staatswirthschaft* (1755).
13. *First Principles of Kammeral Science* (1756).

नियंत्रण हटा लिया जाय तो लोग विवेकमूलक स्वार्थ-भावना से प्रेरित होकर प्रतियोगिता करेंगे और इससे व्यक्ति तथा समाज दोनों का ही कल्याण होगा। यह दृष्टिकोण वाणिज्यवाद का उलटा था। इसका प्रतिपादन और विकास फ्रांस में फिजियोक्रेटों तथा इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति के काल के उन लेखकों ने किया जिनका केन्द्र एडम स्मिथ था।

फ्रांस में कोलवेयर की व्यवस्था के खिलाफ शीघ्र ही प्रतिक्रिया हुई। उसकी अपव्ययता तथा असमान और भारी करों से लोग विशेषकर तँग आ गये थे। किसानों की स्थिति बहुत बिगड़ गई थी। अतः लेखकों ने सरकार की बाज़ार को सीमित रखने और कृषि की उपेक्षा करके निर्माण को प्रोत्साहन देने की नीति का खंडन किया। उधर इंगलैंड की कृषि कान्ति से सिद्ध हो चुका था कि अधिक पूँजी लगाकर और फसलों की अदला-बदली करके बड़े पैमाने पर खेती करने से लाभ होता है। जब फ्रांस के अर्थशास्त्रियों को यह बात मालूम हुई तो वाणिज्यवाद की प्रतिष्ठा और भी घट गई और फ्रांसीसी विचारक, कृषि की ओर अधिक ध्यान देने लगे। व्आगिल्बेयर वोबाँ और फैनलों ने कर व्यवस्था में सुधार, व्यापार की स्वतंत्रता और भूमि के संवर्धन के सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिये। रिचार्ड कैंटीलों ने बतलाया कि भूमि ही सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्रोत है और वैदेशिक व्यापार को अपेक्षा घरेलू व्यापार अधिक महत्वपूर्ण है। उसके ग्रंथ[14] का फ्रांस में व्यापाक प्रचार हुआ। इन सब लेखकों ने फिजियोक्रेट्स के लिये मार्ग तैयार कर दिया।

फिजियोक्रेटों पर प्राकृतिक विधि की धारणा का गहरा प्रभाव था। राज्य का उद्योग तथा व्यापार से क्या सम्बन्ध होना चाहिए? इस विषय में उन्होंने प्राकृतिक व्यवस्था की धारणा को ही अपनाया। उन पर उस काल में हुए प्राकृतिक विज्ञानों की प्रगति का तथा देकार्ते, लॉक और रूसो के विचारों का भी प्रभाव था। इसलिये उन्होंने सिखाया कि वस्तुओं का उत्पादन तथा वितरण प्रकृति के निश्चित नियमों के अनुसार होना चाहिए, राजकोय नियंत्रण द्वारा उनमें हस्तक्षेप करना ठीक नहीं है। उन्होंने व्यक्ति तथा उसके अधिकारों, विशेषकर सम्पत्ति के अधिकार, पर बल दिया; और कहा कि व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति के व्यापन के सम्बन्ध में पर्याप्त, स्वतंत्रता होनी चाहिए। उनकी "प्राकृतिक व्यवस्था" में आस्था थी, और विश्वास था कि प्राकृतिक व्यवस्था पूर्ण है और उसके कानून ईश्वरीय हैं और इसके विपरीत 'मानवीय व्यवस्था' के कानून मानवकृत और अपूर्ण हैं। राज्य को चाहिये कि जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति की रक्षा करे। चूँकि व्यक्ति अपने हित को भली-भाँति पहिचानता है, अतः वह राज्य की अपेक्षा प्राकृतिक विधि के अनुसार अधिक आचरण करेगा। इसलिये फ़िजियो-क्रेटों का आधार सूत्र था कि व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ दो।

14. *The Essay upon the Nature of Commerce in General* (1755).

फिज़ियोक्रेट्स का विश्वास था कि भूमि सम्पत्ति का स्रोत है, और केवल उसी श्रम से अतिरेक (सरप्लस) उत्पन्न होता है जो फसल उगाने और भूमि से कच्चा माल निकालने में व्यय किया जाता है। वाणिज्य तथा निर्माण से वास्तव में कुछ उत्पादित नहीं होता। अपने इस सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने सिखाया कि भूमि में अधिकाधिक पूँजी लगाई जाय, फ्रांस में अन्न के व्यापार पर से आंतरिक शुल्क हटा लिये जायँ और भूमि पर एकल कर लगाया जाय। करारोपण के सिद्धांत का विवेचन करते हुए उन्होंने विद्यमान पेचीदा तथा अपव्ययतापूर्ण कर व्यवस्था की आलोचना की और इस प्रकार फ्रांस की सरकार की आर्थिक नीति के प्रति लोगों में जो असन्तोष था उसको और भी अधिक भड़काया।

जहाँ तक राजनीतिक सिद्धांत का सम्बन्ध था फिज़ियोक्रेटों ने पित्रागत राजतंत्र का समर्थन किया, किंतु उनका कहना था कि राजा प्रबुद्ध तथा उदार विचारों का होना चाहिए। उन्हें मताधिकार के प्रश्नों में दिलचस्पी नहीं थी, और इंगलैंड की संसदीय प्रणाली से उनको घृणा थी। उनका निरंकुश तथा अविभक्त प्रभुत्व में विश्वास था, किंतु वे राजा को विधिकर्ता नहीं बल्कि नैतिकता तथा न्याय के प्राकृतिक नियमों का प्रशासक मात्र मानते थे। उनका कहना था कि राज्य का काम प्राकृतिक सामाजिक व्यवस्था के तात्विक नियमों की घोषणा करना है। राज्य के कानूनों का यही अर्थ है। राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करने के लिये है। इन अधिकारों में सम्पत्ति धारण करने का अधिकार प्रथम है। परिश्रम करने का अधिकार और परिश्रम से से उत्पादित सम्पत्ति का अधिकार इसी के अन्तर्गत आ जाता है। अतः राज्य को चाहिए कि व्यक्तियों की सम्पत्ति पर कम से कम प्रतिबंध लगाए, और वे अपनी शक्तियों का विकास करने के लिये जो भी प्रयत्न करें उनमें कम से कम हस्तक्षेप करे अनावश्यक कानूनों को रद करना सबसे बड़ी सेवा है जो कि कोई विधाई निकाय कर सकता है। किंतु शिक्षा देना राज्य का एक उचित कर्तव्य है, क्योंकि यह आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक प्राकृतिक विधि के मूल सिद्धान्तों से भली-भांति परिचित हो। इस प्रकार फिज़ियोक्रेटों ने सम्पत्ति तथा स्वतंत्रता के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत का एक नये दृष्टिकोण से समर्थन किया, अर्थात् उत्पादन तथा सम्पत्ति के उपभोग के अधिकार के आधार पर। जहाँ तक वैदेशिक सम्बन्धों का प्रश्न था फिज़ियोक्रेटों ने उन्मुक्त व्यापार, शान्ति तथा अंतर्राष्ट्रीयवाद का पक्ष लिया। वे अपने युग की आक्रामक देशभक्ति और अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता को अनावश्यक मानते थे।

फिजियोक्रेटों में फ्रांस्वा केनाइ (१६९४-१७७४), जाँ द गूर्नाई (१७१२-१७५६) मर्सिये द ला रिवियेर (१७२०-१७६३), ज़ाक तुर्गो (१७२७-१७८१) और ड्यूपों द नमूर मुख्य थे। ये पहले लेखक थे जिन्होंने एक एकीकृत समाज विज्ञान की धारणा को हृदयंगम किया। उनका तर्क था कि सभी सामाजिक घटनाएँ कुछ

अपरिहार्य नियमों द्वारा परस्पर सम्बद्ध रहती हैं। उन्होंने अर्थ विज्ञान की नींव डाली, और यद्यपि उन्होंने निर्माण तथा वाणिज्य की उपेक्षा करके भूमि के महत्त्व पर एकांगी बल दिया, फिर भी उन्होंने वह मार्ग तैयार कर दिया जिसका आगे चलकर एडम स्मिथ तथा अगली शताब्दी के लेखकों ने अनुसरण किया। किन्तु फ्रांसीसी क्रांति के आरम्भ हो जाने से फ्रांस में सम्पूर्ण चिन्तन सांविधानिक समस्याओं के अधीन हो गया, अतः आर्थिक-राजनीतिक सिद्धान्तों के विकास के क्षेत्र में नेतत्व इंगलैंड के हाथों में चला गया।

फिजियोक्रेटों के विचारों का फ्रांस के बाहर भी कुछ प्रभाव पड़ा, यद्यपि औद्योगिक क्रान्ति के कारण उनके भूमि तथा पूँजी संबंधी विचारों का टिक सकना कठिन होगया विशेषकर इंगलैंड में। अमेरिका में बेंजकिन फ्रैंकलिन और टॉमस जैफर्सन ने उनके कुछ विचारों को अंगीकार किया। रूस की कैथराइन द्वितीय, आस्ट्रिया के जोज़फ द्वितीय और स्वीडन के गुस्टावुस तृतीय ने फिजियोक्रेटों के सिद्धान्तों की प्रशंसा की और उनमें से कुछ को क्रियान्वित करने का भी प्रयत्न किया। फ्रांस में लुई १६वें के वित्त मंत्री तुर्गो ने कुछ असह्य प्रतिबन्धों को हटाने की चेष्टा की, किन्तु सामन्तों और पादरियों की शत्रुता के कारण व्यापक सुधार न हो सका।

एडम स्मिथ

इंगलैंड में अठारहवीं शताब्दी महत्वपूर्ण आर्थिक परिवर्तनों का काल थी। उन परिवर्तनों के फलस्वरूप राष्ट्रीय सम्पत्ति में भारी वृद्धि हुई, और साथ ही साथ जनता के एक बड़े वर्ग को भयंकर विपदाओं का सामना करना पड़ा। रुई तथा ऊन कातने की मशीनों का आविष्कार हुआ, शक्ति के लिये वाष्प इंजनों का प्रयोग होने लगा, लकड़ी तथा लकड़ी के कोयले के स्थान पर पत्थर का कोयला काम में आने लगा, लोहे के उद्योग में सुधार हुआ जिसके परिणामस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी की घरेलू दस्तकारियों के स्थान पर बड़े-बड़े कल कारखानों की स्थापना हुई। कृषि में भी पहले से अच्छी पद्धतियाँ अपनाई जाने लगीं। जलमग्न भूमि को सुखा कर कृषि के योग्य बनाया गया, कम उपजाऊ भूमि को खाद द्वारा सुधारा गया, पशुओं की नस्ल में सुधार किया गया और नये पौधे लगाये गये। चरागाहों की भूमि की सीमाबन्दी करने के लिये आन्दोलन चला जिससे बड़े पैमाने पर खेती होने लगी। नहरों तथा सड़कों के निर्माण से परिवहन सस्ता और द्रुततर हो गया। फलतः छोटे-छोटे किसानों और घरेलू उद्योगों में काम करनेवाले मजदूरों को अपना-अपना काम छोड़ना पड़ा और भाग कर उन नगरों में शरण लेनी पड़ी जो कारखानों के केन्द्रों पर तेजी से बनने लगे थे। खेत बड़े-बड़े जमींदारों के अधिकार में थे और कल-कारखाने बड़े-बड़े पूँजीपतियों के कब्जे में। वैदेशिक व्यापार और नौपरिवहन में तेजी से वृद्धि हुई। मशीनों के प्रयोग से अनेक लोग बेकार हो गये, और कारखानों तथा नगरों में काम की परिस्थितियाँ और

रहन-सहन की व्यवस्था इतनी शोचनीय हो गई कि उसका वर्णन करना कठिन है। गरीबी तथा अपराध तेजी से बढ़ने लगे ।

यह औद्योगिक क्रांति उस समय हुई जब कि सत्रहवीं शताब्दी के वाणिज्यवादी विचार त्यागे जा रहे थे और अहस्तक्षेप के सिद्धांत के अनुसार मालिकों तथा मजदूरों के आपसी मामलों के निबटाने के लिये पूर्ण स्वतंत्रता दी जा रही थी। आर्थिक परि-वर्तनों ने वाणिज्यवादी सिद्धांतों के प्रभाव को और भी भारी क्षति पहुँचाई, क्योंकि पुरानी व्यवस्था में जिन नियंत्रणों की भरमार थी वे नई व्यवस्था के अनुकूल नहीं थे। उनको हटाने की आवश्यकता हुई, और अनेक लोग तो यह विश्वास करने लगे कि सरकार को उद्योग-धंधों में तनिक भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इंगलैंड को एक ओर तो अपने बढ़ते हुए औद्योगिक नगरों के लिये सस्ते भोजन और कच्चे माल की आवश्यकता थी, और दूसरी ओर वहाँ माल सस्ता बनता था इसलिये विदेशों से व्यापारिक प्रतियोगिता में उसे लाभ था। यही कारण था कि इंगलैंड में अबाध व्यापार का विचार उत्पन्न हुआ, क्योंकि इस प्रकार वहाँ के लोगों को आवश्यक सामग्री सस्ती मिल सकती थी और वे संसार भर के बाजारों में अपना माल सबसे सस्ता बेच सकते थे।

इंगलैंड में सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नॉर्थ तथा चाइल्ड आदि लेखकों ने वाणिज्यवादी सिद्धांतों का खंडन किया। अठारहवीं शताब्दी में वालपोल ने सौ से भी अधिक वस्तुओं पर आयात तथा निर्यात शुल्क घटा दिया, किन्तु उसने **नौपरिवहन अधिनियम** नहीं हटाए। जार्ज तृतीय ने पित्रतंत्री शासनप्रणाली स्थापित करने की चेष्टा की, परन्तु उसके इन प्रयत्नों का उपनिवेशों में ही विरोध नहीं हुआ, अपितु बहुत से अँग्रेज जो अबाध प्रतियोगिता और अबाध व्यापार के लाभों को समझने लगे थे, उसके विरोधी बन गये। इसके अतिरिक्त फ्रांस की भाँति इंगलैंड में भी राजनीतिदर्शन का प्राकृतिक अधिकारों और वैयक्तिक स्वतंत्रता पर जोर था, और आर्थिक उदारवाद के रूप में इन विचारों का क्रियान्वित होना अनिवार्य था। अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड में आर्थिक विषयों पर अनेक ग्रंथ एवं पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुईं। किंतु उनमें आर्थिक-राजनीतिक चिंतन के विकास में युग परिवर्तन करने वाला ग्रन्थ एडम स्मिथ[१५] (१७२३-१७९०) का था।

स्मिथ ने अपने सिद्धांतों का निर्माण बहुत कुछ अपने पूर्वगामियों के विचारों के आधार पर किया। उसके विचारों में कुछ ऐसे सिद्धांतों की परिणति हुई जो उसके समय

१५. *The Wealth of Nations* (1776)। इसके अतिरिक्त उसके *Lectures on Justice Police, Revenue and Arms* भी अवलोकनीय हैं।

में सामान्य रूप से प्रचलित थे और जिन्होंने सिखाया था कि राजकीय नियंत्रण और औद्योगिक प्रगति परस्पर विरोधी चीजें हैं। वह वाणिज्यवादियों, सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों के लेखकों और फिजियोक्रेटों की रचनाओं से परिचित था। उसके गुरु ग्लास्गो के फ्रांसिस हचिसन का, जिसने "प्राकृतिक विधिशास्त्र" पर व्याख्यान दिये थे, उस पर गहरा प्रभाव पड़ा था। पूफेंडोर्फ, ग्रोशस और लॉक के विचार भी स्मिथ को अपने गुरु के द्वारा ही मिले थे। फ्रांस की यात्रा के दौरान में स्मिथ दिदरो, केनाई और तुर्गो से मिला, और तुर्गो से करारोपण तथा वैदेशिक व्यापार के सम्बन्ध में अनेक बार चर्चा की। अपने समकालीन विचारकों, जोशिया टकर और एडम फर्गुसन, से उसने राजनीतिक, नैतिक और आर्थिक विचार ग्रहण किये। विशेषकर उनसे यह सीखा कि व्यक्ति को अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर दिया जाय, और वैदेशिक व्यापार पर किसी प्रकार का नियंत्रण न लगाया जाय। स्मिथ के सामान्य दर्शन पर ह्यूम का प्रभाव सबसे अधिक था। उसके मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों, उसकी ऐतिहासिक भावना और उसकी सामाजिक शक्तियों के अंतस्सम्बन्ध की धारणा का स्मिथ के लिए विशेष महत्व था। ह्यूम ने वाणिज्यवादियों के इस सिद्धांत का भी खंडन किया कि राष्ट्रीय समृद्धि के लिये द्रव्य का ही सबसे अधिक महत्व है, और वैदेशिक व्यापार पर राज्य का कठोर नियंत्रण होना चाहिए। उसका विश्वास था कि पड़ोसी देशों की व्यापारिक समृद्धि से इंगलैंड के व्यापार को भी लाभ होगा।

स्मिथ ने ग्लास्गो में जो व्याख्यान दिये उनमें उसने प्राकृतिक धर्मविद्या, नीतिशास्त्र और विधिशास्त्र के अतिरिक्त उन राजनीतिक विनियमों का भी विवेचन किया जो न्याय के सिद्धांत पर नहीं बल्कि लाभ के सिद्धांत पर आधारित होते हैं और जिनका उद्देश्य राज्य की सम्पत्ति तथा शक्ति की वृद्धि करना होता है। इनके अतिरिक्त उसने वाणिज्य, वित्त तथा धार्मिक और सैनिक संस्थाओं से सम्बद्ध राजनीतिक संस्थाओं को सम्मिलित किया। एडम स्मिथ की आधारभूत धारणाएँ ये थीं : स्वार्थ सामाजिक जीवन, का मूल प्रेरक तत्व है, मनुष्यों को प्रकृति ने कुछ अधिकार दिये हैं, पृथ्वी का शासन एक दयालु ईश्वर के हाथों में है, और उद्योग तथा वाणिज्य के क्षेत्र में सरकार का न्यूनतम हस्तक्षेप होना चाहिए। फिजियोक्रेटों के सिद्धांत के विपरीत उसका विचार था कि सम्पत्ति का स्रोत श्रम है, भूमि नहीं। किंतु इस बात में वह फिजियोक्रेटों से सहमत था कि यदि कृत्रिम मानवीय बंधन हटा दिए जायें तो एक समरूप प्राकृतिक व्यवस्था की अपने आप स्थापना हो जायगी। उसका दृष्टिकोण फिजियोक्रेटों की तुलना में अधिक व्यावहारिक तथा उपयोगितावादी था, इसलिये वह उपयोगी तथा इष्टकर चीजों को भी उचित मानता था चाहे वे प्राकृतिक विधि के विरुद्ध ही क्यों न हों। इस प्रकार उसने प्रकृति, दर्शन तथा सामान्य बुद्धिपरक उपयोगिता का समन्वय किया। स्मिथ पर मोंतेस्क्यू का भी प्रभाव था, और मोंतेस्क्यू ने वातावरण को महत्व देने के

साथ-साथ यह भी बतलाया था कि जो भी वास्तविक स्थिति होती है वह ठीक ही होती है। इन विचारों के प्रभाव के कारण स्मिथ की ईश्वर द्वारा स्थापित प्राकृतिक व्यवस्था की धारणा में थोड़ी सी उलझन उत्पन्न हो गई। उसका यह दृष्टिकोण तो आशावादी था कि कृत्रिम हस्तक्षेप के अभाव में मनुष्य स्वार्थ से प्रेरित होकर काम करेंगे और इस प्रकार एक ऐसी प्राकृतिक व्यवस्था का उदय होगा जो व्यक्ति तथा राज्य दोनों के ही लिये अधिकाधिक कल्याणकारी होगी। किंतु उसका यह सिद्धांत निराशावादी था कि विभिन्न वर्गों के हित परस्पर टकराते हैं और हर राष्ट्र कभी न कभी ऐसी अवस्था में पहुँच जायगा जबकि उसकी प्रगति बन्द हो जायगी।

स्मिथ का कहना था कि राज्य को अपना काम विदेशी आक्रमणों से रक्षा करने, विधि तथा न्याय का प्रशासन करने और सड़कें, बन्दरगाह स्कूल तथा चर्च आदि थोड़ी सी सार्वजनिक संस्थाओं के संधारण तक ही सीमित रखना चाहिए। उसका कहना था कि कुछ आपवादिक परिस्थितियों में सरकार अहस्तक्षेप की नीति का त्याग भी कर सकती है। उदाहरण के लिये सरकार अधिकोषण (बैंकिंग) तथा ब्याज की दर का नियमन कर सकती है, और आयात वस्तुओं पर शुल्क लगा सकती है, बशर्ते कि देश में निर्मित वस्तुओं पर भी कर लगाया जाय। इसके अतिरिक्त राष्ट्र को नौका, नौपरिवहन आदि में स्वावलम्बी बनाने के लिये भी आयात शुल्क लगाया जा सकता है, और यदि विदेशों में इंगलैंड के माल पर कर लगाया जाय तो प्रतिकारात्मक शुल्क लगाना भी अनुचित नहीं है। स्मिथ मिल मालिकों और मजदूरों के सम्बन्धों के सीमित नियमन की भी अनुज्ञा देने को तैयार था।

जब स्मिथ का ग्रंथ प्रकाशित हुआ उस समय नई सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या करने का भी समय आ गया था, क्योंकि उद्योग, दर्शन और राजनीति सभी क्षेत्रों में क्रांति की हवा बहने लगी थी। धार्मिक सहिष्णुता के आन्दोलन का भी प्रभाव पड़ा। उदारवाद के पक्ष में दिये जानेवाले तर्कों का राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक सभी मामलों में समान लाभ के साथ प्रयोग किया जा सकता था। फ्रांस के फिजियोक्रेटों और इंगलैंड के अबाध व्यापार के समर्थकों, दोनों ने ही सहिष्णुता का पक्ष पोषण किया। जमींदार लोग चर्च के अनुयायी थे और व्यापारीगण प्रायः नॉनकनफार्मिस्ट (किसी भी चर्च को न मानने वाले) थे। और धार्मिक असहिष्णुता से इंगलैंड के व्यापार में बाधा पड़ती थी। नॉनकनफार्मिस्ट लोग सामान्यतया सरकार को अविश्वास की निगाह से देखते थे; उन्होंने उन एकाधिकारों का विरोध किया जो राजदरबार ने अपने कृपापात्रों को दे रक्खे थे। वे चाहते थे कि व्यक्ति को पूर्णतया स्वतंत्र छोड़ दिया जाय। उनका विश्वास था कि यदि कोई कर्मठ व्यक्ति अपने परिश्रम से व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर लेता है तो उसे ईश्वर के अनुग्रह का प्रतीक समझना चाहिए। स्मिथ के ग्रंथ के उसी के जीवन काल में पाँच संस्करण हुए। उसका अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ और विधिनिर्माण पर

निर्णायक प्रभाव पड़ा। इंगलैंड तथा फ्रांस के प्रमुख अर्थशास्त्रियों ने शीघ्र ही उसके विचारों को अपना लिया; जर्मनी में भी स्मिथवाद एक प्रमुख प्रवृत्ति बन गया। छोटे पिट ने स्मिथ के ग्रंथ का सावधानी से अध्ययन किया और वेल्थ आव नेशन्स के सिद्धांतों के अनुसार अपनी नीति में परिवर्तन किया। यद्यपि व्यापारी वर्ग का दृष्टिकोण पुरातनपोषी (अनुदार) था और वह सोने तथा चाँदी को ही सम्पत्ति मानता तथा विश्वास करता कि सरकारी नियमन तथा एकाधिकार से ही वाणिज्य का संवर्धन हो सकता है, फिर भी पिट अनेक आर्थिक सुधार करने में सफल हुआ। उपनिवेशों के प्रति उसने उदार नीति का समर्थन किया, और इंगलैंड तथा आयरलैंड के बीच शुल्कावलि की दीवाल को ढहाने के उद्देश्य से ही उसने उन दोनों देशों का एकीकरण किया।

स्मिथ के बाद जो घटनाएँ घटीं उनसे भी उसके विचारों के प्रचार में सहायता मिली। औद्योगिक क्रान्ति ने, जो कि स्मिथ के ग्रंथ की रचना के समय अपनी शैशवावस्था में थी, उसके श्रम विभाजन सम्बन्धी विचारों की सत्यता सिद्ध कर दी और यह दर्शा दिया कि इंगलैंड के लिये अपने बाजारों का विस्तार करना आवश्यक था। कारखानों के मालिक श्रमिकों को कम मजदूरी देकर अधिक से अधिक लाभ कमाने के इच्छुक थे, इसलिये उन्होंने उसके सरकारी अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का स्वागत किया और अन्न कानूनों का विरोध किया क्योंकि उनके कारण खाद्य सामग्री के भाव ऊँचे रहते थे और मजदूरों को मजदूरी अधिक देनी पड़ती थी। अमरीकी क्रान्ति से औपनिवेशिक व्यवस्था के दोष स्पष्ट हो गये। उससे संरक्षण की नीति की निरर्थकता भी सिद्ध हो गई, क्योंकि उपनिवेशों के स्वतंत्र होजाने पर भी इंगलैंड तथा अमेरिका के बीच व्यापार पूर्ववत् फलता-फूलता रहा। फलतः एक जबरदस्त साम्राज्यवाद-विरोधी प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई। इंगलैंड की औपनिवेशिक नीति का मुख्य आधार वाणिज्य था। और वाणिज्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर उसे उचित ठहराया जाता था। जब ये सिद्धान्त त्याग दिये गये तो अनेक लोगों को विश्वास होगया कि इंगलैंड के लिये अपने उपनिवेशों को छोड़ देना हितकर होगा। टकर तथा एडम स्मिथ दोनों ने ही इस बात को मानने से इन्कार किया कि इंगलैंड की व्यापारिक समृद्धि के लिये उपनिवेश आवश्यक हैं। उपयोगितावादियों, बेंथम और मिल, का मत था कि उपनिवेश अनावश्यक व्यय, राजनीतिक भ्रष्टाचार और युद्ध का कारण हैं।

स्मिथ के विचारों का "मैंचेस्टर सम्प्रदाय" ने प्रचार किया। इसमें व्यापारी तथा कारखानेदार विशेषकर सम्मिलित थे और रिचार्ड कॉब्डन तथा जॉन ब्राइट उसके नेता थे। यद्यपि बालकों के संरक्षण के हेतु वे निर्माणशाला कानूनों (फैक्टरी लॉज) के समर्थक थे, किन्तु वास्तव में वे व्यक्ति की प्राकृतिक स्वतंत्रता के पक्षपाती थे और विश्वास करते थे कि सरकारी नियंत्रणों से उद्योग-धन्धों तथा व्यापार को हानि पहुँचती है। अन्न कानूनों के रद्द कराने में उनकी विशेष दिलचस्पी थी। स्मिथ का व्यक्तिवाद

वाणिज्यवादी सिद्धान्तों में निहित पित्रतंत्रीय दृष्टिकोण के विरुद्ध एक मूल्यवान प्रतिक्रिया था, और इंगलैंड के निर्माण तथा वाणिज्य की समृद्धि का श्रेय बहुत कुछ उसी को था। किन्तु उसको व्यवहार में लाने के परिणामस्वरूप स्वार्थी तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहन मिला और बुराइयाँ उठ खड़ी हुईं, विशेषकर श्रमिक वर्ग का बड़ा अहित हुआ। उसकी नीति के दुष्परिणामों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में समाजवादी सिद्धान्तों का उदय हुआ और व्यवसाय तथा श्रम के क्षेत्र में सरकारी नियमन का विकास हुआ।

जनसंख्या का सिद्धान्त

सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों के अनेक लेखकों ने जनसंख्या के प्रश्न की ओर ध्यान दिया। वाणिज्यवादियों का विचार था कि घनी जनसंख्या वांछनीय है और जनसंख्या का तेजी से बढ़ना समृद्धि का सूचक है। बाइबिल में फलने-फूलने और संख्या में बढ़ने का जो उपदेश दिया गया था उसको बार-बार उदधृत किया गया, और कहा गया कि सबसे अधिक जनसंकुल राज्य ही सर्वाधिक धनी और शक्तिशाली होते हैं। सरकार तथा नियोजक वर्ग विशेषकर घनी आबादी के पक्षपाती थे, क्योंकि उससे सरकार को बड़ी सेना रखने में आसानी होती थी और मालिकों को कारखानों के लिये सस्ते मजदूर मिल जाते थे। बड़े परिवारों के लिये विशेष भत्ते दिये जाते थे; जर्मनी के नगरों में केवल विवाहित व्यक्ति ही पद धारण कर सकते थे।

फ्रांस में किसानों की दयनीय दशा से प्रभावित होकर मोंतेस्क्यू ने जनसंख्या की समस्या पर ध्यान दिया। इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति के जो परिणाम हुए उन्होंने विचारकों को सम्पूर्ण समस्या का पुनर्विवेचन करने के लिये बाध्य किया। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में ऐसा जान पड़ता था कि भूमि बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण के लिये पर्याप्त नहीं है। खाद्य के भाव तेजी से बढ़ने लगे; बेकारी, गरीबी और बीमारी चारों ओर फैलने लगी। शताब्दी के पूर्वार्ध में कृषि में काफी समृद्धि हुई थी, किन्तु उसके बाद जब बड़ी संख्या में लोग गाँवों को छोड़कर नगरों में जाने लगे तो भारी संकट ने आ-घेरा। आइरलैंड में बढ़ती हुई जनसंख्या को देखकर टॉमस रॉबर्ट माल्थूस (१७६६-१८३४)[१६] ने अपना ग्रन्थ लिखा जिसमें उसने एडम स्मिथ की निराशावादी प्रवृत्तियों का अनुसरण किया और बतलाया कि जनसंख्या के बढ़ने से कष्टों और आपत्तियों की

माल्थूस को अपना निबन्ध लिखने की तात्कालिक प्रेरणा विलियम गॉडविन की रचना इनक्वाइरी कंसर्निंग पोलिटिकल जस्टिस के प्रकाशन से मिली। गॉडविन ने

१६. देखिये उसका *Essay on Population* (1798 में उसकी मृत्यु के उपरान्त प्रकाशित)

एक प्रकार के प्रबुद्ध अराजकवाद का समर्थन किया। उसका कहना था कि सरकार एक आवश्यक बुराई है; और मनुष्य जाति की आपत्तियों और दुखों का उत्तरदायित्व उसी पर है; संसार में सबके भरण-पोषण के लिये पर्याप्त सामग्री है, बशर्ते कि उसका समान वितरण किया जाय उसी समय फ्रांस ने कोंदर्से से इसी प्रकार का आशावादी दृष्टिकोण व्यक्त किया और बतलाया कि पृथ्वी में सबके भरण-पोषण कि लिये पर्याप्त सामग्री प्रदान करने की क्षमता है। उसका विश्वास था कि वैज्ञानिक साधनों से खाद्य पदार्थों में वृद्धि सम्भव हो सकेगी अथवा विवेक द्वारा जनसंख्या की वृद्धि रोकी जा सकेगी।

माल्थूस ने इसका उत्तर यह दिया कि समाज में एक आधारभूत नियम काम करता है जिससे दरिद्रता का कभी भी उन्मूलन नहीं हो सकता, चाहे कुछ भी उपाय क्यों न किए जायें। उसका कहना था कि जनसंख्या गुणोत्तर-श्रेणी (२, ४, ८, १६, ३२) से बढ़ती है और संसार की खाद्य सामग्री समान्तर श्रेणी (२, ४, ६, ८, १०) से। इसका अर्थ यह है कि संसार की आबादी खाद्य सामग्री के मुकाबिले में निरन्तर अधिक रहती है। यदि दरिद्रता से उत्पन्न भुखमरी, बीमारी और आपत्तियाँ न आएँ तो वह सचमुच बढ़ती ही जाय, किन्तु इन चीजों के कारण जनसंख्या पर नियन्त्रण रहता है। फलतः दरिद्रता स्थायी है, उसका निराकरण नहीं किया जा सकता।

माल्थूस ने सन्तति-निरोध, उद्व्रजन तथा रहन-सहन का स्तर बढ़ाने के लिये सरकारी नियन्त्रण के प्रश्नों पर भी विचार किया, किंतु उसने इन सभी युक्तियों को सारहीन और निरर्थक ठहराया। उसका कहना था कि सन्तति-निरोध तभी सफल हो सकता है जबकि व्यक्ति सामान्य रूप से बुद्धिमान हो; किंतु ऐसा है नहीं। उद्व्रजन से नई भूमि प्राप्त हो सकती है, किन्तु जनसंख्या पुनः दुगनी और चौगुनी हो जायगी और खाद्य पदार्थों की कमी पड़ने लगेगी। और यदि सरकार ने हस्तक्षेप करके रहन-सहन अच्छा कर दिया तो सन्तानोत्पत्ति के लिये परिस्थितियाँ पहले से अधिक अनुकूल हो जायँगी। फल यह होगा कि खानेवालों की संख्या अधिक होगी और अन्त में रहन सहन का स्तर फिर गिर जायगा। माल्थूस ने अन्तिम दो उपायों का सिद्धांततः विरोध किया, क्योंकि ऐसा करने से सरकारी नियन्त्रण और नियमन का डर था जिससे कि उसका व्यक्तित्ववाद ही समाप्त हो जाता।

सारांश यह कि माल्थूस के अनुसार बहुसंख्यक जनता के भाग्य में भूखों मरना ही बदा है, क्योंकि उसकी स्थिति में सुधार करना असम्भव है। उसके सिद्धांत का एक परिणाम यह हुआ कि उद्योगपतियों और राजनीतिज्ञों की आत्मा को शांति मिली, नहीं तो चारों ओर की भुखमरी और दरिद्रता को देखकर उनको कष्ट होता। माल्थूस के निबन्ध को लेकर बहुत वादविवाद चला। उसके समर्थन अथवा विरोध में अनेक ग्रंथ लिखे गये। उसके सिद्धांतों का विधिनिर्माण पर प्रभाव पड़ा। विशेषकर दरिद्र सहायता

ग्रौर उद्व्रजन के सम्बन्ध में। उनसे डार्विन को कुछ ग्रंश में प्रेरणा मिली ग्रौर उसने अपने प्राकृतिक निर्वाचन के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उनसे जॉन स्टुग्रर्ट मिल के व्यक्तिवाद को बल मिला। ग्रपनी प्रारम्भिक रचनाग्रों में मिल ने माल्थूस के जनसंख्या वृद्धि के सिद्धान्त से प्रभावित होकर ही मजदूरों की दशा सुधारने के लिये सरकारी हस्तक्षेप का विरोध किया। ग्रौर ग्रन्त में समाजवाद के उदय पर उनका भारी प्रभाव पड़ा।

पठनीय ग्रन्थ

Beard, C. A., *The Economic Basic of Politics* (New York, Knoff, 1934)

Bonor, James, *Malthus & His Work* (London, Macmillan, 1885)

Brailsford, H.N., *Shelley, Godwin, and their Circle* (New York, Holt, n. d.)

Buck, P. W., *The Politics of Mercantilism* (New York, Holt, 1942)

Cole, C. W., *French Mercantilism,* 1683-1700 (New York Columbia, Univ. Press 1943)

Ginzberg Eli, *The House of Adam Smith* (New York, Columbia Univ. Press, 1934)

Gooch, G. P. *Political Thought in England from Bacon to Halifax* (London, T Butterworth, 1937) Chap. II.

Johnson, E. A. J., *Predecessors of Adam Smith* (New York, Prentice-Hall, 1937)

Laski, H. J. *Political Thought in England from Locke to Bentham* (New York, Holt, 1920) Chap. 7.

Russel, Bertrand, *Freedom Versus Organization* (New York, Norton, 1934)

Shuyler, R. L. "The Rise of Anti-Inferiabin in England, 1760-1830", *Political Science Quarterly,* Vol. 37, September, 1922.

Weulersse, Georges, *Les Physiocrates* (Paris, Doin, 1931)

अध्याय १८

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के नैतिकतावादी तथा विधिवेत्ता

अठारहवीं शताब्दी के परवर्ती काल की परिस्थितियाँ

१७६३ में सप्तवर्षीय युद्ध का अन्त हुआ जिसमें इंगलैंड ने प्रुशिया की सहायता से फ्रांस तथा उसके मित्र आस्ट्रिया को परास्त किया। इस युद्ध के फलस्वरूप फ्रांस को अपना वह साम्राज्य इंगलैंड को देना पड़ा जिसे उसके उपनिवेशियों ने सेंट लारेंस और मिसीसिपी की घाटियों में स्थापित किया था, और भारत को जीतने की आशा भी त्यागनी पड़ी। इसके अतिरिक्त फ्रांस का राजतंत्र आस्ट्रिया के हैप्सवर्ग वंश से मैत्री सम्बन्ध में उलझ गया जो उसकी जनता को बिलकुल पसन्द नहीं था, और सरकार पर युद्ध का भारी ऋण लद गया था जिसके कारण आर्थिक कठिनाइयाँ और सामाजिक विपत्तियाँ बढ़ गई जिन्होंने अन्त में क्रान्ति को जन्म दिया। मोंतेस्क्यू के शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त से प्रभावित होकर फ्रांस की संसदों अथवा उच्च न्यायालयों ने, जिनका राजा के मंत्रियों से प्रायः झगड़ा चलता रहता था, राजा के विरुद्ध प्रजा की राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा करने के अपने दावे को आगे बढ़ाया। किंतु उनका १७७७ में शीघ्रता से दमन कर दिया गया, और फ्रांस के राजा ने क्रान्ति के समय तक निरंकुशतापूर्वक शासन किया।

इंगलैंड को युद्ध से राज्यक्षेत्र का भारी लाभ हुआ। वह समुद्रों का निर्विवाद स्वामी और संसार की सबसे बड़ी औपनिवेशिक शक्ति बन गया। १७६० में जार्ज तृतीय सिंहासन पर बैठा। उसने पहले से अधिक स्वतंत्र राजसत्ता स्थापित करने और संसद तथा प्रधान मंत्री की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के प्रयत्न किये। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप दलगत विवादों को उत्तेजना मिली, और इंगलैंड की शासन-व्यवस्था के स्वभाव और मूल्य से सम्बद्ध सिद्धांतों की पुनः परीक्षा हुई। जहाँ तक औपनिवेशिक नीति का सम्बन्ध था, नौपरिवहन अधिनियमों को अधिक दृढ़ता के साथ लागू करने का प्रयत्न किया गया, और अमरीकियों को बाध्य किया गया कि कनैडा के प्रान्तों की विजय के खर्च का एक अंश दे। इसका परिणाम यह हुआ कि अमरीकी उपनिवेशी असंतुष्ट होगये और इस प्रकार अमरीकी क्रांति का मार्ग प्रशस्त हुआ।

प्रुशिया का समेकन हुआ और उसकी शक्ति की वृद्धि हुई। इसका शासक फ्रेडरिख महान अपने युग के "प्रबुद्ध निरंकुश शासकों" में विशिष्ट स्थान रखता था। रूस की कैथराइन द्वितीय, आस्ट्रिया का जोज़फ द्वितीय तथा स्पेन का चार्ल्स तृतीय अन्य

प्रबुद्ध शासक थे। इन शासकों पर फिजियोक्रेटों के आर्थिक तथा सामाजिक विचारों का विशेष प्रभाव पड़ा था, अतः उन्होंने दूरगामी आन्तरिक सुधार सम्पन्न किये। किसानों की स्थिति में सुधार किया गया, करारोपण के पहले से अच्छे तरीके लागू किये गये, प्रशासनीय तथा न्यायिक पद्धतियों को सुधारा गया, वाणिज्य तथा उद्योग को अनेक बोझिल प्रतिबन्धों से मुक्त कर दिया गया और सामन्तों तथा पादरियों के विशेषाधिकार घटा दिये गये। चर्च का बौद्धिक जीवन पर जो नियंत्रण था उस पर विशेषरूप से आघात किया गया, और पोप तथा जैसुइटों के प्रभाव को कम किया गया।

उस काल में शासक लोग बुद्धिवादी दार्शनिकों को प्रायः प्रश्रय दिया करते थे। इसका फल यह हुआ कि राजनीतिक सैद्धांतिकों का सरकार की नीति पर व्यावहारिक प्रभाव पड़ने लगा। लुई १५वें ने तुर्गों को अपना वित्तमंत्री नियुक्त किया और उसे फिजियोक्रेटों के सिद्धांतों को क्रियान्वित करने की सुविधा दी। वौल्तेयर को फ्रैडरिख महान् के दरबार में आमंत्रित किया गया। रूसो से कोर्सिका तथा पोलैंड की जटिल राजनीतिक समस्याओं के संबंध में सुझाव माँगे गये। रूस की कैथराइन ने कानून पर बेकारिया के ग्रन्थ पढ़े थे; उसने मर्सिये द ला रिवियेर को आमंत्रित किया, और उससे अपने राज्य को प्रस्तावित विधि-संहिता के संबंध में सलाह माँगी। जोजफ द्वितीय की रूसो तथा तुर्गों से निजी जान पहिचान थी। मिलान के लेखक बेकारिया और नेपिल्स के फिलांजियेरी ने भी सरकारों के कार्यकलाप पर व्यावहारिक प्रभाव डाला। यद्यपि मोंतेस्क्यू के सिद्धांतों का सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में सबसे अधिक प्रभाव पड़ा, किन्तु प्रबुद्ध शासकों ने उसके शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने अपने राज्यों के राजनीतिक पुनःसंगठन के बिना ही अपनी नीति को कार्यान्वित करना पसन्द किया; और फ्रांस की क्रांति के समय तक प्रतिनिधि संसदों के लिये आन्दोलन नहीं प्रारम्भ हुआ।

अठारहवीं शताब्दी के परवर्ती काल के शासकों की वैदेशिक नीति में उदार विचारों का कोई चिन्ह नहीं मिलता, और न प्राकृतिक न्याय के उन सिद्धांतों के प्रति कोई सम्मान की भावना ही दिखलाई देती है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आधार माने जाते थे। इंगलैंड ने समुद्रों पर तटस्थों के अधिकारों के संबंध में जो प्रश्न उठाए थे उनके प्रति शासकों ने थोड़ा ध्यान अवश्य दिया, किंतु सामान्यतया अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं हुई। उस समय की वंशगत स्वार्थों पर आधारित राजनय नितांत सिद्धांतहीन थी, और शासकगण उन्हीं तरीकों का प्रयोग करते जिनसे उनके राज्य को लाभ होता अथवा प्रतियोगी को हानि पहुँचती। साधारण से साधारण बहानों को लेकर सत्यानाशी युद्ध आरम्भ कर दिये जाते थे, और यदि अपने राज्य का कोई लाभ होता दिखाई देता तो संधियों का उल्लंघन करने में लोग तनिक भी नहीं चूकते थे। हैप्सबर्ग सम्राट ने अपनी पुत्री को अपना उत्तराधिकारी बनाने के हेतु प्रैग्मैटिक सैंक्शन

नामक जो आदेश जारी किया था उसको स्वीकृति देनेवालों राज्यों में केवल इंगलैंड ही ऐसा था जिसने उसका पालन किया, चाहे स्वार्थवश ही सही। फ्रेडरिक द्वारा साइलेसिया पर अधिकार और पोलेंड का विभाजन उस काल की मैकेविलियायी राजनय के ज्वलन्त उदाहरण थे।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के राजनीतिदर्शन की विशेषता उसका आशावादी दृष्टिकोण था। उसका विश्वास था कि मानवीय बुद्धि के द्वारा सामाजिक तथा राजनीतिक बुराइयाँ दूर की जासकती हैं प्राकृतिक विधि सभी बुराइयों के लिये रामबाण औषधि है, और आधारभूत सिद्धांतों को ढूँढ़ निकाला जा सकता और उन्हें सभी सामाजिक क्षेत्रों में लागू किया जासकता है। विचारकों का विश्वास था कि स्थाई और परिपूर्ण व्यवस्थाओं की स्थापना करना सम्भव है; इस धारणा के आधार पर विशद विधि संहिताएँ तैयार की गईं। सरल तथा स्वयंसिद्ध सैद्धान्तिक सूक्तों का लोगों के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव था। उदाहरण के लिये फिजियोक्रेटों का एकल कर का सिद्धांत, उनका अहस्तक्षेप का विचार और स्वतंत्रता, समता तथा भ्रातृत्व के नारे। मोंतेस्क्यू ही केवल एक ऐसा विचारक था जिसने मानवीय समस्याओं की जटिलता को समझा और अनुभव किया कि सार्वभौम सिद्धांतों का निरूपण करना तथा उन्हें कार्यान्वित करना बड़ा ही कठिन है। सम्भवतः पुरानी बुराइयों का उन्मूलन करने के लिये विचारों की सरलता आवश्यक थी, और शायद यह विश्वास भी जरूरी था कि संस्थाओं का मनुष्य की बुद्धि के आधार पर पुनस्संगठन किया जा सकता है। किंतु प्राकृतिक विधि में विश्वास रखनेवाले दार्शनिकों के सिद्धांतों के कारण फ्रांसीसी क्रांति के बाद नई व्यवस्था की रचना करने का काम कठिन हो गया।

फ्रांस का सामाजिक तथा नैतिक दर्शन

रूसो तथा फ्रांसीसी क्रान्ति के बीच के काल में फ्रांस का राजनीतिक सिद्धांत मुख्यतया आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक सुधार में उलझा रहा। सुधार के लिये जो प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये उनमें से अधिकतर विशिष्ट विषयों से सम्बन्ध रखते थे। फिजियोक्रेट लोग सम्पत्ति के उत्पादन तथा उपभोग को निर्धारित करनेवाली परिस्थितियों को ही सब कठिनाइयों की जड़ मानते थे। उसको सुधारने के लिये उनका सुझाव था कि भूमि पर केवल एक कर लगाया जाय, व्यापार पर से प्रतिबन्ध हटा लिये जायें और सामान्य रूप से अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया जाय जिससे कि प्राकृतिक नियम अबाध रूप से कार्य कर सकें। मोरेली और आबे माब्ली आदि लेखकों ने निजी सम्पत्ति, विशेषकर भूमि को सब बुराइयों का मुख्य कारण माना और साम्यवादी तथा समाजवादी योजनाएँ प्रस्तुत कीं।

मोरेली ने, जिसके जीवन तथा कार्यों के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत कम

है, आधुनिक चिंतन की दिशा में स्पष्ट रूप से एक आगे कदम बढ़ाया। अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिये उसने उपन्यास[1] के काल्पनिक माध्यम का भी प्रयोग किया और विश्लेषणात्मक तथा दार्शनिक शैली का समीक्षा ग्रन्थ[2] भी लिखा। उसने भविष्यवाणी की कि बूर्बां वंश का पतन होगा और सामन्ती विशेषाधिकारों से मुक्त राज्य की स्थापना होगी। उसने सम्पत्ति की विषमताओं पर प्रहार किया और प्रस्ताव रक्खा कि भूमि का सामान्य रूप से वितरण कर दिया जाय। उसके विचारों का फ्रांसीसी क्रांति के सामाजिक सिद्धांतों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

गाब्रियल द माब्ली[3] (१७०६–१७८५) ने रूसो के विचारों का परिवर्धन किया। उसका विश्वास था सम्पत्ति की असमानता और सम्पत्ति के स्वामियों का शक्ति पर अनुचित अधिकार ही सामाजिक तथा राजनीतिक अन्याय के मुख्य कारण हैं। स्वभाव से मनुष्य समान हैं। जब मनुष्यों की आवश्यकताएँ एकसी हैं और प्राकृतिक शक्तियाँ भी समान हैं तो उन्हें एकसी सामग्री और बौद्धिक विकास की समान सुविधाएँ मिलनी चाहिए। असमानता बुरे कानूनों का परिणाम हैं, विशेषकर निजी सम्पत्ति की रक्षा करनेवाले कानूनों का। अच्छे कानून इन बुराइयों को दूर करने का उपाय है, अच्छा यह होगा कि कानून विवेकसम्पन्न विधिवेत्ताओं द्वारा संहिताओं के रूप में तैयार किये जायँ और शुद्ध विवेक तथा न्याय पर आधारित हों। माब्ली स्पार्टा तथा रोम का प्रशंसक था, और अपनी रचनाओं को उसने सोलोन, केटो आदि के कार्यों द्वारा निर्दशित किया। उनके विधायी सुधारों और सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों का उसके सिद्धांतों पर विशेष प्रभाव पड़ा। अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में भी माब्ली के विचार प्रगतिशील थे; वह अपने समय के मैकेविलियायी आचरण का विरोधी था। उसने मानव प्रेम का आदर्श सामने रक्खा, संधियों का सम्मान करने का उपदेश दिया और कहा कि सामुद्रिक युद्ध में व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति की लूटमार नहीं करनी चाहिए। विश्वकोषकारों तथा रूसो के प्राकृतिक अधिकारों और मानव समता के विचारों को मोरेली और माब्ली ने परिवर्धित किया, और आगे चलकर उन विचारों ने फ्रांस के साम्यवादी ढंग के समाजवाद को जन्म दिया।

हैल्वेसियस और हॉल्बाख आदि फ्रांस के अन्य लेखकों ने प्रचलित नैतिक और धार्मिक विचारों का खंडन किया, दरबार में धार्मिक नेताओं के प्रभाव का विरोध किया और धार्मिक सहिष्णुता तथा प्रेस की स्वतंत्रता का समर्थन किया और उपयोगितावादी नैतिकता तथा अनीश्वरवाद के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। उन्हें रूसो की भावुकता

१. देखिये उसका *Basiliade* (1753).
२. देखिये उसका *Code de la Nature* (1755).
३. देखिये उसकी रचनाएँ *Entretiens de Phocion* (1763) और *De la legislation* (1776).

पसन्द नहीं थी, बल्कि वे हॉब्स और लॉक के अनुयायी थे और उन्हीं के विचारों को परिवर्धित करके तार्किक निष्कर्ष तक पहुँचा दिया। क्लाउड हैल्वेसियस[४] (१७१५-१७७१) ने स्वार्थ को मनुष्य के आचरण की मूल प्रेरणा माना, और कहा कि आनन्द की इच्छा और पीड़ा के भय पर आधारित प्रबुद्ध आत्महित ही नैतिकता की कसौटी है। मनुष्य को नैतिक बनाने का केवल यही उपाय है कि उसे इस बात का विश्वास दिला दिया जाय कि सार्वजनिक हित में ही उसका हित निहित है; और यह कार्य कानून द्वारा हो सकता है अर्थात् उचित पारितोषिक और दंड देकर। इस प्रकार हैल्वेसियस ने नैतिक विज्ञान को विधि विज्ञान बना दिया और बतलाया कि सर्वोत्तम सरकार वह है जो अधिकाधिक लोगों को सुख प्रदान करती है।

हैल्वेसियस का विश्वास था कि बुद्धि में प्रकृति से ही सब मनुष्य समान हैं, इसलिये उसने राष्ट्रीय विकास के लिये शिक्षा और संस्कृति के महत्व पर बल दिया। उसने बतलाया कि सभी सरकारें शक्ति से प्रेम करतीं और स्वभाव से निरंकुश होती हैं, सबसे अच्छी सरकार वह है जिसके अन्तर्गत सत्ताधारी वर्ग सर्वाधिक उदारता का परिचय देता है। हैल्वेसियस ने प्रुशिया, रूस और आस्ट्रिया के प्रबुद्ध शासकों के कार्यों की सराहना की। चूँकि उसका विश्वास था कि जनता के गुण और अवगुण उन कानूनों का आवश्यक परिणाम होते हैं जिनके आधीन उसे रहना पड़ता है, इसलिये उसकी माँग थी कि फ्रांस की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में आमूल सुधार किये जायें। उसके उपयोगितावादी विचारों का आगे चलकर बेंथम के सिद्धान्तों पर प्रभाव पड़ा। बेकारिया ने लिखा है कि दंड-विधि के सुधार के लिये मैंने जो प्रयत्न किये उनके मूल में मुख्यतया हैल्वेसियस की प्रेरणा विद्यमान थी।

बेरन पॉल द' हालबाख (१७२३-१७८९) एक फ्रांसीसी दार्शनिक था। किंतु उसके पूर्वज जर्मन थे। उसका विश्वकोषकारों तथा रूसो से घनिष्ठ सम्बन्ध था। उसने हैल्वेसियस तथा लॉक का अनुगमन करनेवाले अन्य फ्रांसीसी दार्शनिकों के विचारों को और भी आगे परिवर्धित किया[५]। उसने धर्म को सभी बुराइयों की जड़ बतलाया। धर्म के स्थान पर वह एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था की स्थापना करना चाहता था जिससे मनुष्यों में प्रबुद्ध आत्महित की चेतना जाग्रत हो, क्योंकि उसका विश्वास था कि विज्ञान के अध्ययन से मनुष्य का जीवन प्रकृति के अनुरूप हो जायगा। हॉल्बाख ने रूसो के "श्रेष्ठ बर्बर" की धारणा का उपहास किया, किन्तु उसके सामाजिक संविदा तथा

४. देखिये उसकी *De l' Espirt* (1758) डब्ल्यू मडफर्ड द्वारा अनूदित। और *De l' Homme* (1772) डब्ल्यू० हूपर द्वारा अनूदित।

५. अपनी रचना *Le System de la Nature* (1770), *Politiqu naturalle* (1773) और *Systeme Social* (1773) में

सामान्य इच्छा के विचारों को अंगीकार कर लिया। उसका कहना था कि राज्य की रचना समझौते के द्वारा हुई, और उसका उद्देश्य अधिक से अधिक मनुष्यों को अधिक से अधिक सुख प्रदान करना था और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वैयक्तिक स्वतन्त्रता, सम्पत्ति और सुरक्षा की गारंटी दी गई। लॉक का अनुसरण करते हुए उसने बतलाया कि सत्ता का आधार शासकों और नागरिकों के बीच संविदा है, और यदि शासक वर्ग लोक-कल्याण का परिवर्धन करने में असफल रहे तो नागरिक लोग आज्ञा पालन के कर्त्तव्य से मुक्त हो जाते हैं। उसने मोंतेस्क्यू के इस सिद्धांत का समर्थन किया की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये आवश्यक है कि सत्ता का सरकार के विभिन्न अंगों के बीच वितरण किया जाय।

हॉल्बाख का विश्वास था कि सभी सरकारें दोषपूर्ण हैं, क्योंकि उनका आधार हिंसा और अविद्या है; इंगलैंड की सरकार भी जिसकी इतनी प्रशंसा की जाती है इस नियम का अपवाद नहीं है। उसने कहा कि मनुष्य को विवेक का अनुसरण करके पुन: प्राकृतिक व्यवस्था की ओर लौटने का प्रयत्न करना चाहिए। पुरानी संस्थाओं और कानूनों को हटा कर ऐसी नई संस्थाएँ और कानून स्थापित किये जायँ जो बुद्धि तथा न्याय के अनुरूप हों। चूँकि वह मानता था कि मनुष्य का स्वभाव और कार्य उन संस्थाओं और कानूनों से निर्धारित होते हैं जिनके अधीन वे अपना जीवन बिताते हैं, इसलिये उसका मत था कि अन्याय तथा असमानताएँ कृत्रिम तथा अविवेकपूर्ण सामाजिक और राजनीति अवस्थाओं के परिणाम हैं। उसने सरकारों पर जो सामान्य तौर पर प्रहार किया, आमूल सुधारों की जोरदार माँग की और लॉक के दर्शन का समर्थन किया, उससे क्रांति के विचारों को बहुत प्रोत्साहन मिला।

अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस के जिन लेखकों ने सुधार की माँग की उनको चार मुख्य वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। पहला, शताब्दी के पूर्वार्ध का उदारवादी सम्प्रदाय था जिसका प्रतिनिधित्व मोंतेस्क्यू, द अर्जांसों और वोल्तेयर ने किया। इन लोगों ने ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया, इंगलैंड की सरकार को आदर्श माना, और संयत और मर्यादित उद्देश्य सामने रख कर चले। दूसरे सम्प्रदाय के मुख्य प्रतिनिधि रूसो, दिदरो, हैल्वेसियस और हॉल्बाख थे। ये लोग सिद्धांतवादी और विद्यमान संस्थाओं के कट्टर शत्रु थे। इन्होंने निगमन पद्धतियों का प्रयोग किया, और परिपूर्ण राज्य की स्थापना करने के लिये शुद्ध बुद्धि का सहारा लिया। फिजियोक्रेट, जिनमें केनाई एवं ल रिवियेर मुख्य थे, राजतंत्र के पक्षपाती थे किन्तु आर्थिक सुधारों के समर्थक थे। तीसरा क्रांतिकारी सम्प्रदाय था जिसके प्रतिनिधि माब्ली और कोंदर्से थे। उन्होंने लोकतंत्र के आधारभूत सिद्धांतों को अंगीकार किया और कहा कि लोक-प्रभुत्व की स्थापना के लिये क्रांति की आवश्यकता है। किंतु इस बात में सभी

एकमत थे कि मनुष्यों के अधिकार प्रकृति के दिये हुए हैं, और यह विचार उदारवाद की अडिग धारणा और क्रांति का मुख्य सिद्धांत बन गया।

इटली के विधिवेत्ता

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इटली में दो विधिवेत्ता हुए जिन्होंने मोंतेस्क्यू की भावना और पद्धति को सामाजिक और राजनीतिक सुधारों के क्षेत्र में क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया, और इस दिशा में उनका काम अत्यधिक महत्वपूर्ण था। समस्त यूरोप में दंड-विधि बहुत पुरानी थी और विद्यमान परिस्थितियों से उसका कोई संबंध नहीं था, आपराधिक मुकद्दमों की प्रक्रिया अत्यधिक अन्यायपूर्ण थी, और दंड इतने निर्मम दिये जाते थे, सुनने वालों को विश्वास नहीं होगा। अपराधों का भेद बताने वालों को पारितोषिक दिये जाते थे कि और दंड देने के लिये प्रायः अत्यन्त साधारण साक्ष्य को भी पर्याप्त समझा जाता था। अपराध अंगीकार करवाने के लिये यातनाएँ देने का सामान्य रिवाज था, और अनेक ऐसे अपराध थे जिनके लिये मृत्युदंड का विधान था। इंगलैंड की पद्धति यूरोप से कुछ अच्छी थी, किंतु यहाँ भी सौ से अधिक अपराधों के लिये मृत्युदंड दिया जा सकता था।

इटली के विधिवेत्ता सिजारे बेकारिया (१७३५-१७९४) ने मोंतेस्क्यू के ग्रन्थों का अध्ययन किया, फलस्वरूप उसका झुकाव आर्थिक तथा सामाजिक प्रश्नों की ओर हो गया। अपनी पहली रचना में उसने मिलान राज्य की मुद्रा के सुधार का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। किन्तु अपने सबसे विख्यात ग्रन्थ में उसने अपराध तथा दंड की मीमांसा की। उसका कहना था कि दंड कम कठोर किंतु अधिक निश्चित होना चाहिए। इससे अतिरिक्त वह मृत्युदंड को हटाने के पक्ष में था। उसने कहा कि सभी वर्गों के व्यक्तियों के साथ एक-सा बर्ताव किया जाना चाहिए, और सम्पत्ति जब्त करने का दंड हटा दिया जाय क्योंकि उससे दण्डित व्यक्ति के परिवार के निर्दोष सदस्यों को कष्ट पहुँचता है। उसका आग्रह था कि अपराधियों को दंड देने की अपेक्षा अपराधों को रोकना अधिक महत्वपूर्ण है, और इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि विधि स्पष्ट हो, और न्यायालयों की ऐसी व्यवस्था हो कि अपराधी के लिए दंड से बचना असम्भव हो जाय। इसके अतिरिक्त शिक्षा के द्वारा जागृति उत्पन्न करके भी अपराधों को रोका जासकता है।

बेकारिया के विचारों का सामान्य आधार यह विश्वास था कि आत्महित मनुष्य के आचरण की मुख्य प्रेरणा है, मनुष्य प्राकृतिक दृष्टि से स्वतन्त्र थे और उन्हें स्वेच्छा से एक होकर समाज की स्थापना की; और विधिनिर्माण का मुख्य उद्देश्य अधिकाधिक लोगों को अधिकाधिक सुख प्रदान करना है। व्यक्तियों के कल्याण का योग अथवा बहु-संख्यकों का कल्याण ही लोक कल्याण है। अतः कानून तथा दंड वहीं तक न्यायसंगत

है जहाँ तक कि वे राज्य के संरक्षण के लिये आवश्यक हैं और जहाँ तक कि वे विवेक के अनुरूप हैं। बेकारिया की छोटी-सी पुस्तिका का अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ और उसके प्रभाव से यूरोप के कई राज्यों की दंड-संहिताओं में सुधार हुआ। आगे चलकर उसके विचारों का इंगलैंड में जॉन हावर्ड[६] और बेंथम के विचारों पर प्रभाव पड़ा।

इटली का दूसरा विधिवेत्ता गीतानो फिलांजियेरी[७] (१७५२-१७८८) हुआ। वह उत्साही सुधारक था, और अपने समय की बुराइयों की उसने जोरदोर शब्दों निन्दा में की। उसने मोंतेस्क्यू के अनेक विचारों को अपना लिया था। किंतु उन्हें उसने सुधार की व्यावहारिक समस्या पर लागू किया। मोंतेस्क्यू ने कानूनों की भावना को अधिक महत्व दिया था। फिलांजियेरी ने अनुभव तथा विवेक के आधार पर कानूनों के अन्तःसार को सुनिश्चित करने का प्रयत्न किया। उसका यह आशामूलक विश्वास था कि यूरोप में शांति की स्थिति आचुकी है, वैयक्तिक स्वतंत्रता सुरक्षित है, और उद्योग, वाणिज्य तथा कला के विकास से सभी राष्ट्र सम्पन्न और समृद्ध हो जायँगे। अतः वह समय आ गया है कि विधि निर्माण का व्यापक कार्य वैज्ञानिक ढंग से किया जा सके।

अपनी अधूरी पुस्तक के प्रथम खंड में उसने उन नियमों का विवेचन किया जिनके आधार पर कि विधि-निर्माण का काम किया जाना चाहिए। दूसरे खंड में उसने आर्थिक प्रश्नों पर विचार किया और अबाध व्यापार का समर्थन किया तथा उत्पादन पर जो मध्ययुगीन प्रतिबन्ध थे उन्हें हटाने की आवश्यकता पर बल दिया। तीसरे खंड में आपराधिक विधि-शास्त्र के सिद्धांतों की विवेचना की और चौथे में शिक्षा तथा नीति-शास्त्र की। फिलांजियेरी ने आपराधिक विधि और प्रक्रिया सम्बन्धी विचार बहुत कुछ बेकारिया से ग्रहण किये थे। सरकार के सिद्धांत के सम्बन्ध में उसने मोंतेस्क्यू का अनुसरण किया। किंतु इंगलैंड की व्यवस्था की उसने कुछ आलोचना की। जार्ज तृतीय के समय के दलमत संघर्षों और अमरीकी क्रांति ने इंगलैंड की प्रणाली और सिद्धांतों के प्रति उसके उत्साह को कुछ ठंडा कर दिया, और उसका ध्यान अमेरिका में किये गये प्रयोगों की ओर गया। अमेरिका में जीवन सरल था और दार्शनिकों की प्राकृतिक अवस्था के काफी निकट था। फिलांजियेरी विलियम पेन का बड़ा प्रशंसक था और लिकूर्गस तथा सोलोन से उसकी तुलना किया करता था। उसने भविष्यवाणी की कि अमरीकी राष्ट्र अपने स्वभाव और साधनों के बल पर यूरोप से स्वतंत्र रहकर अपनी उन्नति करने में सफल होगा।

६. देखिये उसकी *The State of the Prisons in England & Wales* (1784).
७. देखिये उसकी रचना *La Scienza della Legislatione* (1780) सर रिचार्ड क्लेटन (*Sir Richard Clayton*) द्वारा अनूदित।

इंगलैंड का विधिक तथा नैतिक दर्शन

अठारहवीं शताब्दी के मध्य के उपरान्त इंगलैंड के राजनीतिक चिन्तन में परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। वालपोल के युग में आत्मतुष्टि की जो भावना आगई थी वह भी धीरे-धीरे कम होगई, विशेषकर जार्ज तृतीय के सिंहासनारोहण के बाद। फ्रांस का भी प्रभाव पड़ने लगा। वोल्तेयर, मोंतेस्क्यू और रूसो ने इंगलैंड और फ्रांस की शासन-प्रणालियों की जो तुलना की उससे इंगलैंड की संस्थाओं को एक नये दृष्टिकोण से देखना सम्भव हो सका। विशेषकर मोंतेस्क्यू ने अपनी ऐतिहासिक पद्धति द्वारा, सामाजिक परिवर्तन के लिये विधान (विधि निर्माण) पर बल देकर और स्वतंत्रता का महत्व बतलाकर इंगलैंड के चिन्तन को एक नई प्रेरणा दी जिसके फलस्वरूप बर्क और बेंथम जैसे विचारक उत्पन्न हुए। उसने इंगलैंड के संविधान की प्रशंसा की थी और बतलाया था कि उसका (इंगलैंड के संविधान) मुख्य सिद्धांत शक्तियों का पृथक्करण है, इससे अँग्रेज लेखकों को अपनी शासन-प्रणाली की परीक्षा करने की प्रेरणा मिली, और अन्त में ब्लेकस्टोन तथा स्विस विधिवेत्ता डी लोम के ग्रन्थ प्रकाशित हुए। रूसो के विचार इतने अधिक स्पष्ट थे कि उस समय के इंगलैंड में खप नहीं सकते थे, इसलिये उनकी कटु आलोचना की गई। किंतु रूसो था तो लॉक का ही शिष्य, इसलिये उसके भी कुछ सुधार सम्बन्धी सिद्धांत अंत में ग्रहण कर लिये गये और प्रीस्टले तथा प्राइस आदि लेखकों की रचनाओं में उनकी अभिव्यक्ति हुई। उस समय परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं और ब्लेकस्टोन के आशावाद तथा बर्क की अतीत की भक्ति का समय समाप्त होने लगा था, और इंग्लैंड के चिंतन का एक नया युग प्रारम्भ होगया था।

असन्तोष की बढ़ती हुई भावना की अभिव्यक्ति अंत में जॉन ब्राउन नामक पादरी[८] (१७१५-१७६६) की रचनाओं में हुई। उसने राजनीति, चर्च तथा अपने समय की रूढ़ियों और शिष्टाचार की कटु आलोचना की और प्रचलित विलासिता तथा स्त्रैणता पर खेद प्रकट किया। उसने कहा कि इस समय इंगलैंड की वही दशा है जो रोम और कार्थेज की उनके पतन से पहले थी, देश की व्यापारिक समृद्धि उसके पतन का चिन्ह है और यदि प्राकृतिक जीवन की सरलता की पुनः स्थापना न हुई तो फ्रांस के हाथों देश का सत्यानाश निश्चित है। उसकी राय में इंगलैंड की स्वाधीनता का रहस्य उसका कुहराई जलवायु तथा राष्ट्र का स्वभाव था। उसे लोक-शासन में आस्था नहीं थी। उसका विश्वास था कि देश की राजनीतिक उन्नति महान् राजनीतिज्ञों के प्रबुद्ध विवेक पर निर्भर होती है। बोलिंगब्रुक ने देशभक्त राजा का जो चित्र प्रस्तुत किया था उससे वह सहमत था। उसकी राय में बड़ा पिट इस कार्य के लिये सबसे अधिक योग्य था।

---

८. देखिये उसकी रचना *Estimates of the Manners & Principles of the Times* (1757).

उसी समय स्काटलैंड के दार्शनिकों ने ह्यूम के विचारों को परिवर्धित किया। उनमें एडिनबरा विश्वविद्यालय का एडम फर्गुसन[९] (१७२३-१८१६) सबसे प्रसिद्ध था। फर्गुसन की रचनाओं में मौलिकता नहीं थी, किन्तु उसमें साहित्यिक प्रतिभा तथा अन्य लेखकों के विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की क्षमता थी। यही कारण था कि उसका ग्रन्थ अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। मोंतेस्क्यू के अतिरिक्त उसने ह्यूम तथा एडम स्मिथ के विचारों को बहुत कुछ ग्रहण किया। फर्गुसन ने भली-भाँति समझ लिया था कि राज्य के स्वभाव के सम्बन्ध में सरल सामान्यीकरण और सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के सरल हल हानिकर होते हैं। उसका विश्वास था कि सभ्यता के विकास को निर्धारित करनेवाले सिद्धांत निश्चित किंतु जटिल होते हैं, और जिन विभिन्न रूपों में संस्थाएँ प्रकट होती है वे स्वाभाविक होते हैं। सामाजिक संगठन विवेक से नहीं, मूलप्रवृत्तियों और आदतों से उत्पन्न होते हैं, और उनकी रचना में पर्यालोचित उद्देश्यों का हाथ नहीं रहता। इसलिये विधान द्वारा अनिवार्य घटनाचक्र को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। राज्य की स्थापना संविदा से नहीं हुई, यद्यपि बौद्धिक प्रगति के साथ-साथ राजकाज में नागरिकों की सम्मति का महत्व बढ़ता जाता है।

फर्गुसन को रूसो के इस सिद्धान्त से घृणा थी कि स्थिरता तथा शान्ति की अवस्था ही मनुष्य जाति की स्वाभाविक और वांछनीय स्थिति है। वह विरोध तथा संघर्ष को प्राकृतिक तथा लाभदायक मानता था। उसका विचार था कि राजनीति, उद्योग और वाणिज्य में प्रतियोगिता तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध अनिवार्य है। आत्महित ही व्यक्तियों तथा राष्ट्रों के आचरण को प्रेरित करता है। उसे मानव के प्राकृतिक अधिकारों में विश्वास था, और इसलिये वह राज्य की सत्ता को सीमित मानता था। किन्तु साथ ही साथ उसका कहना था कि स्वतंत्रता नियंत्रित होनी चाहिये और उसका अर्थ समानता न समझा जाय। निरंकुशतंत्र तथा जनता का लोकतंत्र दोनों ही अवांछनीय हैं। स्वभाव से अनुदार और कुछ सनकी होने के कारण उसे हर प्रकार की अति से घृणा थी, और सुधार के सिद्धान्तों अथवा क्रान्तिकारी आन्दोलनों से उसे किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं थी।

इंगलैण्ड की प्रणाली की श्रेष्ठता की आशावादी परम्परा को सर विलियम ब्लेकस्टोन[१०] (१७२३-१७८०) ने जीवित रक्खा। इंगलैंड के संविधान और कानूनों का विश्लेषण करने से पहले उसने राज्य विषयक सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन किया।

९. देखिये उसका निबन्ध *History of Civil Society* (1767) एवं *Principles of Moral and Political Science* (1792.)

१०. देखिये उसकी रचना *The Commentaries on the Laws of England*(1765).

उसके विचारों पर पूफेंडौर्फ, लॉक और मोंतेस्क्यू का विशेष प्रभाव था। उसने विभिन्न लेखकों के विचारों को बिना संगति का ध्यान रक्खे मिला दिया। नये उपयोगितावादी सिद्धान्तों के साथ-साथ प्राकृतिक विधि, दैवी विधि और सामान्य विधि आदि सभी चीजें उसकी व्यवस्था के अन्तर्गत आगई। प्रथम प्रकाशन के समय से ही उसकी पुस्तक का इंगलैंड, फ्रांस और अमेरिका में गहरा प्रभाव पड़ा। फ्रांस के वकीलों और न्यायाधीशों पर तो यहाँ तक आरोप लगाया गया कि वे अपनी राष्ट्रीय विधि को छोड़ कर ब्लेकस्टोन का अनुकरण करते हैं। १७७१ में पुस्तक का एक अमरीकी संस्करण छपा। उसकी चौदहसौ प्रतियाँ निकलने से पहले ही बिक गईं, और खरीदारों की सूची में पहला नाम जॉन एडम्स का था। बर्क के कथन से पता चलता है कि अमेरिका में भी उसकी उतनी ही प्रतियाँ बिकी थीं जितनी कि इंगलैंड में। क्रान्ति के समय अमेरिका में प्राकृतिक अधिकारों और वैयक्तिक स्वतंत्रता के जो विचार प्रचलित थे वे अधिकांश ब्लेकस्टोन के ही थे।

ब्लेकस्टोन का मत था कि मनुष्यों ने अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिये जो प्रयत्न किये उन्हीं के परिणामस्वरूप राज्य का जन्म हुआ। उसने प्रकृति की अवस्था और सामाजिक संविदा की धारणाओं का खंडन किया और बतलाया कि उनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। फिर भी उसकी पुस्तक में संविदा संबंधी धारणाएँ भरी पड़ी हैं। उसकी दृष्टि में ह्यूम ने लॉक के आधारभूत सिद्धांतों को ध्वस्त कर दिया था; फिर भी वह लॉक के सामान्य विचारों का अनुसरण करना चाहता था। फल यह हुआ कि उसके विचारों में असंगतियाँ आगईं और संभ्रम उत्पन्न हो गया। उसने राज्य और सरकार में भेद नहीं किया, और माना कि सरकार सर्वोच्च और निरंकुश प्रभुत्व को धारण करती है। प्रभुत्व विधाई निकाय में, जिसमें राजा तथा सरकार सम्मिलित है, निहित है। साथ ही साथ ब्लेकस्टोन का प्राकृतिक अधिकारों में भी विश्वास था, और उसका कहना था कि व्यक्तियों के वैयक्तिक सुरक्षा, निजी सम्पत्ति तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता के अधिकारों की रक्षा करना राज्य का काम है। ये अधिकार या तो प्राकृतिक स्वतंत्रता के अवशेष हैं अथवा वे नागरिक अधिकार हैं जो व्यक्तियों को प्राकृतिक स्वतंत्रता के त्याग देने पर राज्य से प्राप्त हुए हैं। गौण अधिकारों में उसने शस्त्र धारण करने का अधिकार, व्यथा-निवारण के लिये प्रार्थना करने का अधिकार और क्षति पहुँचने पर न्यायालय में जाने के अधिकार को सम्मिलित किया।

ब्लेकस्टोन ने इंगलैंड के संविधान का गौरवगान किया और उसे राजतंत्रीय, अभिजाततंत्रीय तथा लोकतंत्रीय तत्वों का पूर्ण मिश्रण बतलाया। उसका कहना था कि इंगलैंड में नागरिकों को जो राजनीतिक और नागरिक स्वतंत्रता उपलब्ध है वह लगभग पूर्ण है। उसका मत था कि इंगलैंड की व्यवस्था इतने सुन्दर ढँग से मर्यादित और संमिश्रित है कि जब तक व्यवस्थापिका की विभिन्न शाखाओं के बीच विद्यमान

शक्ति-संतुलन को नष्ट नहीं किया जाता तब तक उसको किसी प्रकार की कोई क्षति नहीं पहुँच सकती। ब्लेकस्टोन अपने समय की परिस्थितियों से इतना अधिक संतुष्ट था कि वह उन पुरानी धारणाओं के भी दोषों को नहीं देख सकता था जो कि उस काल की परिस्थितियों के अनुरूप नहीं रहीं थी। उसकी पुस्तक में मंत्रिमंडल, दल-प्रणाली और मंत्रिमंडल के उत्तरदायित्व के संबंध में कुछ भी नहीं है। राजा के परमाधिकारों के विषय में उसकी धारणा एकदम पुरानी थी। उसका यह कथन मूर्खतापूर्ण था कि लोकसभा में सम्पत्ति धारण करनेवाले सभी मनुष्यों का प्रतिनिधित्व है, क्योंकि नये औद्योगिक नगर को उस समय तक प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाया था।

ब्लेकस्टोन का ग्रंथ विद्वत्तापूर्ण था; और जैसा कि बेंथम ने कहा, उसने विधि-शास्त्र को विद्वानों तथा भद्रपुरुषों की भाषा में बोलना सिखलाया। किंतु साथ ही साथ उसमें सार की अपेक्षा बाह्य रूप की ओर अधिक ध्यान दिया गया था। उसमें एक ऐसी व्यवस्था की प्रशंसा की गई थी जिसका कि अस्तित्व ही नहीं था, फलस्वरूप उसने आधी शताब्दी तक विधिक तथा राजनीतिक प्रगति में बड़ी बाधा डाली। राजनीतिक सिद्धान्त के इतिहास में उसका महत्व यह है कि बेंथम ने अपनी पुस्तक **फ्रेगमेंट्स आव गवर्नमेंट** में उसे अपनी आलोचना का मुख्य विषय बनाया। बेंथम और आस्टिन की रचनाओं ने उसके विधिक दर्शन की रेतीली दीवाल को पूर्णतया ध्वस्त कर दिया।

इंगलेंड के संविधान की एक अन्य प्रशस्ति[11] जाँ द लोम (१७४०-१८०६) नामक एक स्विस विधिवेत्ता ने लिखी। लोम ने कुछ राजनीतिक पुस्तिकाएँ लिखकर अपनी सरकार को अप्रसन्न कर दिया था जिसके फलस्वरूप उसे स्विटज़रलैंड छोड़ना पड़ा। अपने निर्वासन के काल में उसने इंगलैंड की शासन-प्रणाली का सावधानी से अध्ययन किया, और यद्यपि उसकी पुस्तक में वैज्ञानिक भावना और दृष्टिकोण की विशदता का अभाव है, फिर भी उसमें इंगलैंड की व्यवस्था की श्रेष्ठता के संबंध में अनेक सूक्ष्म विचार मिलते हैं। इंगलैंड के संविधान के विषय में उस समय के दार्शनिकों के विचारों को निश्चित करने में ब्लेकस्टोन को **कमेंट्रीज** और ह्यूम की **हिस्ट्री आव इंगलैंड** के अतिरिक्त इस पुस्तक का महत्वपूर्ण योग था। जार्ज तृतीय तथा उसके विरोधियों के बीच विवाद में इसका राजनीतिक पुस्तिका के रूप में खुल कर प्रयोग किया गया।

डी लोम के अनुसार राजा तथा लोक शक्ति के बीच संविधानिक सन्तुलन ही स्वतन्त्रता का रहस्य था। उसने न्यायपालिका तथा प्रेस की स्वतन्त्रता, दल-प्रणाली, तथा सैनिक सरकार के ऊपर असैनिक शक्ति की सर्वोच्चता के महत्व पर विशेष बल दिया। महाद्वीपीय देशों में प्रचलित पद्धतियों की तुलना में उसने इंगलैंड के **बंदी प्रत्यक्षीकरण लेख** तथा ज़ूरी के प्रयोग को विशेषकर प्रशंसनीय बतलाया। मंत्रिमंडल तथा प्रधानमंत्री

11. *Constitution del' Angletene* (1771), English edtion (1772).

के महत्व की ओर उसका ध्यान नहीं गया, और जनता में उसे तनिक भी विश्वास नहीं था। साधारण जनता के सम्बन्ध में उसका कहना था कि शासन में वह केवल निष्क्रिय भाग ले सकती है। इस दृष्टि से उसने रूसो के स्वतंत्रता के सिद्धान्त की, जिसके अनुसार प्रत्येक नागरिक को विधिनिर्माण के काम में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का अधिकार था, कटु आलोचना की। डी लोम का विश्वास था कि असंगठित और बुद्धिहीन जनता शासन का काम नहीं चला सकती, और सामान्य इच्छा वास्तव में राजनीतिज्ञों की इच्छा होगी। उसका कहना था कि स्वतंत्रता की रक्षा करने का सबसे अच्छा तरीका सन्तुलित राजनीतिक युक्तियों का प्रयोग करना है। इससे स्पष्ट है कि वह राज्य को एक मशीन और व्यक्तियों को उसके निष्प्राण पुर्जे समझता था।

जब इंगलैंड में जार्ज तृतीय की नीति के विरुद्ध जनता का असन्तोष भड़कने लगा तो उस समय उस देश में रूसो का प्रभाव आरम्भ हुआ। अंग्रेज जाति की स्वतंत्रता की माँग का प्रतिनिधित्व **नॉर्थ ब्रिटन** में जॉन विल्कीज ने और **जूनियस लैटर्स** के गुमनाम लेखक ने किया। रूसो के प्राकृतिक अधिकारों और लोकप्रभुत्व के व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का स्वागत हुआ। ह्विग लोग, जो स्वभाव से ही सरकारी हस्तक्षेप को सन्देह की निगाह से देखते थे, विशेष रूप से इन सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट हुए। प्रीस्टले[१२] (१७३३-१८०४) ने सिखाया कि मनुष्य समान हैं और प्राकृतिक अधिकारों को धारण करते हैं; राज्य की स्थापना संविदा के आधार पर हुई जिसके अनुसार लोगों ने अपनी नागरिक स्वाधीनता त्याग दी और उसके बदले में उन्हें विधि-निर्माण में भाग लेने का अधिकार मिल गया, अतः किसी मनुष्य पर उसकी सम्मति के बिना शासन नहीं किया जा सकता। इसलिये जनता स्वयं प्रभु है और यदि उसके प्राकृतिक अधिकारों का अतिक्रमण हो तो उसे प्रतिरोध करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त सरकार को मनुष्यों के कामों में, विशेषकर व्यापारिक क्षेत्र में, कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए; व्यक्ति की प्रेरणा राज्य के कार्यों से सदैव अच्छी है। प्रीस्टले की पुस्तक में एडम स्मिथ के अनेक विचारों का पूर्वाभास मिलता है। उसने कहा कि राज्य के बहुसंख्यक सदस्यों का सुख ही सरकार की सफलता की कसौटी है। प्रीस्टले से ही बेंथम ने "अधिकाधिक लोगों का अधिकाधिक सुख" का महत्व समझा। प्रीस्टले कोंदर्से से पहले ही इस बात को कह चुका था कि मनुष्य में परिपूर्ण होने की योग्यता है। उसका विश्वास था कि मनुष्य की बुद्धि में भावी स्वर्ण युग का निर्माण करने की क्षमता है।

डा० रिचार्ड प्राइस (१७२३-१७९१)[१३] प्रीस्टले की भाँति एक प्रमुख नॉन

---

१२. देखिये उसका *Essay on the First Principles of Government* (1768).
१३. देखिये उसकी पुस्तकें *Observations on the Nature of Civil Liberty* (1776) और *Additional Observations* (1777).

कन्फार्मिस्ट था। उस पर अमरीकी क्रान्ति का गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु उसने उपयोगितावादी तर्कों का प्रयोग न करके निरपेक्ष प्राकृतिक अधिकारों को अपने विचारों का आधार बनाया, विशेषकर उसने लॉक और रूसो का अनुगमन किया। उसका विश्वास था कि स्वतंत्रता प्रत्यक्ष लोकशासन पर ही निर्भर रहती है, मनुष्य स्वभाव से ही समान और स्वतंत्र हैं, जनता को इस बात का अधिकार है कि यदि उसकी स्वतंत्रता और सम्पत्ति पर कोई आक्रमण हो तो उसका प्रतिरोध करे। इसके अतिरिक्त सरकार के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी था; उसका कहना था कि सरकार को कुछ विशिष्ट उद्देश्यों तक ही अपने कार्यों को सीमित रखना चाहिए। किन्तु वह प्रीस्टले के मुकाबिले में कम आशावादी था। उसका ब्राउन के इस सिद्धान्त की ओर अधिक झुकाव था कि इंगलैंड की बढ़ती हुई विलासिता उसके पतन का चिन्ह है।

प्रीस्टले और प्राइस तो ह्विग दृष्टिकोण के प्रतिनिधि थे; टोरी तथा अँग्रेजी चर्च (एंग्लीकन चर्च) के दृष्टिकोण का प्रतिपादन ग्लौसेस्टर के डीन जोशिया टकर[१४] (१७१२-१७९९) ने किया। उसके विचार उसके वर्ग के विशिष्ट दृष्टिकोण का नमूना थे। उदाहरण के लिये उसे विदेशियों से द्वेष था, तत्वज्ञान सम्बन्धी तर्क-वितर्क से घृणा थी, और स्वस्थ तथा सहज राष्ट्रीय भावनाओं से अनुराग था। वह रूसो के "श्रेष्ठ बर्बर" और प्रकृति की अवस्था की धारणाओं को सहन नहीं कर सकता था। उसका कहना था कि लोक प्रभुत्व का अर्थ होगा भीड़ का शासन, और यदि जनता को अपनी सरकार को बदलने का अधिकार दिया गया तो हिंसा और अराजकता का बोलबाला हो जायगा। उसने अमरीकी उपनिवेशों के विद्रोह करने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया; किन्तु साथ ही साथ उसकी राय थी कि सभी प्रकार के उपनिवेश निरर्थक हैं। उसने कहा कि यदि इंगलैंड अपने सब उपनिवेशों को छोड़ दे तो उसका धन भी बचेगा और राजनीतिक भ्रष्टाचार से भी मुक्ति मिल जायगी। वह अबाध व्यापार की नीति का समर्थक था, और कहा करता था कि राजनीतिक सम्बन्ध के टूट जाने पर भी आत्महित से प्रेरित होकर उपनिवेश इंगलैंड के साथ व्यापारिक सम्बन्ध कायम रखना पसन्द करेंगे।

यद्यपि अमरीकी क्रान्ति के काल में इंगलैंड में उदारवादी सिद्धान्तों की तेजी से प्रगति हुई और आरम्भ में अँग्रेजों का लोकमत फ्रांसीसी क्रान्ति के पक्ष में था, किन्तु फ्रांसीसी लोकतंत्र के अत्याचारों और नेपोलियन के युद्धों से उत्पन्न प्रतिक्रियावादी भावना ने इस प्रवृत्ति को रोका और बर्क का पुरातनपोषी (अनुदार) सिद्धान्त लगभग चौथाई शताब्दी तक इंगलैंड में प्रमुख सिद्धान्त बना रहा।

१४. देखिये उसकी *Treatise on Civil Government* (1781).

पठनीय ग्रन्थ

Boorstin, D. J., *The Mysterious Science of Law; an Essay on Blackstone's Commentaries* (Cambridge, Harvard Univ. Press, 1945)

Gignoux, C. J., *Turgot* (Paris, Fayard, 1945)

Hubert Rene, *D' Holbach et ses amis* (Paris, Delpeuch, 1928)

Laski, H. J., *Political Thought in England from Locke to Bentham* (New York, Holt, 1920), Chap. 5.

Maestro, M. T., *Voltaire and Baccaria as Reformers of Criminal Law* (New York, Columbia Univ. Press, 1942)

Sabine, G. H., *A History of Political Theory*, rev. ed. (New York, Holt, 1950) pp. 563-567, 568-570.

Stephen, Leslie, *History of English Thought in the Eighteenth Century*, 2 vols. (New York, Putnam, 1927) Vol. II.

Wickwar, W. H., *Baron d' Holbach* (London, G. Allen, 1935)

" " *"Helvetues & Holbach"* in F. J. C. Hearnshaw, ed., *The Social & Political Ideas of Some Great French Thinkers of the Age of Reason*, New York, Barnes & Noble, (1950) Chap. 8.

अध्याय १९

अमरीकी तथा फ्रांसीसी क्रान्तियों के राजनीतिक सिद्धान्त

अमरीकी तथा फ्रांसीसी क्रान्तियों का स्वभाव

अमरीकी क्रांति के पचास वर्ष पहले से अमरीकी उपनिवेशियों तथा उपनिवेशों में स्थिति ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों के बीच निरंतर राजनीतिक विवाद चलता आया था। किंतु ये संघर्ष स्थानीय और वैयक्तिक थे; उनका संबंध ऐसे प्रश्नों से था जैसे कि मताधिकार का प्रसार, इंगलैंड के अपराधियों का उपनिवेशों में आयात, कागज की मुद्रा का जारी करना, और स्वामियों की भूमि पर कर लगाना इत्यादि। ऐसा अवसर कभी नहीं आया था कि दोनों पक्षों में गम्भीर शत्रुता उत्पन्न हो जाती। इसका एक कारण तो यह था कि उपनिवेशियों को ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता में विश्वास था, और दूसरे वालपोल तथा उसके उत्तराधिकारियों ने ऐसे विवादों को नहीं उठने दिया था जिनसे कि देश में अथवा उपनिवेशों में किसी प्रकार का विरोध उठ खड़ा होता।

जार्ज तृतीय की महती आकांक्षा थी कि राजा की शक्ति की पुनः स्थापना की जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि पुराने अभिजात वर्ग का, जिसके हाथों में शासन चला आया था, पतन हो गया, और उपनिवेशों के सम्बन्ध में उग्र नीति अपनाई गई। इंगलैंड में जो राजा का विरोध करने वाले थे, उन्होंने उपनिवेशों का पक्ष पोषण किया; अतः इंगलैंड में राजा की शक्ति की पुनः स्थापना करना और उपनिवेशों पर दृढ़ता से आधिपत्य कायम रखना, ये दोनों प्रश्न अन्योन्याश्रित हो गये। संघर्ष के प्रारम्भ होने का कारण यह था कि ब्रिटिश सरकार ने नौपरिवहन अधिनियमों को लागू करने का प्रयत्न किया। इन अधिनियमों की प्रायः उपेक्षा होती आई थी। न्यू इंगलैंड के व्यापारियों ने विशेषकर अफ्रीका तथा पश्चिमी द्वीप समूह (वेस्ट इंडीज) के साथ लाभप्रद व्यापार स्थापित कर लिया था। जब ब्रिटिश सरकार ने सन्देहास्पद माल की तलाशी के लिये वारंट जारी किये तो उपनिवेशों ने समझा कि ब्रिटिश संसद का हमारे मामले में यह अनुचित हस्तक्षेप है।

वास्तविक संघर्ष तब प्रारंभ हुआ जब कि इंगलैंड के उपनिवेशों से उस व्यय का अंश वसूल करना चाहा जो उसे कनाडा में सेना रखने के लिये करना पड़ता था। १७६५ में **मुद्रांक अधिनियम** (स्टाम्प एक्ट) पास किया गया। इस पर उपनिवेशों ने आपत्ति उठाई और कहा कि बिना प्रतिनिधित्व का अधिकार दिये हम पर कर लगाना अत्याचार है। उनका कहना था कि हमारी सभाओं को ही आंतरिक कर लगाने

का अधिकार है। फलस्वरूप ब्रिटिश साम्राज्य के स्वभाव और ब्रिटिश संसद की शक्तियों के संबंध में कटु मतभेद उठ खड़ा हुआ। **मुद्रांक अधिनियम** हटा दिया गया और उसके स्थान पर उपनिवेशों के आयात पर कर लगा दिया गया। किन्तु उपनिवेशों ने इनका भी विरोध किया और इंगलैंड के माल का बहिष्कार करने के लिये परस्पर समझौता कर लिया। तब ब्रिटिश नीति को क्रियान्वित करने के लिये सेना भेजी गई, जिससे हिंसा हुई, पहले से भी अधिक दमनकारी कानून बनाए गये और अन्त में युद्ध हुआ। राज्यों की सरकारों की स्थापना हुई और सम्पूर्ण महाद्वीप का एक सम्मेलन हुआ। युद्ध का आरंभ तो शिकायतों को दूर करने की माँग को लेकर हुआ, किंतु अन्त में उपनिवेशों ने स्वाधीनता प्राप्त करली और अपना एकीकरण कर लिया।

अमरीकी क्रान्ति ने यूरोप के लोगों, विशेषकर फ्रांसीसियों, का बहुत ध्यान आकृष्ट किया। फ्रांस का राजा तथा उसके सलाहकार सप्तवर्षीय युद्ध की हार के अपमान को नहीं भूले थे, अतः जब इंगलैंड पर विपत्ति आई तो वे प्रसन्न हुए, और अमरीकियों का पक्ष लिया तथा स्वाधीनता प्राप्त करने में उन्हें पर्याप्त सहायता पहुँचाई। फ्रांस के राजनीतिक दार्शनिकों ने सोचा कि अमरीकी क्रान्ति प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप है। एक जनता ने, जो प्रकृति के निकट है, प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के अनुसार जानबूझ कर एक सरकार को उलट दिया है और ऐच्छिक समझौते के आधार पर एक नई सरकार कायम करली है। अमरीकियों ने अपने विद्रोह को उचित ठहराने के लिये जिन सिद्धान्तों का सहारा लिया उनसे फ्रांसीसी लोग पूर्ण रूप से परिचित थे; अतः फ्रांस के क्रान्तिकारी विचारों को बहुत प्रोत्साहन मिला।

फ्रांस ने अमरीकी क्रान्ति में जो हस्तक्षेप किया उससे वहाँ के आन्तरिक घटना-चक्र की गति और भी अधिक तीव्र होगई। वहाँ की सरकार का तेजी से दिवाला निकल रहा था। तुर्गो और नेकर ने कुछ वित्तीय सुधार किये, किंतु वे सामन्तों और पादरियों के विरोध के कारण विफल रहे। इन वर्गों के लोग करों का बोझ उठाने के लिये तैयार नहीं थे। सुधार की अनेक योजनाएँ प्रस्तावित की गईं; और अन्त में संसद (**एतात जैनेराल**) का आह्वान किया गया। उसने अपने को राष्ट्रीय सभा घोषित कर दिया और फ्रांसीसी जनता को प्रतिनिधि के रूप में राज्य का शासन चलाने और पुनः संगठन करने का अधिकार अपने हाथों में ले लिया। विशेषाधिकारों का अन्त कर दिया गया, एक विस्तृत अधिकार अधिनियम जारी किया गया और राज्य के लिये एक नया संविधान लागू किया गया।

किंतु शीघ्र ही क्रांति की बागडोर उन नरम विचारों के लोगों के हाथों से निकल गयी जिन्होंने उसे प्रारंभ किया था। क्रान्तिकारी विचार जनता में, विशेषकर पेरिस में, फैल गये। फलस्वरूप अराजकता उत्पन्न हो गई और अधिक उग्र विचारों के नेताओं का प्रभाव बढ़ गया। एक के बाद एक विस्मयकारी घटनाएँ घटती गईं। राजा को फाँसी

दी गई, गणतन्त्र की स्थापना हुई, **संचालक-मंडल** के प्रशासनीय प्रयोग हुए और अन्त में नेपोलियन ने प्रबुद्ध निरंकुशतन्त्र की स्थापना की। इस काल में कई लिखित संविधान तैयार और क्रियान्वित किये गये। लिखित संविधान की प्रणाली का अमेरिका में जन्म हुआ था, उस काल के लोगों का विधि-संहिताओं और आधारभूत लेखों की उपादेयता में सामान्य विश्वास था, इससे इस प्रणाली की लोकप्रियता और भी बढ़ी और आगे चलकर वह यूरोप के समस्त भागों में फैल गई। फलतः लिखित संविधान का स्वभाव और उसकी रचना की पद्धति राजनीतिक सिद्धान्त का महत्वपूर्ण विषय बन गया।

१७९० में फ्रांस की **राष्ट्रीय सभा** ने घोषणा की कि "फ्रांसीसी राष्ट्र आक्रामक युद्धों का त्याग करता है, और कभी किसी जनता की स्वतन्त्रता के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग नहीं करेगा।" १७९४ में आबे ग्रेग्बार ने १७८९ की **मानव अधिकारों की घोषणा** के परिशिष्ट के रूप में सार्वराष्ट्रीय विधि की एक योजना प्रस्तुत की। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के प्रगतिशील विचार विद्यमान थे और फ्रांसीसी क्रांति की प्रारम्भिक अवस्था की आदर्शवादी भावना प्रतिबिम्बित थी। किंतु पड़ोसी शासकों को भय हुआ कि फ्रांसीसी अपने क्रांतिकारी विचारों को समस्त यूरोप में फैलाने का प्रयत्न करेंगे, इससे उन्होंने फ्रांसीसी राजतन्त्र की पुनः स्थापना करने की चेष्टा की, अतः एक यूरोपव्यापी युद्ध छिड़ गया। युद्ध के दौरान में फ्रांस के क्रांतिकारियों ने अपने सिद्धान्तों का ईमानदारी से पालन नहीं किया और फ्रांस ने विजय तथा आक्रमण की नीति आरम्भ की जिसकी आगे चलकर नेपोलियन के साम्राज्य के रूप में परिणति हुई। इंगलैंड का प्रारम्भ में तटस्थता की नीति की ओर झुकाव था किंतु बाद में उसने फ्रांस के खिलाफ युद्ध लड़ने-वाले यूरोपीय राष्ट्रों के अनेक संघों का नेतृत्व किया जिसके फलस्वरूप अन्त में फ्रांस का राज्यक्षेत्र उसकी राष्ट्रीय सीमाओं तक ही सीमित रह गया। इन युद्धों के दौरान में फ्रांस तथा इंगलैंड दोनों ने ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आधारभूत सिद्धान्तों की उपेक्षा की। तटस्थ राष्ट्रों के व्यापारिक अधिकारों का निर्लज्जता के साथ अतिक्रमण किया। इसका संयुक्त राज्य अमेरिका ने, जो कि सामुद्रिक तटस्थ राज्यों में प्रमुख था, विरोध किया और फलस्वरूप १८१२ का युद्ध हुआ।

नेपोलियन के युद्धों के अन्त में वीना का सम्मेलन हुआ। उसके कार्य का आधार वैधता का सिद्धान्त था, और उसने लोकतंत्र तथा राष्ट्रीयता की शक्तिशाली भावनाओं की उपेक्षा की। उसने जिस प्रतिक्रियाशील भावना का परिचय दिया वह १९वीं शताब्दी में काफी समय तक कायम रही।

अमरीकी क्रान्ति का राजनीतिक सिद्धान्त

अमरीकी क्रान्ति के राजनीतिक सिद्धान्त को किसी श्रृंखलाबद्ध ग्रन्थ के रूप में

व्यक्त नहीं किया गया। पुस्तिकाओं, मंच से दिये गये भाषणों, समाचार पत्रों में प्रकाशित विवादों, प्रस्तावों और संविधानों के रूप में उसका प्रकाशन हुआ। उसका प्रतिपादन और समर्थन राजनीजिक दार्शनिकों ने नहीं, क्रांतिकारी कार्य को आगे बढ़ानेवाले व्यक्तियों ने किया। प्रारम्भ में उपनिवेशियों ने मुख्यतः सांविधानिक तर्क का सहारा लिया और उपनिवेशों तथा मातृदेश की सरकार के बीच विद्यमान विधिक सम्बन्धों का विवेचन किया। संसद ने उपनिवेशों पर कर लगाने का जो अधिकार जताया उसके विरुद्ध उन्होंने राजा से अपील की, अपने पुराने अधिकार पत्रों का हवाला दिया, कराधान के सम्बन्ध में वे जिस स्वायत्तता का उपभोग करते आये थे, उसकी दुहाई दी और अँग्रेज जनों के परम्परागत अधिकारों का उल्लेख किया। बाद के काल में प्राकृतिक अधिकारों और सामाजिक संविदा पर आधारित सामान्य सिद्धान्तों का सहारा लिया गया; और इस बात पर जोर दिया गया कि उपनिवेशियों को मनुष्य होने के नाते अलंघनीय अधिकार प्राप्त हैं; अँग्रेज जन होने के नाते जो विधिक अधिकार उन्हें मिलने चाहिये थे, उनके महत्व को देना छोड़ दिया गया। कुछ लोगों ने कहा कि राजा ने जनता के साथ किये अपने समझौते को भंग कर दिया है; अतः उसका प्रतिरोध करना सर्वथा उचित है। कुछ का कहना था कि सामाजिक संविदा ही भंग हो गई है और प्रकृति की अवस्था पुनः स्थापित हो चुकी है। इसलिये अमरीकी जनता को एक नयी राजकीय व्यवस्था स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो गया है।

उपनिवेशियों के राजनीतिक विचारों के दो मुख्य स्रोत थे : इंगलैंड के सत्रहवीं शताब्दी के ऐतिहासिक उदाहरण, और उस समय के क्रांतिकारी दल के सिद्धान्त। मिल्टन, सिडनी, हैरिंगटन और लॉक द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारों, सामाजिक संविदा, लोक-प्रभुत्व और क्रान्ति का अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्तों को बार-बार उद्धृत किया गया। ग्रोशस, पूफेंडोर्फ और वातेल भी लोकप्रिय थे क्योंकि उन्होंने प्राकृतिक विधि को अधिक महत्व दिया था। कुछ उग्र विचारकों ने इंगलैंड के समतावादियों (लेवलर्स) के सदृश् साम्यवादी विचारों का भी प्रचार किया, किंतु सामान्यतः उपनिवेशियों के राजनीतिक सिद्धांत वे ही थे जिनसे इंगलैंड के लोग पहले से परिचित थे फिर भी जब उपनिवेशों ने स्वतंत्रता के बाद इन सिद्धांतों को क्रियान्वित किया तो वे एक ऐसी शासन-प्रणाली स्थापित करने में सफल हुए जो इंगलैंड के मुकाबिले में कहीं अधिक लोकतांत्रिक थी।

सांविधानिक तर्क प्रस्तुत करते समय उपनिवेशियों ने कहा कि ब्रिटिश संसद को उपनिवेशों पर कर लगाने का अधिकार नहीं है। उपनिवेश राजा के भक्त हैं जिससे कि उन्हें अधिकार पत्र मिले हैं, संसद के नहीं; और यहाँ हमारी सभाओं का वही स्थान है जो कि इंगलैंड में संसद का। कुछ का कथन था कि आंतरिक करारोपण और वाह्य करारोपण दो भिन्न चीजें हैं; संसद औपनिवेशिक व्यापार का नियमन कर सकती है, किंतु

उसे उपनिवेशों के अन्दर कर लगाने का अधिकार नहीं है। यह भी कहा गया कि उपनिवेशी अँग्रेज़ नागरिक हैं, अतः जब तक संसद में उसका प्रतिनिधित्व नहीं है तब तक संसद उन पर कर नहीं लगा सकती; और चूँकि ब्रिटिश संसद में कोई उपनिवेशी प्रतिनिधि नहीं बैठता इसलिये औपनिवेशिक कर उपनिवेशों की सभाएँ ही लगा सकती हैं।

उपनिवेशियों के सांविधानिक तर्क दुर्बल थे, क्योंकि ब्रिटिश प्रणाली में राजा और संसद के बीच जो सम्बन्ध थे, उनके बारे में उनकी धारणा बहुत पुराने ढँग की थी; संसद की शक्ति में जो भारी वृद्धि हो चुकी थी उसे वे नहीं समझ पाये थे। संसदीय प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में उनका जो सिद्धांत था वह भी अपरिपक्व था, क्योंकि इंगलैंड में प्रतिनिधित्व का आधार वर्ग व्यवस्था थी, न कि जनसंख्या जैसा कि उपनिवेशों में था, और इंगलैंड की जनता का भी एक बड़ा अंग उसी प्रकार प्रतिनिधित्व से वंचित था जिस प्रकार कि उपनिवेशों में। उपनिवेशियों द्वारा दिये गये विधिक तर्कों के उदाहरण जेम्स ओटिस और पैट्रिक हैनरी के भाषणों में, जॉन एडम्स,[1] जेम्स विलसन,[2] स्टीफन हॉप्किन्स[3] और रिचार्ड ब्लेंड[4] की रचनाओं में तथा वर्जीनिया की सभा (१७६५) के प्रस्तावों में मिल सकते हैं।

सांविधानिक तर्कों के साथ-साथ प्राकृतिक अधिकारों के निरपेक्ष सिद्धांत पर आधारित दलीलें भी दी गईं। चूँकि सांविधानिक तर्क कमजोर पड़े, इसलिये इन दलीलों को सविस्तार प्रस्तुत किया गया। इनमें निम्न धारणाएँ सम्मिलित थीं; आदि में मनुष्य प्रकृति की अवस्था में रहते थे और स्वतंत्र तथा समान थे, राजनीतिक समाज की स्थापना सार्वजनिक कल्याण के लिये और ऐच्छिक समझौते के आधार पर हुई, व्यक्ति के ऐसे अधिकार हैं जिनका सरकार को अतिक्रमण नहीं करना चाहिए, अनन्य रूप से प्रभुत्व जनता में निवास करता है, और यदि सरकार का शासन बुरा हो तो जनता को विद्रोह करने का अधिकार है। जीवन, स्वतंत्रता, सम्पत्ति तथा सुख की प्राप्ति की चेष्टा के अधिकारों को सामान्यतः प्राकृतिक और अलंघनीय अधिकारों की कोटि में सम्मिलित किया गया। इनके अतिरिक्त आराधना की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और अभियोग लगाए जाने पर जूरी द्वारा परीक्षण के अधिकार को भी विशेष महत्व दिया गया। सामान्य लोगों की राय थी कि जिन व्यक्तियों के स्वार्थों का समाज के सार्वजनिक हितों के साथ स्थाई सम्बन्ध हो और जिन्हें समाज में अनुराग

१. देखिये उसके *Works*, Vol. IV, pp. 1—177.
२. *Considerations on the Nature & Extent of the Legislative Authority of the British Parliament* (1764).
३. देखिये *The Rights of the Colonies Examined* (1764).
४. *An Inquiry into the Rights of the British Colonies* (1766).

हो, उन्हें वोट देने तथा पद धारण करने का प्राकृतिक अधिकार है।[५] चूँकि वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की सुरक्षा को ही सरकार का मुख्य उद्देश्य माना गया इसलिये सरकार को क्या करना चाहिए की अपेक्षा उसे क्या नहीं करना चाहिए की ओर अधिक ध्यान दिया गया। सरकारी हस्तक्षेप से लोगों को घृणा थी, और उनकी माँग थी कि व्यक्ति को पर्याप्त नागरिक स्वतन्त्रता और कार्यों की स्वतंत्रता प्रदान की जाय।

इन विचारकों का कहना था कि चूँकि जन्म से मनुष्य स्वतंत्र और समान है, इसलिये कोई सत्ता ऐच्छिक समझौते के बिना उनकी भक्ति की हकदार नहीं हो सकती। अतः सरकार का आधार शासितों की सम्मत्ति है। सभी कानून, विशेषकर करारोपण संबंधी नियम, उन लोगों की सम्मति पर आधारित होने चाहिए जिन्हें उनका परिपालन करना है। "बिना प्रतिनिधित्व के कर लगाना अत्याचार है।" उन्होंने माना कि प्रभुत्व जनता में ही निवास करता है, किंतु यह स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया कि "जनता" में कौन-कौन सम्मिलित है। सत्रहवीं शताब्दी के आल्थूसियस की भाँति अमरीकी विचारकों ने भी एक विशाल भूखंड पर बिखरे हुए समूहों के समूह को प्रभुत्व-सम्पन्न माना, व्यक्तियों के समूह को नहीं। इस विचार का उस काल के राज्यों के अधिकार के सिद्धान्त और बाद के संघ सिद्धांत से घनिष्ट सम्बन्ध था। कहा गया कि जो लोग सरकारी शक्ति का प्रयोग करते हैं, वे जनता के अभिकर्ता (एजेंट) होते हैं और अपने आचरण के लिये उसके प्रति उत्तरदायी होते हैं। यदि वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करें अथवा जनता के प्राकृतिक अधिकारों का अतिक्रमण करें तो उन्हें हटा दिया जाना चाहिए। जिन्हें स्वतंत्रता से प्रेम है उनके लिये विद्रोह करना अधिकार है और कर्त्तव्य भी।

उपनिवेशियों के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का सबसे अच्छा अभिकथन **स्वतंत्रता की घोषणा** में मिलता है। इसी प्रकार के अभिकथन औपनिवेशिक सभाओं के प्रस्तावों और राज्यों के प्रारम्भिक संविधानों के अधिकार अधिनियमों में भी मिलते हैं। जेम्स ओटिस ने १७६१ में ही क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को व्यक्त करना आरम्भ कर दिया था।[६] जॉन डिकिन्सन[७], सेमुअल एडम्स[८], जॉन एडम्स[९], जेम्स विल्सन[१०] और

---

५. *Virginia Declaration of Rights.*
६. देखिये उसकी रचनाएँ *Rights of the Colonies Asserted & Proved.* (1764) और *Vindication of the British Colonies* (1765).
७. *Letters of a Pensylvania Farmer* (1768).
८. *Rights of the Colonists as Men and as British Subjects; Natural rights of the Colonists.*
९. *Thoughts on Government* (1776).
१०. *Consideration on the Nature & Extent of the Legislalive Authority of the British Parliament* (1774).

टॉमस जैफर्सन[११] की रचनाओं में भी उस समय के राजनीतिदर्शन का स्पष्ट निरूपण मिलता है।

विवाद के प्रारम्भिक काल में अमरीकियों ने राजतंत्रीय सिद्धान्त का विरोध नहीं किया और न स्वतंत्रता की ही इच्छा प्रकट की। अँग्रेज लेखकों की भाँति अमरीकी भी ब्रिटिश शासन-प्रणाली को सर्वोत्तम मानते थे। उपनिवेशों में ब्लेकस्टोन का गहरा प्रभाव था, और जेम्स ओटिस तथा जॉन एडम्स दोनों ने ही ब्रिटिश संविधान की श्रेष्ठ विशेषताओं की उत्साह के साथ प्रशंसा की। युद्ध ने, और विशेषकर टॉमस पेन[१२] (१७३७-१८०६) की रचनाओं ने गणतंत्रीय भावनाओं को प्रोत्साहन दिया। पेन ने राजतंत्र तथा पित्रागत सामन्ती प्रथा पर भयंकर प्रहार किया। उसका कहना था कि राजा लोग खर्चीला तथा व्यर्थ का तमाशा हैं। उसने राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त का मखौल उड़ाया और कहा एक ईमानदार आदमी उन सब मुकुटधारी गुंडों से अधिक मूल्यवान है जो अब तक संसार में हुए हैं। पित्रागत उत्तराधिकार के आधार पर सरकारी अधिकारियों को चुनने की प्रणाली को वह बहुत ही बेहूदा मानता था। उसने उपनिवेशियों को अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करने की प्रेरणा दी और कहा कि जब तक उपनिवेश ब्रिटिश राजमुकुट के भक्त बने रहेंगे तब तक विदेशी राष्ट्र युद्ध में उनका साथ नहीं देंगे। आगे चलकर अमरीकियों ने राजतंत्र और सामन्ती प्रथा के प्रति जो भाव दिखलाया, और लोक-निर्वाचन तथा स्वतंत्रता के विचार पर जो बल दिया उसका श्रेय बहुत कुछ टॉमस पेन को ही था।

पेन ने ब्रिटिश सरकार के स्वभाव की भी आलोचना की और नियन्त्रण तथा सन्तुलन की व्यवस्था का, जिसकी मोंतेस्क्यू ने प्रशंसा की थी, खंडन किया। उसका मत था कि सरकार के केवल दो काम हैं, विधि की रचना, और विधि का निष्पादन करना; न्यायपालिका कार्यपालिका शक्ति के ही एक अंश का प्रयोग करती है। इस विषय में उसका अमरीकी चिंतन के नेताओं से मतभेद था। उसका विश्वास था कि लिखित संविधान का अभाव ब्रिटिश प्रथा का गम्भीर दोष है; जिन परम्पराओं तथा व्यवहार पर ब्रिटिश संविधान आधारित हैं उन्हें सही अर्थ में संविधान नहीं कहा जा सकता। अमेरिका में इस विचार का विकास हो चुका था कि संविधान एक निश्चित रूप से लिखित लेख होना चाहिए और उसकी रचना की प्रक्रिया साधारण विधि के निर्माण की प्रक्रिया से भिन्न होनी चाहिए। पेन ने इस विचार को राजनीतिक पद्धति के विकास में एक युग परिवर्तनकारी विचार माना। सरकार के सम्बन्ध में उसका कहना था कि उसके

---

११. *Summary View of the Rights of British America* (1774); *Virginia Declaration of Independence* (1766).

१२. *Common Sense* (1776); *The Forestres' Letters* (1776); *The American Crisis* (1776-1783).

पक्ष में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि वह एक आवश्यक बुराई है। अतः उसके कार्य सीमित होने चाहिये। मनुष्य के अधिकार सरकार से होनेवाले बड़े से बड़े लाभ से भी अधिक महत्वपूर्ण हैं।

यह कहना अनुपयुक्त होगा कि इंगलैंड का प्रतिरोध करने के मामले में अमरीका में मतैक्य था। राजा के अनेक भक्तों ने क्रांति का विरोध किया; कुछ ने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से, कुछ ने वैयक्तिक कारणों से, और कुछ ने सिद्धान्तों का सहारा लेकर। टोरी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व वर्जीनिया के पादरी जौनाथन बूचर[१३] (१७३८-१८०४) ने किया। उसने सामान्यतया फिलमर की **पैट्रियार्का** का अनुसरण किया। उसका कथन था कि सरकार की रचना ईश्वर ने की है और राजा लोग दैवी अधिकार के आधार पर शासन करते हैं। उसने यह मानने से इन्कार किया कि सरकार एक आवश्यक बुराई है; बल्कि वह उसे एक महान् वरदान समझता था। प्राकृतिक समता और लोकप्रभुत्व के सिद्धान्तों से उसे घृणा थी। उसका विश्वास था कि लोकतन्त्र अराजकता का ही दूसरा रूप है, अतः लोगों का कर्त्तव्य है कि विनम्र भाव से स्थापित सत्ता के आदेश का पालन करें। विद्रोह का अधिकार "एक घृणास्पद और निन्दनीय सिद्धान्त है और इसका जन्मदाता विद्रोह का जनक लूसीफर था"।

अमरीकी लेख्य तथा संविधान

अमरीकी तथा फ्रांसीसी क्रांतियों के काल में अनेक महत्वपूर्ण सरकारी लेख्यों का प्रादुर्भाव हुआ जिनमें तत्कालीन राजनीतिक दर्शन का स्पष्टीकरण मिलता है। अमेरिका में **स्वाधीनता की घोषणा**, औपनिवेशिक सभाओं, महाद्वीपीय सम्मेलनों के प्रस्ताव, राज्यों के संविधान, **परिसंघ के आधारभूत सिद्धान्त** (आर्टीकल्स आव कॉनफैडरेशन) और **संघ का संविधान** सबसे महत्वपूर्ण थे। जहाँ तक वैयक्तिक स्वन्त्रता के अभिकथन का सम्बन्ध था इन लेख्यों में **महान अधिकार पत्र** (मेग्ना कार्टा), **अधिकार याचना** (पिटीशन आव राइट), **अधिकार अधिनियम**, (बिल आव राइट्स) **बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम** (हैबियस कौर्पस एक्ट) आदि में निहित ब्रिटिश परम्पराओं का ही अनुसरण किया गया, और साथ ही साथ लॉक के अलंघनीय प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत पर भी बल दिया गया। **स्वतन्त्रता की घोषणा** को नागरिक स्वतन्त्रता और क्रांति के अधिकार के सबसे अच्छे अभिकथन के रूप में स्वीकार किया गया।

जहाँ तक उनका सम्बन्ध सरकार की रचना से था, उनमें क्रौमवेल के **इंस्ट्रूमेंट आव गवर्नमेंट** का आभास मिलता था। उपनिवेशों के अधिकार पत्रों ने लिखित संवि-

१३. देखिये उसकी *View of the Causes & Consequences of the American Revolution* (1797).

धानों का भी काम किया था ; और सामाजिक संविदा के सिद्धान्त ने जनता की सम्मति से राज्य व्यवस्था स्थापित करने के लिये दार्शनिक आधार प्रदान किया। अमेरिका के संविधानों का राजनीतिक विचारों के इतिहास में विशेष महत्व है। पहली बार एक देश की जनता ने समझ-बूझ कर और अपनी इच्छा से एक शासन-व्यवस्था की रचना की और एक राजनीतिदर्शन को विधि का रूप दिया। इस काल का सबसे महत्वपूर्ण योग-दान यह विचार था कि सरकार का आधार एक आधारभूत लेख्य (संविधान) हो, जिसकी रचना इसी काम के लिये निर्मित एक प्रतिनिधि सभा द्वारा की गई हो और जिसे जनता ने औपचारिक रूप से स्वीकार कर लिया हो। सरकार के उत्पीड़न के डर से अमरीकियों ने अपनी सरकारों पर अतिरिक्त नियंत्रण रखने के लिये आधारभूत विधि की रचना की जिसे साधारण सरकार बदल नहीं सकती थी, और अपनी स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिये अधिकार अधिनियमों का निर्माण किया जो कि उसी आधारभूत विधि का अंग थे।

अमेरिका के संविधानों में इंगलैंड तथा फ्रांस से लिये हुए विचारों का ही समा-वेश नहीं था, बल्कि कुछ ऐसे सिद्धान्त भी सम्मिलित थे जो कि अमरीका की अपनी विशिष्ट संस्थाओं की उपज थे। अमरीकियों के सरकार सम्बन्धी विचारों को निर्धारित करने का बहुत कुछ श्रेय वहाँ की सामान्य आर्थिक और सामाजिक समानता, सामन्ती रूढ़ियों के अभाव और चर्च संगठन की सामुदायिक प्रणाली (कोंग्रीगेशनल सिस्टम) को था। यही कारण था कि राजतंत्र और सामन्ती विशेषाधिकारों को कोई स्थान नहीं दिया गया, और न पदों के मामले में पित्रागति के सिद्धान्त को ही स्वीकार किया गया। सरकार का कोई अंग अनुचित रूप से शक्ति का प्रयोग न कर सके, इसके लिये नियंत्रण तथा सन्तुलन की विशद व्यवस्था अपनाई गई। लोगों का विचार था सरकार एक अविश्वसनीय नौकर है, उसे सदैव संदेह की निगाह से देखना चाहिए और हर विषय में उसकी शक्तियों को सीमित रखना चाहिए। कार्यपालिक सत्ता से उन्हें विशेष भय था, और प्रतिनिधि सभाओं का मुख्यतः विश्वास करते थे। इसके अतिरिक्त अत्याचार से बचने के लिये लोक निर्वाचन तथा अल्प सेवा काल की युक्तियों को भी अपनाया गया। बड़ी स्थायी सेनाओं को खतरनाक समझा गया, और सैनिक सत्ता को असैनिक सत्ता के अधीन रखने के लिये समुचित व्यवस्था की गई। केन्द्रीयकृत सत्ता का विरोध किया गया, और स्थानीय स्वशासन पर अधिक बल दिया गया। इस प्रवृत्ति के कारण एकता के मार्ग में जो कठिनाइयाँ थीं वे और भी अधिक गम्भीर होगईं।

क्रांति का ध्वंसात्मक सिद्धांत अत्यधिक लोकतंत्रीय था, किंतु क्रियान्वित करते समय उसे बहुत कुछ सीमित कर दिया गया। मतदान और पदधारण के लिये सम्पत्ति संबंधी योग्यताएँ निश्चित की गईं और इस प्रकार राजनीतिक "जनता" का अर्थ निश्चित रूप से अल्पसंख्यक जनता लगाया गया। अनेक राज्यों में धार्मिक योग्यताएँ

लागू की गई और कैथोलिकों तथा अनीश्वरवादियों को उच्च पदों से वंचित कर दिया गया। पादरियों के पद धारण करने पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया ताकि चर्च तथा राज्य का सम्बन्ध अधिक घनिष्ट न हो सके। देश में दासों की एक विशाल संख्या थी, किंतु इस चीज को प्राकृतिक समता के सिद्धांत के विरुद्ध नहीं माना गया, और स्त्रियों के मताधिकार का तो प्रश्न ही नहीं उठाया गया।

अमेरिका के लेखों का यूरोप के राजनीतिक दार्शनिकों ने गम्भीरता से अध्ययन किया। इंगलैंड में रिचार्ड प्राइस[१४] ने अमेरिका की क्रांति को युगान्तरकारी घटना बतलाया। फ्रांस में बेंजामिन फ्रैंकलिन के प्रभाव के कारण अमरीकी विचारों का तेजी से प्रसार हुआ, और तुर्गो, माब्ली, कोंदर्से और मिराबो ने उनका सावधानी से अध्ययन किया। अनेक फ्रैंचजनों ने, जिनमें कुछ उच्चतम परिवारों के व्यक्ति सम्मिलित थे, स्वतंत्रता संग्राम में अमरीकियों की ओर से भाग लिया था, और अमरीकियों के स्वतन्त्रता तथा समता संबंधी सिद्धांतों के उत्साही समर्थक होकर लौटे थे। इस काल की अनेक पुस्तकों से प्रकट होता है कि फ्रांस में अमरीकी घटनाओं के प्रति बड़ी दिलचस्पी थी।

यूरोप के लोगों ने अमेरिका की क्रांति को स्वतंत्रता का सूर्योदय समझा। यहाँ तक कि जर्मनी में भी जनता तथा सरकार की सहानुभूति उपनिवेशों के साथ थी। जर्मनी के प्रेस ने अमरीकियों के लेखों तथा भाषणों को व्यापक रूप से प्रकाशित किया। अमरीकियों का **अधिकारों की घोषणा** का विचार यूरोपवासियों को पसन्द आया। उस समय तक लोगों की धारणा थी कि लोकतन्त्र शासन-प्रणाली छोटे से राज्यों में ही क्रियान्वित की जा सकती है, किंतु इसके विपरीत अमेरिका में एक विशाल जनसमूह तथा विस्तृत भूखंड पर गणतन्त्रीय व्यवस्था को लागू किया था। इस चीज को लेकर यूरोप में गम्भीर विवाद चला। अमरीकी विचारों के प्रभाव से ही फ्रांस में क्रांतिकारी सिद्धांत तेजी से फैले, और यूरोप में लिखित संविधानों तथा प्रतिनिधि सभाओं की माँग उठी। १७८७ में अमरीकी संविधान की रचना के लिये फिलाडेल्फिया में जो सम्मेलन हुआ, उसमें जो संविधान बनाया गया, और उसके सिद्धान्तों का **दी फेडरलिस्ट** में जो विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया, इन सब चीजों के प्रभाव के कारण ही १७८९ में फ्रांस को एतात जैनेराल का आह्वान किया गया।

फ्रांसीसी क्रान्ति का राजनीतिक सिद्धान्त

अमेरिका की भाँति फ्रांस में भी, रूसो के बाद, क्रान्ति के सिद्धान्त राजनीतिक पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित हुए। उग्र विचार प्रायः लेखकों के नाम दिये बिना ही

१४. देखिये उसकी रचना *Observations on the Importance of the American Revolution* (1777).

प्रकाशित किये गये, और पुरानी संस्थाओं का सामन्तों, पादरियों और दंडाधिकारियों ने समर्थन किया। अनेक लेखकों का विश्वास था कि हम शुद्ध बुद्धि के आधार पर सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को हल कर सकते हैं, आवश्यकता केवल इस बात की है कि लोग अपने मूढ़ाग्रहों को त्याग दें। संसद के आह्वान और सामन्ती व्यवस्था तथा विधिक प्रक्रिया के सुधार के सम्बन्ध में मुख्यतः वादविवाद चला। जिन दुकानों पर सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तकें मिलतीं उन पर सदैव भीड़ लगी रहती थी, वाचनालय खोले गये और इंगलैंड की तरह की राजनीतिक गोष्ठियों की स्थापना हुई। पेरिस में पुस्तिकाओं की ऐसी बाढ़ आ गई कि छपाई की कीमत दुगनी हो गई; केवल १७८९ के अन्तिम महीनों में कई हजार पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुईं।

१७८९ की बसंत ऋतु में कुछ स्मृतिपत्र (काहियेर) प्रकाशित हुए जो कि पुस्तिकाओं के मुकाबिले में नरम और संयत थे। इनमें वे शिकायतें और सुधार के सुझाव थे जिन्हें स्थानीय चुनाव के निर्वाचन क्षेत्रों में तैयार किया गया था। लोगों का इरादा था कि जब संसद की बैठक प्रारम्भ होगी तो इन स्मृतिपत्रों को उसके समक्ष अनुदेशों (हिदायतों) के रूप में प्रस्तुत किया जायगा। यद्यपि इनमें बड़ी भिन्नताएँ थी और इनका संबंध मुख्यतः स्थानीय बुराइयों और कुरीतियों से था, फिर भी कुछ ऐसी चीजें थीं जो प्रायः सभी में पाई जाती थीं। सभी में असमानता तथा कर की अधिकता की शिकायत की गई थी, और सभी में सामाजिक संविदा, व्यक्ति के अधिकारों और लोकप्रभुत्व के सिद्धांतों को दुहराया गया था। किसानों ने अपने स्मृतिपत्रों में मुख्यतः सामाजिक और आर्थिक सुधारों की माँग की थी, पादरियों ने अपने मामलों का उल्लेख किया था और सामन्तों ने राजनीतिक कार्यक्रम की ओर मुख्य ध्यान दिया। इस बात में सभी वर्ग एकमत थे कि एक नई शासन-प्रणाली की स्थापना होनी चाहिए। कुछ प्रतिनिधियों को तो यहाँ तक अनुदेश दिया गया था कि जब तक एक नया संविधान न बन जाय तब तक वे सुधार के कार्यक्रम पर विचार ही न करें।

जो शासन-प्रणाली लोग स्थापित करना चाहते थे उसकी मुख्य विशेषताओं के संबंध में सब एकमत थे। उनका कहना था कि राजा का पद रहना चाहिए, किंतु उसकी विधायी शक्तियों में राष्ट्र का भी साझा हो, और इस कार्य के लिये राष्ट्र की महासभा उसका प्रतिनिधित्व करे। सबसे विवादग्रस्त प्रश्न यह था कि तीनों वर्गों (एस्टेट्स) के प्रतिनिधि पृथक-पृथक वोट दें अथवा एक साथ बैठकर। राजा की कार्यपालक शक्ति के संबंध में लोगों की राय थी कि उसका प्रयोग राजा उन मंत्रियों के द्वारा करे जिन्हें व्यावहारिक न्यायाधिकरणों अथवा संसद (एतात जैनेराल) के प्रति जवाबदेह ठहराया जा सके। संसद की निश्चित अवधि के बाद बैठक हुआ करे और वह सीमित काल के लिये करों को निर्धारित किया करे। प्रान्तों में स्थानीय सभाएँ स्थापित की

जायँ और उन्हें विस्तृत प्रशासनीय शक्तियाँ दे दी जायँ। न्यायालयों की प्रक्रिया को सरल बनाया जाय और अभियुक्तों के साथ पहले से अच्छा व्यवहार किया जाय। विधि को संहिताबद्ध करने की माँग प्राय: सभी स्मृतिपत्रों में दुहराई गई थी।

सुधारकों के राजनीतिक विचारों का प्रतिनिधित्व आबे सेज़ (१७४८-१८३६) ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध में किया। उसने सामन्त वर्ग तथा पादरियों के विशेषाधिकारों पर आक्रमण किया और कहा कि तीसरे वर्ग को, जिसमें देश की बहुसंख्यक जनता सम्मिलित है और जो राष्ट्र का सभी उपयोगी काम कर सकता है, राजनीतिक शक्ति में साझा मिलना चाहिए। रूसो के राजनीतिदर्शन का अनुसरण करते हुए सेज़ ने कहा कि समाज व्यक्तियों से मिलकर बनता है, जो स्वेच्छा से अपनी-अपनी पृथक इच्छाओं को संयुक्त करके एक सामान्य इच्छा का निर्माण कर लेते हैं। किंतु एक बात में वह रूसो से सहमत नहीं था। रूसो के विपरीत उसका विश्वास था कि एक बड़े राज्य में जनता के प्रतिनिधि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति कर सकते हैं।

राज्य के संगठन को उचित प्रक्रिया यह है कि एक लिखित संविधान की रचना करने के लिये एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया जाय। यह आधारभूत बिधि (संविधान) प्रभुत्व सम्पन्न जनता पर लागू नहीं की जा सकती; वह बाद में उसको अपने एक सम्मेलन द्वारा बदल सकती है; किंतु यह उस सरकार पर लागू होगी जिसकी स्थापना इसके अनुसार की जाती है। सेज़ ने अपनी पुस्तिका की रचना उस समय की जबकि संसद के संगठन के सम्बन्ध में विवाद चल रहा था, और कहा कि तीसरे वर्ग के प्रतिनिधियों को अपनी पृथक बैठक करके अपने को राष्ट्रीय संविधान-सभा का रूप दे देना चाहिये। अमरीकियों ने संविधान-सम्मेलन के विचार को पहले ही कार्य रूप दे दिया था, किन्तु सेज़ ने जिस स्पष्टता के साथ संविधान-सभा द्वारा लोकप्रभुत्व की अभिव्यक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वह राजनीति चिंतन को एक महत्वपूर्ण योगदान था। जिस प्रक्रिया द्वारा फ्रांस की संसद ने संविधान सभा का रूप धारण किया वह वास्तव में वही थी जिसका निरूपण सेज़ ने अपने निबन्ध में किया था।

मार्की द कोंदर्से (१७४३-१७६४) ने लिखित संविधान के सिद्धांत का और भी अधिक विस्तार के साथ निरूपण किया। वह अमेरिका की पद्धति से भली-भाँति परिचित था और इस बात को पूर्णरूप से स्वीकार करता था कि राष्ट्रीय इच्छा एक संविधान-सम्मेलन द्वारा एक लिखित लेख्य के रूप में व्यक्त होनी चाहिए। उसका विश्वास था कि बुद्धिमूलक दर्शन के आधार पर एक निर्दोष शासन-प्रणाली की रचना करना और प्राकृतिक स्वतन्त्रता की रक्षा की पूर्ण गारंटी देना सम्भव है। उसका सुझाव था कि संविधान में एक अधिकारों की घोषणा सम्मिलित होनी चाहिए; और इस बात को व्यवस्था की जानी चाहिए कि संविधान के संशोधन के लिये एक राष्ट्रीय सम्मेलन स्वत: बुलाया जासके। उसने कहा कि किसी पीढ़ी के लोगों को इस बात का

का अधिकार नहीं है कि वे अपने उत्तराधिकारियों को बाँधकर रखें, प्रत्येक पीढ़ी को स्वयं अपनी संस्थाओं के स्वभाव को निर्धारित करना चाहिए। अमेरिका की नियंत्रण और सन्तुलन की व्यवस्था की उसने यह कह कर आलोचना की कि इससे सामान्य इच्छा की स्वतंत्र और प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति में अनावश्यक हस्तक्षेप होता है।

कोंदर्से रूसो के इस विचार से सहमत नहीं था कि अतीत में कभी स्वर्णयुग था और सभ्यता ने अनाचार फैलाया तथा बुद्धिमूलक संस्थाओं को भ्रष्ट किया है; इतिहास के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण आशावादी था और उसका विश्वास था कि परिवर्तन लाभप्रद होता है और मानव का विकास प्रगति की ओर ले जारहा है। उसकी दृष्टि में अमेरिका और फ्रांस की क्रान्तियाँ मनुष्य की बुद्धि से उत्पन्न उन्नति का उदाहरण थीं। उसने यूरोप के घटनाचक्र के सम्बन्ध में आश्चर्यजनक भविष्यवाणी की; उसने बतलाया कि उदारवादी विचारों का प्रचार होगा, अमरीकी राष्ट्र का महत्व बढ़ेगा, व्यापारिक प्रतिबन्ध हटाए जायँगे और एशिया तथा अफ्रीका में यूरोप का प्रभाव बढ़ेगा।

फ्रांस के लेख्य तथा संविधान

फ्रांस की क्रान्ति ने भी अनेक महत्वपूर्ण लेख्यों और संविधानों को जन्म दिया। संसद की बैठकों के प्रारम्भ होने से पहले ही लाफायेत, सेज़, कोंदर्से के और मिराबो आदर्श **अधिकार घोषणाएँ** प्रकाशित कर चुके थे। अमरीकियों की भाँति अनेक फ्रांसीसी नेताओं की भी धारणा थी कि देश की आधारभूत विधि (संविधान) में राजनीतिदर्शन का अभिकथन भी सम्मिलित होना चाहिए। अनेक **स्मृतिपत्रों** में संसद को अनुदेश दिया गया था कि वह अमरीकी ढँग से नागरिक अधिकारों की एक घोषणा तैयार करे; और लाफायेत ने फ्रांस की सभा में इस बात पर बहुत आग्रह किया कि उसको प्राकृकित अधिकारों का एक अभिकथन तैयार करने में अमरीकियों का अनुकरण करना चाहिए। मालुए और आबे ग्रेग्वार के नेतृत्व में पादरी वर्ग ने इस विचार का विरोध किया। उनका कहना था कि फ्रांस की परिस्थितियाँ अमेरिका से भिन्न हैं, अव्यावहारिक दार्शनिक सिद्धांतों की अपेक्षा तो संस्थाओं और विधि का सुधार अधिक महत्वपूर्ण है, और कर्तव्यों का अभिकथन भी उतना ही आवश्यक है जितना कि अधिकारों का।

अन्त में १७८९ में **मानव तथा नागरिक के अधिकारों की घोषणा** तैयार की गई, और आगे के वर्षों में जो संविधान रचे गये उनमें उसको स्थान दिया गया। फ्रांस की घोषणा अमेरिका के अधिकार अधिनियम से बहुत कुछ मिलती जुलती थी, किंतु उसकी तुलना में अधिक विशद और निश्चित थी और उसका विन्यास भी अधिक तर्कसंगत था। इसके अतिरिक्त उसमें स्वतंत्रता की अपेक्षा समानता पर अधिक बल दिया गया, और स्वतंत्रता तथा लोकतंत्र के बीच भेद नहीं किया गया। फलस्वरूप प्रभुत्वसम्पन्न जनता में निहित निरंकुश शक्ति का व्यावहारिक परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति की स्वतंत्रता में बहुत हस्तक्षेप हुआ। फ्रांसीसियों को ऐसा लगा मानो संसार भर की दृष्टि

उन्हीं पर थी, और उनका विश्वास था कि "१७८६ के सिद्धांत" युगों के उतार-चढ़ाव और परिवर्तनों के बावजूद भी जीवित रहेंगे। इस लेख्य का यूरोप के राजनीतिक चिन्तन में बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा।

फ्रांस का पहला लिखित संविधान १७९१ में तैयार किया गया। इसमें रूसो के सिद्धांत के अनुसार प्रभुत्व जनता में निहित किया गया, मोंतेस्क्यू के अनुसार, सन्तुलन तथा नियंत्रण की व्यवस्था की गई और सेज़ के सिद्धांत को मानकर प्रभु-शक्ति के प्रयोग का अधिकार प्रतिनिधियों को दिया गया और सांविधानिक संशोधन की एक जटिल प्रक्रिया निश्चित की गई। राजा का पद कायम रक्खा गया किंतु शासन की वास्तविक शक्ति एक एक-सदनात्मक सभा को सौंप दी गई। ऐतिहासिक प्रांत समाप्त कर दिये गये और देश को कृत्रिम ढंग से स्थानीय क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया, और प्रत्येक को स्वशासन की बड़ी शक्तियाँ प्रदान कर दी गईं।

किन्तु शीघ्र ही व्यवस्थापिका में गुटबन्दी प्रारम्भ हो गई, युद्ध छिड़ गया, जर्मनी के राजाओं ने फ्रांसीसी जनता के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया और पेरिस में जनता का प्रभाव बढ़ने लगा; इस सब का परिणाम यह हुआ कि नरम विचारों के नेताओं का प्रभाव नष्ट हो गया और गणतंत्रीय व्यवस्था की माँग करने-वालों की शक्ति बढ़ गई। १७९२ में व्यवस्थापिका ने संशोधन की विधिक पद्धति की अवहेलना करके अपनी आज्ञप्ति से ही संविधान को नष्ट कर दिया; और जिरोंदिस्त दल की इच्छा के अनुसार एक ऐसा लेख्य तैयार किया गया जिसमें कोन्दर्से और पेन के सिद्धांतों का प्रभाव मुख्य था। शीघ्र ही शक्ति जैकोबिन दल के हाथों में आगई। उसने इस प्रारूप (मसविदा) को उठाकर अलग रख दिया, राजा का वध कर दिया और गणतंत्र की स्थापना हो गई। प्रथम वर्ष (१७९३) के संविधान के अनुसार सभी वयस्क पुरुषों को मताधिकार दे दिया गया और शासन का काम एकएक-सदनात्मक संसद को सौंप दिया गया। नियम रक्खा गया कि संसद का निर्वाचन प्रति-वर्ष होगा और जनता को उसके कार्यों को रद करने का अधिकार होगा। शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत त्याग दिया गया, और प्रत्यक्ष लोक-नियंत्रण स्थापित किया गया। प्रशासन के काम के लिये एक परिषद का निर्माण किया गया और उसे व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया। जनता ने अपने वोट से संविधान का अनुसमर्थन किया, किंतु उसे कभी क्रियान्वित नहीं किया जा सका। कन्वेंशन ने उसे असांविधानिक तरीके से अपनी आज्ञप्ति द्वारा स्थगित कर दिया। कारण यह बतलाया गया कि फ्रांस संकट में है अतः जब तक युद्ध समाप्त न हो जाय तब तक सरकार क्रान्तिकारी होनी चाहिये।

युद्ध में आश्चर्यजनक सफलताएँ प्राप्त करके १७९५ में कन्वेंशन ने पुनः संविधान-रचना का काम हाथ में लिया और एक बहुत कुछ अनुदार ढंग का संविधान तैयार किया। अधिकार अधिनियम के अनेक उपबन्ध हटा दिये गये, मतदान के हेतु

सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यताएँ पुनः निश्चित की गईं, शक्तियों का फिर पृथक्करण किया गया, एक द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की स्थापना की गई और **संचालिका** (डाइरेक्टरी) के रूप में एक स्वतंत्र कार्यपालिका कायम की गई और उसे पहले से अधिक केन्द्रीयकृत शक्तियाँ प्रदान की गईं। उसके उपरान्त शीघ्र ही नेपोलियन का काल आरम्भ हुआ; उसमें राजनीतिक सिद्धांत के आधार पर संविधान बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया। इस काल के लेख्य इस सिद्धांत पर आधारित थे कि सम्राट फ्रांस की जनता के प्रतिनिधि के रूप में शासन करता है। १८०० में जो संविधान बनाया गया उसकी रचना सेज़ ने भी की किंतु नेपोलियन के विचारों के अनुरूप उसमें संशोधन कर दिया गया था। इसे बड़ी चतुराई के साथ ऐसा बनाया गया कि एक सुदृढ़ केन्द्रीयकृत शासन की स्थापना हो सके। पित्रागत साम्राज्य की स्थापना होने और एक नये सामन्त वर्ग के अस्तित्व में आने पर क्रान्तिकारी दर्शन पर पूर्णरूप से पर्दा पड़ गया और प्रतिक्रियावादी सिद्धांतों का बोलवाला हो गया।

अमरीकी तथा फ्रांसीसी क्रान्तियों के प्रति इंगलैंड का रवैया

अमेरिका की क्रान्ति के सम्बन्ध में इंगलैंड के राजनीतिज्ञों में बहुत मत भेद था। ह्विग पक्ष के अनेक लोगों का विचार था कि जार्ज तृतीय का प्रतिरोध करके उपनिवेशी वास्तव में अँग्रेज जाति के अधिकारों के लिये उसी प्रकार का संघर्ष कर रहे हैं जैसा कि इंगलैंड में चल रहा है। उपनिवेशियों ने प्राकृतिक अधिकारों और क्रांति के अधिकार के पक्ष में जो तर्क दिये थे उनसे ह्विगों की पूर्ण सहानुभूति थी। इसके विपरीत राजा के टोरी समर्थकों की निगाह में अमरीका के क्रान्तिकारी विद्रोही मात्र थे। सामान्य तौर पर उपनिवेशियों के ब्रिटिश साम्राज्य, प्रतिनिधित्व प्रणाली और करारोपण के सम्बन्ध में जो तर्क थे उनका इंगलैंड में किसी ने समर्थन नहीं किया। किन्तु ऐसे भी अनेक व्यक्ति थे जो समझते थे कि इंगलैंड की औपनिवेशिक नीति अत्याचारपूर्ण है, चाहे वह वैध भले ही हो, और जो अमरीकियों को दबाने के लिये शक्ति के प्रयोग के विरुद्ध थे। इस दृष्टिकोण के सबसे अच्छे प्रतिनिधि चैथम और एडमंड वर्क (१७२९-१७९७) थे।[१५]

मोंतेस्क्यू की भाँति बर्क ने भी राज्य का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया, दार्शनिक दृष्टिकोण से नहीं। उसने सैद्धान्तिक कट्टरता की अपेक्षा अनुभव को अधिक महत्व दिया। उसे राज्य को कृत्रिम ढाँचा माननेवाले सामाजिक संविदा के सिद्धान्त से तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। उसका मत था कि राज्य जीव के सदृश विकासशील है और उसकी जड़ें गहराई से अतीत में फैली हुई हैं; वह एक ऐसी साझेदारी है जिसमें जीवितों का ही नहीं बल्कि मृतकों का और जो अभी जन्मे नहीं है उनका भी साझा है। प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को भी वह नहीं अंगीकार कर सकता था,

१५. देखिये उसकी *Speech on Conciliation with America* (1775) और *Speech on American Taxation* (1774).

क्योंकि उसे ऐसा लगता था कि इससे तो समाज वैयक्तिक खंडों में विभक्त होकर बिखर जायगा और अराजकता फैल जायगी। उसने बोलिंगब्रुक की शैली में प्राकृतिक-विधि दर्शन पर व्यंगात्मक प्रहार किया और इस विश्वास का मखौल उड़ाया कि निरपेक्ष मानव बुद्धि की सहायता से समाज का सुधार किया जासकता है। बर्क की सिद्धान्तों की अपेक्षा तथ्यों में अधिक आस्था थी। उसका कहना था कि आदर्शों का व्यावहारिक परिस्थितियों के साथ सामञ्जस्य होना चाहिए तभी वे प्रभावकारी सिद्ध हो सकते हैं। उसने सिखाया कि राजनीति का आधार यह दृष्टिकोण होना चाहिए कि किस समय क्या हितकर है और क्या नहीं; साथ ही साथ उसने इष्टकर का न्याय और सम्यकता के साथ मेल स्थापित करने का भी प्रयत्न किया। उसके व्यावहारिक राजनीतिक आदर्शों के मूल में यह विश्वास था कि ईश्वर की इच्छा से ही मनुष्य के सभी मामले नियंत्रित और संचालित होते हैं।

यद्यपि तत्वतः बर्क के राजनीतिक विचार पुरातनपोषी और अनुदार थे, फिर भी उन पर उदारवाद की स्पष्ट छाप थी। जार्ज तृतीय के विरुद्ध ह्विग दल का जो संघर्ष चला उसमें वह उनका सबसे योग्य समर्थक सिद्ध हुआ। आयरलेंड, भारत और अमेरिका के सम्बन्ध में उसने जो विचार प्रकट किए उनसे उसकी राजनीतिक बुद्धिमत्ता सिद्ध होती है। लोग वैधता और सुविधा में भेद नहीं करते थे। इस चीज़ का बर्क ने विरोध किया और कहा कि संसद के विधिक अधिकार कुछ भी हों, उसकी औपनिवेशिक नीति उचित नहीं ठहराई जासकती। उसका विश्वास था कि ब्रिटिश जाति की स्वतंत्रता को कायम रखने के लिये अमरीकी उपनेविशियों की सफलता आवश्यक है। औपनिवेशिक प्रशासन और अधीन जातियों के साथ व्यवहार के सम्बन्ध में उसने जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये वे समय से आधी शताब्दी आगे थे। किन्तु इस सबके बावजूद वह व्यवस्था तथा स्थिरता को सबसे अधिक महत्व देता था। उसका कहना था कि सुधार का काम धीरे-धीरे होना चाहिए, और कानून घटनाचक्र की स्वाभाविक गति और दिशा को ध्यान में रखकर बनाये जायँ। उसे जनता का विश्वास नहीं था; उसका आदर्श ऐसा राज्य था जिसमें शासन भूस्वामी अभिजातवर्ग के हाथों में हो और सम्पत्ति तथा स्थापित चर्च का सम्मान किया जाय। उसका विश्वास था कि ब्रिटिश संविधान धीरे-धीरे और स्वाभाविक रूप से विकसित हुआ है और मनुष्यों द्वारा निर्मित अच्छे से अच्छे लेख्यों से अच्छा है। इसकी नियन्त्रण और संतुलन की व्यवस्था, सत्ता और स्वतन्त्रता का सामञ्जस्य तथा विभिन्न वर्गों और हितों का प्रतिनिधित्व विशेष मूल्यवान तत्व हैं।[१६]

अतः बर्क ने फ्रांस की क्रान्ति का घोर विरोध किया;[१७] तज्जनित अव्यवस्था की,

१६. देखिये *Causes of our Present Discontent* (1770).

१७. देखिये उसकी *Reflections on the Revolution in France* (1790), *Appeal from the New to the old Whigs* (1791), *Thoughts on French Affairs* (1791)

उससे सम्बद्ध निरपेक्ष सिद्धान्तों के प्रेम, उसके द्वारा किये गये धार्मिक व्यवस्था पर आक्रमण और अतीत का उन्मूलन करके नये सिरे से निर्माण करने के प्रयत्नों की उसने कटु आलोचना की। उसने फ्रांस के अभिजातवर्ग का पक्ष लिया, और इंगलैंड के लोगों में उग्र विचारों के प्रति जो घृणा थी उसको उभाड़ा। रूसो की रचनाओं के सम्बन्ध में उसने कहा कि ये तो मानव अधिकारों के विषय में कागज के टुकड़े मात्र हैं और सो भी धुँधले। फ्रांस की **अधिकारों की घोषणा** को उसने "अराजकता का संहिता" बतलाया। समानता, लोकप्रभुत्व और क्रान्ति के अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्तों पर उसने विशेष रूप से प्रहार किया। उसका मत था कि मनुष्य स्वभाव से असमान है, अतः शासन की बागडोर उन्हीं के हाथों में होनी चाहिए जो सार्वजनिक कार्यों के लिये सबसे अधिक योग्य हैं। कर्तव्य उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने कि अधिकार, और मनुष्यों के कर्तव्य उनकी सम्मति पर निर्भर नहीं होते। मनुष्य राज्य में उत्पन्न होते हैं, और उसकी संस्थाओं और सत्ता का सम्मान करने के लिये वे बाध्य हैं। राज्य का अस्तित्व मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये है, स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिये जो भी तरीके अपनाए जायँ उचित हैं। राज्य शुद्ध विवेक से उत्पन्न धारणा नहीं है, अपितु एक व्यावहारिक वस्तु है और उसका काम लोगों के सम्बन्धों को ठीक-ठाक करना और रखना है। बर्क का कहना था कि प्रत्येक राज्य की विशिष्ट राष्ट्रीय प्रतिभा होती है, और उस प्रतिभा का आधार होता हैं उसका इतिहास और परम्पराएँ। यदि कोई राज्य दूसरे राष्ट्रों का अनुकरण करने और कट्टर सिद्धान्तों पर आधारित नई चीजों को अपनाने का प्रत्यन करता है, तो इस कार्य में उसे सफलता नहीं मिल सकती। उसने भविष्यवाणी की कि फ्रांस की क्रांन्ति अन्त में अधिनायकत्व को जन्म देगी।

राजनीतिक चिन्तन में बर्क का योग यह था कि उसने वास्तविक संस्थाओं के अध्ययन को महत्व दिया और कहा कि सफल सुधार वास्तव में वही होता है जो विकास की प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होता है। उस युग का अन्य कोई लेखक ऐसा नहीं था जिसको राजनीतिक जीवन की जटिलताओं की इतनी अच्छी सूझ-बूझ होती जितनी कि बर्क को थी। उसकी कमजोरी यह थी कि उसमें विद्यमान व्यवस्था की पूजा करने की प्रवृत्ति थी। विचारों से प्रगति को प्रेरणा मिलती है, इस बात को उसने कोई महत्व नहीं दिया। वह यह नहीं समझ पाया कि जिन संस्थाओं की उसने इतनी प्रशंसा की थी वे पहले से ही जर्जरित होचुकी थीं। उसकी भावना इन शब्दों से भली-भाँति स्पष्ट होती है: "हम ईश्वर से डरते हैं—राजा को हम भय और श्रद्धा की दृष्टि से, संसद को स्नेह से, दण्डाधीशों को कर्तव्य की भावना से, पुरोहितों को आदर से और सामन्त वर्ग को श्रद्धा की निगाह से देखते हैं।" उसने इंगलैंड में उस प्रतिक्रियाशील दर्शन का प्रतिनिधित्व किया जो **आतंक के शासन** और नेपोलियन के युद्धों के उपरान्त समस्त यूरोप में फैल गया। उसने मनुष्य की तर्क बुद्धि की तुलना में आवेश और कल्पना को अधिक महत्व दिया। इस विषय में

उसके विचार जर्मनी के हीगिल और सेविञ्जी तथा फ्रांस के द मैस्त्र और बोनाल से बहुत कुछ मिलते जुलते थे।

फ्रांसीसी क्रान्ति के आरम्भिक काल में ह्विग दल के नेताओं, नॉनकन्फोर्मिस्ट समाज सेवियों और अँग्रेजी के कवियों ने क्रान्ति को उचित ठहराया और विश्वास प्रकट किया कि महाद्वीप पर स्वतन्त्रता और उद्बोधन के युग का उदय हो रहा है। इंगलैंड में एक क्रान्तिकारी दल की स्थापना हुई और फौक्स जैसे राजनीतिक नेताओं ने क्रान्तिकारियों के कार्यों का अनुमोदन किया। फ्रांसीसी क्रांति के उग्र सिद्धान्तों का टौमस पेन (१७८७ में वह अमेरिका से लौटकर इंगलैंड पहुँच गया था) विलियम गौडविन और जेम्स मैकिंटोश[१८] ने समर्थन किया।

पेन ने बर्क के विचारों का खंडन किया और फ्रांसीसी क्रान्ति के समर्थन में एक पुस्तक लिखी[१९]। बर्क ने परम्पराओं को कायम रखने तथा राज्य के निरन्तर विकास पर जोर दिया था। इसके अतिरिक्त वह सदस्यों के व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा राज्य की एकता को अधिक महत्वपूर्ण मानता था। इसके विरुद्ध पेन ने घोषणा की कि प्रत्येक पीढ़ी के लोगों को अपने भाग्य का स्वयं निर्णय करने का अधिकार है। यदि पुरानी संस्थाएँ और कानून अन्यायपूर्ण हों और भारस्वरूप बनकर खलने लगें तो उसे उनका सम्मान करने के लिये बाध्य नहीं किया जासकता। उसने सावधानी के साथ राज्य तथा सरकार के बीच भेद किया, जबकि बर्क ने दोनों को भ्रमवश एक ही मान लिया था। राज्यों को पेन मनुष्य के स्वभाव और आवश्यकताओं का जरूरी परिणाम मानता था। सरकार के सम्बन्ध में उसका विचार था कि वह मनुष्य भी पापवृत्तियों के नियन्त्रण के लिये मनुष्य द्वारा बनाई हुई कृत्रिम चीज़ है। उस पर गलत लोगों का आसानी से अधिकार हो सकता है अथवा वह अनुचित तरीके से शक्ति को हथिया सकती है। अतः विद्यमान राजनीतिक संस्थाओं के साथ किसी प्रकार की पवित्रता का संयोग करना अनुचित है।

पेन का कहना था कि जिस संविदा के आधार पर राज्य की रचना हुई वह समान व्यक्तियों के बीच सम्पादित की गई थी, न कि शासक और जनता के बीच, जैसा कि बर्क ने बतलाया है। लोकसम्मति के उचित संघटन के लिये गणतन्त्रीय शासन-व्यवस्था और लिखित संविधान आवश्यक हैं। राजा, पुरोहित और राजनयिक युद्ध-भड़कानेवाले कृत्रिम और खतरनाक हैं। पेन ने **मानव अधिकारों की घोषणा** में निहित प्राकृतिक-विधि दर्शन का जोरदार शब्दों में समर्थन किया। उसका विश्वास था कि मनुष्य स्वतन्त्र और समान है, तथा वे सुरक्षा, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति सम्बन्धी प्राकृतिक अधिकारों को धारण करते हैं, और सभी प्रकार की सत्ता जनता से

१८. देखिये उसकी *Vindiciae Gallicae* (1791).
१९. *The Rights of Man* (1791).

व्युत्पन्न होती है। उसका आग्रह था कि राज्य मनुष्यों के लिये बनाया गया है और सरकार को उनके नौकर की भाँति कार्य करना चाहिए। उचित रीति से संगठित होने पर राज्य सुधार द्वारा मनुष्य का बहुत कुछ कल्याण कर सकता है। अपनी पुस्तक **राइट्स ऑव मैन** की दूसरी जिल्द में उसने एक व्यावहारिक और रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसमें अनिवार्य शिक्षा, दरिद्र विधि और एक राष्ट्रसंघ के निर्माण की योजना भी सम्मिलित थी।

विलियम गौडविन (१७५६-१८३६)[२०] दार्शनिक अराजकवादी था और राज्य के साथ किसी भी प्रकार से समझौता करने को तैयार नहीं था। उसका कहना था कि सरकार हर हालत में अवांछनीय है, चाहे वह अन्धविश्वासों और अत्याचारों से मुक्त ही क्यों न हो। न्याय के लिये उसके हृदय में बड़ा उत्साह था, और उसका विश्वास था कि समुचित शिक्षा और संस्थाओं द्वारा मनुष्य को पूर्ण बनाया जा सकता है। उसका मत था कि सभी पापों और अपराधों की जड़ वे सामाजिक संस्थाएँ हैं जो मनुष्य को अज्ञान और दासता के बन्धन में रखती हैं। यदि मनुष्य बुद्धिमान हों तो किसी प्रकार के दबाव अथवा नियंत्रण की आवश्यकता नहीं रहेगी। अतः गौडविन को सामाजिक संविदा और प्राकृतिक अधिकारों से सम्बद्ध विवाद में तनिक भी दिलचस्पी नहीं थी। किन्तु उसका कहना था कि अज्ञान की विद्यमान परिस्थितियों में सत्ता का कुछ प्रयोग आवश्यक है, किन्तु उसका स्वभाव स्थानीय होना चाहिए और उसका कार्यक्षेत्र शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखने तक ही सीमित होना चाहिए। गौडविन को राष्ट्रीय समृद्धि और गौरव की महत्वाकांक्षी योजनाओं से विशेषकर घृणा थी, क्योंकि वह समझता था कि इससे सरकार को अधिकाधिक शक्तियों के प्रयोग का अवसर मिल जाता है।

गौडविन ने निजी सम्पत्ति की प्रथा पर भी प्रहार किया और कहा कि सम्पत्ति की असमानता मनुष्यों की प्राकृतिक समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। उसका विश्वास था कि बुद्धि और विवेक की वृद्धि के साथ-साथ सम्पत्ति और दरिद्रता की बुराइयाँ स्वतः दूर हो जायँगी, और कानून तथा शासन से उत्पन्न दोष भी जाते रहेंगे। गौडविन के सिद्धान्तों में हमें प्लेटो तथा मोर के यूटोपियाई आदर्शों, अठारहवीं शताब्दी के प्राकृतिक-विधि दर्शन और औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न उपयोगितावादी तथा व्यक्तिवादी धारणाओं का विचित्र समन्वय देखने को मिलता है। यद्यपि महाद्वीपीय लेखकों[२१] ने उसके सिद्धान्तों को अपनाया, किन्तु इंगलैंड में वे कभी लोकप्रिय नहीं हुए। वहाँ उसके दामाद कवि शैली की रचनाओं के द्वारा उसका अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य पड़ा। शैली में हमें जो उच्चकोटि का मानव प्रेम तथा उत्पीड़न से उत्कट घृणा देखने को मिलती है उसके मूल में बहुत कुछ गौडविन की ही प्रेरणा थी।

---

२०. देखिये उसका निबन्ध *Enquiry Concerning Political Justice* (1793).
२१. विशेषकर Saint Simon और Proudhon ने।

जब नेपोलियन के युद्धों ने फ्रांसीसी क्रान्ति की भावना को बदल दिया और फ्रांस ने क्रान्तिकारी आदर्श को त्याग कर आक्रामक साम्राज्यवाद को अपना लिया तो अँग्रेजों की प्राकृतिक विधि और मानव अधिकारों के प्रति जो कुछ सहानुभूति थी, वह भी तिरोहित होगई। पेन और गौडविन के उग्र तथा यूटोपियाई विचार उस देश की मनोदशा के अनुकूल नहीं हो सकते थे जो भयंकर युद्ध में फँसा हुआ था ; बर्क के अनुदार और पुरातनपोषी दृष्टिकोण ने राष्ट्र की सामान्य मनोदशा का अधिक अच्छा प्रतिनिधित्व किया। १७६२ में जब फ्रांस के **राष्ट्रीय सम्मेलन (कन्वेशन)** ने अपनी आज्ञप्ति में सभी राजतंत्रीय राज्यों की संस्थाओं पर प्रहार किया और राज्यतंत्रों को उलट कर गणतंत्रों की स्थापना करने की धमकी दी, तो इंगलैंड में बड़ी उत्तेजना उत्पन्न होगई। लुई सोलहवें के बध से तो इंगलैंड में भय और आंतक की एक लहर दौड़ गई, और ह्विग लोगों का मुँह बन्द होगया, यहाँ तक कि फौक्स ने भी इस कार्य को अन्याय और अत्याचार कह कर निन्दित किया। परिणाम यह हुआ कि इंगलैंड में सुधार के जो भी प्रयत्न चल रहे थे सब शान्त होगये। अभिजातवर्गीय नेताओं को गणतंत्रीय विचारों के फैलने का डर था। अतः उन्होंने मताधिकार के विस्तार और संसद के सुधार के सभी प्रस्तावों को कुचल दिया। क्रान्ति के भय से संसद ने विदेशियों के विरुद्ध कानून पास किये, बाद-विवाद की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाया और कानूनों का उल्लंघन करनेवालों को कठोर दंड दिये।

उसी समय देश में महत्वपूर्ण आर्थिक परिवर्तन हो रहे थे जिन्होंने औद्योगिक नगरों और एक नये औद्योगिक वर्ग को जन्म दिया। अन्त में ये परिवर्तन अनुदार दृष्टिकोण और भूस्वामी अभिजातवर्ग के आधिपत्य के शत्रु सिद्ध हुए। यद्यपि उद्योगपति दार्शनिक सिद्धान्तवादी नहीं थे और न उन्हें गौडविन और शैली के अराजकवाद से ही प्रयोजन था, फिर भी उन्हें पुरानी शासन प्रणाली भद्दी भोंडी विधिव्यवस्था जिसकी ब्लैकस्टोन ने इतनी प्रशंसा की थी, सह्य नहीं थी। वे व्यापार की स्वतंत्रता चाहते और विधिक हस्तसेप के विरुद्ध थे। उनका स्वतंत्रता प्रेम उनके व्यापारिक अ-हस्तक्षेप के सिद्धान्त का ही परिणाम था। इस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व इंगलैंड में उपयोगितावादी सिद्धान्त ने किया, और इसका पूर्णतया विकास मैनचैस्टर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों और १६वीं शताब्दी के मध्य के सुधार और आन्दोलनों के रूप में हुआ।

पठनीय ग्रन्थ

Barker, Ernest, *Essays on Government* (Oxford Clarenden Press, 1945) Chap. 7.

Becker, C. L., *The Declaration of Independence* (New York, Knoff, 1942).

Best, M. A., *Thomas Paine, Prophet & Martyr of Democracy* (New York, Hearcourt, 1927)

Brailsford, H. N., *Shelley, Godwin, and their Circle* (New York, Holt, n. d.)

Burns, C. D., *Political Ideals* (London, Oxford Univ. Press, 1936) Chap. 7.

Cobban, Alfred, *Edmond Burke and the Revolt against the Eighteenth Century* (London, G. Allen, 1929) Chaps. 1–4.

Hearnshaw, F.J.C. ed., *The Social & Political Ideas of some Representative Thinkers of the Revolutionary Age* (New York, Barnes & Noble, 1950)

Jellinek, George, *The Declaration of the Rights of Man and Citizens*, trans. by Max Farrard (New York, Holt 1901)

Laski, H. J. *Political Thought in England from Locke to Bentham* (New York, Holt, 1920) Chap. 6.

Mc.Ilwain, C. H., *The American Revolution* (New York, Macmillan, 1923)

Merriam, C. H. "Thomas Paine's Political Theries" *Political Science Quarterly*, Vol. 14 (1899)

Osborn, A. M. *Rousseau & Burke* (London, Oxford Univ. Press, 1940)

Sabine, G. H., *A History of Political Theory*, rev. ed. New York, Holt, 1950) pp. 607–619.

Woodward, W. B., *Tom Pain : America Godfather* (New York, Dulton, 1945)

अध्याय २०

इंगलैंड के उपयोगितावादी

उपयोगितावादी राजनीति दर्शन का आधार इंगलैंड के वे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त थे जिनका निरूपण लॉक और ह्यूम ने किया था। इस दर्शन का प्रारम्भ हमें सत्रहवीं शताब्दी के रिचार्ड कम्बरलैंड (१६३२-१७१६)[1] की रचनाओं में मिलता है। उसने बुद्धिवादियों के जन्मजात नैतिक विचारों के सिद्धान्त का खंडन किया, और सार्वजनिक कल्याण को ही परम मंगल माना। "अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक सुख" का सूत्र सबसे पहले फ्रांसिस हचीसन (१६६४-१७४७)[2] ने प्रयोग किया था।

उपयोगितावाद का आधार सिद्धान्त

संक्षेप में उपयोगितावाद की पहली प्रस्थापना यह है कि "मन का भी एक विज्ञान है।" सब से पहले मन उन बिखरी हुई संवेदनाओं से बनता है जो कि आसपास के वातावरण के सम्पर्क से उत्पन्न होती हैं। किन्तु संवेदनाएँ शीघ्र ही आकर्षण की विधि के अनुसार समूहों में संघटित होने लगती हैं। जब दो एक सी संवेदनाएँ एक बार साथ-साथ प्रकट हो चुकती है तो फिर उनकी एक साथ प्रकट होने की प्रवृत्ति हो जाती है। उदाहरण के लिये बालक के मन में उसकी माता और सुरक्षा की भावना, इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। उसके मन में वे साथ-साथ विद्यमान रहती हैं, और एक के उपस्थित होने पर दूसरी का स्मरण हो आता है। सामान्य तौर पर, कार्य चलाने के लिये, हम इन संघटित संवेदनाओं को दो प्रकार की मान सकते हैं : आनन्द-दायक अथवा दुखद। जो आनन्ददायक होती हैं वे हमारी इच्छाओं का विषय बन जाती हैं; और जो दुखद होती हैं उनसे हम घृणा करने लगते हैं। परिणामस्वरूप सभी मनुष्य आनन्द की कामना करते और दुख से बचना चाहते हैं और इसी से हमारे नैतिक जीवन का संपूर्ण ढाँचा तैयार होता है। वास्तव में सत्य और नैतिकता का अन्य कोई अर्थ नहीं है। जो वस्तु सुख का संवर्धन करती है वही 'सत्य' अथवा अच्छी है।

अब हमें उपयोगितावाद के विधिक पक्ष को देखना है। सभी मनुष्य सुखी होना चाहते हैं, किन्तु विभिन्न व्यक्ति आनन्द के संवर्धन के लिये जिन साधनों का प्रयोग करते हैं वे प्राय: परस्पर विरोधी होते हैं। उदाहरण के लिये, दो ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं जो, दोनों ही, अपने परिश्रम की कमाई से जीवन निर्वाह करना चाहते हैं, किन्तु फिर भी

१. देखिये उसका *De Legibus Naturae* (1672).

२. देखिये उसकी रचना *System of Moral Philosophy* (1755).

उनमें किसी भूमिखंड के स्वामित्व के विषय में झगड़ा हो जाय। उनमें से जो वैध स्वामी है वह अपनी भूमि का शान्तिपूर्वक उपभोग करना चाहता है। किन्तु दूसरा अन्य व्यक्ति की सम्पत्ति को हड़प करके आनन्द प्राप्त करना चाहता है। इस मामले में अधिक से अधिक सुख (और फलस्वरूप परम मंगल) की प्राप्ति तब होगी जबकि सम्पत्ति के वैध स्वामी का पक्ष लिया जाय और अनधिग्रहीता को कष्ट पहुँचाया जाय और कष्ट की मात्रा उतनी ही हो जितना कि आनन्द पाने की वह आशा करता था। इस कार्य को सरकार अपने विधायकों द्वारा सबसे अच्छा कर सकती है। वे इस बात का निर्णय करेंगे कि कुछ कार्य सार्वजनिक सुख की दृष्टि से हानिकारक हैं, और इन कार्यों को अपराध घोषित करके इनके लिये उपयुक्त दंड निर्धारित करेंगे। इस प्रकार कानून बनाना एक आतंक का विज्ञान है, और उसका औचित्य यह है कि उससे सार्वजनिक उपयोगिता (सुख) का संवर्धन होता है। चूँकि यह निश्चित है कि मानव स्वभाव सर्वत्र एकसा है, अतः विधायकगण अपराधों का वर्गीकरण करके उन्हें लिखित कानूनों के रूप में संहिताबद्ध कर सकते हैं। इन विधिसंहिताओं के द्वारा विधायक एक नैतिक व्यवस्था की स्थापना करता है जिसका आधार सुख और दुःख का सन्तुलन होता है। अतः समाज उसी की बनाई हुई एक व्यवस्था है।

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि अपने दर्शन के विधिक पहलू का निरूपण करते समय उपयोगितावादियों ने हितों के कृत्रिम एकात्म्य के सिद्धांत को अंगीकार किया। इसका अर्थ यह हुआ कि विधायक (सरकार) को लोगों के हितों के बीच कृत्रिम रूप से मेल बैठाने के लिये उनके जीवन में हस्तक्षेप करना चाहिए। और सरकार का कर्तव्य है कि वह सुख के संवर्धन के लिये अस्तिमूलक कार्य करे। किन्तु आर्थिक क्षेत्र में उपयोगितावादियों ने जिस सिद्धान्त को अपनाया वह पूर्वोक्त सिद्धान्त का विरोधी है। यह सिद्धान्त हितों की प्राकृतिक समरूपता का सिद्धान्त है। आर्थिक समस्याओं पर विचार करते समय ये दार्शनिक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सुख के संवर्धन का सबसे अच्छा तरीका यह है कि प्रकृति को अपने स्वाभाविक मार्ग पर चलने दिया जाय। यदि विधायक आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप न करे तो एक प्राकृतिक व्यवस्था अपने आप उठ खड़ी होगी, और उस व्यवस्था का आधार दो बुनियादी सिद्धांत होंगे—श्रम विभाजन और विनिमय की आत्मग व्यवस्था। इनसे व्यक्तियों के हितों के बीच एक स्वाभाविक समरूपता उत्पन्न हो जायगी जो सरकार द्वारा निर्मित किसी भी कृत्रिम व्यवस्था से अच्छी सिद्ध होगी। इस सिद्धान्त पर चल कर ही आगे डेविड रिकार्डो आदि ने अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया।

राजनीतिक क्षेत्र में उपयोगितावाद ने लोकतंत्र के विकास में अमूल्य सहायता पहुँचाई। इनकी प्रस्थापनाओं को स्वीकार कर लेने पर लोकतंत्र अनिवार्य हो जाता है। इसकी पहली प्रस्थापना थी कि सभी व्यक्ति पूर्णरूप से स्वार्थी होते हैं; और दूसरी यह

कि अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिकाधिक सुख सरकार का उद्देश्य होना चाहिए। इन प्रस्थापनाओं को स्वीकार करके हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि व्यक्तियों के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से निरंकुश शासक सबसे कम विश्वासनीय सिद्ध होगा, क्योंकि निरंकुश होने पर वह अपनी इच्छानुकूल आचरण करने के लिये स्वतंत्र होगा, और फिर वह अपने स्वार्थों का ही ध्यान रक्खेगा, अधिकाधिक लोगों के हितों की परवा नहीं करेगा। इसके विपरीत लोकतांत्रिक बहुमत सबसे अच्छा शासक सिद्ध होगा। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ का सबसे अच्छा निर्णयकर्ता होता है, अतः बहुसंख्यक लोग सबसे अधिक लोगों के हितों का भली भाँति निर्णय कर सकेंगे।

इस प्रकार उपयोगितावाद का मनोविज्ञान, विधि, अर्थशास्त्र और राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध था। उसने सिखाया कि प्रत्येक व्यक्ति का निर्माण मुख्यतः उस वातावरण से होता है जिसमें कि वह अपना जीवन बिताता है। उसका सिद्धान्त था कि मनुष्य सुख प्राप्त करने और दुःख से बचने की इच्छा से ही अपने सारे कार्यकलाप करते हैं, और सुख के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अन्य लोगों के साथ सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि कानूनों द्वारा सब व्यक्तियों की स्वतंत्रता का परिसीमन किया जाय। किन्तु आर्थिक क्षेत्र में उपयोगितावादियों ने सिखाया कि कानून अनावश्यक है, क्योंकि एक प्राकृतिक व्यवस्था स्वयं कार्य करती रहती है। और राजनीति में उनका सिद्धान्त था कि केवल लोकतंत्र के द्वारा ही अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक सुख प्राप्त किया जा सकता है।

उपयोगितावाद अन्य विचारधाराओं के मुकाबिले में अधिक व्यावहारिक था, अतः उसने सिखाया कि कार्यों को उनके परिणामों अथवा उपयोगिता के आधार पर अच्छा अथवा बुरा मानना चाहिए। इस अर्थ में उपयोगितावाद क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। उसे न तो पुरातन और परम्परागत चीजों के लिये, जिनकी बर्क ने इतनी प्रशंसा की थी, श्रद्धा थी और न प्राकृतिक अधिकारों और सामाजिक संविदा के सिद्धान्तों के लिये। उसने राज्य को न तो एक रहस्यात्मक सामाजिक जीव माना और यही स्वीकार किया कि उसका निर्माण नागरिकों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिये हुआ था।

उपयोगितावादियों का कहना था कि राज्य का अस्तित्व इसलिये है कि वह आवश्यक है। उसका कर्त्तव्य सामान्य सुख का संवर्धन करना है। यदि उसके कानून इस उद्देश्य को पूरा करने में विफल रहें तो उन्हें बदल देना चाहिए। उपयोगितावाद को अस्पष्ट सूत्रों अथवा निरपेक्ष सिद्धान्तों से कोई प्रयोजन नहीं था। उसका आधार तो वास्तविक अनुभव और मनुष्यों की कठिनाइयाँ थीं।

राजनीतिक सिद्धान्त में उपयोगितावाद ने उस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया जो बौद्धिक और व्यावहारिक आधार पर मानवजाति का कल्याण करना चाहता था। साथ ही साथ उसमें इस विश्वास का समावेश भी था कि राजकीय कानूनों के द्वारा

मानव जीवन की परिस्थितियों में सुधार करना सम्भव है। उपयोगितावादी संसार से पृथक रहने वाले निरपेक्ष दार्शनिक नहीं थे; उन्होंने वास्तविक समस्याओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध कायम रक्खा। आन्दोलन के नेताओं ने राजनीति में सक्रिय भाग लिया। विधि-व्यवस्था और दंड विधान में जो सुधार हुए, कारखानों और खानों में उन्नति हुई और संसदीय मताधिकार तथा प्रतिनिधित्व के क्षेत्र में जो सुधार किये जाये उनका मुख्य श्रेय उपयोगितावादियों को ही था। दरिद्र विधि का सुधार, अन्न विधि का रद किया जाना और सार्वभौम मताधिकार का क्रमिक अंगीकरण उपयोगितावादी सिद्धान्तों पर ही आधारित थे। उपयोगितावादियों ने अत्याचार और अन्याय का विरोध किया, और वैयक्तिक स्वतन्त्रता का पक्षपोषण किया। उनका विश्वास था कि मानव की उन्नति सम्भव है। उन्होंने राज्य के कार्यों तथा नागरिकों के साथ उसके सम्बन्धों को प्राथमिकता थी, और केवल गौण रूप से राज्य के उचित संगठन और उसके भीतर प्रभुत्व के निवास की ओर ध्यान दिया।

उपयोगितावादी राजनीति सिद्धान्त का निरूपण और परिवर्धन जेरेमी बेंथम और जेम्स मिल की रचनाओं में हुआ। जॉन स्टुअर्ट मिल ने उसका निश्चित रूप से रूपान्तर कर दिया। इतिहासकार ग्रोटे और मनोविज्ञानी अलेक्जांडर बेन ने उसके आधारभूत तर्कों को अपनाया। विधिशास्त्र के क्षेत्र में जॉन आस्टिन ने उपयोगितावादी सिद्धान्तों का विकास किया, अर्थशास्त्र में रिकार्डो ने उनका पक्षपोषण किया। व्यावहारिक राजनीति में रोमीली, बाउहम, हॉबहाऊस और कौवेट ने और अबाध व्यापार के योग में कॉब्डन और ब्राइट ने उनका प्रयोग किया।

बेंथम

इंगलैंड के उपयोगितावाद का बौद्धिक नेता जेरेमी बेंथम था। उसके सक्रिय सार्वजनिक जीवन का काल अमरीकी क्रान्ति और १८३२ के सुधार अधिनियम के बीच का समय था। युवक बेंथम को उस शिक्षा से घृणा थी जो उसने आक्सफर्ड में पाई थी, किन्तु विज्ञान में उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी; और अन्तर्मुखी मनोविज्ञान में उसने विशेष प्रतिभा का परिचय दिया। युवावस्था से ही उसने सामाजिक कल्याण के कार्य में उत्साह के साथ योग दिया। प्राकृतिक विज्ञानों में जिन पद्धतियों का प्रयोग हो रहा था उनको उसने सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में भी लागू करने का संकल्प किया। अट्ठाईस वर्ष की आयु में उसने प्रीस्टले का **ऐसे ऑन गवर्नमेंट** (सरकार पर निबन्ध) पढ़ा। प्रीस्टले से इस सिद्धान्त का उस पर विशेष प्रभाव पड़ा कि राज्य की कसौटी उसके बहुसंख्यक सदस्यों का सुख है। हैल्वेसियस और बेकारिया का अनुसरण करते हुए उसने स्वीकार किया कि सुख का अर्थ है आनन्द की प्राप्ति और कष्ट (पीड़ा) का अभाव। इसलिये संस्थाएँ इस प्रकार से बनाई जायें कि अधिक से अधिक सुख की उपलब्धि हो सके।

अपने सबसे विशद ग्रन्थ[3] में बेंथम ने इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का नैतिकता तथा विधि के प्रसंग में परिवर्धन किया। उसका सिद्धान्त था कि पीड़ा और आनन्द मनुष्य जाति के दो प्रभुत्व सम्पन्न स्वामी हैं; वे ही बतलाते हैं कि मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं, और मनुष्य वास्तव में जो कुछ करता है वह भी उन्हीं द्वारा निर्धारित होता है। उसका कहना था कि मनुष्य भी सभी प्रवृत्तियाँ समान रूप से स्वाभाविक हैं; वे बुरी है अथवा अच्छी, यह बात परिणामों पर निर्भर होती है। उपयोगिता के सिद्धान्त के अनुसार वे कार्य अच्छे हैं जो सुख का संवर्धन करते हैं; और जिनसे सुख का विरोध होता है वे बुरे हैं। बेंथम का विश्वास था मनुष्य का किन्हीं निरपेक्ष धारणाओं जैसे राज्य चर्च, दल आदि के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है; उसका कर्त्तव्य तो केवल अन्य मनुष्यों के प्रति है जिनमें आनन्द और पीड़ा अनुभव करने की क्षमता होती है।

बेंथम को विधि शासन की शिक्षा मिली थी, इसलिये उसे विधि विद्या के सिद्धांत में और इस प्रश्न में कि विधान का उद्देश्य होना चाहिए अधिक दिलचस्पी थी। अपने विद्यार्थी जीवन में उसने ब्लैकस्टोन के व्याख्यानों के खिलाफ विद्रोह किया था; और जब वे व्याख्यान प्रकाशित हुए तो उसने उनकी कटु आलोचना की।[4] ब्लैकस्टोन ने इंगलैंड के संविधान की गरिमा और इंगलैंड की विधि के सम्बन्ध में जो सामान्यीकरण प्रस्तुत किये थे उन पर बेंथम ने भयंकर प्रहार किया, और इंगलैंड की परिस्थितियों के सम्बन्ध में ब्लैकस्टोन ने जो भावुकतापूर्ण आशावाद था उसकी भी धज्जियाँ उड़ाईं। उसने ब्लैकस्टोन के इस सिद्धांत को अंशतः ध्वस्त कर दिया कि विधि का मूलस्रोत, सामाजिक संविदा है। टोरियों ने इंगलैंड की विधि की यह कह कर प्रशंसा की थी कि उसका ईश्वर की इच्छानुसार स्वाभाविक विकास हुआ है; बेंथम ने उसे अत्याचारपूर्ण बतलाया और कहा कि यह तो एक विशद व्यवस्था है, जिसके द्वारा शक्तिशाली लोग अज्ञानी और उत्पीड़ित जनता को दबा कर रखते हैं। बेंथम ने संविदा सिद्धांत के प्रत्येक रूप का खंडन किया, और बतलाया कि राज्य का आधार सम्पत्ति नहीं, अपितु आज्ञापालन की आदत है। राज्य का अस्तित्व इसलिये है कि उससे स्पष्ट लाभ दिखाई देता है। इस सिद्धांत ने विचारवादियों और प्रतिक्रियावादियों के उस रहस्यात्मक सिद्धांत के लिये कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी जिसके अनुसार उन्होंने राज्य को अधिपुरुष का पद देने का प्रयत्न किया था।

बेंथम ने प्राकृतिक विधि के अस्तित्व को स्वीकार करने से इन्कार किया, और कहा कि राजनीतिक समाज की महत्वपूर्ण इच्छा का समावेश ही विधि है। इस सत्ता

3. *The Introduction to Morals and Legislation* (1789).
4. *The Fragment on Government* (1776).

के विरुद्ध व्यक्तियों के कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं होते, और न उन्हें उनका प्रतिरोध करने का ही विधिक अधिकार है। अधिकारों के साथ तदनुरूप कर्तव्य संयुक्त रहते हैं, और एक ऐसी सत्ता की आवश्यकता होती है जो अधिकारों का पालन करवा सके और उनका अतिक्रमण करनेवालों को दंड दे सके। प्रभु को अपनी अपरिमित विधिक सत्ता का किस सीमा तक प्रयोग करना चाहिए, इसका निर्णय उपयोगिता और वांछनीयता को ध्यान में रख कर ही किया जा सकता है। सर्वोच्च शक्ति का प्रतिरोध करने का अधिकार नैतिक अधिकार ही हो सकता है; किन्तु यदि विद्रोह से हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होने की सम्भावना हो तो प्रतिरोध करना नैतिक कर्तव्य भी बन सकता है। उपयोगितावाद के इस पहलू—विधि-शास्त्र को राजनीतिक समाज के ऐतिहासिक और नैतिक आधारों से पृथक करनेवाले—का विकास जॉन आस्टिन ने किया।

बेंथम की निगाह में इंगलैंड का संविधान पूर्णता की अवस्था से बहुत दूर था। उसने सार्वभौम वयस्क मताधिकार, वार्षिक संसद और गुप्त मतदान पर विशेष बल दिया। बेंथम को इस बात का धीरे-धीरे अनुभव हुआ कि उसका अधिकतम संख्या के अधिकतम कल्याण का सिद्धांत लोकतंत्र और उग्र सुधारों की दिशा में लेजानेवाला था। उसके सामन्त-सदन और राजा का विरोध किया, गणतंत्र शासन प्रणाली को सर्वोत्तम बतलाया और एकसदनात्मक व्यवस्थापिका का समर्थन किया। उसे फ्रांसीसी तथा अमरीकी क्रांतियों की लोकतांत्रिक भावना से पूर्ण सहानुभूति थी, किन्तु उनमें निहित प्राकृतिक-विधि-दर्शन से वह घृणा करता था। उसने प्राकृतिक और अलंघनीय अधिकारों के सिद्धांत का डट कर विरोध किया और उसे बकवास कह कर पुकारा। उसने कहा कि मनुष्य उन्हीं अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं जो उन्हें कानून द्वारा प्रदान किये जाते हैं, और अच्छे कानून की कसौटी यही है कि उससे किस सीमा तक अधिकतम संख्या को अधिकतम सुख उपलब्ध होता है। बेंथम ने जिन व्यावहारिक विधायी सुधारों पर बल दिया उनकी बड़ी संख्या थी और उनमें लोक-शिक्षा, लोक स्वास्थ्य, दरिद्र विधि का सुधार और असैनिक सेवा के सुधार की योजनाएं सम्मिलित थीं।

आर्थिक सिद्धान्त में बेंथम एडम स्मिथ का उत्साही अनुयायी था, किन्तु अनेक बातों में उसका एडम से मतभेद भी था। वह इस बात से सहमत था कि सरकार को माँग और पूर्ति के नियम में यथासम्भव कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिए, और वह अबाध व्यापार का कट्टर समर्थक था। उसने अनियंत्रित प्रतियोगिता की प्रशंसा की और एकाधिकारों तथा अभ्युपकारों का विरोध किया। उसे साम्राज्यीय आदर्श से सहानुभूति नहीं थी; उसका विश्वास था कि उपनिवेशों के साथ व्यापार करने के लिये उन पर आधिपत्य कायम रखना आवश्यक नहीं है;[3] और उसने बतलाया कि जो पूँजी औप-

३. देखिये *Emancipate Your Colonies* (1793).

निवेशिक व्यापार में लगाई जाती है, यदि उसे अन्यत्र लगाया जाय तो भी उतना ही लाभ होगा। उसने माना कि कुछ देशों पर ब्रिटेन का शासन ऐसा है कि उससे मानव-जाति के परम हित की पूर्णता में सहायता मिलती है, किन्तु वह इस बात को स्वीकार नहीं करता था कि उपनिवेश मातृदेश के लिये सम्पत्ति का स्रोत थे। १८२८ में उसने कनेडावासियों की ओर से एक याचिका तैयार की जिसमें पूर्ण पृथकत्व की माँग की गई। सामान्य तौर पर कहा जा सकता है कि उपयोगितावादियों को उपनिवेशों के जाने से तनिक भी दुःख न होता। फिर भी जीवन के अन्तिम वर्षों में बैंथम साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य के विचार को स्वीकार करने लगा। जेम्स स्टुअर्ट मिल और जॉन स्टुअर्ट मिल के सम्पर्क से वह भारतीय समस्याओं में दिलचस्पी लेने लगा, और भारतीय साम्राज्य की विधि-व्यवस्था और न्यायिक संस्थाओं के निर्माण में योग दिया। उसने आस्ट्रेलियायी उपनिवेशों को वैज्ञानिक ढंग से बसाने तथा उनके स्वशासन के लिये भी एक मसविदा तैयार किया।

चूँकि बैंथम व्यावहारिक सामाजिक सुधारों को मानव सुख की वृद्धि के लिये आवश्यक मानता था और उन्हीं में उसकी अधिक दिलचस्पी थी, इसलिये उसने विधान (विधि निर्माण) और दंड की समस्याओं की ओर विशेष ध्यान दिया।[४] उसने विद्यमान कानूनों की ओर उनके निष्पादन के साधनों तथा तरीकों की आलोचना की और अपनी विस्तृत योजनाएँ प्रस्तुत कीं। बैंथम के समय से अब तक विधि-व्यवस्था में जो सुधार हुए हैं वे बहुत कुछ उसी के प्रभाव के परिणाम हैं। उसने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में भी मूल्यवान सिद्धान्त तैयार किये। उसने इंगलैंड की विधि की अव्यवस्थित प्रणाली पर प्रहार किया और इस बात पर जोर दिया कि विधि को संहिताबद्ध किया जाय और उसकी शब्दावली तथा प्रक्रिया को सरल बनाया जाय। इंगलैंड में एक विशेष प्रणाली प्रचलित थी जिसके अनुसार देहात के भद्रपुरुष न्याय के प्रशासक बन जाया करते थे; इस प्रथा की बैंथम ने विशेषरूप से कटु आलोचना की।

इंगलैंड की दंड-विधि में निर्धारित अन्यायपूर्ण और क्रूर दंड को और कारागारों की प्रशासन-व्यवस्था को बैंथम असह्य मानता था। उसका कहना था दंड का उद्देश्य अपराधों को रोकना है; दंड अपराध की गुरुता को ध्यान में रखकर उसी के अनुपात में दिया जाना चाहिए, और अपराधी के सुधार की ओर भी ध्यान देना चाहिए। दंड देने में निश्चितता और निष्पक्षता अति आवश्यक हैं। उसने इंगलैंड के कारागारों की स्थिति पर प्रहार किया, और होवर्ड ने कारागार-सुधार के लिये जो प्रयत्न किये उनके साथ पूर्ण सहानुभूति दिखलाई। उसका अनुरोध था कि अपराधियों के लिये लाभदायक

४. देखिये उसके *Discourse on Civil and Penal Legislation,* (1802); *Theory of Punishments and Rewards* (1811); or *Treatise on Judicial Evidence* (1813) और *Contitutional Code.*

श्रम और शिक्षा की योजनाएँ लागू की जायँ। उसने अपराधियों के निवास के लिये एक चक्राकार (पैनोप्टीकोन) इमारत की योजना बनाई; उसमें ऐसी व्यवस्था की गई कि प्रशासक अपने केन्द्रस्थ निवासस्थान में बैठकर सम्पूर्ण निवासियों के जीवन और कार्यों पर निगाह रख सकता था। अपनी इस योजना को संसद द्वारा अंगीकृत कराने के लिये बेंथम ने अनेक वर्ष तक प्रयत्न किया। इंगलैंड के बाहर अनेक देशों में बेंथम की योजनाओं को आंशिक रूप में क्रियान्वित करने के प्रयत्न किये गये। कारागारों में जो सुधार हुए और सुधारगृहों और औद्योगिक स्कूलों की स्थापना की गई उन सबके पीछे बेंथम की मूल प्रेरणा ही काम कर रही थी।

बेंथम का प्रभाव शीघ्र ही बाहर भी फैलने लगा। फ्रांसीसी क्रान्ति में उसने सक्रिय दिलचस्पी दिखलाई, और उसकी विधान सम्बन्धी रचनाओं का १८०२ में मिराबू के सचिव एतीमो द्यूमों ने फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया। फ्रांसीसी सभा की प्रक्रिया बहुत कुछ बेंथम द्वारा तैयार की गई रूप-रेखा पर भी आधारित थी। मिराबू ने अपने भाषणों में उसके अनेक राजनीतिक और विधिक प्रस्तावों को प्रस्तुत किया। और १७६२ में पेन के साथ-साथ बेंथम को भी "फ्रांस का नागरिक" बना दिया गया। बेंथम के विचारों का रूस, पुर्तगाल, स्पेन और दक्षिणी अमेरिका के देशों में व्यापक प्रचार हुआ। उन आन्दोलनों के नेताओं ने भी उसके विचारों का प्रयोग किया जिन्होंने आगे चल कर पवित्र संघ (होली एलाइंस) को परास्त किया और स्पेन तथा तुर्की के साम्राज्यों के ध्वंसावशेषों पर नये राष्ट्रों की रचना की।

बेंथम ने अनेक देशों की विधिसंहिताओं के संशोधन में योग दिया। कुछ देशों ने तो उससे इस कार्य में सहायता देने के लिये प्रार्थना की, किन्तु अनेक बार तो उसने बिना प्रार्थना के ही अपनी सेवाओं से उन्हें अनुग्रहीत किया। १८११ में उसने संयुक्त राज्य अमेरिका के लिये एक वैज्ञानिक विधिसंहिता तैयार करने के हेतु राष्ट्रपति मैडीसन के समक्ष औपचारिक रूप से एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। आगे चल कर उसने रूस के ज़ार और पैनसिलवेनिया के राज्यपाल के समक्ष भी ऐसा ही प्रस्ताव रक्खा। १८२२ में उसने उदार विचारों की दुहाई देनेवाले सभी राष्ट्रों से इस प्रकार की अपील की। उसे अपनी विधि निर्माण सम्बन्धी योग्यता में अपरिमित विश्वास था, और समझता था कि मैं एक ऐसी व्यवस्था की रचना कर सकता हूँ जिससे कि अधिकतम संख्या का अधिकतम कल्याण निश्चित हो सके।

बेंथम की प्रारम्भिक रचनाएँ स्पष्ट और सुसम्बद्ध थीं; किन्तु बाद की रचनाएँ आवश्यकता से अधिक विस्तृत और अधिकतर उसी के बनाये हुए भद्दे भोंड़े पारिभाषिक शब्दों से लदी हुई हैं। किन्तु कुछ शब्द जैसे "इंटरनेशनल" (अन्तर्राष्ट्रीय) "यूटीली-टेरियन" (उपयोगितावादी) "कोडीफिकेशन" (संहिताकरण) और "मिनिमाइज़"

(न्यूनतम करना) अंग्रेजी भाषा की स्थाई सम्पत्ति बन गये हैं और उनसे भाषा समृद्ध हुई है।

जेम्स मिल

बैंथम के शिष्यों में सबसे अधिक ओजपूर्ण लेखक जेम्स मिल (१७७३-१८३६) हुआ। उसने साहचर्य मनोविज्ञान के आधार पर उपयोगितावादी सिद्धान्तों का समर्थन किया।[५] मिल बैंथम के इस मत से सहमत था कि नैतिक और अनैतिक कार्यों का असली भेद उसकी उपयोगिता में है, और विधि का काम यह है कि समाज का दबाव डलवाकर व्यक्तियों से ऐसे कार्य करवाये जिनसे सामान्य कल्याण का संवर्धन हो और उन कार्यों को रोके जिनसे सुख का नाश होता हो। बैंथम की भाँति उसने भी शिक्षा को आधारभूत महत्व दिया, और हैल्वेशियस के इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि सभी मनुष्यों में जन्म से ही उन्नति करने की समान योग्यता होती है, और असमानताएँ वातावरण तथा शिक्षा के भेद से उत्पन्न होती हैं।

मिल इस बात का प्रचार करते-करते कभी नहीं थका कि प्रतिनिधि शासन-प्रणाली और विवाद की स्वतंत्रता उचित राजनीतिक जीवन के लिये अति आवश्यक हैं। उसका विश्वास था कि अपना सुख प्राप्त करने के प्रयत्न में हर व्यक्ति दूसरे से सुख के मार्ग में बाधा डालने लगता है, अतः इस प्रकार की बाधाओं को रोकने के लिये राज्य आवश्यक है। किन्तु साथ ही साथ इस बात की भी आवश्यकता है कि सरकार को भी अपनी शक्ति का अति विस्तार करने से रोका जाय। इसका सर्वोत्तम उपाय यह है कि प्रमुख सत्ता उस निकाय को सौंपी जाय जो सम्पूर्ण समाज का सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व करता हो। मिल को मध्य वर्ग पर बड़ा भरोसा था, और उन लोगों से सहमत नहीं था जो इंगलैंड की प्रणाली की इसलिये प्रशंसा करते थे कि उसमें राजतंत्रीय, अभिजाततंत्रीय और लोकतांत्रिक तत्वों का सन्तुलन था। उसका तर्क था कि अपने स्वार्थों की पारस्परिक एकता के कारण राजा और सामन्त सदन प्रायः लोकसभा के विरुद्ध आपस में मिल जाते हैं। उसने सुझाया कि लोकसभा इतनी शक्तिशाली होनी चाहिए कि राजा तथा सामन्त सदन दोनों के सम्मिलित विरोध का भी मुकाबिला कर सके, और इसके लिये उसने एक ऐसी व्यवस्था प्रस्तावित की जो कि १९११ के उस विधेयक से बहुत कुछ मिलती जुलती थी जिसके द्वारा सामन्त सदन की शक्ति घटाई गई। उसका यह भी सुझाव था कि प्रतिनिधियों और निर्वाचकों का पारस्परिक सम्पर्क बनाये रखने के लिये अल्प अवधि की प्रणाली आवश्यक है। उसने चालीस वर्ष से अधिक आयु के पुरुषों के लिये मताधिकार का भी प्रस्ताव रक्खा। मिल की रचनाओं का व्यापक

५. अपने *Analysis of the Phenomena of the Human Mind* (1829) और *Fragment on Mackintosh* (1835) में।

प्रचार हुआ और १८३२ की सुधार विधेयक में परिणत होने वाली घटनाओं पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा।

बैंथम की भाँति मिल को भी विधि तथा विधिक सुधार के विषय में बड़ा उत्साह था, किन्तु इस सम्बन्ध में उसने बैंथम से आगे कोई प्रगति नहीं की। उसने विधिशास्त्र का विवेचन करते समय अधिकारों की परिभाषा, अपराधों के लिये दंड, न्यायाधिकरणों की रचना और न्यायाधिकरणों की प्रक्रिया आदि की ओर विशेष ध्यान दिया। अन्तर्राष्ट्रीय विधि की चर्चा करते समय उसने बतलाया कि सब से बड़ी कमी यह है कि कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसे राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों में अन्तिम निर्णय देने का अधिकार हो। उसका कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पीछे वास्तविक बल तो लोक भावना का है, और शक्तिशाली से शक्तिशाली राष्ट्र भी उसकी उपेक्षा करने का साहस नहीं कर सकता, विशेषकर यदि वह राष्ट्र लोकतांत्रिक हो। उसने इस बात पर विशेष जोर दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की एक संहिता तैयार की जाय और एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण स्थापित किया जाय। उसका विश्वास था कि यदि इस प्रकार की संस्था में राष्ट्रों का उचित प्रतिनिधित्व हो और वह निष्पक्ष होकर निर्णय करें तो लोकमत के दबाव से लोग उसके निर्णयों को मानने के लिये अवश्य बाध्य होंगे। अन्त में उसका सुझाव था कि लोक-भावना को सबल बनाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा का अभिन्न अंग बना दिया जाय।

ऑस्टिन

उपयोगितावादी सिद्धान्तों का विधिशास्त्र के साथ संयोग स्थापित करने का काम जॉन ऑस्टिन (१७९०-१८५९)[1] ने किया। इंगलैंड की जिस अव्यवस्थित विधि-प्रणाली की बैंथम ने आलोचना की थी उसको ऑस्टिन स्पष्ट तथा यथार्थ रूप देना चाहता था। इसके लिये आवश्यक था कि विधान और प्रभुत्व के सम्बन्ध में सुनिश्चित सिद्धान्त निर्धारित किये जायँ। उपयोगितावाद ने विधान के नैतिक आधार का काम दिया। चूँकि इंगलैंड में संसद की सर्वोच्चता स्थापित हो चुकी थी, उस पर न तो राजा का ही नियन्त्रण था और न उसके अधिकारों की कोई सांविधानिक सीमा थी, इसलिये वहाँ प्रभुत्व के विधिक सिद्धान्त के निरूपण के लिये परिस्थितियाँ अनुकूल थीं।

ऑस्टिन ने जर्मनी में शिक्षा पाई थी, किन्तु उसे जर्मन विचारवादियों का राजनीतिक सिद्धान्त पसन्द नहीं था। किन्तु उस पर जर्मन विधिवेत्ताओं का, विशेषकर गुस्टव फोन ह्यूगो का, प्रभाव अवश्य पड़ा था। ह्यूगो से उसने अपना पद "मानव विधि का दर्शन" ग्रहण किया। ह्यूम की भाँति ऑस्टिन की पद्धति भी तर्कमूलक और

[1] देखिये उसके *Lectures on Jurisprudence* (1832), *A Plea for the Constitution* (1859), *On the Study of Jurisprudence* (1863).

औपचारिक थी। उसने स्पष्ट परिभाषा पर अधिक बल दिया, पदों के प्रयोग में सूक्ष्म भेदों का ध्यान रक्खा और निगमन पद्धति का अनुसरण किया। उसने प्रभुत्व के सिद्धांत को नैतिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से पृथक किया और एक निरपेक्ष प्रक्रिया द्वारा मानव विधि के विज्ञान का सृजन किया। वह यह मानकर चला कि राज्य की प्रभु सत्ता ही विधि का स्रोत है, और फिर विधि का विश्लेषण और वर्गीकरण किया, तथा उन तत्वों की उपेक्षा की जिनके प्रभाव के कारण प्रभु उसकी रचना करता अथवा उसे स्वीकृत करता है।

ऑस्टिन ने सामाजिक संविदा के सिद्धान्त को अस्वीकार किया और कहा कि राज्य का धीरे-धीरे विकास हुआ है, और विकास की इसी प्रक्रिया में लोगों ने राज्य की उपयोगिता को समझ लिया और अराजकता की अपेक्षा आज्ञापालन को पसन्द करने लगे। मनुष्य राजनीतिक समाज में मिलकर रहते हैं, इसका आधार उनकी औपचारिक सम्मति नहीं अपितु आज्ञापालन की आदत है। किसी राजनीतिक समाज में जिस व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह की आज्ञाओं का बहुसंख्यक लोग आदतवश पालन करते हैं किन्तु जो स्वयं अपने से किसी प्रवर की आज्ञा का पालन नहीं करता वही प्रभु है। ऑस्टिन ने राज्य तथा प्रभु के बीच भेद नहीं किया अपितु उन्हें एक ही माना। इस प्रकार ऑस्टिन के अनुसार प्रभुत्व राजा अथवा सम्पूर्ण जनता में निवास नहीं करता, अपितु जनता के उस अंग में निहित होता है जिसमें निर्णय करने की शक्ति होती है और जो वास्तव में सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करता है। उसने बतलाया कि चूँकि विधि-निर्माण की सर्वोच्च शक्ति को किसी उच्चतर विधि द्वारा परिसीमित नहीं किया जा सकता इसलिये विधिक दृष्टि से प्रभु की सत्ता निरंकुश होती है। प्रभु ही सम्पूर्ण विधिक अधिकारों का स्रोत होता है और वही नागरिक स्वतंत्रता का सृजन करता और उसकी रक्षा की गारंटी देता है।

ऑस्टिन को प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त से घृणा थी। उसने आग्रहपूर्वक कहा कि सभी अधिकारों का सृजन विधि द्वारा होता है और राजनीतिक नियंत्रण उतना ही आवश्यक है जितनी कि नागरिक स्वतंत्रता। यद्यपि विधि के क्षेत्र में ऑस्टिन ने उग्र सुधार का समर्थन किया, किन्तु तत्वतः उसका दृष्टिकोण पुरातनपोषी अथवा अनुसार था। उसे अति लोकतंत्र से अरुचि थी; १८५६ में उसने संसदीय सुधार का विरोध किया। उसने इस बात को मानने से इन्कार किया कि सरकार शासितों की सम्मति पर आधारित होती है और कहा कि बहुत थोड़े से व्यक्ति, जो अत्यधिक प्रबुद्ध होते हैं, इस प्रकार के प्रश्नों की ओर सोच समझ कर ध्यान देते हैं, बहुसंख्यक लोग तो आदत तथा भावनाओं के वशीभूत होकर सत्ता का समर्थन और उसकी आज्ञाओं का पालन करते रहते हैं।

ऑस्टिन की परिभाषा के अनुसार प्रकृष्ट (सुपीरियर) द्वारा अवकृष्ट (फीयर) को दिया हुआ आदेश ही विधि है; और विधि का पालन इसलिये किया

जाता है कि प्रकृष्ट में दंड देने की शक्ति होती है। राजनीतिक प्रकृष्ट अथवा प्रभु का आदेश ही मानव विधि (पोजिटिव लॉ) अथवा सच्चे अर्थ में विधि है। अनिश्चित और प्रभुत्वहीन प्रकृष्टों द्वारा दिये गये मानवीय आदेश मानव नैतिकता की कोटि में आते हैं। रूढ़ियाँ, फैशन तथा सम्मान के नियम, अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परम्पराएँ और सांविधानिक विधि के सिद्धान्त और पूर्वोदाहरण सब इसी वर्ग में सम्मिलित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि सच्चे अर्थ में विधि (पोजिटिव लॉ) नहीं है, क्योंकि, उसको लागू करने वाला कोई प्रभु नहीं हैं ; सांविधानिक विधि को भी विधि (पोजिटिव लॉ) नहीं कहा जा सकता क्योंकि कोई विधिक सत्ता उन नियमों की स्थापना नहीं कर सकती जिनसे स्वयं प्रभु का ही सृजन हुआ हो। किन्तु सुविधा को ध्यान में रखते हुए ऑस्टिन ने स्वीकार किया कि सांविधानिक विधि के अधिकांश को कार्पस जूरिस का अंग माना जा सकता है। प्रभु के न तो विधिक अधिकार हो सकते हैं और न उस पर विधिक अधिबन्धन भी लागू किये जा सकते हैं, क्योंकि उनको लागू करनेवाली कोई उच्चतर सत्ता नहीं होती। वे विधिक नियम जिनका लोग आदतवश पालन करते हैं तीन प्रकार के हो सकते हैं : प्रभु की इच्छा द्वारा निर्मित परिनियम, प्रभु के अभिकर्ताओं द्वारा दिये गये न्यायालयों के निर्णय और वे रूढ़ियाँ जिन्हें प्रभु मान लेता है किन्तु जिन्हें वह किसी भी समय अपनी इच्छानुसार रद्द कर सकता है। इनके सम्बन्ध में ऑस्टिन ने यह सिद्धांत अपनाया कि "जिस चीज़ की प्रभु अनुज्ञा दे देता है उसे उसका आदेश ही समझना चाहिए।" ऑस्टिन ने विधि तथा रूढ़ि के बीच स्पष्ट भेद किया ; रूढ़ि तब तक विधि नहीं मानी जा सकती जब तक प्रभु औपचारिक अथवा मौन रूप से उस पर अपनी अनुमति नहीं दे। देता उसने विधिशास्त्र और नैतिकता को भी सावधानी के साथ एक दूसरे से पृथक किया। उसने इस बात की भली-भाँति समझ लिया था कि वास्तव में सामाजिक जीवन में अनेक तत्व क्रियाशील रहते हैं जिनसे कि मनुष्यों के कार्य निर्धारित होते हैं, इसलिये केवल निरपेक्ष मानव विधि के क्षेत्र में प्रभुत्व का सिद्धांत लागू किया जा सकता है।

ऑस्टिन ने इस बात पर बल दिया कि प्रभुत्व असीमित और अविभाज्य होना चाहिए। इसके विपरीत बैंथम का मत था कि संघ राज्यों और परिसंघों में स्पष्ट समझौतों द्वारा प्रभुत्व सीमित कर दिया जाता है। आस्टिन का कहना था कि अनेक राज्यों से मिलकर बने हुए राजनीतिक समुदाय दो प्रकार के हो सकते हैं ; परिसंघ जिनमें प्रत्येक सदस्य प्रभु होता है, अथवा सामासिक राज्य जिसमें संघ का एक निश्चित निकाय प्रभुत्व को धारण करता है। ऑस्टिन ने अमेरिका में उस समय विभक्त प्रभुत्व का जो सिद्धांत प्रचलित था उसको स्वीकार नहीं किया और कहा कि संयुक्त राज्य एक सामासिक राज्य है जिसमें प्रभुत्व विभिन्न व्यवस्थापिकाओं को चुननेवाले मतदाताओं में निवास करता है।

ऑस्टिन के विचारों को उस समय के विधि-वेत्ताओं ने अंगीकार नहीं किया। उसने राजनीतिक सिद्धान्त में जो योग दिया उसको बहुत बाद में कहीं स्वीकार किया गया। महाद्वीप पर तो उसका कोई तात्कालिक प्रभाव नहीं पड़ा। उसके इस सिद्धान्त की कि सांविधानिक और अन्तरराष्ट्रीय विधि के सिद्धान्त राजनीतिक नैतिकता के क्षेत्र में आते है कटु आलोचना हुई; और प्रभुत्व के सिद्धान्त का विद्वानों ने, विशेषकर विधि शास्त्र के ऐतिहासिक सम्प्रदाय ने, खंडन किया और कहा कि वह अति जटिल और औपचारिक है और उसको सब राजनीतिक समुदायों पर लागू नहीं किया जा सकता।

जॉन स्टुअर्ट मिल

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक इंगलैंड में उपयोगितावादी उदारवाद को सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया। प्रारम्भ के उपयोगितावादियों के लोकतांत्रिक प्रयत्न बहुत कुछ सफल हो चुके थे और जनसंख्या के बड़े अंग को राजनीतिक शक्ति में साझा मिल गया था। अनेक पुराने दोष और असमानताएँ दूर की जाचुकी थीं। इस प्रक्रिया में लोकतंत्र से उत्पन्न होनेवाली बुराइयाँ भी स्पष्ट रूप से सामने आने लग गईं थीं। राज्यों में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ी। इसने लोगों को राज्य के कार्यक्षेत्र और व्यक्ति की स्वतंत्रता की ओर ध्यान देने के लिये प्रेरित किया। इस काल में मानसिक जीवन का नेतृत्व जॉन स्टुअर्ट मिल (१८०६-१८७३) ने किया।[७]

अपनी युवावस्था में मिल बेंथम के सिद्धान्तों और उग्र राजनीति का उत्साही समर्थक था। बाद में उसनें अधिक व्यापक और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया; बुद्धि के साथ-साथ भावनाओं के भी महत्व को समझा और उपयोगितावाद के संकीर्ण तथा जटिल सिद्धान्तों में संशोधन कर दिया; साथ ही साथ उपयोगितावादियों को लोकतांत्रिक सुधारों में जो विश्वास था उसमें उसने थोड़ा सा परिवर्तन किया। बेंथम तथा जेम्स मिल की धारणा थी कि एक प्रकार का सुख उतना ही अच्छा होता है जितना कि दूसरे प्रकार का। आनन्दों के बीच केवल मात्रा का अंतर होता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने आनन्द के विभिन्न प्रकारों के बीच भेद किया और कुछ प्रकार के आनन्द को ऊँचा और कुछ को निम्न कोटि का माना। उसका कथन था कि "असन्तुष्ट सुकरात सन्तुष्ट मूर्ख से अच्छा है।" मिल ने इस स्वार्थपूर्ण धारणा के खिलाफ विद्रोह किया कि प्रत्येक व्यक्ति जानबूझकर अपने ही सुख का प्रयत्न करे, और बतलाया कि प्रत्यक्ष रूप से आनन्द प्राप्त करने का फल यह भी हो सकता है कि सुख हाथ ही न आये। अपने पूर्वगामियों के मुकाबिले

७. विशेषकर उसकी *On Liberty* (1859) और *Considerations on Representative Government* (1860) अधिक मूल्यवान रचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त *Parliamentary Reform* (1859), *Utilitarianism* (1863) और *The Subjection of Women* (1866) अवलोकनीय हैं।

में उसने इस बात को अधिक अच्छी तरह समझा कि नैतिकता तत्वतः सामाजिक होती है, और न्याय तथा परोपकार की भावनाएँ उसके मुख्य आधार-स्तम्भ हैं। इसलिये उसने इस बात पर अधिक बल दिया कि प्रत्येक व्यक्ति को सामान्य सुख के संवर्धन का ही प्रयत्न करना चाहिए। सामाजिक कल्याण को उसने सरकार का उद्देश्य माना, और कहा कि बुद्धि और चरित्र का विकास करना उसकी सफलता की मुख्य कसौटी है।

सामाजिक विज्ञानों के स्वभाव और पद्धति के सम्बन्ध में मिल का जो दृष्टिकोण था उस पर फ्रांस के वस्तुवादियों (पॉजिटिविस्ट्स) का गहरा प्रभाव था, विशेषकर कॉम्ते के इतिहास-दर्शन का ; और कॉम्ते की भाँति उसे भी इस बात में दिलचस्पी थी कि समाज के अध्ययन के लिये एक विज्ञान की रचना की जाय। किन्तु कॉम्ते की तुलना में मिल को सामान्य समाज की अपेक्षा व्यक्ति की अधिक चिन्ता थी। उसने सामाजिक जीवन की जटिलता का भली-भाँति अनुभव किया और तर्क की उन भूलों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जिनमें राजनीतिक लोग प्रायः फँस जाया करते हैं। पहले, यह सोचना भूल है कि जो नीति एक देश में सफल हो चुकी है उसे परिस्थितियों की भिन्नताओं का ध्यान रक्खे बिना दूसरे देशों में अपना लेना चाहिए। और इस तथ्य की उपेक्षा करना कि परिस्थितियाँ निरन्तर बदलती हैं, दूसरी बड़ी भूल है। यद्यपि मिल ने इस बात को स्वीकार किया कि राजनीतिक क्षेत्र में वैज्ञानिक ढंग से पूर्व सूचना देना (भविष्यवाणी करना) असम्भव है, फिर भी उसका विश्वास था कि इतिहास के अध्ययन, मानव स्वभाव के ज्ञान और राजनीतिक घटनाओं के विश्लेषण से कुछ प्रवृत्तियों का पता लगाया जासकता है जिससे कि विधायकों और राजनीतिज्ञों के अमूल्य लाभ होगा। मिल की यह भी पक्की धारणा थी कि बुद्धियुक्त मानव प्रयत्नों से उन्नति की गति को तीव्र करना सम्भव है। एच० टी० बकल के विचारों से प्रभावित होकर उसने सांख्यकी के प्रयोग पर विशेष बल दिया। बकल की आशा थी कि मानव समाज के विज्ञान को भी वैसा ही निश्चित रूप दिया जासकता है जैसा कि भौतिक विज्ञानों का है, इसलिये उसने अनुरोध किया कि समाज के अध्ययन के लिये भी प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धति के अनुसार ही तत्सम्बन्धी तथ्यों का संग्रह और निर्वचन करना चाहिए। उसकी इस धारणा से भी कि सरकार प्रगति की शत्रु होती है मिल के व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को बल मिला।

राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में मिल का दृष्टिकोण स्पष्टतः व्यावहारिक था। उसे सामाजिक सुधार में भी उतनी ही दिलचस्पी थी जितनी कि राजनीतिक चिन्तन में। स्त्रियों के साथ होनेवाले विधिक और सामाजिक अन्यायों ने उसकी न्याय की भावना को बहुत पहले ही प्रज्वलित कर दिया था। विक्टोरिया के शासन के मध्यकाल में स्त्रियों को न तो उच्च शिक्षा का ही अधिकार था और न सार्वजनिक जीवन में भाग लेने का। उनकी विधिक स्थिति स्पष्टतः बहुत नीची थी। मिल का तर्क था कि शताब्दियों की "दासता" और सुविधाओं के अभाव से ही स्त्रियों का ऐसा स्वभाव

बन गया है। उसे स्त्रियों का "उद्धार" करने की बड़ी उत्कंठा थी; वह पहला व्यक्ति था जिसने संसद में उनका पक्षपोषण किया। उसका विश्वास था कि यदि स्त्रियों को पुरुषों के समान सुविधाएं दे दीं जायें तो उससे स्त्रियों को बड़ा लाभ होगा, क्योंकि स्वतन्त्रता से ही सुख की प्राप्ति होती है; इसके अतिरिक्त सामान्य रूप से समाज का भी हित होगा, क्योंकि स्त्रियों में विशिष्ट बौद्धिक क्षमता होती है जिससे वे समाज के कल्याण में योग दे सकेंगी। स्त्रियों को उच्च शिक्षा और अपनी प्रतिभा के विकास के लिये अन्य सुविधाएं देने, उन्हें मताधिकार और सरकारी पद धारण करने का अधिकार देने के लिये जो प्रयत्न किये गये उनमें मिल के तर्कों और कार्यों से बहुमूल्य सहायता मिली।

श्रमिक वर्गों के हितों की भी मिल को चिन्ता थी। प्रारम्भ में उसने उनकी शिक्षा पर बल दिया और उन्हें पहले से अधिक स्वतंत्रता देने के लिये अनुरोध किया। आगे उसने मजदूर सभाओं का समर्थन तथा मालिकों और मजदूरों के बीच ऐच्छिक सहयोग का अनुमोदन किया। वह निजी सम्पत्ति की प्रथा को आवश्यक मानता था; किन्तु उसने सम्पत्ति की, विशेषकर भूमि के स्वामित्व से उत्पन्न, विषमताओं को दूर करने पर बहुत बल दिया। साथ ही साथ मिल आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप को बहुत ही सन्देह की निगाह से देखता था। उसका कहना था राज्य का हस्तक्षेप यथासम्भव न्यूनतम हो, और सरकार तभी दखल दे जब कि ऐसा करना सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिये आवश्यक हो। किन्तु अपने जीवन के परवर्ती काल में उसे विश्वास होने लगा कि मनुष्य के प्रयत्नों से सुधार सम्भव है। अतः वह एक ऐसे समाजवादी आदर्श की कल्पना करने लगा जिसमें पृथ्वी भर के कच्चे माल पर समाज का स्वामित्व होगा और सम्मिलित श्रम से उत्पादित लाभ में सभी का साझा होगा।[८] मिल को अपने पूर्वगामियों के अ-हस्तक्षेप के सिद्धांतों में बड़ी आस्था थी। किन्तु साथ ही साथ वह उन सिद्धांतों से उत्पन्न बुराइयों से भी परिचित था, और समझता था कि उनके दूर करने में वैयक्तिक प्रयत्न अधिक सफल नहीं हो सकते। एडम स्मिथ को प्राकृतिक विधि में इतना अधिक विश्वास था कि उसने अहस्तक्षेप के सिद्धांत को निरपेक्ष रूप से लागू करने पर जोर दिया; किन्तु मिल उपयोगिता के सिद्धांत का माननेवाला था इसलिये उसने इस बात का जोर दिया कि सामाजिक कल्याण के लिये आवश्यक होने पर अहस्तक्षेप के सिद्धांत में अपवादस्वरूप परिवर्तन भी किया जा सकता है।

मिल लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली का समर्थक था। इस संबंध में उसका तर्क था कि किसी काम को वे लोग ही सबसे अच्छा कर सकते हैं जिनके हितों का उससे

---

८. देखिये उसकी *Autobiography* (1873), pp. 230-234.

संबंध होता है ; और सक्रिय राजनीतिक जीवन से उसमें भाग लेनेवालों के नैतिक और बौद्धिक शक्तियों का विकास होता है । वह ऑस्टिन के इस मत से सहमत था कि राजनीतिक शक्ति का एकल उच्चतम धारणकर्ता होना चाहिए । उसका कहना था इंगलैंड में संसद इस प्रकार की सत्ता है । किन्तु ऐसी संस्था का काम कानून बनाना अथवा प्रशासन में हस्तक्षेप करना नहीं है, उसे केवल सामान्य नियन्त्रण और आलोचना का काम ही करना चाहिए ।

साथ ही साथ मिल को इस बात का भी डर था लोकतन्त्र की वृद्धि और राज्य की विधायी शक्तियों के प्रसार से सभी व्यक्ति एक सामान्य प्रकार के हो जायँगे । उनका अपनापन नष्ट हो जायगा और वे सामूहिक अत्याचार की बाढ़ में बह जायँगे । उसका विश्वास था कि सामाजिक उन्नति के लिये आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास का पूरा अवसर दिया जाय । अतः उसने विचार, वाणी और आचरण की स्वतंत्रता पर बल दिया । उसको विचारों की सहिष्णुता और विवाद की स्वतंत्रता में विश्वास था । उसकी यह भी पक्की धारणा थी कि विचारों के संघर्ष में अन्ततोगत्वा सत्य की विजय होगी । उसने मिल्टन, सिडनी और हुम्बोल्ट के विचारों का उपयोगितावादी दृष्टिकोण से पुनः अभिकथन किया । मिल का कहना था कि व्यक्तियों तथा समुदायों के जीवन और कार्य में तब तक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जब तक उनसे दूसरों के हितों और अधिकारों को क्षति पहुँचने का गम्भीर खतरा न हो । उसने मौलिकता के मूल्य पर विशेष बल दिया और कहा कि विचारों तथा कार्यों की विविधता बड़े लाभ की चीज है । यहाँ तक कि उसने राजकीय शिक्षा का भी विरोध किया और कहा कि राजकीय शिक्षा सब व्यक्तियों को ठीक एक दूसरे जैसा बनाने का साधन मात्र है ।

मिल को लोकतंत्र के सम्बन्ध में सबसे बड़ा डर यह था कि बहुसंख्यक लोग अल्पसंख्यकों पर अत्याचार करेंगे । उसकी धारणा थी कि ब्रिटिश संसद अल्पसंख्यकों का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं है । इसलिए उसने टॉमस हेयर[९] द्वारा प्रस्तावित समानुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली का समर्थन किया ताकि संसद में सीटों का बटवारा विभिन्न दलों के समर्थकों द्वारा दिये हुए मतों के अधिक अनुरूप हो । मिल ने राजनीति में प्रशिक्षित नेताओं के महत्व पर विशेष बल दिया । उसे यह भी डर था कि मताधिकार के प्रसार से समुचित योग्यता के लोक-अधिकारियों का मिलना कठिन होजायगा । इसलिये उसने करदाताओं के लिये तो सार्वभौम मताधिकार का समर्थन किया, किन्तु प्रकृष्ट बुद्धि तथा उच्च चरित्रवाले नागरिकों के लिये बहुवोटों की प्रथा का अनुरोध किया । नागरिकों का इस प्रकार वर्गीकरण करने के अतिरिक्त उसने यह भी प्रस्ताव किया कि यदि कोई

९. देखिये उसका निबन्ध *On the Election of Representatives* (1859).

नागरिक अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये स्वेच्छा से परीक्षा देना चाहे तो उसे इस बात की सुविधा दी जानी चाहिए। मिल का सुझाव था कि संसद के सदस्यों को वेतन दिया जाय ताकि सरकार भ्रष्टाचार से मुक्त रह सके; किन्तु उसने गुप्त मतदान का इस आधार पर विरोध किया कि इससे लोग स्वार्थ से प्रेरित होकर और गैर जिम्मेदारी से मतदान करेंगे। उसकी राय थी अन्त्य विधायी शक्ति लोकसभा में ही निहित होनी चाहिए, किन्तु सामन्त सदन को जिसमें विधिक योग्यता के व्यक्ति बैठते हैं, संसद के समक्ष प्रस्तुत करने के लिये विधेयकों के मसविदे तैयार करने का अधिकार दिया जाय।

जैसा कि हम देख चुके हैं उपयोगितावादी दर्शन का नैतिक दृष्टिकोण संकीर्ण एवं भौतिकवादी था, और उसके विधि तथा प्रभुत्व सम्बन्धी सिद्धान्त औपचारिक तथा विकल्प मूलक थे जिसके कारण परवर्ती लेखकों ने ऑस्टिन के विधिक प्रभु के पीछे एक राजनीतिक प्रभु को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया। किन्तु इस सबके बावजूद उपयोगितावादी सिद्धान्त का व्यावहारिक राजनीति तथा राजनीतिक दर्शन दोनों के क्षेत्र में बहुमूल्य योग था। उन्नीसवीं शताब्दी के अनेक आवश्यक सुधार उपयोगितावादियों के प्रभाव के कारण ही सम्पादित हुए थे। उन्होंने जिन राजनीतिक पदों (शब्दावली) का प्रयोग किया वे सरल और स्पष्ट थे और उन्हें जीवन की ठोस वास्तविकता में अधिक दिलचस्पी थी। इसके विपरीत प्राकृतिक-विधि दर्शन अस्पष्ट सामान्यताओं (सामान्य नियमों) से भरा पड़ा था, और विचारवादियों की धारणाएँ प्रायः रहस्यात्मक तत्वज्ञान से सम्बन्ध रखती थीं। यही कारण था कि इन दोनों विचारधाराओं के मुकाबिले में उपयोगितावाद में अधिक रोचकता और ताज़गी देखने को मिलती थी। उपयोगितावादियों ने व्यक्ति तथा स्वतंत्रता पर जो बल दिया उसने साम्यवाद को वृद्धि को रोका और उन सिद्धान्तों को भी ठेस पहुँचाई जिन्होंने राज्य को व्यक्ति का उच्चतम रूप माना और उसे नैतिकता तथा विधि सभी के प्रतिबन्धनों से मुक्त करने का प्रयत्न किया था।

पठनीय ग्रन्थ

Adams, K. M., "How the Benthamites Became Democrats," *Journal of Social Philosophy and Jurisprudence* (January, 1942).

Ashton, T. S., *The Industrial Revolution, 1760-1830* (Oxford Univ. Press, 1948).

Dewy, John, "Austin's Theory of Sovereignty", *Science Quarterly*, Vol. 9 (1894).

Halevy, Elie, *The Growth of Philosophic Radicalsim*, trans. by Mary Morris (New York, Macmillan 1928).

Hollord, H, H., "Jeremy Bentham", *Cambridge Law Journal*, Vol. 10 (1948).

Keeton, G. W. and Schwarzenberger, Georg, eds., *Jeremy Bentham & the Law* (London, Stevens, 1948)

Levy, A. W., *A Study in the Social Philosophy of John Stuart Mill* (Chicago, Univ. of Chicago Press, 1940)

Plamenatz, John, *Mills, Utilitarianism* (Oxford, Blackwell, 1949).

Sabine, G. H., *A History of Political Theory* rev. ed. (New York, Holt, 1950), Chaps. 31-32.

Viner, Jacob, "Bentham & J. S. Mill. The Utilitarian Background" *American Economic Review*, Vol. 39 (March, 1949)

Wallas, Graham, *The Life of Francis Place*, 3rd ed. (New York, Knoff, 1919).

Men & Ideas (London, G. Allen, 1940) pp. 19-48.

अध्याय २१

सांविधानिक लोकतन्त्र का राजनीतिक सिद्धान्त

लोकतन्त्र तथा लिखित संविधानों की माँग

यद्यपि **वीना सम्मेलन** के प्रतिक्रियावादियों ने यूरोप में पुरातन व्यवस्था को पुनः स्थापित करने का भरसक प्रयत्न किया, फिर भी फ्रांसीसी क्रान्ति के अनेक विचार जीवित बच रहे। मुख्य चीज यह थी कि लोगों की लिखित संविधानों और प्रतिनिधि संस्थाओं में आस्था कायम रही। इसके अतिरिक्त नेपोलियन के युद्धों से राष्ट्रीय एकता तथा स्वतंत्रता की भावनाओं को प्रोत्साहन मिला था। नेपोलियन की पराजय बहुत अंश में जनता के विद्रोहों का परिणाम थी; युद्ध के दौरान में शासकों ने अपनी-अपनी प्रजा की देशभक्ति को बार-बार उभाड़ा था और सांविधानिक स्वतंत्रता देने का वचन दिया। वीना सम्मेलन ने जो रुख अपनाया उसमे यूरोप के उदारवादियो को बहुत निराशा हुई। फिर, राजाओं ने अपने वायदों को पूरा नही किया; इसके जनता में उत्तेजना फैली, प्रदर्शन हुए और गुप्त क्रान्तिकारी संस्थाएँ कायम हुईं। परिणामस्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश में क्रान्तियाँ और युद्ध होते रहे, जिनका उद्देश्य नस्ल और भूगोल की एकता के आधार पर राष्ट्रीय राज्यो की स्थापना करना और उन राज्यों के भीतर सांविधानिक सरकारों का निर्माण करना था।

१८२० और १८३० के बीच के दशक में इटली, स्पेन और पुर्तगाल में जनता के विद्रोह हुए जिनके फलस्वरूप उन देशों में सांविधानिक शासन-प्रणाली का सूत्रपात हुआ; इसके अतिरिक्त यूनानियों ने तुर्की से राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करली। १८३० में बूर्बों वंश के राजा को पुनः फ्रांस के सिंहासन से हटा दिया गया, पोलैंड ने रूस से स्वतंत्र होने का विफल प्रयत्न किया, और बेल्जियम तथा हॉलैंड का अस्वाभाविक गठ-बन्धन समाप्त कर दिया गया। १८४८ में समस्त केन्द्रीय यूरोप में विप्लव उठ खड़ा हुआ। फ्रांस तेजी से सीमित राजतन्त्र से गणतंत्र की ओर अग्रसर हुआ, और फिर साम्राज्य के रूप में परिणत हो गया। जर्मनी के लोगों ने राष्ट्रीय एकता तथा उदार-शासन-प्रणाली की स्थापना के लिये यथासमर्थ्य किन्तु विफल प्रयत्न किया। शताब्दी के तृतीय चरण में अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों के फलस्वरूप जर्मनी और इटली का एकीकरण जल्दी हो गया और बल्कान प्रायद्वीप के राष्ट्र स्वतंत्र हो गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीयता और सांविधानिक लोकतंत्र दो ऐसे तत्व थे जिनके कारण सबसे अधिक उथल-पुथल हुई।

प्रत्येक देश में उदारवादी दल इस बात का इच्छुक था कि एक लिखित संविधान की रचना की जाय जिसमें वैयक्तिक अधिकारों की कुछ गारंटी हो और बहुसंख्यक जनता का प्रतिनिधित्व करनेवाली एक सभा की व्यवस्था की जाय। सामान्यतः लोगों को कार्य-पालक, विधायी और न्यायिक अंगों की शक्ति के पृथक्करण की उपादेयता में बहुत विश्वास था। फ्रांसीसी गणतंत्र ने अराजकता को जन्म दिया था, इसलिये लोग उग्र परिवर्तनों से शंकित होने लगे थे, और गणतंत्रीय शासन प्रणाली की माँग करनेवाले बहुत कम लोग थे। अधिकतर लोगों की माँग यह थी कि राजा तथा प्रजा के प्रतिनिधियों के बीच शक्ति का उचित सन्तुलन स्थापित किया जाय जिससे अत्याचारों की रोक-थाम हो सके। नेपोलियन की पराजय के उपरान्त चारों ओर अव्यवस्था फैल गई थी, और इस बात की आवश्यकता थी कि जिन राजाओं को पुनः सिंहासन प्राप्त हो गये थे उनकी अधीनता में सरकारी व्यवस्था का पुनस्संगठन किया जाय। इससे सांविधानिक सिद्धांतों के निश्चित अभिकथन की माँग को प्रोत्साहन मिला, कई देशों में राजाओं ने जनता की माँग पर अथवा क्रांति के भय से संविधान जारी कर दिये। और कहीं-कहीं राजा तथा प्रजा की प्रतिनिधि सभाओं के बीच समझौते के फलस्वरूप संविधानों का जन्म हुआ। कभी-कभी क्रान्तिकारी निकायों ने संविधान बनाने का काम अपने हाथों में ले लिया। आस्ट्रिया, रूस और प्रुशिया के शासक वर्गों ने इस प्रकार के आन्दोलनों का सबसे अधिक प्रतिरोध किया। किंतु १८८० तक रूस और तुर्की को छोड़कर यूरोप के प्रत्येक देश में निश्चित सांविधानिक व्यवस्था स्थापित होगई और जनता के काफी बड़े अंग को शासन कार्य में साझा मिल गया।

इन संविधानों में बड़ी भिन्नताएँ थीं, किंतु जिस राजनीतिक सिद्धांत पर वे आधारित थे उसका केन्द्रबिन्दु यह विवाद था कि नई व्यवस्था में राजा की क्या स्थिति होनी चाहिए, एवं उसे संविधान को बदलने का अधिकार है अथवा नहीं, और विधान के काम में उसका क्या भाग हो। राजाओं तथा उनका समर्थन करनेवाले अनुदार विधि-वेत्ताओं का कहना था कि राजा ने जिस सांविधानिक व्यवस्था की रचना की है उसे बदलने का उसे अधिकार है। यद्यपि अन्त में यह स्वीकार कर लिया गया कि संविधान के संशोधन के लिये व्यवस्थापिका और राजा दोनों की सम्मति आवश्यक है किन्तु इस सिद्धान्त को मनवाने के लिये लोगों को प्रायः क्रान्ति का सहारा लेना पड़ा था।

राजाओं का यह भी दावा था कि विधि-निर्माण की अवशिष्ट शक्तियाँ शासकों में निहित हैं, जनता की सभाएँ केवल विधि के सार के सम्बन्ध में पर्यालोचन कर सकती हैं, किंतु कोई नियम तब तक विधि का रूप नहीं धारण कर सकता जब तक कि राजा उसका प्रख्यापन न करे। राजाओं ने प्रशासकीय कार्यों के सम्पादन के लिये अध्यादेश जारी करने की शक्ति का भी खुल कर प्रयोग किया और कभी-कभी उसका दुरुपयोग भी किया। बाद के संविधानों में यह व्यवस्था की गई कि राजा की अध्यादेश

जारी करने की शक्ति विधायी सभा द्वारा निर्मित कानूनों के निष्पादन में हस्तक्षेप न करे। किन्तु महाद्वीपीय विचारक इस बात के लिये तैयार नहीं थे कि राजा को राज्य का केवल आलंकारिक प्रमुख बना दिया जाय। यूरोप के अनेक राज्यों में उन्नीसवीं शताब्दी भर राजा के हाथ में वास्तविक संचालन-शक्ति बनी रही। जर्मनी के राज्यों में विशेष कर इस सिद्धान्त का प्रचार रहा कि राजत्व का राष्ट्र के साथ साथ स्वाभाविक रूप से विकास होता है और राजा तथा प्रजा दोनों के मेल से ही राज्य बनता है।

उदार संविधानवाद तथा लोक-प्रभुत्व के समर्थकों ने शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का पक्षपोषण किया ताकि दृढ़संकल्प राजा अपने परमाधिकारों को कायम रखने के प्रयत्न में सफल न हो सकें। अनुदारवादियों ने शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत का खण्डन किया और कहा कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह सिद्धांत गलत है, और इसके मानने वाले सरकार के कार्यों का जो विश्लेषण करते है वह भी सही नहीं हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका और जर्मनी में इस काल के सांविधानिक सिद्धांत में मुख्यतया संघ राज्य के स्वभाव, उसके अन्तर्गत प्रभुत्व के निवास की समस्या और संघ तथा उसके घटकों के बीच शक्तियों के वितरण आदि का विवेचन किया गया। राजाओं और संसदों के बीच, और संघ राज्यों में केन्द्र तथा घटकों के बीच हुए विवाद में ऑस्टिन के इस सिद्धांत का विरोध किया गया कि निरंकुश प्रभुत्व सरकार के एक निश्चित अंग में निहित होना चाहिए। फलतः यह विचार सामान्य रूप में प्रचलित होगया कि प्रभुत्व कुछ अमूर्त ढंग से राष्ट्र अथवा जनता में निहित होता है।

यूरोप में संविधान सम्बन्धी सिद्धान्त

यूरोप में जिन विचारकों ने राजतंत्र और संविधानिक संस्थाओं के बीच सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया उनमें फ्रांस के **सिद्धान्तवादियों** (विचारकों का एक सम्प्रदाय) का सबसे अधिक महत्व था। उन्होंने इस विषय में एक समझौते का मार्ग निकाला। बोदें के समय से फ्रांस के विचारक इस सिद्धान्त को मानते आये थे कि राज्य के अन्तर्गत प्रभुत्व का एक निश्चित निवास स्थान होता है। बूर्बों वंश के समर्थक दैवी अधिकार प्राप्त राजा की इच्छा को प्रभुत्व का आवास मानते थे। क्रान्तिवादियों ने सम्पूर्ण जनता की इच्छा में उसको निहित किया। चूँकि १८१४ के अधिकार पत्र के अनुसार न राजा को प्रभु माना गया था और न जनता को, इसलिये यह माना गया कि अन्त्य सत्ता विवेक अथवा निरपेक्ष न्याय में निहित है। प्रभुत्व को सभी मनुष्यों के ऊपर स्थान दिया गया और इच्छा की अपेक्षा विवेकशील चिन्तन को उसका स्रोत माना गया। इस प्रकार निरंकुश प्रभुत्व के सिद्धान्त से बचने में सहायता मिली। विवेक के प्रभुत्व का अर्थ यह निकलता था कि राजा तथा प्रजा दोनों के ही अधिकार हैं, किन्तु उनमें से अनन्य सत्ता किसी के भी हाथों में नहीं है।

विवेक के प्रभुत्व का योग्यतम समर्थक विक्टर कूजाँ (१७९२-१८६८) था।

उसने कहा कि प्रभुत्व तथा निरपेक्ष अधिकार दोनों एक ही चीज़ हैं और अधिकार न तो शक्ति पर आधारित हो सकता है और न सामान्य इच्छा पर, अपितु निरपेक्ष विवेक उसका आधार होना चाहिए। चूँकि मनुष्य भूल कर सकते हैं, इसलिये निरपेक्ष विवेक को प्राप्त करना असम्भव है ; अतः राजा और प्रजा में से कोई भी निरपेक्ष प्रभुत्व का अधिकारी नहीं हो सकता। विवेक द्वारा कुछ सिद्धांत स्थापित किये जा सकते हैं, और इनका सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व सांविधानिक सरकार में होता है।

फ्रास्वा पी० गुइजो (१७८७-१८७४) भी इसी प्रकार के सिद्धान्तों को मानने वाला था। उसने दैवी अधिकारों और सामान्य इच्छा, दोनों, के ही प्रभुत्व का विरोध किया और कहा कि विवेक तथा न्याय ही निरंकुश सत्ता का आधार प्रदान कर सकते हैं। कूज़ाँ की भाँति उसने भी एक व्यक्ति अथवा एक व्यक्ति समूह की इच्छा के प्रभुत्व के सिद्धांत का खंडन किया। उसका विचार था कि हॉब्स, रूसो और ऑस्टिन द्वारा विकसित प्रभुत्व के सिद्धांत से अत्याचार को प्रोत्साहन मिलता है, अतः राजनीतिक सत्ता का स्रोत निरपेक्ष सत्य ही हो सकता है, किसी मनुष्य की इच्छा नहीं। उसका विश्वास था कि जो भी सरकारें मनुष्यों को प्रभु मानती हैं वे सब निरंकुश हुआ करती हैं ; केवल वे सरकारें न्याय के निकट पहुँच सकती हैं जिनके प्रत्येक अंग पर विशद नियंत्रण होता है। सच्ची स्वतंत्रता की रक्षा प्रतिनिधि सरकार ही कर सकती है, शर्त यह है कि उसके अन्तर्गत शासन-सत्ता उन लोगों के हाथों में जो समाज के उच्चतम विवेक का प्रतिनिधित्व करते हैं। राजा और जनता में से केवल किसी को शक्ति सौंपना खतरनाक होता है ; दोनों के बीच संतुलन कायम रखने का प्रयत्न होना चाहिए। गुइजो की इच्छा थी कि फ्रांस में १८१४ के बाद जो सांविधानिक व्यवस्था स्थापित हुई थी उसका भी लोग उतना ही सम्मान करें जितना कि अँग्रेज जन अपने अलिखित संविधान का करते थे किंतु वह इस बात को भली-भाँति समझता था कि चूँकि इंगलैंड की व्यवस्था धीरे-धीरे और विकास की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न हुई है इसलिये वह फ्रांस की कृत्रिम व्यवस्था के मुकाबिले में अधिक अच्छी है।

सिद्धांतवादियों को आशा थी कि राजा तथा प्रजा के बीच सम्पादित हुआ समझौता स्थाई होगा ; उदारवादी उसे राजतंत्र और गणतंत्र के बीच की संक्रमण की अवस्था मानते थे। उदारवादी दल का नेता बेंजमिन कौंस्टेंट (१७६७-१८३०) था वह सामान्य इच्छा को राजा की वैयक्तिक इच्छा से प्रकृष्ट मानता था, और इसी अर्थ में जनता के प्रभुत्व में विश्वास करता था, किन्तु जनता की सत्ता को अपरिमित मानने के लिये तैयार नहीं था। उसका कथन था कि न्याय ही सच्चा प्रभुत्व है, और जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता प्रारम्भ होती है वहाँ राज्य का क्षेत्राधिकार समाप्त होजाता है। व्यवहार में प्रभुसत्ता के निरंकुश प्रयोग को रोकने के लिये लोकमत का सहारा लेना

चाहिए और सरकार के अंगों के बीच नियंत्रण तथा सन्तुलन की व्यवस्था की स्थापना करनी चाहिए। कोंस्टेंट ने सरकार के विभागों का एक नया वर्गीकरण प्रस्तुत किया। उसने कहा कि कार्यपालक शक्ति मंत्रियों में, न्यायिक शक्ति न्यायालयों में, स्थायित्व का प्रतिनिधित्व करनेवाली शक्ति एक पित्रागत सभा में और लोकमत का प्रतिनिधित्व करनेवाली शक्ति एक निर्वाचित सभा में निहित होनी चाहिए। राजा को उसने एक तटस्थ अंग माना, जिसका काम सरकार में शक्ति संतुलन कायम रखना था। कोंस्टेंट के सिद्धांत में एक महत्वपूर्ण चीज यह थी कि उसने राजा तथा मंत्रि-परिषद के बीच भेद किया, यद्यपि उसने मंत्रि-परिषद को राजा के प्रति जवाब देह माना, और संसदीय उत्तरदायित्व के सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया।

१८३० की क्रान्ति ने फ्रांस में १८१४ की समझौते पर आधारित व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया, और प्रतिनिधि सदन ने घोषणा की कि जनता ने लुई फिलिफ को सिंहासन पर बिठलाया है। राष्ट्र की नई अभिव्यक्त हुई शक्ति के फलस्वरूप प्रभुत्व के पुराने सिद्धांत में परिवर्तन होगया, और यह सिद्धांत प्रस्तुत किया गया कि विवेक कोई विकल्प (अमूर्त धारणा) नहीं बल्कि फ्रांसीसी राष्ट्र का पर्यालोचित मत है। संगठित जनता ही प्रभु है किन्तु उसकी सत्ता असीम नहीं है। उसे संविधान की सीमाओं के भीतर रहकर भी कार्य करना चाहिए। राष्ट्र का विवेक प्रभु है, न कि जनता की इच्छा।

एलेक्सिस द तोकविल (१८०५-१८५९) के ग्रन्थ[1] ने यूरोप में लोकतांत्रिक विचारों को बहुत प्रोत्साहन दिया। उसने अमेरिका की परिस्थितियों का सूक्ष्म निरीक्षण करके अपने राजनीतिक विचार निश्चित किये। उस समय यूरोप में यह विश्वास फैला हुआ था कि लोकशासन आवश्यक रूप से अराजकता अथवा सैनिक निरंकुशतंत्र को जन्म देता है। द तोकविल ने इस विश्वास को दूर करने में बहुत सहायना की। उसने अमेरिका की संघीय व्यवस्था की, जिसके अन्तर्गत सत्ता का राज्यों और संघ सरकार के बीच विभाजन किया गया था, विशेष रूप से प्रशंसा की। इसी प्रकार उसने विकेन्द्रीयकृत प्रशासन व्यवस्था की जिसके अन्तर्गत नगरों तथा देहाती क्षेत्रों को स्थानीय स्वशासन का पर्याप्त अधिकार मिला हुआ था, सावधानी के साथ अध्ययन किया। अमेरिका में न्यायपालिका के हाथों में महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्य थे—उसको व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों की पुनरीक्षा करने और उनकी वैधता के सम्बन्ध में निर्णय देने का अधिकार था। इस चीज को तोकविल ने विशेष महत्व दिया। मौन्तेस्क्यू की भाँति तोकविल का भी विश्वास था कि किसी राष्ट्र की संस्थाओं के निर्माण में उसके वातावरण और सामाजिक परिस्थितियों का विशेष महत्व होता है। उसका यह भी विश्वास था कि

1. *Democracy in America* (1835), एच रीवे (**H. Reeve**) द्वारा अनूदित

अन्ततोगत्वा समस्त सभ्य जगत में लोकतंत्र फैल जायगा। उसने यूरोपवासियों को सिखाया कि बड़े-बड़े देशों में भी लोकतंत्रीय शासन-प्रणाली को कायम करना सम्भव है। एक विदेशी के नाते उसने अमरीकी शासन का जो मूल्यांकन किया उससे अमरीकियों को विशेष लाभ हुआ। अमेरिका की राजनीति में जो परम्परागत धारणाएँ हैं उनमें से अनेक तोकविल के प्रभाव का ही परिणाम हैं।

१८४८ की क्रान्ति के उपरांत फ्रांस में लोक-प्रभुत्व के सिद्धांत की निश्चित रूप से पुनः स्थापना होगई। नये संविधान में घोषित किया गया कि प्रभुत्व नागरिकों के सामान्य निकाय में निवास करता है। समाजवादी सिद्धांतों के उदय के फलस्वरूप यह विचार और भी दृढ़ होगया कि सत्ता का प्रयोग सम्पूर्ण समाज द्वारा ही होना चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांसीसी राजनीतिक चिंतन का मुख्य उद्देश्य निरंकुश शक्ति को रोकना था। विवेक के प्रभुत्व का सिद्धांत, संगठित राष्ट्र के सीमित प्रभुत्व का सिद्धांत और यह विचार कि व्यक्ति के अधिकारों को प्रभुत्व भी नष्ट नहीं कर सकता—सब का यही उद्देश्य था कि एक ओर तो निरंकुश राजतंत्र की पुनः स्थापना को रोका जाय और दूसरी ओर अनियंत्रित लोकेच्छा को सीमित रक्खा जाय।

इस दृष्टिकोण की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति जे० पी० एजमाइन (१८४८-१९१३) की रचनाओं में हुई। उसने राज्य को राष्ट्र का विधिसम्मत व्यक्तित्व बतलाया और उसके बाह्य तथा आन्तरिक प्रभुत्व पर बल दिया। साथ ही साथ उसने व्यक्ति के अधिकारों पर भी जोर दिया और कहा कि उनका सम्मान करना राज्य का कर्तव्य है। किंतु व्यक्ति को विरोध करने का अधिकार नहीं है। प्रभुत्व राजनीतिक रूप से संगठित राष्ट्र की इच्छा है। विधिक दृष्टि से वह सर्वोच्च होता है, किन्तु नैतिक दृष्टि से व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करना उसका कर्तव्य है।

अमेरिका में लोकतांत्रिक विचारों का विकास

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अमेरिका में निश्चित रूप से लोकतांत्रिक विचारों का प्रसार हुआ। लैटिन अमेरिका में गणराज्यों की स्थापना हुई और संयुक्त राज्य के नमूने पर संविधानों की रचना की गई। संयुक्त राज्य में शासन सम्बन्धी उदार विचारों की तेजी से प्रगति हुई। प्रथम बारह वर्षों में संयुक्त राज्य की सरकार पर संघवादियों (फैडरलिस्ट्स) का कब्जा रहा; उनमें मुख्यतः वे अनुदार नेता सम्मिलित थे जिन्होंने संविधान की रचना और अंगीकरण में योग दिया था। ये लोग इस चीज के लिये दृढ़संकल्प थे कि जनता को अधीनता की स्थिति में रक्खा जाय और राजनीतिक शक्ति गुणवान व्यक्तियों के हाथों में रहे। वे राष्ट्रपति को राजतंत्रीय जामा पहनाने और सरकार को अभिजाततंत्रीय रूप देने के इच्छुक थे। उन्हें फ्रांसीसी क्रांति से कोई सहानुभूति नहीं थी। उन्होंने ऐसे अधिनियम (एलियन एंड सेडीशन एक्ट्स) पास किये जिनसे राष्ट्रपति को सरकार की आलोचना

करनेवालों को दंड देने और उपद्रवकारी विदेशियों को तुरन्त निर्वासित करने का अधिकार मिल गया। वे एक सुदृढ़ राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पक्ष में थे। उच्चतम न्यायालय पर उनका नियंत्रण था, इसलिये कार्यपालक और विधायी अंगों के उनके हाथ से निकल जाने के बाद भी एक पीढ़ी तक वे सांविधानिक विकास की दिशा को नियन्त्रित करते रहे। जॉन मार्शल[2] के योग्य नेतृत्व में उपलक्षित (अन्तर्निहित) शक्तियों के सिद्धान्त का विकास हुआ और यह निश्चित हो गया कि उच्चतम न्यायालय को संघ सरकार तथा राज्यों की सरकारों के कार्यों को असांविधानिक घोषित करने का अधिकार है।

१८०० में जैफर्सन के राष्ट्रपति निर्वाचित होने पर एक नये युग का आरम्भ हुआ। उसके अनुयायियों ने इस निर्वाचन का यह कह कर स्वागत किया कि इससे देश उन सिद्धान्तों पर लौट कर आगया है जिनके लिये स्वतन्त्रता संग्राम लड़ा गया था। **संघवादियों** का कहना था कि इस घटना से अराजकता और भीड़ के शासन का युग आरम्भ हो गया है। **संघवादियों** के पतन के अनेक कारण थे। जब सुदृढ़ सरकार के लिये चलाये गये उग्र आन्दोलन के फलस्वरूप संविधान अंगीकार कर लिया गया तो फिर व्यक्ति तथा राज्य (संघ के इकाई राज्य) के अधिकारों के पक्ष में स्वाभाविक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई। फ्रांसीसी क्रान्ति की प्रारम्भिक अवस्था ने भी अमेरिका में लोकतांत्रिक भावना को प्रोत्साहन दिया; और **संघवादियों** का प्रशासन इसलिये अप्रिय हो गया कि उन्होंने राजतन्त्रीय इंगलैंड के विरुद्ध गणतन्त्रीय फ्रांस का साथ देने से इन्कार कर दिया। सैनिक गुट के नेता हैमिल्टन और संसदीय नेता एडम्स के आपसी झगड़ों से संघवादी दल में फूट पड़ गई। कपास ओटने की मशीन का आविष्कार हुआ और रोपस्थलियों के मालिकों तथा कपास की खेती करनेवालों का महत्व बढ़ा। फलस्वरूप आर्थिक नियन्त्रण न्यू इंगलैंड के व्यापारियों और साहूकारों के हाथों से निकल कर दक्षिण के भूस्वामियों के हाथों में आ गया। जब आबादी पश्चिम की ओर बढ़ने लगी तो उन लोगों की संख्या में वृद्धि हो गई जो जैफर्सन के व्यक्तिवादी सिद्धान्तों से सहानुभूति रखते थे और जिनका ख्याल था कि न्यू इंगलैंड के नेताओं को हमारे हितों से सहानुभूति नहीं है। इंगलैंड के नमूने के अनुकरण पर राजनीतिक शक्ति व्यापारिक अभिजातवर्ग के हाथों से निकल कर भूस्वामी वर्ग के हाथों में आगई। यह भूस्वामी वर्ग भावना में अधिक शुद्ध रूप से अमरीकी था। छः राष्ट्रपतियों के कार्य-काल में शासनसूत्र "**वर्जीनियाँ वंश**" के हाथों में रहा।

नये अभिजातवर्ग का राजनीतिदर्शन पुराने के राजनीतिदर्शन से भिन्न था।

२. देखिये C. G. Haines, *The American Doctrine of Judicial Supremacy* (1914).

उसने संघवादी शासन की तड़क-भड़क और दिखावे को तथा जनता के प्रति उसकी घृणा को त्याग दिया। उसका दावा था कि हम जनता के संरक्षक हैं और उसी के हितों की रक्षा के लिये शासन करते हैं; किंतु वह शासन का नियंत्रण जनता के हाथों में सौंपने के लिये तैयार नहीं था। उसका लोकतांत्रिक सिद्धांत उसके आचरण के मुकाबिले में बहुत प्रगतिशील था। किंतु उसकी धारणा थी कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया का निरन्तर विकास होता जायगा। वह सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार से डरता था, और विशाल स्थाई सेना, राजकीय ऋण एवं राजकीय बैंक की स्थापना का विरोधी था। उसके सिद्धांत का प्रतिनिधित्व एच सेंट जार्ज टकर[3] जॉन टेलर,[४] जोल बार्लो,[५] और विशेषकर, टॉमस जैफर्सन[६] ने अपनी रचनाओं में किया।

जैफर्सन का राजनीतिक सिद्धांत के विकास में कोई मौलिक योगदान नहीं था। उसके विचारों का मुख्य स्रोत सिडनी और लॉक थे, किंतु टौमस पेन के प्रभाव से वे विचार कुछ अधिक उदार होगये थे। उसका मुख्य काम यह था कि उसने इन लेखकों के विचारों को एक ऐसा रूप दिया जो कि अमेरिका की परिस्थितियों के अनुकूल सिद्ध हुआ। जैफर्सन का मानवीय समानता एवं प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांतों में विश्वास था; उसका कहना था कि सरकार की स्थापना वैयक्तिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिये संविदा के आधार पर हुई; और वह यह भी मानता था कि कुशासन की अवस्था में नागरिकों को विद्रोह का अधिकार है। उसे अधिक कार्य करनेवाली सरकार नापसन्द थी, क्योंकि उसका विश्वास था कि ऐसी सरकार में उत्पीड़न की प्रवृत्ति आजाती है। उसका कहना था कि सरकार निरन्तर जनता की सम्मति पर आधारित होनी चाहिये, और कादाचित्क् क्रान्ति राज्य के स्वास्थ्य के लिये एक आवश्यक औषधि है। उसका सुझाव था कि हर उन्नीस वर्ष की अवधि के उपरान्त आधारभूत विधि (संविधान) का संशोधन होना चाहिए, और इसके लिये उसने एक नियमित प्रक्रिया भी प्रस्तुत की।

जैफर्सन राजतंत्र का विरोधी था, किंतु ऐसे अभिजाततंत्र का समर्थक था जिसके अन्तर्गत योग्य तथा बुद्धिमान व्यक्तियों का शासन हो। उसने शिक्षा तथा स्थानीय स्वशासन पर विशेष बल दिया और कहा कि दोनों चीजें गणतंत्रीय समस्याओं के मुख्य आधार स्तम्भ हैं; उसका विश्वास था कि यदि जनता बुद्धिमान हुई तो वह सदैव उन्हीं लोगों को चुनेगी जो शासन-कार्य के लिये सबसे अधिक उपयुक्त हैं। उसने इस चीज

---

३. *Commentaries on Blackstone* (1803).
४. *Inquiry into the Principles & Policy of the Government of the Unite States* (1814)
५. *Joel Barlow to his Fellow Citizens in the United States of America* (1801)
६. देखिये *The Papers of Thomas Jefferson*.

को भी समझ लिया था कि लोकतंत्र उन लोगों के लिये नहीं है जिनमें उसके चलाने की योग्यता नहीं होती, किंतु उसे लोकतंत्र के भविष्य में पक्का विश्वास था। उसने विशाल स्थाई सेना का विरोध किया और बतलाया कि इससे तो अत्याचारी शासन को ही बल मिलता है। उसका आग्रह था सैनिक शक्ति को सदैव असैनिक सत्ता के अधीन होना चाहिए। उसने उद्योग तथा वाणिज्य के मुकाबिले में कृषि को अधिक महत्व दिया। उसका विश्वास था कि नगरों की वृद्धि से भ्रष्टाचार फैलता है और लोकतंत्र का सफल होना कठिन हो जाता है।

उग्र लोकतांत्रिक सिद्धांतों का व्यावहारिक रूप एक पीढ़ी बाद जैक्सन के लोकतंत्र के रूप में प्रकट हुआ। जनसंख्या में वृद्धि हुई, पश्चिमी सीमान्त के नये राज्य संघ में सम्मिलित हुए और पूर्वी नगरों की औद्योगिक आबादी बढ़ी। इन्हीं चीजों ने मुख्यतः जैक्सनी लोकतंत्र के आन्दोलन को बढ़ावा दिया। सीमांती परिस्थितियों ने स्वतंत्रता, व्यक्तित्व और समानता की बलवती भावना को प्रोत्साहित किया। नगरों की परिस्थितियों ने ऐसे हितों को जन्म दिया, जो भूस्वामी वर्ग के शत्रु थे। विशेषाधिकारों से लोग घृणा करने और प्राकृतिक अभिजाततंत्र की धारणा का मखौल उड़ाने लगे। वे माँग करने लगे कि मताधिकार का प्रसार किया जाय, सम्पत्ति सम्बन्धी अर्हताएँ हटाई जायँ और राष्ट्रीय शासन तथा स्थानीय मामलों में जनता का प्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित किया जाय। नये दल ने संरक्षी शुल्कावलि का, जिससे उत्तर के औद्योगिक हितों का पोषण होता था, और राष्ट्रीय बैंक का जिसके बल पर वित्तीय अल्पतंत्र की शक्ति कायम थी, घोर विरोध किया। माँग की गई कि जो धार्मिक अर्हताएँ अवशिष्ट हैं उन्हें भी हटा दिया जाय और राज्य तथा चर्च को एक दूसरे से पूर्णतया पृथक कर दिया जाय।

१८२८ में जैक्सन का निर्वाचन इस दल की सफलता का प्रतीक था। राजनीतिक शक्ति भूस्वामी वर्ग के हाथों से निकल कर बहुसंख्यक जनता के हाथों में पहुँच गई, और पुराने नेता फिर विश्वास करने लगे कि "राजा भीड़" की पुनः जीत होगई है और गणतंत्रीय संस्थाओं को अराजकता के संकट ने घेर लिया है। दलों का संगठन मजबूत हुआ और राष्ट्रपति को नाम निर्देशित करनेवाले राष्ट्रीय सम्मेलन का विकास हुआ, फलस्वरूप राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रपति ने प्रमुख स्थान प्राप्त कर कर लिया। जैक्सन अपने को जनता का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि मानता था, इस आधार पर उसने सरकार के कार्यपालक विभाग के अधिकारों के सम्बन्ध में सशक्त नीति अपनाई। कांग्रेस (संसद) के क्ले, वैब्सटर कलहाऊन आदि नेताओं ने ह्विगों के इस सिद्धांत का जोरदार समर्थन किया कि व्यवस्थापिका जनता का सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व करती है, इसलिये मुख्य शक्ति उसी के हाथों में होनी चाहिए, और कार्यपालिका का अविश्वास करना चाहिए और उस पर नियंत्रण लगाना चाहिए। किन्तु राष्ट्रपति को जनता का समर्थन प्राप्त था, इसलिये वह अभिजातवर्ग के मुकाबिले में जोकि कांग्रेस में अपने पैर

जमाए हुए था, कार्यपालिका की शक्ति को बढ़ाने में सफल हुआ। इसी प्रकार राज्यों में कार्यपालिका की शक्तियों का प्रसार हुआ ; राज्यपाल का जनता द्वारा चुनाव होने लगा, उसकी कार्याविधि बढ़ा दी गई और नियुक्तियों तथा अभिषेध (वीटो) के सम्बन्ध में उसकी शक्तियों में वृद्धि कर दी गई।

लोकतांत्रिक आन्दोलन ने इस बात पर जोर दिया कि अधिकारियों का, विशेषकर, न्यायाधीशों का, चुनाव हुआ करे (पहले उनकी नियुक्ति हुआ करती थी), उनका कार्यकाल छोटा हो और पदों की अदला-बदली का नियम स्थापित किया जाय ; और इस विचार का भी समर्थन किया कि जनता का नेतृत्व करने के लिये विशेष प्रशिक्षण और अनुभव की आवश्यकता नहीं है। कहा गया कि औसत बुद्धि का कोई भी व्यक्ति पद धारण करने के योग्य हो सकता है, और लम्बी सेवा से नौकरशाही प्रवृत्ति की वृद्धि होती है और जनता के प्रति सहानुभूति का ह्रास होता है। किन्तु इस काल की लोकतांत्रिक प्रवृत्तियों के बावजूद दासता की प्रथा कायम रही।

जैक्सनी लोकतंत्र ने राजनीतिक सिद्धान्त में कोई योगदान नहीं दिया। उसका मुख्य काम पूर्वप्रतिपादित विचारों को कार्यरूप देना था। साथ ही साथ, प्राकृतिक विधि और सामाजिक संविदा के सिद्धान्तों का, जिन पर अमरीकी लोकतन्त्र आधारित था, प्रभाव क्षीण होने लगा। जॉन सी० कलहाऊन (१७८२-१८५०)[७] ने प्राकृतिक अधिकारों और मानव समता के सिद्धान्त का खंडन किया, और बतलाया कि सरकार का स्वाभाविक विकास मानव-प्रवृत्तियों और आवश्यकता की उपज है। उसका विश्वास था कि असमानता मानव प्रगति के लिये आवश्यक है। उसने सिखाया कि सरकार का व्यक्तियों के स्वार्थमूलक हितों का नियमन करने के लिये स्वाभाविक रूप से उदय हुआ। कलहाऊन का विश्वास था कि संयुक्त राज्य में प्रभुत्व सांविधानिक सम्मेलनों के रूप में संगठित पृथक-पृथक राज्यों में निवास करता है। आदि में राज्य प्रभुत्व सम्पन्न थे ; उन्होंने अपनी कुछ शक्तियाँ राष्ट्रीय सरकार को देकर संघ का निर्माण किया था और उन शक्तियों को वे किसी भी समय वापिस ले सकती हैं। वे जब चाहें अपने प्रभुत्वमूलक परमाधिकारों का प्रयोग करके संघ से अलग हो सकते हैं। कलहाऊन को बहुसंख्या के अत्याचार का बड़ा डर था। उसका विश्वास था कि यदि लोकप्रभुत्व का परिसीमन न किया गया तो बहुसंख्या के अत्याचार का मार्ग प्रशस्त हो सकता है, अतः शासन-शक्ति के प्रयोग पर नियंत्रण लगाना आवश्यक है। उसने "संख्यात्मक" बहुमत की अपेक्षा "समवर्ती" बहुमत को अधिक महत्व दिया। इस सिद्धान्त के आधार पर उसने दलील दी कि किसी भी राज्य को संघ सरकार के कार्यों को अकृत (रद्द) करने का अधिकार है। किन्तु यदि तीन चौथाई राज्य संघ सरकार का

७. देखिये उसकी *Disquisition on Government* (1851).

समर्थन करें तो अकृतकारी (रद्द करने वाले) राज्य को उसका निर्णय मानना चाहिए अथवा उसे संघ से पृथक होजाना चाहिए।

प्राकृतिक अधिकारों और सामाजिक संविदा के सिद्धान्तों का जर्मन शरणार्थी, फ्रांसिस लीबर (१८०८-१८७२) ने भी विरोध किया, यद्यपि उसके विरोध का आधार भिन्न था। संयुक्त राज्य में लीबर पहला व्यक्ति था जिसने राजनीति शास्त्र पर क्रमबद्ध ग्रन्थों की रचना की। उसने पहले के लेखकों के मुकाबिलों में अधिक वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया और उसकी रचनाओं में पहले के व्यक्तिवादी दर्शन के विरुद्ध एक निश्चित प्रतिक्रिया देखने को मिलती है। लीबर ने निर्भीकतापूर्वक कहा कि राज्य को सामाजिक कल्याण के लिये आवश्यक सभी उपाय करने चाहिये। जिन कामों को व्यक्ति न कर सकें अथवा न करना चाहें उन्हें तो राज्य को विशेषरूप से अपने हाथों में लेना चाहिए। यद्यपि लीबर ने एक संशोधित रूप में प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त को स्वीकार किया और माना कि इस विधि के अन्तर्गत मनुष्यों के कुछ प्राकृतिक अधिकार होते हैं, किन्तु उसने अठारहवीं शताब्दी के क्रान्तिकारियों के ढँग से उन अधिकारों का निर्वचन नहीं किया। उसने प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक संविदा के सिद्धान्त का खंडन किया और उसे कृत्रिम तथा अनुपयुक्त ठहराया। उसका कहना था कि मनुष्य स्वभाव से सामाजिक है, और राजनीतिक समाज की स्थापना के लिये किसी कृत्रिम प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं है। राज्य एक जैविक इकाई है और विकास की प्रक्रिया से उसकी रचना हुई है। लीबर ने अँग्रेजों तथा फ्रांसीसियों की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणाओं के भेद को स्पष्ट रूप से समझाया। उसने कहा कि अँग्रेज लोग नागरिक स्वतन्त्रता पर बल देते हैं; जिसका अर्थ है कि वे सरकारी हस्तक्षेप के विरुद्ध हैं; इसके विपरीत फ्रांसीसी लोग राजनीतिक स्वतन्त्रता को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं जिसका अभिप्राय है कि वे सभी व्यक्तियों को राजनीतिक सत्ता में साझा देना चाहते हैं। लीबर ने अमरीकियों के अन्तर्राष्ट्रीय विधि सम्बन्धी विचारों को भी प्रभावित किया। राष्ट्रपति लिंकन की प्रार्थना पर उसने संघ की सेनाओं के मार्गप्रदर्शन के लिये स्थल युद्ध की एक संहिता तैयार की। अमरीकी चिन्तन पर लीबर का जो प्रभाव पड़ा उसे कुछ अन्य विचारकों ने और भी पुष्ट किया। इनमें से अनेक ने जर्मनी में शिक्षा-दीक्षा पाई थी, और राजनीतिक संस्थाओं के अध्ययन की ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति से विशेष प्रभावित हुए थे। उन पर जर्मनी के राष्ट्रीय राज्य के महत्व के सिद्धान्त का भी प्रभाव पड़ा था।

ऑस्टिन-सम्प्रदाय के विश्लेषणात्मक विधिशास्त्र का प्रतिनिधित्व डब्लू० डब्लू० विलोवी ने अपने ग्रन्थ[८] में किया। उसने सामाजिक संविदा के सिद्धान्त की आलोचना

8. *The Nature of the State (1896).*

को ; उसकी दलील थी कि राज्य की विधि के बाहर अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता ; और उसने कहा कि राज्य एक विधिक व्यक्ति है जिसके अपने अधिकार और कर्तव्य होते हैं । उसने निरपेक्ष तथा अविभाज्य प्रभुत्व के सिद्धान्त का समर्थन किया और बतलाया कि उसका निवास उन सभी अंगों में होता है जिनके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है ।

उन्नीसवीं शताब्दी के लोकतन्त्र विरोधी सिद्धान्त

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लोकतन्त्र का सम्बन्ध रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त से था । उसके मूल में यह धारणा थी कि जनता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभु-शक्ति का प्रयोग करना चाहिए । प्राचीन यूनान के अनुभव के आधार पर यह मान लिया गया था कि लोकतन्त्र छोटे-छोटे राज्यों में ही सफल हो सकता है । किन्तु आलोचकों—जैसे बर्क, हैमिल्टन और जॉन एडम्स—का विश्वास था कि लोकतन्त्र तत्वत: हिंसामूलक है, इसके अन्तर्गत पशुबल का अत्यधिक प्रयोग होता है, अराजकता को प्रोत्साहन मिलता है, और वह अधिक टिकाऊ नहीं होता । लोक-नियन्त्रण को फ्रांसीसी क्रान्ति तथा अमरीकी परिसंघ की अव्यवस्था का मुख्य कारण बतलाया गया । अमरीकी संविधान के संस्थापकों ने लोकतन्त्र तथा गणतन्त्र के बीच भेद किया । उन्होंने कहा कि लोकतन्त्र में जनता स्वयं शासन-शक्ति का प्रयोग करती है, और गणतन्त्र में वह अपने प्रतिनिधियों और अधिकर्ताओं द्वारा काम चलाती है । चूँकि अमरीकी व्यवस्था में प्रतिनिधित्व का व्यापक प्रयोग होता था, अप्रत्यक्ष लोक-शासन के अनेक रूप प्रचलित थे और द तोकविल के ग्रन्थ का व्यापक प्रचार हुआ था, इसलिये संयुक्त राज्य को लोग लोकतन्त्र का एक विशिष्ट आदर्श मानने लगे थे । प्रत्यक्ष लोक-शासन को अपवाद माना गया ; प्रतिनिधिमूलक गणतन्त्र को लोकतंत्र का सामान्य रूप मान लिया गया ।

उन्नीसवीं शताब्दी के विकास की सामान्य प्रवृत्ति लोकतंत्र के प्रसार की ओर थी । इसकी अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से हुई ; दासता तथा अर्धदासत्व (सर्फडम) का उन्मूलन किया गया, धार्मिक तथा सम्पत्ति संबंधी अर्हताएँ हटाई गई, लिखित संविधान तथा प्रतिनिधि संस्थाएँ स्थापित की गईं, पित्रागत राजतंत्र का अन्त हुआ, स्त्रियों को मताधिकार प्रदान किया गया, और आरम्भकरण तथा लोकनिर्देश की युक्तियों द्वारा जनता को विधि निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का अधिकार दिया गया । किंतु साथ ही साथ लोकतंत्र के आलोचकों की भी कमी नहीं थी । शताब्दी के उत्तरार्ध में उन्होंने जो दलीलें दी वे पहले के तर्कों से भिन्न थी । अब उन्होंने यह कहना छोड़ दिया कि राजा लोग दैवी अधिकार से शासन करते हैं, लोकतंत्र अन्त में भीड़ के शासन का रूप ले लेता है और उससे क्रान्ति तथा अराजकता का मार्ग प्रशस्त होता है । अब उन्होंने लोकशासन की अयोग्यता, अपव्ययता और असंगतियों की ओर अधिक ध्यान

दिया, और बतलाया कि लोकतंत्र में व्यक्तियों की निजी श्रेष्ठता को कुचलने की प्रवृत्ति होती है ; अस्थिर लोकमत के बल पर व्यक्तियों को एकरूप और साधारण बना दिया जाता है। उन्हें डर था कि लोकशासन से बकवासी नेताओं का उदय होगा और व्यवसायी वर्गों के कुप्रभाव से सरकार में भ्रष्टाचार फैलेगा। बड़े-बड़े नगरों में लोकतंत्र की जो दुर्बलताएँ प्रकट हुई थी उनकी ओर अनेक प्रेक्षकों ने विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया। कई आलोचकों का तर्क था कि लोकतंत्र से स्वतंत्रता की रक्षा नहीं होती, इसके अन्तर्गत योग्यतम लोग सरकारी पदों से वंचित रह जाते हैं, और इससे विज्ञान तथा कलाओं की प्रगति में भी बाधा पड़ती है। लोकतंत्र की अतिशय विधि-निर्माण की प्रवृत्ति, सरकार के पीछे कार्य करनेवाले दलों के संगठन और कार्यप्रणाली तथा लोकमत को प्रभावित करने के तरीकों की भी तीव्र आलोचना की गई। इस शताब्दी के पूर्वार्ध में प्रतिनिधित्व की प्रचलित प्रणाली की भी आलोचना हुई और समानुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली की माँग उठाई गई।

इन आन्दोलनों और आलोचनाओं के फलस्वरूप उन देशों में, जहाँ लोकतंत्रात्मक प्रणाली सबसे पुरानी है, चुनाव तथा विधान सम्बन्धी भ्रष्टाचार को रोकने और प्रशासन में सुयोग्यता और क्षमता लाने के लिये हाल में अनेक प्रयत्न किये गये हैं। सरकारी नौकरियों में निर्वाचन की अपेक्षा नियुक्ति और अल्पकाल की अपेक्षा स्थायित्व अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। पहले यह प्रथा थी जिस दल के हाथ में शासन आजाता था वह सरकारी नौकरियों में अपने लोगों को भर लिया करता था, किंतु बाद में परीक्षाओं द्वारा भर्ती करने की परिपाटी चल पड़ी। जब सरकार के कामों में वृद्धि हुई तो औसत योग्यता के व्यक्ति के लिये आधुनिक जीवन की जटिल समस्याओं को बुद्धिमानी और कुशलता के साथ सुलझाना कठिन होगया, अतः विशेषज्ञों के आयोगों की रचना हुई और उन्हें अनेक ऐसे काम सौंपे गये जिन्हें पहले प्रतिनिधि सभाएँ किया करती थीं। वास्तविक अर्थ में लोकनियंत्रण स्थापित करने के लिये उत्तरदायित्व को केन्द्रित करने की आवश्यकता हुई ; फलतः कार्यपालिका की शक्ति और भी अधिक बढ़ गई। शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत की भी आलोचना हुई। प्रशासन में विशेषज्ञ के महत्व को स्वीकार किया गया। आधुनिक सुधार का उद्देश्य जितना लोकनियंत्रण कायम करना है उतना ही सुयोग्य और व्यावसायिक ढँग की प्रशासन पद्धति की स्थापना करना भी है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लोकतंत्रीय राजनीतिक सिद्धान्त पर उस काल के आर्थिक विकास का मुख्य प्रभाव पड़ा। इस काल में पूँजी का तेजी से संचय हुआ, और निर्मित उत्पाद, परिवहन तथा व्यापार में भारी वृद्धि हुई। यह विकास अहस्तक्षेप क नीति के अन्तर्गत हुआ था, जिसमें राज्य ने प्रतियोगिता अथवा सहयोग का नियमन करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप मजदूरों और पूँजीपतियों के बीच की खाई और भी अधिक चौड़ी होगई थी। मजदूरों ने अपने संघ बनाये और

पूंजीपतियों ने शक्तिशाली निगमों की स्थापना की। दोनों ने सरकार को प्रभावित करने का प्रयत्न किया, विशेषकर दल प्रणाली को जोकि आधुनिक लोकतंत्रीय देशों में एक महत्वपूर्ण तत्व बनगई थी। पूंजीपतियों और श्रमिकों के बीच होने वाले संघर्ष के संबंध में सरकार की क्या नीति होनी चाहिए? इस प्रश्न को लेकर अनुदारवादियों और उदारवादियों के बीच एक नया भेद उठ खड़ा हुआ। अनुदार विचारों के लोग यह तो चाहते थे कि सरकार कारोबार में सहायता करे, किंतु वे इसके विरुद्ध थे कि सरकार व्यवसाय को अपने नियंत्रण में लाने का प्रयत्न करे। उदार तथा उग्र विचारों के अनुयायियों का कहना था कि लोक-कल्याण से संबंध रखनेवाली सेवाओं पर सरकार का कठोर नियंत्रण होना चाहिए, और कुछ सेवाओं को तो सरकार को अपने अधिकार में ही ले लेना चाहिए।

लोकतंत्र की सफलतापूर्वक स्थापना हो जाने पर उसके संबंध में लोगों का जो एक शताब्दी पहले रुख था वह उल्टा होगया। उस समय उदारवादी विचारक व्यक्तिवाद का इसलिये समर्थन करते थे कि अलोकतांत्रिक सरकार की सत्ता को सीमित किया जा सके। किंतु इस समय अनुदार विचारों के लोग आर्थिक मामलों में व्यक्तिवाद के समर्थक बन गये हैं जिससे कि जनता द्वारा नियंत्रित और संचालित सरकार को लोगों के निजी मामलों में हस्तक्षेप करने से रोका जासके।

पठनीय ग्रन्थ

Beloff, Max, *Thomas Jefferson and American Democracy* (New York, Macmillan, 1949)

Boorstin, D. J., *The Lost World of Thomas Jefferson* (New York, Holt, 1948)

Bowers, C. G., *Jefferson and Hamilton* (Berlin, Henssel, 1948)

Burgess, J. W. *Recent Changes in American Constitutional Theory* (New York, Columbia Univ. Press, 1923)

Coil, M. L., *John C. Calhoun, American Protrait* (Boston Houghton, 1950)

Cocker, P. W., *Recent Political Thought* (New York, Appleton, Century, 1934) Chap. II.

Haines C. G., *The American Doctrine of Judicial Supremacy* (New York, Macmillan, 1914)

Hofstadter, Richard, *The American Political Tradition and the Men who Made it.* (New York, Knoff, 1948)

Laski, H. F., *Authority in the Modern State* (New Havens, Yale Univ. Press 1919) chap. 4

Leroy, Maxime, "Alexis de Tocqueville" *Politica*, Vol. 1 (August, 1935)

Nicolson, H. G., *Benjamin Constant* (New York, Doubleday 1949)

Nys, E., Francis Lieber, His Life & work" *American Journal of International Law*, Vol. 5 (April 1911).

Spain, A. O., *The Political Theory of John C. Calhoun* (New York, Bookman, 1951)

Soltan, Roger, *French Political Thought in the Nineteenth Century* (New Havens, Yale Univ. Press, 1931)

Watkins, Frederick, *The Political Tradition of the West* (Cambridge, Harvard Univ. Press, 1948) chap. 6.

Weyl, W. E, *The New Democracy* (New York, Macmillan, 1912)

अध्याय २२

लोकतांत्रिक समाजवाद का उदय

लोकतांत्रिक समाजवाद का विवेचन करने से पहले इस शब्द के सम्बन्ध में कुछ कह देना आवश्यक है। लोकतांत्रिक समाजवाद तथा समाजवाद के उस रूप के बीच जो सोवियत संघ में प्रचलित है दो मुख्य भेद हैं। पाश्चात्य समाजवाद विकासात्मक और लोकतांत्रिक है। इसके विपरीत मार्क्स, लेनिन और स्टेलिन के अनुयायियों द्वारा व्यवहृत समाजवाद क्रान्तिकारी और सत्तावादी है। लोकतांत्रिक समाजवाद का रूप हमें ब्रिटेन और स्कैंडेनेवियायी देशों में देखने को मिलता है, जहाँ लोकतांत्रिक संगठन के आधार पर कल्याणकारी राज्य की स्थापना हुई है। दूसरे प्रकार के समाजवाद ने, जिसका कि हम अगले अध्यायों में विवेचन करेंगे, रूस तथा उसके द्वारा अधिशासित देशों में अधिनायकतंत्र की स्थापना की है।

लोकतांत्रिक समाजवाद के उदय के कारण

लोकतांत्रिक समाजवाद का उदय औद्योगिक क्रान्ति तथा उससे उत्पन्न परिस्थितियों के कारण हुआ। उस काल में इस विचार का आधिपत्य था कि सर्वोत्तम राज्य वह है जो कम से कम शासन करता है। सरकार से स्वतन्त्रता न कि सरकार के द्वारा स्वतंत्रता उस काल का मुख्य आदर्श था। कहा जाता था कि सरकार का काम केवल व्यवस्था कायम रखना है, और उसे अपने इस काम की ओर ही ध्यान देना चाहिये, दूसरों के कामों में हस्तक्षेप करना उसका अधिकार नहीं है। यदि लोगों पर बन्धन न हो और वे अपने हितों की पूर्ति में लगे रहें तो वे अपना निजी सुख ही नहीं प्राप्त करेंगे, बल्कि इससे सम्पूर्ण समाज का भी कल्याण होगा। एलेक्जांडर पोप ने निम्न पंक्तियों में इस दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति भी की : ईश्वर अथवा प्रकृति ने सामान्य व्यवस्था की रचना की, और आदेश दिया कि आत्म-प्रेम और सामाजिक प्रेम दोनों को एक ही चीज माना जाय।

यह व्यक्तिवाद का अतिवादी रूप था। इसने अर्थप्रवृत (अर्थोन्मुखी) मानव को समाज का सम्माननीय सदस्य बना दिया। इसने नवीन जैविकी के सिद्धान्त को अंगीकार करके यह सिखाया कि अस्तित्व के लिये संघर्ष और बलिष्ठ अतिजीविता[1] के नियम के अनुसार समाज का उत्तरोत्तर उत्तमतर व्यवस्था की ओर विकास हो रहा है। और इस व्यक्तिवाद ने स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष को प्रोत्साहन तथा सहायता

1. Survival of the fittest (अनुवादक)।

दी। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में समाज की शक्तियाँ शुद्ध व्यक्तिवाद की दिशा में जारही थीं।

इस आन्दोलन के दो परिणाम हुए। भौतिक सामग्री के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई। व्यक्ति को आशा थी कि अपने परिश्रम से मैं अधिकाधिक धन कमा सकता हूँ, अतः अपनी शक्ति और साधनों को जुड़ा कर उसने यूरोप तथा अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था को कायापलट दी। किन्तु साथ ही साथ मानव कष्टों और दरिद्रता की भी अभूतपूर्ण वृद्धि हुई। औद्योगिक क्रान्ति ने निर्माणशाला-पद्धति (फैक्टरी सिस्टम) को जन्म दिया। नगरों की गन्दी बस्तियों में रहने वाले मजदूरों का रहन-सहन का स्तर अत्यन्त नीचा था; वे लगभग भुखमरी की अवस्था में रहते। उनके सम्बन्ध में माल्थूस ने जो भविष्यवाणी की थी वह मानो पूरी हो गई। आठ-आठ और नौ-नौ वर्ष के बच्चे प्रतिदिन जितने घन्टे काम करते थे उतने घन्टे आज का पूरा आदमी भी नहीं करता। मालिक लोग समझते थे कि मजदूर तो अन्य विक्रय वस्तुओं की भाँति ही हैं, और इसलिये हैं कि उनसे कम से कम किराये पर काम कराया जाय और जब उनके प्रयोग से लाभ होना बन्द हो जाय तो उन्हे हटा दिया जाय। मजदूरों के वेतन की दर निर्धारित करने का एक विशेष आर्थिक सिद्धान्त था। जितना वेतन उस मजदूर को स्वीकार होता जिसे कि काम की सबसे अधिक आवश्यकता होती, उतना ही वेतन अन्य सब मजदूरों को दिया जाता, और चूँकि बाजार में हर समय बड़ी संख्या में बेकार लोग घूमा करते थे, इसलिये वेतन की दर कभी ऊँची नहीं हो सकती थी। मजदूरों की तत्वतः वही स्थिति थी जोकि विक्रयवस्तुओं की, अतः उनका उस मूल्य में, जिसका वे अपने परिश्रम से सृजन करते थे, वेतन के अतिरिक्त कोई साझा नहीं था। सम्पूर्ण मूल्य उन मालिकों की जेब में जाता जो कारखाना चलाते और जोखिम उठाते। इन परिस्थितियों में सबकी स्वतन्त्रता की बात करना तो सम्भव था किन्तु वास्तव में स्वतन्त्रता थोड़े लोगों को ही उपलब्ध थी। बहुसंख्यक लोग तो केबल इस अर्थ में स्वतन्त्र थे कि वे "स्वतन्त्रतापूर्वक पुल के नीचे सो सकते थे" जैसाकि कार्लायल ने कहा था।

इस स्थिति के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और ऐसे लेखकों का उदय हुआ जिन्होंने जनता के सामाजिक कल्याण की ओर ध्यान दिया। उनकी दलील थी कि स्मिथ और रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित आर्थिक नियमों पर चलने से सार्वजनिक कल्याण नहीं हो सकता, उसके लिये एक ऐसा अस्तिमूलक कार्यक्रम आवश्यक है जिससे आर्थिक समानता की स्थापना हो, काम करने की परिस्थितियाँ बेहतर हों तथा अन्य सामाजिक सुधार हों।

काल्पनिक (यूटोपियायी) समाजवाद

इस काल के प्रारम्भ में अनेक लेखक हुए जिन्होंने ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तावित किये कि तब से उनका नाम ही यूटोपियायी समाजवादी पड़ गया है।

उन पर प्रचलित आशावादी विचारों का प्रभाव था; उनका विश्वास था कि मनुष्य को पूर्ण बनाया जा सकता है; और शिक्षा सम्बन्धी सुधारों द्वारा वे मानव जाति का उद्धार करना चाहते थे। वे आदर्श परिकल्पनाओं को लेकर चले, और उन्हें एक आदर्श समाज-व्यवस्था की स्थापना करने की आशा थी। वे क्रान्ति और वर्ग संघर्ष के विरोधी थे ; उनका दृष्टिकोण मानवतावादी था; और उन्होंने उच्च वर्गों से दरिद्रों की सहायता की अपील की।

इनमें से एक प्रथम लेखक जाँ द सिसमोंदी (१७७३-१८४८)[1] था। उसने प्रचलित अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का विरोध किया, और कहा कि धन का पुनः वितरण करने के लिये सरकार को हस्तक्षेप करना चाहिए। उसका कथन था कि अर्थशास्त्री सम्पत्ति वृद्धि के साधनों में इतने अधिक लीन रहते हैं कि मानव सुख की वृद्धि की ओर ध्यान भी नहीं देते। उसने सिखाया कि मनुष्य को आर्थिक लाभ की धुन को छोड़कर अपने हृदय में मानवीय करुणा को स्थान देना चाहिए, इस प्रकार उसके विचारों में हमें **ईसाई समाजवादियों** के विचारों का पूर्वाभास मिलता है। उसने मनुष्य श्रम के स्थान पर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए मशीन के प्रयोग का भी विरोध किया।

सिसमोन्दी से अधिक विख्यात राबर्ट ओविन (१७७१-१८५८)[2] नामका विचारक हुआ। ओविन कुशल व्यवसायी तथा आदर्शवादी था। सन् १८०० ई० में उसने मालिकों और मजदूरों के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रतियोगिता की अपेक्षा सहयोग पर आधारित करने के लिये प्रयत्न किये, और मजदूरों की दरिद्रता और कष्टों के निवारण के लिये सामाजिक सुधार की एक योजना प्रस्तुत की। उसका विश्वास था कि स्वभाव से मनुष्य भले होते हैं, बुराइयों की जड़ पूँजीवादी व्यवस्था है; निजी सम्पत्ति, धर्म और विवाह की संस्था प्राकृतिक व्यवस्था के मार्ग में सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। ओविन ने एक ऐसी सामुदायिक व्यवस्था की योजना बनाई जिसके अन्तर्गत मनुष्य की स्वाभाविक सद्प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति हो सके। उसने **स्काटलैंड** के **न्यू लेनार्क** और **इंडियाना** के **न्यू-हारमनी** नामक स्थान पर आदर्श (यूटोपियायी) समाजों की स्थापना की और उनमें अपने औद्योगिक तथा शिक्षा सम्बन्धी प्रयोग किये। समुदायों के आन्तरिक मामलों के प्रबन्ध के लिये महापरिषदों की रचना की गई और अन्य समुदायों के साथ सम्बन्धों के संचालन के लिये दूसरी परिषदें बनाईं गईं। ओविन तथा उसके अनुयायियों से प्रभाव का ही परिणाम था कि इंगलैंड में सहकारी समाजों की स्थापना हुई, श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये कानून बने और मजदूर सभाओं पर से प्रतिबन्ध हटाये गये।

१. देखिये उसकी रचना *Nouveaux Principes & Economic Politique* (1819).
२. देखिये *A New View of Society* (1812), *The Book of the New Moral World* (1820).

ओविन का सबसे महत्वशाली अनुयायी आयरलैंड का समाजवादी विलियम टॉम्पसन[3] हुआ। अपनी रचनाओं में उसने बतलाया कि मजदूर विनिमय मूल्य का उत्पादन करता है, और वह अपने परिश्रम की पूरी कमाई पाने का हकदार है। उसने ओविन के विचारों के आधार पर सामाजिक संस्थाओं के पुनर्निर्माण का सुझाव रक्खा, किन्तु वह इस पक्ष में नहीं था कि निजी सम्पत्ति का उन्मूलन कर दिया और पूँजीपतियों तथा और भूस्वामियों से अनर्जित अतिरेक छीन लिया जाय। उसका विचार था कि सहकारिता से मजदूरों और मालिकों की कठिनाइयाँ हल हो जायँगी।

फ्रांस में आर्थिक परिस्थितियाँ कुछ अर्थ में इंगलैंड से भी बुरी थीं; अतः वहाँ ऐसे यूटोपियायी समाजवादियों का उदय हुआ जिनके विचारों पर फ्रांस की स्पष्ट छाप थी। इस सम्प्रदाय के विचारकों ने सामाजिक सुधार को समस्या दार्शनिक दृष्टिकोण से देखा, ओविनवाद की व्यावहारिक दृष्टि से नहीं। कांउत हैनरी द सेंट साइमन (१७६०-१८२५)[४] ने सिखाया कि सामाजिक क्रिया का उद्देश्य सहयोग के द्वारा भूमंडल के संसाधनों का विदोहन करना है। उसकी दृष्टि में फ्रांसीसी क्रांति वर्ग संघर्ष एक रूप थी। उसे श्रमिकों के कल्याण में विशेष दिलचस्पी थी। उसका विश्वास था कि राजनीति मूलतः उत्पादन का विज्ञान है, और अन्ततोगत्वा वह अर्थशास्त्र में विलीन हो जायगी। उसने एक नई सामाजिक व्यवस्था की योजना बनाई जिसका नेतृत्व उत्पादक वर्ग के हाथों में होगा, और जिसका मुख्य उद्देश्य औद्योगिक उन्नति करना होगा। उसका सुझाव था कि सत्ता एक त्रिसदनात्मक संसद में निहित होनी चाहिए: आविष्कार सदन जिसमें अभियंता (इंजीनियर) कवि और कलाकार सम्मिलित हों, परोक्षा-सदन जिसमें गणितज्ञ और भौतिकशास्त्री हों, और निष्पादन सदन जिसके सदस्य औद्योगिक नेता हों। प्रथम सदन कानूनों को प्रस्तावित करे, दूसरा उन्हें पारित करे और तीसरा उन्हें क्रियान्वित करे। उसका आदर्श एक ऐसे समाज की स्थापना करना था जोकि निर्माणशाला के नमूने पर बना हो, अर्थात् सम्पूर्ण राष्ट्र उत्पादक समुदाय का रूप लेले।

सेंट साइमन का विश्वास था कि सामाजिक और राजनीतिक सुधार का काम तभी सफल हो सकता है जबकि उसका आधार आध्यात्मिक हो। उसका सुझाव था कि धर्म के विद्यमान रूपों का उन्मूलन कर दिया जाय, और ईसा मसीह की शिक्षाओं पर आधारित एक ऐसी नई सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जाय जिसका मुख्य उद्देश्य दरिद्रों का उद्धार करना हो। उसने विशेषकर सुसंस्कृत वर्गों से अपील की। उसके विचारों में नये मध्यवर्ग (बुर्जुआ) की उदार आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब मिलता था।

---

३. *Inquiry into the Principles of the Distribution of Wealth most Conducive to Human Happiness* (824).

४. *L' Industrie* (1817); *Le Nouvaen Christiameme* (1825)

उसमें उद्योगवाद और समाजवाद का सम्मिश्रण था। आगे चलकर कोम्टे ने उन्हीं के आधार पर अपने सिद्धान्तों का निर्माण किया।

सेंट साइमन की मृत्यु के बाद उसके शिष्यों[५] ने उसके विचारों को समष्टिवादी दिशा में विकसित किया। उन्होंने उसके विचारों के परिवर्द्धन और प्रसार के लिये एक समाज की स्थापना की जो शीघ्र ही एक उग्रगामी आन्दोलन का केन्द्र बन गया। उनका विश्वास था कि अतीत का सावधानी से निरीक्षण करके ही भविष्य के निर्माण की दिशा निश्चित की जासकती है, अतः उन्होंने एक इतिहास-दर्शन का निर्माण किया। उनका विश्वास था कि इतिहास हमें यह सिखाता है कि संसार के भौतिक साधनों का शान्ति-पूर्वक दोहन करने के लिये मानव साहचर्य की शनैः शनैः उन्नति करना आवश्यक है; यदि विज्ञान, धर्म और उद्योग के बीच समुचित सामञ्जस्य स्थापित किया जाय और सहकारिता के आधार पर समाज की रचना की जाय तो इस युग की सभी समस्याओं का हल हो सकता है। प्रेम तथा सहानुभूति पर आधारित धर्म एकता और समन्वय का सबसे अच्छा साधन है। प्लेटो के संरक्षक दार्शनिकों की भाँति के धार्मिक नेताओं के हाथों में शासन की सर्वोच्च शक्ति होनी चाहिए। नेताओं की कट्टरता के कारण इस आन्दोलन का नैतिक ह्रास होगया और अन्त में पुलिस ने सेंट साइमन समाज को समाप्त कर दिया।

सेंट साइमन ने तो सम्पूर्ण राष्ट्र के समाजीकरण का प्रस्ताव रक्खा था जिसकी तार्किक परिणति राज्य समाजवाद में होती, किन्तु अन्य यूटोपियायी समाजवादियों ने स्थानीय समुदायों द्वारा ऐच्छिक सुधार पर जोर दिया। चार्ल्स फोरियर (१७७२-१८३७) का मानसिक दृष्टिकोण विस्तृत था। उसने विद्यमान समाजिक व्यवस्था की सूक्ष्म आलोचना की और आगे के लिये बहुत-कुछ सही भविष्यवाणी की। उसने उत्पादन में होनेवाली अपव्ययता को निन्दनीय ठहराया और कहा कि व्यवस्था तथा सामञ्जस्य मनुष्य के आर्थिक हितों के लिये अति आवश्यक हैं। उसका कहना था कि ईश्वर ने विश्व की रचना समरूपता के आधार पर की है अत: मनुष्य को भी ऐसा सामाजिक संगठन बनाना चाहिए जो उसी प्रकार सुव्यवस्थित और समरूप हो। पदार्थ जगत में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का जो महत्व है वही मनुष्यों में साहचर्य के सिद्धान्त का है। सेंट साइमन की भाँति फोरियर ने भी धार्मिक विश्वासों को अपने सामाजिक सिद्धान्तों का आधार बनाया।

आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में समरूपता स्थापित करने के लिये उसने एक योजना प्रस्तुत की। पाँच-पाँच सौ परिवारों के अनेक समूह बनाये जायँ और फिर उन्हें

५. विशेषकर B. P. Enfantin और St. A Bazard ने

बड़े-बड़े समुदायों में संगठित किया जाय। प्रत्येक समूह में पूँजीपति, मजदूर तथा सृजनात्मक कल्पना के लोग सम्मिलित हों। श्रम को आकर्षक बनाया जाय; नीरस काम तथा अतिकर्म को रोका जाय, और अरुचिकर कार्यों के लिये सबसे अधिक पारितोषिक दिया। सब व्यक्तियों को न्यूनतम वेतन की गारंटी हो और अवशिष्ट को निश्चित अनुपात में बाँट लिया जाय। प्रत्येक समूह एक सामुदायिक स्थान में निवास करे और एक वर्ग मील भूमि उसके अधीन हो। विभिन्न समूहों को मिलाकर एक बड़ा संघ बना लिया जाय जिसकी राजधानी कुस्तुन्तुनियाँ हो। फोरियर का विश्वास था कि इस प्रकार की व्यवस्था से दरिद्रता का उन्मूलन हो जायगा और प्रत्येक व्यक्ति को प्राकृतिक स्वतंत्रता उपलब्ध हो सकेगी। प्राकृतिक समरूपता के स्थापित होने पर बल प्रयोग करनेवाली सत्ता की आवश्यकता नहीं रहेगी। इस प्रकार तर्कतः फोरियर के विचारों ने दार्शनिक अराजकवाद का मार्ग प्रशस्त किया।

अन्तिम महान यूटोपियायी आन्दोलन का नेता एतीनी काबे था। उस पर ओविन का प्रभाव था। अपने ग्रन्थ में उसने कृषि-उपनिवेशों और राष्ट्रीय कर्मशालाओं की योजना प्रस्तुत की। उसका प्रस्ताव था कि उत्तरोत्तर वृद्धिमान आय-कर लगाये जायँ, उत्तराधिकार की प्रथा का अन्त कर दिया जाय और निःशुल्क शिक्षा भी व्यवस्था की जाय। उसके कार्य से फ्रांस में बड़ा उत्साह जाग्रत हुआ और फलस्वरूप एक साम्यवादी उपनिवेश की स्थापना की गई जिसका वह स्वयं संचालक नियुक्त हुआ। फोरियर की भाँति, काबे ने भी मनुष्य की परोपकार की भावनाओं को उत्तेजित करने का प्रयत्न किया; और उसे भी विश्वास था कि शिक्षा द्वारा मनुष्य के स्वभाव में सुधार करना सम्भव है।

मार्क्सवादी आन्दोलन के उदय से समाजवाद के यूटोपियायी साहित्य का महत्व बहुत कुछ घट गया। किन्तु हाल में अनेक लेखकों ने बड़े ही मनोरञ्जक विचार प्रस्तुत किये हैं एवं उच्च कोटि की कल्पना-शक्ति का परिचय दिया है, और साथ ही साथ अपने विचारों को श्रेष्ठ साहित्यिक शैली में व्यक्त किया है। इनमें से कुछ ग्रन्थों ने समाजवादी आन्दोलन के व्यावहारिक पहलू को बहुत प्रभावित किया है। इसमें सबसे अधिक महत्वशाली एडवर्ड बैलमी[६], विलियम मोरिस[७], विलियम डीन हौविल्स[८] सेम्युअल बटलर,[९] एच० जी० वैल्स[१०] और ग्राहम वालस हैं।[११]

6. *Looking Backward* (1887).
7. *News from Nowhere* (1892).
8. *Traveller from Altruria* (1894).
9. *Erewhon* (1872); *Erewhon Revisited* (1901).
10. *New worlds for old* (1908), *A Modern Utopia* (1905).
11. *The Great Society* (1914).

उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक आन्दोलन

१८३० और १८४८ के बीच सम्पूर्ण यूरोप में मज़दूर वर्ग राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लेने लगा था। निर्माणशाला पद्धति के कारण सम्पत्तिहीन श्रमिकों का एक बड़ा वर्ग उत्पन्न होगया था, और चूँकि अब श्रमिक लोग एक स्थान पर एकत्र होकर और मिलकर काम करते थे, इसलिये सामूहिक कार्य और सामूहिक चिन्तन सम्भव होने लगा था। व्यापारिक सम्बन्धों के अधिक व्यापक हो जाने से ऐसे लोगों का क्षेत्र भी बढ़ गया था जिनके हित समान थे। मज़दूर आर्थिक सुधारों से उत्पन्न सम्पत्ति में अधिक से अधिक साझा माँगने लगे। वे इस इस बात में एक एकमत थे कि समाज भूमि तथा पूँजी का नियंत्रण करे, उद्योगों का नियमन करे और शिक्षा की सुविधाएँ प्रदान करे। फ्रांस में १८३० में "नागरिक राजा" के सिंहासनारोहण और इंगलैंड में १८३२ में **सुधार विधेयक** के पास होने से पुराने शासकवर्गों का महत्व घट गया। भूस्वामी, अभिजातवर्ग और उत्पादकों के बीच होने वाले संघर्ष के स्थान पर अब पूँजीपतियों और मजदूरों के बीच संघर्ष होने लगा।

इंगलैंड में मज़दूरों ने राजनीतिक लोकतंत्र की माँग उठाई। उन्होंने **श्रमिक संघ** की स्थापना की और **लोकसभा** के उग्र सदस्यों की सहायता से **लोक अधिकार-पत्र** की रचना की और मताधिकार के प्रसार एवं संसदीय सीटों के पहले से अच्छे वितरण की माँग की। जब कि ओविन का सहकारी समाजवाद अनुभव से प्राप्त प्रेरणा और उपयोगितावादी आदर्शों पर आधारित था, **चार्टिस्ट** आन्दोलन ने बैंथम के सिद्धांतों से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और रूसो तथा फ्रांसीसी क्रान्ति के प्राकृतिक विधि के आदर्शों को अपनाया। भावना की दृष्टि से इस आन्दोलन का मध्ययुग के किसान विद्रोहों और सत्रहवीं शताब्दी के **समतावादियों** (लेवलर्स) से बहुत कुछ साम्य था। बैंथम के सिद्धान्तों का सम्बन्ध उन धनी ह्विगों के साथ जुड़ गया था जो उदारवादी दल के दक्षिणपंथी पक्ष का प्रतिनिधित्व करते थे। **चार्टिस्ट** लोग उग्र मज़दूर पक्ष के समर्थक थे जो यह समझता था कि मनुष्यों को उनकी प्राकृतिक विरासत से वंचित कर दिया गया है। यद्यपि बहुसंख्यक अंग्रेज जनता पर न तो ओविन के यूटोपियाई प्रचार का कुछ प्रभाव पड़ा और न चार्टिस्टों द्वारा पुनः प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का, फिर भी चार्टिस्ट आन्दोलन ने १८६७ और १८८४ के **सुधार अधिनियमों** का मार्ग प्रशस्त कर दिया, और आगे चलकर वह सामान्य उदारवादी आन्दोलन में विलीन हो गया।

फ्रांस में लुई ब्लेंस (१८१३-१८८२)[१२] प्रचार कर रहा था कि राज्य को ऐसी सामाजिक कर्मशालाएँ स्थापित करनी चाहिए जिनका प्रबन्ध मज़दूरों के हाथों में

12. *Organization du Travail* (1841).

हो और पर्यवेक्षण सरकार करे। मजदूर वर्ग ने इस आन्दोलन में ब्लेंस का साथ दिया। उसका सिद्धान्त था कि सब मनुष्यों को निर्वाहवृत्ति तथा काम पाने का अधिकार है, और प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यतानुसार काम लिया जाय और आवश्यकतानुसार दिया जाय। पुराने समाजवादियों को ऐच्छिक साहचर्य पर भरोसा था, और वे समझते थे कि समुचित शिक्षा मिलने पर लोग हमारे सिद्धान्तों को अंगीकार कर लेंगे। किन्तु इसके विपरीत ब्लेंस ने अपनी प्रणाली को क्रियान्वित कराने के लिये राज्य से अपील की। वह ऐसे लोकतंत्र का स्वप्न देखा करता था जो लुई फिलिप के पूँजीवादी राजतंत्र का स्थान लेलेगा। उसकी शिक्षाओं के फलस्वरूप भी १८४८ में सुधार की दिशा में अनेक प्रयत्न किये गये, किन्तु वे सब असफल रहे। अन्य आन्दोलनों में भी इस प्रकार के समाजवादी विचारों की अभिव्यक्ति हुई; उदाहरण के लिये जौज़फ मत्सीनी ने इटली की स्वतंत्रता के लिये **नौजवान इटली** (यंग इटली) आन्दोलन चलाया और **नौजवान यूरोप समाज** की स्थापना की, और पेरिसवासी जर्मन शरणार्थियों ने **नौजवान जर्मन** समाज कायम किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में एक अन्य महत्वपूर्ण आन्दोलन चला, जिसने सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिये ईसाइयत की शिक्षाओं को व्यवहार में लाने का प्रयत्न किया। इस प्रवृत्ति का यूरोप के कैथोलिक देशों में विशेष जोर था जहाँ कैथोलिक राजनीतिक दलों की स्थापना हुई। **बाईबिल** में दरिद्रों के प्रति धनिकों के जो कर्त्तव्य बतलाए गए हैं वे उस काम की परिस्थितियों के विशेषरूप से अनुरूप प्रतीत हुए। ये दल **ईसाई समाजवादी** नाम से विख्यात हुए, इन्होंने प्रतियोगिता के बजाय सहयोग को अधिक महत्व दिया। उन्होने उन व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का खंडन किया जिन्होंने सिखाया था था कि स्वार्थ से प्रेरित होकर आचरण करनेवाले प्राकृतिक मानव को व्यवहार को स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। साथ ही साथ उन्होंने वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्तों की आलोचना की, क्योंकि उनका रूप बहुत कुछ भौतिकवादी और ईसाइयत-विरोधी था। उन्होने विद्यमान समाज-व्यवस्था पर प्रहार किया, किन्तु उनका विश्वास था कि इसका निराकरण व्यक्ति के नैतिक सुधार द्वारा ही सम्भव हो सकता है। उनका आदर्श एक ऐसा समाज था जिससे सब मनुष्य एक दूसरे को भाई-भाई समझें।

वर्तमान काल के सामाजिक कैथोलिक चर्च तथा लोकतंत्र के बीच मेल कायम करना चाहते हैं। वे समाज-सुधार के पक्ष में हैं, किन्तु पूर्णरूपी समाजवाद को धर्म, नैतिकता और सामाजिक प्रगति का शत्रु मानते हैं। और इस बात का समर्थन करते हैं कि कैथोलिक श्रमिकों के संघ बनाये जायें जो ईसाइयत की भावनाओं से ओत-प्रोत हों। इस विषय में वे कभी-कभी मालिकों का सहयोग भी प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। वे रूस तथा उसके पिछलग्गू देशों के साम्यवादी सिद्धान्तों के विशेषरूप से कट्टर शत्रु हैं

क्योंकि उन्होंने अपने अनुभव से सीखा है कि सोवियत नियन्त्रण से मजदूर-संघों की स्वतन्त्रता तथा धर्म का नाश होता है।

जर्मनी के संशोधनवादी

ईसाई समाजवादी आन्दोलन के निर्माण-काल में यूरोप में एक नये प्रकार के दल का उदय हुआ। इसे **समाजवादी लोकतांत्रिक** दल कहते थे। प्रारम्भ में इस दल पर कार्ल मार्क्स का भारी प्रभाव था। किन्तु कालान्तर में यह दल तीन जर्मन समाजवादियों—जे० के० रौडबर्टस (१८०५-१८७५), फर्डीनांड लैस्ले (१८२५-१८६४) और एडवर्थ बर्नटास्इन (१८५०-१९३२)—के कार्य के परिणामस्वरूप उदारवाद का समर्थक और पोषक बन गया। इन लोगों ने मार्क्सवादी दर्शन का ऐसा संशोधन किया कि वह एक नरम प्रकार के समाजवादी, किन्तु साथ ही साथ लोकतांत्रिक सुधार के अनुरूप हो गया।

रौडबर्टस प्रारम्भ में उदारवादी विचारों का था, किन्तु प्रुशिया की १८४८ की क्रान्ति में फँस गया। उस वर्ष वह प्रुशिया की राष्ट्रीय सभा का सदस्य था; सभा में उसने लोगों को सामाजिक और सांविधानिक सुधार के लिये प्रेरित किया। उसका कहना था कि अठारहवीं शताब्दी में जर्मन मजदूरों ने विधिक स्वतंत्रता प्राप्त करली थी, किन्तु उसके बाद जो आर्थिक परिवर्तन हुए हैं उन्होंने उस स्वतंत्रता को निरर्थक बना दिया है। सामाजिक न्याय की स्थापना करने के लिये आवश्यक है कि राज्य उत्पादन का अधिक अच्छे ढंग से वितरण करे। किन्तु मार्क्स के विपरीत उसकी धारणा थी कि यह काम वर्ग-संघर्ष में निहित हिंसा के बिना भी सम्पादित किया जा सकता है। रौडबर्टस ने अपने समाजवादी विचार फ्रांस तथा जर्मनी, दोनों ही देशों से ग्रहण किये थे। उसके समाजवाद में फ्रांस के यूटोपियायी समाजवादियों और जर्मनी के विचारवादियों के सिद्धान्तों का मिश्रण देखने को मिलता है। विचारवादियों के प्रभाव के कारण ही उसने राज्य के महत्व पर इतना जोर दिया।

उसकी धारणा थी कि समाज श्रम-विभाजन के कारण उत्पन्न हुआ है और जीव के सदृश है। राज्य के सम्बन्ध में उसका मत था कि वह इतिहास की उपज है और उसका संगठन उसके सदस्यों के प्रयत्न से निर्धारित होता है, स्वतः नहीं। प्रत्येक राज्य को अपने कानून बनाने और अपनी व्यवस्था का विकास करना चाहिये। इसी आधार पर रौडबर्टस ने प्राकृतिक स्वतंत्रता की अपेक्षा राजकीय नियन्त्रण का समर्थन किया। उसका आदर्श एक ऐसा समाजवादी दल था जो अपना ध्यान सामाजिक समस्याओं में ही केन्द्रित रक्खे। जर्मनी के मामलों में उसने सांविधानिक राजतंत्र के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता का पक्ष पोषण किया। अपने परवर्ती जीवन का अधिकांश उसने राजतंत्रीय नीति और व्यावहारिक समाजवादी कार्यक्रम के बीच मेल स्थापित करने के प्रयत्नों में बिताया।

लैस्ले जर्मन श्रमिक वर्ग का बहुत ही कुशल पक्ष पोषक था। उसके प्रभावशाली प्रचार-कार्य के फलस्वरूप १८६३ में जर्मनी का प्रथम श्रमिक-संघ स्थापित हुआ। इस संगठन का नाम था **सार्वभौम जर्मन-श्रमिक संघ** (यूनीवर्सल जर्मन वर्किंगमेन्स एसोसिशयेशन)। लैस्ले का कहना था कि राज्य पर मजदूरों का नियंत्रण होना चाहिए, और आर्थिक जीवन का संचालन राज्य करे, उसे व्यक्तियों की इच्छा पर छोड़ना ठीक नहीं है। उसने बतलाया कि राज्य ऐतिहासिक प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ है; असहाय व्यक्तियों को प्रकृति पर काबू पाने और उत्पीड़न से बचने के लिये बाध्य होकर परस्पर मेल स्थापित करना पड़ा। मनुष्य जाति राज्य के द्वारा ही अपने उद्देश्य को पूरा कर सकती और उच्चकोटि की संस्कृति का निर्माण कर सकती है। अतः राज्य का कर्तव्य है कि सक्रिय रूप से मनुष्य के कल्याण का संवर्धन करे। किंतु मार्क्स के विपरीत, इन परिवर्तनों के लिये उसने लोकतांत्रिक तरीकों से ही आन्दोलन चलाया। उसकी मुख्य राजनीतिक माँग सार्वभौम मताधिकार थी।

यद्यपि रौडबर्टस और लैस्ले ने यूरोप में लोकतांत्रिक समाजवाद का मार्ग प्रशस्त करने के लिये बहुत कुछ किया, किन्तु इस दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण काम एडवर्ड बर्नस्टाइन का था।[13] उसके लिये ही "संशोधनवादी" शब्द का प्रयोग करना सबसे अधिक उपयुक्त होगा। **समाजवादी लोकतांत्रिक** दल की स्थापना (१८६९) के बाद उसने उसके अन्दर रहकर निरन्तर कार्य किया और उसे अधिक उग्र नेताओं के प्रभाव से बचाने का प्रयत्न किया।

बर्नस्टाइन ने मार्क्सवादी दर्शन के विरुद्ध निम्न आपत्तियाँ उठाई :

(१) मार्क्स के इस विश्वास की पुष्टि का कोई प्रमाण नहीं है कि पूँजीवाद का नाश शीघ्र ही होनेवाला है।

(२) वर्गों का पारस्परिक संघर्ष उतना तीव्र नहीं है जितना कि कार्ल मार्क्स ने चित्रित किया है, क्योंकि सामाजिक परिस्थितियाँ मध्य वर्ग का उन्मूलन नहीं कर सकी हैं।

(३) पूँजी की शोषणकारी प्रवृत्तियों के खिलाफ प्रतिक्रिया आरम्भ होगई है जिसके फलस्वरूप हिंसा के प्रयोग के बिना ही श्रमिक-वर्ग की दशा में सुधार हो चुका है।

(४) यदि सामाजिक सुधार के क्षेत्र में धीरे-धीरे और दृढ़ता के साथ प्रगति की जाय तो स्थाई सफलता की अधिक आशा है; सब कुछ दाँव पर लगा कर सिर के बल दौड़ने से सफलता सम्भव नहीं हो सकती।

इन विचारों को मन में रखकर बर्नस्टाइन ने समाजवादी आन्दोलन का इस ढंग

१३. देखिये उसकी *Evolutionary Socialism* (1909).

से नेतृत्व किया कि तात्कालिक और सुलभ उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके। उसका उद्देश्य था : मजदूरों के लिये राजनीतिक अधिकार प्राप्त करना, मजदूरों को अपने संघ बनाने का अधिकार दिलाना, और सुरक्षा की ऐसी युक्तियाँ निकालना था जिनसे कि मजदूरों को काम के दौरान में कम से कम जोखिम उठानी पड़े। उसने लिखा, "मेरे लिये अन्तिम उद्देश्यों में विश्वास कराना सम्भव नहीं है ; इसलिये मैं मार्क्स द्वारा निर्धारित समाजवाद के अन्तिम उद्देश्य में विश्वास नहीं कर सकता। किन्तु मुझे समाजवादी आन्दोलन में विश्वास है, और मजदूरों की भावी प्रगति में विश्वास है। मजदूरों को अपने उद्धार के लिये एक-एक कदम आगे बढ़ना चाहिए जिससे कि आज का समाज, जिसमें अल्पसंख्यक व्यापारियों और भूस्वामियों का आधिपत्य है, वास्तविक लोकतंत्र का रूप धारण कर सके और उसके प्रत्येक विभाग का संचालन इस ढंग से हो कि काम करनेवालों और सृजन करनेवालों के हितों की रक्षा हो सके।"

पठनीय ग्रन्थ

Brandes, George, *Ferdinand Lassalle* (New York, Richards, 1925).

Buber, Martin, *Paths in Utopia*, trans. by R. F. C. Hull (London, Routledge & Paul, 1949).

Coker, F. W., *Recent Political Thought* (New York, Appleton—Century, 1934) Chaps. 1, 3.

Cole, G. D. H., *The Life of Robert Owen* (New York, Macmillan, 1930).

Drbin, E. F. M. *The Politics of Democratic Socialism* (London, Labour Book Service, 1946).

Halvey, Elie, *Historie du Socialisme europeen* (Paris, Gailli-mard, 1948).

Hebeule, Rudolf, *Social Movements* (New York, Appleton—Century-Crofts, 1955) Chap. 4.

Hertzler, O. J., *History of Utopian Thought* (New York, Macmillan, 1923).

Kautsky, Karl, *Social Democracy Versus Communism* (New York, Rand School Press, 1946).

Laidler, H. W., *Social-Economic Movements* (New York, Crowell, 1948) Chaps. 8-11, 19-20.

Lockwood, G. B., *The New Harmony Movement* (New York, Appleton, 1905).

Markham, S. F., *A History of Socialism* (New York, Macmillan, 1930).

Russel, Bertrand, *Freedom Versus Organization* (New York, Norton, 1934), pp. 146-175.

Wagner, D. O., *Social Reforms*, (New York, Macmillan, 1934).

अध्याय २३

ब्रिटिश समाजवाद

आज की दुनिया में लोकतांत्रिक समाजवाद के सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग इंगलैंड में ही रहे हैं।

इंगलैंड की अन्य सभी वस्तुओं की भाँति वहाँ के समाजवाद का भी रूप कभी अतिवादी नहीं रहा। कार्ल मार्क्स ने अपने अनेक ग्रन्थ लन्दन में रहकर ही लिखे, किन्तु वहाँ उसके विचारों को कभी अधिक सफलता नहीं मिली। बल्कि इंगलैंड के समाजवाद का बहुत कुछ श्रेय आक्सफर्ड के नम्र व्यवहार के प्रोफेसर टॉमस हिल ग्रीन को है। अपने व्याख्यानों द्वारा तथा अपने उन विद्यार्थियों के सम्पर्क द्वारा, जो आगे चलकर लोक जीवन के नेता बने, ग्रीन ने फेबियन समाजवाद; श्रेणी समाजवाद और ब्रिटिश मजदूर दल के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया।

ग्रीन

टी० एच० ग्रीन (१८३६-१८८२)[1] ने राजनीतिक दर्शन और उदारवाद के विकास में जो योग दिया वह उसके अस्तिवाची स्वतन्त्रता के सिद्धान्त में स्पष्ट रूप से से व्यक्त हुआ। उसका मुख्य काम उस पद्धति को ढूँढ़ निकालना था जिसके द्वारा सामाजिक उत्तरदायित्व और लोकतांत्रिक स्वतंत्रता का समन्वय किया जा सके। और यही वास्तव में आज के उदारवाद का मुख्य आशय है। ग्रीन के समय में पुराने उदारवाद का, जिसने आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप के सिद्धान्त पर और राजनीति में निषेधात्मक स्वतंत्रता पर बल दिया था, दिवाला निकल रहा था। पूर्ण व्यक्तिवाद का मुख्य समर्थक हरबर्ट स्पेंसर (१८२०-१९०३) था। उसने व्यक्तिवादी सिद्धान्त को इतना उग्र रूप देने का प्रयत्न किया था कि वह उपहासास्पद बन गया था। अपने एक ग्रन्थ सोशल स्टेटिक्स (सामाजिक स्थिर विज्ञान) में तो उसने यहाँ तक कह दिया था कि सार्वजनिक शिक्षा, दरिद्रों की सहायता, निर्माणशाला सम्बन्धी कानून और राज्य द्वारा नियंत्रित मुद्रा तथा डाक व्यवस्थाएँ भी अनुचित हैं।

इस प्रकार के निषेधात्मक दृष्टिकोण का खंडन करने के लिये ग्रीन ने व्यक्ति तथा समुदाय के जैविक सम्बन्ध का पुनः उपोद्बलन किया। रूसो और कांट का अनुगमन करते हुए उसने यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि मनुष्य राज्य के द्वारा ही अपने व्यक्तित्व अथवा "नैतिक चेतना" का साक्षात्कार कर सकता है, राज्य के बाहर रहकर नहीं।

---

१. देखिये उसके व्याख्यान *Principles of Political Obligation* (1879-1880).

उसका कहना था कि जो राज्य अपने अनेक सदस्यों को घोर दरिद्रता का जीवन बिताने पर बाध्य करता है, वह तत्वतः अन्यायमूलक है। उन सदस्यों का यह सम्यक अधिकार है कि उन्हें अपने समाज की समृद्धि और कल्याण में साझा मिले। किन्तु उन्हें समाज द्वारा उत्पादित भौतिक सामग्री से ही वंचित नहीं रक्खा जाता, बल्कि उसके आध्यात्मिक जीवन में भी उन्हें कोई हिस्सा नहीं मिलता। भौतिक दरिद्रता से नैतिक पतन होता है; और अधिकारों से वंचित नागरिक अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का पालन नहीं कर सकते, और न सामान्य कल्याण में ही योग दे सकते हैं।[२]

अतः ग्रीन का प्रस्ताव था कि स्पेंसर द्वारा प्रतिपादित निषेधात्मक स्वतंत्रता के स्थान पर सार्थक अस्तिवाची स्वतंत्रता की स्थापना की जानी चाहिए। उसकी परिभाषा के अनुसार स्वतंत्रता वह "अस्तिवाची शक्ति अथवा क्षमता है जिसके द्वारा व्यक्ति करणीय कार्यों को कर सकता और भोगने योग्य वस्तुओं का उपभोग कर सकता है।" ग्रीन ने बतलाया कि लोगों को विधिक समानता और स्वतंत्रता देदेना काफी नहीं हैं। स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि विद्यमान परिस्थितियों को देखते हुए मनुष्य की शक्तियों के विकास की वास्तविक सम्भावना हो, व्यक्ति की क्षमता में सचमुच इतनी वृद्धि हो कि वह समाज द्वारा उत्पादित सामग्री में साझा बँटा सके, और योग्यता का इतना परिवर्द्धन हो कि वह सामान्य कल्याण में योग दे सके।

चूँकि ये सिद्धान्त कुछ अंश में कांट के विचारवाद (आइडियलिज्म) के निकट थे इसलिये ग्रीन तथा उसके अनुयायियों का अँग्रेज विचारवादियों अथवा ऑक्सफोर्ड के विचारवादियों के नाम से उल्लेख किया जाता था। किन्तु यह स्मरण रखने की बात है कि ग्रीन ने जर्मन विचारवाद के सत्तावादी तत्वों को कभी अंगीकार नहीं किया। अपितु उसके विपरीत उसने मनुष्य की सामाजिक प्रकृति, सामूहिक उत्तरदायित्व और लोकतांत्रिक सरकार द्वारा कल्याण का परिवर्द्धन करने पर विशेष बल दिया। उसने राजनीतिक सिद्धान्त को नैतिक सिद्धान्त का ही परिवर्धित रूप माना, और बतलाया कि राज्य वैयक्तिक अधिकारों का शत्रु नहीं, बल्कि उनका ऐसा संरक्षक और पोषक है कि जिसके बिना काम ही नहीं चल सकता। व्यक्ति तथा राज्य के बीच एकात्म्य स्थापित करना और नैतिकता तथा राजनीति की एकता पर जोर देना, ये इस सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्त थे।

ग्रीन इस सिद्धान्त को लेकर चला कि राज्य का स्वाभाविक रूप से विकास हुआ है और उसका उद्देश्य तत्वतः नैतिक है। व्यक्ति के अधिकार संविदात्मक मोलभाव का परिणाम नहीं हैं; वे स्वतंत्र नैतिक इच्छा की अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक परिस्थितियाँ हैं, और तभी साकार होते हैं जबकि सामान्य नैतिक इच्छा उन्हें विधि का

२. *Principles of Political Obligations, Section 155.*

रूप प्रदान कर देती है। जब मनुष्य सार्वजनिक उद्देश्यों के सम्बन्ध में सचेत हो उठते हैं, तब प्रभुत्व का सृजन होता है; प्रभुत्व वह शक्ति है जो अधिकारों की गारन्टी देने और स्वतंत्रता की रक्षा के लिये शक्ति का प्रयोग करती है। अतः जब तक राज्य स्पष्ट रूप से सर्वसम्मत नैतिक आदर्शों के विपरीत आचरण न करे तब तक व्यक्तियों को उसकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए, क्योंकि उससे उनके हितों का संवर्धन होता है। किन्तु ग्रीन ने इस सिद्धान्त पर इतना अधिक बल नहीं दिया कि राज्य का प्रभुत्व एक आदर्श वस्तु बन जाता। उसने विधिक अधिकारों और नैतिक अधिकारों के बीच भेद माना और अनुभव किया कि विधि में नैतिक अधिकारों की सदैव अपूर्ण अभिव्यक्ति होती है। उसका कहना था कि राज्य का काम केवल स्वतंत्रता के मार्ग में आनेवाली बाधाओं के निवारण तक सीमित रहना चाहिये; इसके अतिरिक्त वह राज्य के भीतर विद्यमान समुदायों के अधिकारों को भी स्वीकार करने के लिये तैयार था। उसने विश्व-संघ के—जिसके अन्तर्गत पृथक-पृथक राज्यों के अधिकार स्पष्टतः सीमित होंगे—आदर्श का भी स्वागत किया। युद्ध को वह अपूर्ण राज्य-व्यवस्था का अवांछनीय गुण मानता था।

फेबियन समाजवाद

१८८४ में इंगलैंड में **फेबियन समाज** की स्थापना हुई। उसने समाजवादी उदारवाद का और भी अधिक प्रसार किया। ग्रीन की भांति फेबियन लोग भी औद्योगिक समाज का अनुगमन करनेवाली मानव के प्रति मानव की अमानुषिकता से संतप्त थे। उनका प्रस्ताव था कि राज्य के कानूनों द्वारा श्रमिक वर्ग की दशा का सुधार किया जाय, किन्तु जनरल फेबिउस[3] की भाँति धीरे-धीरे और निश्चयात्मक सीढ़ियों द्वारा।

प्रारम्भ में फेबियन समाज थोड़े से कर्मण्य बुद्धिजीवियों का संगठन था। जार्ज बर्नार्ड शॉ, एच० जी० वैल्स, सिडनी वैब, ग्राहम वालास और रेम्जे मैकडोनल्ड उसके मुख्य सदस्य थे। इन पर कई विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा था। उदाहरण के लिये जॉन स्टुअर्ट मिल के उपयोगितावाद का, मार्क्सवाद के कुछ पहलुओं और **प्रोग्रेस एण्ड पॉवर्टी** (उन्नति और दरिद्रता) के अमरीकी लेखक हैनरी जार्ज का। उन्होंने पुस्तिकाओं,[4] नाटकों, उपन्यासों तथा अन्य प्रभावकारी साधनों द्वारा विकासात्मक समाजवाद के सिद्धान्तों का प्रचार किया।

वे इस बात से सहमत थे कि प्रतियोगितामूलक व्यवस्था से थोड़े से लोगों को

३. जनरल फेबिउस एक रोमन सेनानायक था जिसने हैनीबाल को विलम्बकारी चालों द्वारा परास्त किया था।

४. देखिये *Fabian Tracts* (Nos. 1—174).

ही सुख और आराम मिलता है और उनके सुख के लिये अनेक लोगों को कष्ट भोगने पड़ते हैं ; और समाज का इस ढंग से पुर्नानिर्माण होना चाहिए कि सामान्य लोगों को कल्याण और सुख उपलब्ध हो सके।"[५] इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उन्होंने निम्नांकित सिद्धान्त प्रतिपादित किये—

फेबियन समाज में समाजवादी सम्मिलित हैं। इसलिये इसका उद्देश्य यह है कि भूमि तथा औद्योगिक पूंजी को व्यक्तियों और वर्गों के स्वामित्व से मुक्त किया जाय और उस पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व स्थापित किया जाय जिससे कि उसका सामान्य जनता के कल्याण के लिये प्रयोग किया जासके। यही एक तरीका है जिससे सम्पूर्ण जनता को देश के प्राकृतिक और अर्जित लाभों में उचित साझा मिल सकता है।

अतः फेबियन समाज भूमि पर निजी स्वामित्व का अन्त करने के लिये कार्य करता है जिससे कि व्यक्ति लगान, भाड़े आदि के रूप में जो कुछ लाभ उठाता है, उसका अन्त होजाय।

इसके अतिरिक्त फेबियन समाज का यह भी प्रयत्न है कि औद्योगिक सम्पदा का प्रशासन समाज को सौंप दिया जाय, विशेषकर उस सम्पदा का जिसका प्रबन्ध वह सुविधापूर्वक कर सकता है। कारण यह है कि अतीत में उत्पादन के साधनों पर जो एकाधिकार रहा है उससे सम्पत्ति धारण करनेवाले वर्ग को ही लाभ हुआ है, औद्योगिक अनुसन्धानों ने उसी को धनी बनाया और अतिरिक्त मूल्य के पूंजी में परिवर्तित होने से उत्पन्न हुआ लाभ भी उसी वर्ग की जेब में गया है, और मजदूर को अपनी रोजी कमाने के लिये इसी वर्ग का आश्रय लेना पड़ता है।

उपर्युक्त प्रकार से छीनी हुई सम्पत्ति के लिये कोई मुआवजा नहीं दिया जायगा, किन्तु जिन व्यक्तियों की सम्पत्ति छीनी जायगी उन्हें समाज अपनी समझ के अनुसार कुछ सहायता अवश्य देगा। इस सुधार से लगान और ब्याज के रूप में होनेवाला लाभ भी परिश्रम करनेवाले मजदूरों को ही मिलेगा। निकम्मा वर्ग जो कि आजकल दूसरों की कमाई पर जीता है, समाप्त हो जायगा, आर्थिक शक्तियां स्वतः स्वाभाविक रूप से कार्य करेंगी जिसके फलस्वरूप व्यावहारिक जीवन में सुविधाओं की समानता कायम हो सकेगी और व्यक्ति के जीवन में आज की तुलना में कहीं कम हस्तक्षेप होगा।

फेबियन समाज का विश्वास है कि समाजवादी विचारों के प्रचार और तज्जन्य सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों से इन उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकेगी। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये फेबियन समाज आर्थिक, नैतिक और राजनीतिक क्षेत्रों

५. E. R. Pease, *The History of the Fabian Society* (1916).

में व्यक्ति और समाज का जो सम्बन्ध है उसके सम्बन्ध में लोगों में ज्ञान का प्रसार करेगा।

इन सिद्धान्तों का समय-समय पर परिवर्धन भी किया गया। इस सम्बन्ध में बर्नार्ड शॉ के प्रसिद्ध ग्रन्थ **फेबियन सोसायटी : इट्स अर्ली हिस्ट्री**[१] (फेबियन समाज : उसका प्रारम्भिक इतिहास) ने सबसे अधिक योग दिया। १८९३ में समाज ने मजदूर आन्दोलन के कुछ तत्वों से मेल कायम करके **इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी** (स्वतंत्र मजदूर दल) की स्थापना की। तब से वे मजदूर आन्दोलन में सक्रिय भाग लेते आये हैं, और आज तक स्वाध्याय तथा अनुसन्धान द्वारा इस विश्वास का प्रसार और परिवर्द्धन कर रहे हैं कि समाजवाद "लोकतांत्रिक आदर्श का ही आर्थिक पहलू" है।

श्रेणी समाजवादी

श्रेणी समाजवाद का उदय बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इंगलैंड में हुआ। एक प्रकार से यह विचारधारा फेबियन आन्दोलन की ही शाखा थी। फेबियन समाजवादियों ने शक्ति के केन्द्रीयकरण पर बल दिया था। श्रेणी समाजवादी इस चीज से सहमत नहीं थे। फ्रांस के संघ समाजवादियों (सिंडीकलिस्टों) की भाँति वे भी सरकार से शंकित थे। उनका विश्वास था कि सरकार के हाथों में अतिशय शक्ति देना बुरा है, सरकार चाहे समाजवादी हो अथवा अन्य किसी प्रकार की, इसमें अन्तर नहीं पड़ता। उन्होंने एक ऐसा समाजवादी आदर्श प्रस्तुत किया जो विकेन्द्रीयकरण और विभक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के अनुरूप हो सके।

उनका ठोस प्रस्ताव यह था, और आज भी यही है, कि उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि की हैसियत से राज्य उत्पादन के साधनों का स्वामी हो, किन्तु मजदूरों का प्रतिनिधित्व करनेवाली श्रेणियाँ (गिल्ड्स) उन साधनों का नियंत्रण और प्रबन्ध करें। इसके अतिरिक्त उनका सुझाव है कि प्रत्येक चर्च, औद्योगिक संस्थान, शिक्षा-संस्था अथवा अन्य कृत्यशील समुदाय स्वयं प्रत्यक्ष रूप से अपने मामलों का प्रबन्ध करे; और राज्य तभी हस्तक्षेप करे जब कि अन्य कोई चारा न रहे, अथवा राज्य का भी वही दर्जा जो अन्य स्वाभाविक समुदायों का; और विवादों का निपटारा करने की अन्त्य सत्ता एक ऐसे निकाय में निहित हो जो कि सभी आवश्यक हितों का प्रतिनिधित्व करता हो।

श्रेणी समाजवादियों का विश्वास है कि उद्योगों पर राजकीय नियंत्रण से एक अलोकतांत्रिक और भृत्यतंत्रीय व्यवस्था का जन्म होता है। निर्वाचकों में एक ऐसा वर्ग उठ खड़ा होता है जो कुछ अंश में शासन करनेवाले गुट पर अपना नियंत्रण रखता और कुछ अंश में स्वयं उसके द्वारा नियंत्रित होता है। इसलिये उनका प्रस्ताव है कि एक ऐसी संघीय व्यवस्था का निर्माण किया जाय जिसमें राज्य जनता के आचरण,

१. *Fabian Society Tract No. 41 (1909).*

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों, कला का संवर्द्धन, उच्च शिक्षा आदि की देखभाल करे—अन्य सब कार्य स्वायत्त तथा सहकारी कृत्यशील समुदायों के हाथों में छोड़ दिये जायँ। ये समुदाय मजदूरी और कीमतें निर्धारित करेंगे; सभी औद्योगिक मामलों का प्रबन्ध करेंगे; और राष्ट्रीय आयम का प्रबन्ध भी उन्हीं के हाथों में होगा; राज्य को वे कुछ धन दिया करेंगे जिससे कि वह अपने कर्तव्यों को पूरा करेगा। इस प्रकार दो लोकतंत्रीय व्यवस्थाओं की स्थापना होगी—एक आर्थिक और दूसरी राजनीतिक।

एक अन्य दृष्टिकोण से श्रेणी समाजवाद वर्तमान बड़े पैमाने के मशीन उद्योग और राज्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है। इसके अनुयाइयों को मध्ययुगीन व्यवस्था से प्रेरणा मिलती है—उस व्यवस्था की विशेषता यह थी कि हाथ के उद्योग छोटे पैमाने पर चलते थे और केन्द्रीयकरण का अभाव था; फलस्वरूप श्रमिकों को अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिलता था और उन्हें अपने कर्मकौशल में गौरव का अनुभव होता था।

कदाचित यही कारण है कि इंगलैंड में श्रेणी समाजवाद की अधिक प्रगति नहीं हुई है, और उसके आलोचक उसे कुछ अव्यावहारिक समझते हैं। फेबियन समाज के मुकाबिले में इसका दृष्टिकोण इंगलैंड की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए कम यथार्थवादी जान पड़ता है। कुछ भी हो, मजदूर दल ने जिस नीति का अनुसरण किया है वह फेबियन समाज की नीति है, श्रेणी समाजवादियों की नहीं।

इंगलैंड का मजदूर दल

मजदूर दल की स्थापना १९०६ में हुई। इसकी उत्पत्ति अनेक ऐसे सामाजिक आन्दोलनों से हुई जो एक दूसरे से बहुत कुछ सम्बद्ध है। ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी, फेबियन समाज और सोशल डेमोक्रेटिक फेडरेशन प्रमुख थे। उसका प्रारम्भ मुट्ठी भर सदस्यों को लेकर हुआ, किन्तु पिछली आधी शताब्दी में उसका स्थान इंगलैंड के सबसे बड़े राजनीतिक संगठनों में होगया है।

जन्म से ही इस दल ने लोकतांत्रिक समाजवाद को अपना ध्येय माना है, वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा के अधिनायकत्व में उसको कभी आस्था नहीं रही। मजदूर दल ने सदैव ही साधारण श्रमिकों के गुणों का सम्मान किया है। उसने लेनिन के इस विश्वास को कभी अंगीकार नहीं किया कि मजदूरों के विशाल समुदाय का उद्धार पेशेवर क्रान्तिकारियों का एक छोटा सा सुसंगठित दल ही कर सकता है।

मजदूर दल का दूसरा गुण उसका धार्मिक मानवतावाद है। दल का वर्तमान नेता क्लीमेंट एटली समाजवाद की ओर इसलिये आकृष्ट हुआ था कि १९०५ और १९२२ के बीच वह लन्दन की गन्दी मजदूर बस्तियों के सम्पर्क में आया, और उनकी दरिद्रता को देखकर उसका हृदय बदल गया। आगे चलकर उसने बतलाया कि लाइमहाउस के

जिले में जहाँ मैंने समाज सेवी के रूप में काम किया, मजदूरों की स्थिति इतनी खराब थी कि मेरे मन से व्यक्ति की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में जो ईसाई भावनाएँ थीं वे जाग उठीं और मैं समाजवाद का समर्थक बन गया।

आर्थिक क्षेत्र में मजदूर दल पूँजीवाद तथा साम्यवाद के बीच का मार्ग अपनाता है। उसने उन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया है जो कि राष्ट्र के जीवन के लिये सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं, किन्तु अन्य क्षेत्रों में स्वतंत्र उद्यम का अन्त नहीं किया है। उसने भारी कर लगाये हैं जिनका बोझ धनी लोगों पर अधिक पड़ा है किन्तु जिनकी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण किया गया है उन्हें मुआवजा दिया गया है, और सम्पत्ति के स्वामियों के खिलाफ कोई ऐसी कार्यवाही नहीं की गई है जो कि कानून के विरुद्ध हो।

मजदूर दल का कहना है कि हमारे कार्यक्रम की मुख्य विशेषता यह है कि हम जनता की सम्मति से क्रान्ति लाना चाहते हैं, और यही आज की समस्याओं का लोकतांत्रिक उत्तर है। इस कार्यक्रम में तीन मुख्य चीजें हैं: बुनियादी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, आय का पुनर्वितरण, और सामाजिक तथा आर्थिक नियोजन। राष्ट्रीयकरण के दो मुख्य उद्देश्य हैं। यह आवश्यक समझा गया है कि बुनियादी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो ताकि उन्हें समाज के प्रति उत्तरदायी ठहराया जा सके। दूसरे, राष्ट्रीयकरण से धीरे-धीरे वह रास्ता बन्द हो जाता है जिससे कि लोगों को बिना परिश्रम किये धन कमाने का अवसर मिलता है। आय का पुनर्वितरण इसलिये आवश्यक है कि उससे पहले से अधिक सामाजिक समानता स्थापित होती है। इसका अर्थ यह है कि एक ओर भारी और उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ आय-कर और दूसरी ओर मजदूर वर्ग के लिये पहले से अधिक वेतन और सामाजिक सुविधाएँ। सामाजिक और आर्थिक नियोजन से लाभ यह है कि इससे मन्दी से लड़ने में सहायता मिलती है और राष्ट्रीय साधनों का पहले से अधिक अच्छा उपयोग किया जा सकता है। दल को इस बात पर गर्व है कि उसकी अर्थव्यवस्था में न मन्दी आती है और न अतिशय वृद्धि।

इस प्रकार मजदूर दल के सदस्य केर हार्डी के इस मत से सहमत हैं कि पूँजीवादी उदारवाद को ऐसे सामाजिक उदारवाद का रूप धारण कर लेना चाहिए जिसके अन्तर्गत मजदूरों को उनके काम के अनुपात में वेतन मिल सके। और उनका कहना है कि पूँजीवाद का पतन हो रहा है, और "साम्यवाद में मानवीय मूल्यों का कोई महत्व नहीं है, इसलिये इन दोनों के स्थान पर मजदूर दल का "स्वतंत्र सामाजिक लोकतंत्र" का आदर्श सबसे अच्छा है।

उदारवाद का भविष्य

रूसो के लगभग दो सौ वर्ष बाद आज भी उदारवाद अपना पूर्ण अभिप्राय ढूँढने में लगा हुआ है। फिर भी उसने मनुष्य की इच्छाओं, महत्वाकांक्षाओं और

आशंकाओं को सामाजिक और राजनीतिक वास्तविकता का रूप देने की दिशा में बहुत कुछ सफलता प्राप्त करली है।

पिछले वर्षों में सबसे बड़ी प्रगति आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र में हुई है। उन्नीसवीं शताब्दी की राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ बीसवीं शताब्दी की सामाजिक तथा आर्थिक समानता का संयोग कर दिया गया है। अब धन की विषमता इतनी गहरी नहीं है कि राजनीतिक समानता निरर्थक होजाय।

सरल शब्दों में, उदारवाद के विकास की प्रक्रिया इस प्रकार रही है: अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक नये औद्योगिक वर्ग का जन्म हुआ। उसने पुराने पित्रागत भूस्वामी अभिजातवर्ग का विरोध किया और सामान्य जनता को विश्वास दिलाया कि तुम्हारे हितों और इस अल्पसंख्यक शासक-वर्ग के स्वार्थों में कोई मेल नहीं हो सकता। साथ ही साथ उसने जनता को समझाया कि हमारे और तुम्हारे हित मूलतः एक हैं और यदि हमने मिलकर कार्य किया तो सभी की स्थिति में सुधार होगा। फलस्वरूप क्रान्तियाँ हुईं। किन्तु राजनीतिक और औद्योगिक दोनों ही क्रान्तियों ने ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया जिसके अन्तर्गत व्यापारी वर्ग के हित श्रमिक वर्गों के हितों के अनुकूल नहीं अपितु विरोधी सिद्ध हुए। एक ओर तो अभूर्तपूर्व आर्थिक विकास हुआ, और दूसरी ओर उसी अनुपात में दरिद्रता बढ़ती गई। फलस्वरूप एक नया आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जिसका उद्देश्य सामाजिक न्याय की स्थापना करना था जोकि पहले की व्यवस्था के अन्तर्गत सम्भव नहीं हो सका था। इस आन्दोलन का केन्द्र मजदूर थे, जिन्हें मार्क्स ने सर्वहारा नाम दिया था। व्यवहार में इस आन्दोलन की कार्मिक संघता (ट्रेड यूनियनिज्म) के रूप में अभिव्यक्ति हुई; और बुद्धिजीवी नेताओं ने इसके सिद्धान्तों का निर्माण किया। जिन देशों में सांविधानिक शासन और लोकतंत्र की स्थापित परम्पराएँ नहीं थीं वहाँ इस आन्दोलन ने साम्यवाद को (अथवा उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में फासीवाद को) जन्म दिया, और नियंत्रण योग्य लोगों के छोटे से गुट के हाथों में ही रहा। इंगलैंड तथा संयुक्त राज्य में सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन चाहने वाले तत्व लोकतांत्रिक तरीकों से पुराने शासक वर्गों को अपदस्थ करने में सफल हुए। परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य में राष्ट्रपति रूजवेल्ट के न्यू डील (नया वर्ताव) और फेयर डील (उचित बर्ताव) नाम के सामाजिक और आर्थिक सुधार के कार्यक्रम सम्पादित हुए, और इंगलैंड में समाजवाद का नरम रूप प्रचलित हुआ।

ऊपरी तौर पर इन देशों में सरकार का नियंत्रण बहुसंख्यक जनता के हाथों में आगया है, और पहली बार जनता राजनीतिक और आर्थिक परिपक्वता की अवस्था को प्राप्त हुई है। किन्तु लोगों को यह सन्देह होने लगा है कि इस नये उदारवाद से एक ऐसे नये शासक-वर्ग का प्रादुर्भाव होगा जो पहले के हर शासक वर्ग के मुकाबिले में कहीं अधिक शक्तिशाली होगा, क्योंकि उसके हाथों में सम्पूर्ण राजनीतिक और आर्थिक

नियंत्रण आजायगा। डर इस बात का है कि शक्ति का इतना अधिक केन्द्रीयकरण हो जायगा कि शासन-सूत्र धारण करनेवाले अपने निर्णयों के पक्ष में बिना किसी कठिनाई के बहुमत एकत्र कर लिया करेंगे, अथवा वे अपने हितों को ही जनता का हित समझने लगेंगे और वास्तविक तौर पर प्रभावकारी लोकनियंत्रण से मुक्त होने का प्रयत्न करेंगे।

इस प्रकार के सन्देहों का सचमुच कोई ठोस आधार है अथवा नहीं ? इस प्रश्न पर सावधानी से विचार और विवेचन करने की आवश्यकता है। पिछली शताब्दी के सिद्धान्तों को ओर लौटकर जाना सम्भव नहीं है। जिस युग में हम कह रहे हैं उसमें सामाजिक उत्तरदायित्व का सदैव महत्व रहेगा। समस्या यह है कि सामाजिक उत्तरदायित्व के लिये आवश्यक व्यवस्था के अन्तर्गत कैसे रहा जाय कि उस व्यवस्था का नियंत्रण मनुष्य के हाथ से न निकल जाय।

पठनीय ग्रन्थ

Attle, Clement R., *The Labour Party in Perspective—and Twelve Years Later* (London, Gallancz, 1949).

Brady, R. A., *Crisis in Britain : Plans & Achievements of the Labour Government* (Berkeley, Univ. of California Press, 1950).

Chin, Y. L., *The Political Theory of Thomas Hill Green* (New York, Gray, 1920).

Coker, F. W., *Recent Political Thought* (New York, Appleton-Century, 1934) Chaps. 4, 9, 15.

Cole, G. D. H., *A History of the Labour Party from 1914* (London, Routledge & Paul, 1948).

Cripps, Stafford, *Towards Christian Democracy* (New York, G. Allen, 1946).

Hallowell, J. H., *Main Currents in Modern Political Thought*, (New York, Holt, 1950). pp. 463-478.

Hutchison, Keith, *The Decline & Fall of British Capitalism* (New York, Scribner, 1950).

Laidler, H. W., *Socio-Economic Movements* (New York, Crowell, 1948).

Lewis, W. A, *The Principles of Economic Planning : A Study for the Fabian Society* (London, Dobson, 1949).

Pease, E. R., *A History of the Fabian Society* (New York, Dutton, 1916).

Sabine, G. H., *A History of Political Theory*, rev. ed. (New York, Holt, 1950) pp. 725-749.

Stachey, John, *The Just Society* (London, The Labour Party, 1951).

Tawney, R. H., *The British Labour Movement* (New Haven, Yule Univ. Press, 1925).

Watkins, Frederich, *The Political Traditions of the West* (Cambridge, Harward Univ. Press, 1948) Chap. 9, 12.

————

भाग ६

फासीवाद का उदय और विकास

अध्याय २४

जर्मन विचारवाद

विचारवादी चिन्तन का स्वभाव

फासीवाद का बीज हमें उस अनुदारवादी (पुरातनपोषी—कंजरवेटिव) विचार-धारा में मिलता है जिसका उदय फ्रांसीसी क्रांति के उपरान्त उस क्रांति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। इस प्रतिक्रियावादी चिंतन का एक रूप जर्मन विचारवाद[1] के नाम से विख्यात है। इसकी परिणति जार्ज विलहैल्म हीगिल के दर्शन में हुई। हीगिल को ही कभी-कभी फासीवाद का जनक कहा जाता है।

विचारवाद की उत्पत्ति यूनानी दर्शन और रूसो के उलझे हुए किंतु उर्वरा विचारों में हुई। विचारवाद ह्यूम के प्रमाण-शास्त्र के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया भी था। यूनानी दर्शन से विचारवादियों ने यह सीखा कि राजनीतिदर्शन तत्वतः नीतिशास्त्र का ही एक अंग है, राज्य एक प्राकृतिक समाज है और राजनीतिदर्शन का काम उन पद्धतियों को ढूँढ़ निकालना है जिनके द्वारा राज्य अपने नैतिक उद्देश्यों को पूरा कर सके। प्लेटो और अरस्तू की भांति विचारवादियों ने सिखाया कि मनुष्य स्वभाव से ही राजनीतिक समुदाय का सदस्य होता है, विधि शुद्ध विवेक की अभिव्यक्ति है और सत जीवन का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति समुदाय के अन्तर्गत अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करे।

रूसो से विचारवादियों ने सामान्य इच्छा की धारणा ग्रहण की। इसके अति-रिक्त उन्होंके अपने 'विवेक' को छोड़कर अन्य सभी प्रकार के विवेक का अविश्वास करना भी सीख लिया। कांट के दर्शन में रूसो की सामान्य इच्छा का रूप बदल गया। उसने सिखाया कि सामान्य इच्छा वह नैतिक आदेश है जिसके अनुसार मनुष्य उस कर्त्तव्य को करने की इच्छा करता है जिसे वह अपने लिये स्वयं निश्चित और निर्धारित करता है। इस धारणा से ऐसा दार्शनिक दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ जिसका उदारवाद से तत्वतः कोई विरोध नहीं था। किंतु हीगिल ने राज्य की इच्छा को ही सामान्य इच्छा मान लिया। फलतः व्यक्ति की इच्छा का अपना स्वतंत्र कोई महत्व नहीं रहा और वह राज्य की इच्छा में ही विलीन होगई और राज्य, हॉब्स के राज्य (लिवियेथन) की

[1] यद्यपि आगे के पृष्ठों में जर्मन विचारवाद और फासिज्म के बीच सम्बन्धों पर विशेष जोर दिया गया है, किन्तु यह स्मरण रखने की बात है कि दोनों एक ही चीज नहीं हैं। उदाहरण के लिये जर्मन विचारवाद में एक नैतिक तत्व विद्यमान था जिसका फासीवाद में नितान्त अभाव है।

भाँति, निरंकुश बन गया। विवेक के सम्बन्ध में रूसो ने सिखाया था कि कलाओं और विज्ञानों से मनुष्य का नैतिक पतन हुआ है, इसलिये प्रकृति के सरल जीवन की ओर लौट जाने में ही उसका कल्याण है। उसका कहना था कि मनुष्य का मूल्य उसकी बुद्धि पर नहीं, उसके नैतिक स्वभाव पर निर्भर होता है, इसलिये विवेक की अपेक्षा संवेगों का अधिक भरोसा करना चाहिये। इन विचारों के आधार पर विचारवादियों ने ऐसे उच्चतर सत्य की खोज आरम्भ की जो वैज्ञानिक बुद्धि की सहायता से प्राप्त नहीं हो सकता था। उन्होने वस्तु जगत के निरीक्षण से प्राप्त सत्य और निरपेक्ष चिंतन से प्राप्त सत्य के बीच स्पष्ट भेद किया। इस प्रकार राजनीतिक सिद्धांत सीमापारी तत्वज्ञान का ही एक अंग बन गया।

इस संघर्ष में ह्यूम का महत्व यह है कि उसने इस बात की उत्तेजना दी कि सिद्धांतों पर आधारित सत्यों (जो अनुभव पर आधारित नहीं हैं) का अस्तित्व है, इस चीज पर पुनः बल दिया जाय। उसके ध्वंसात्मक ज्ञान सम्बन्धी सिद्धांत से विचारवादियों को प्रेरणा मिली। उसने अपने ग्रंथ[२] में लिखा था कि दार्शनिकों के निरपेक्ष सत्य वास्तव में सत्य नहीं है, मत मात्र हैं। इस प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में कोई ज्ञान उपलब्ध नहीं है। मनुष्य अपने अनुभव और उपयोगिता पर आधारित स्वार्थों के अनुसार ही आचरण कर सकता है। कांट तथा दूसरे विचारवादियों ने ह्यूम के इस तर्क का जो उत्तर दिया उसका यहाँ हम विशद विश्लेषण नहीं कर सकते। उसके उत्तर का सारांश यह है कि उच्चतर प्रकार के सत्य का ऐसा रूप भी है जो सदिच्छा आदि नैतिक अधिबन्धनों पर आधारित है, और जो अनुभव से पहले का होने के कारण उससे स्वतन्त्र है। ये तात्विक अधिबन्धन ही स्वस्थ व्यक्तित्व का सार हैं और ये ही मनुष्यों को समाज के अन्तर्गत बाँध कर रखते हैं।

विचारवादियों का राजनीतिक चिन्तन : कांट और फिख्टे

इन विचारों की अभिव्यक्ति कांट, फिख्टे और हीगिल की रचनाओं में हुई। इमानुएल कांट[3] ने रीजनीति में सक्रिय भाग नहीं लिया और न राजनीतिक चिन्तन में उसका कोई मौलिक योगदान है। उसके राजनीतिक सिद्धान्तों का आधार रूसो और मोन्तेस्क्यू के विचार थे और उसका मुख्य काम यह था कि उनके विचारों का उसने अपने आलोचनात्मक दर्शन के प्रवर्गों के साथ मेल बिठला दिया। उसे राजनीति और

२. *Treatise of Human Nature.*

३. कांट के राजनीतिक विचार उसके निम्न ग्रन्थों में मिलते हैं *Metaphysical First Principles of the Theory of Law* (1796) trans. by W. Hastie; *Perpetual Peace* (1795) trans. by M. C. Smith. इनके अतिरिक्त देखिये *The Principles of Political Right* और *The Natural Principle of the Political Order.*

प्रशासन के व्यावहारिक प्रश्नों की अपेक्षा आधारभूत धारणाओं के विश्लेषण में अधिक रुचि थी।

कांट का मत था कि मनुष्य प्रकृति से स्वतन्त्र और समान है, और राज्य सिद्धान्ततः एक संविदा का द्योतक है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा का भार सम्पूर्ण जनता अपने ऊपर ले लेती है। किन्तु उसने सामाजिक संविदा को ऐतिहासिक तथ्य नहीं माना। उसने कहा कि प्रभुत्व जनता में निवास करता है, और उसी की इच्छा विधि का स्रोत है, न्यायपूर्ण कानून वह है जिसे सम्पूर्ण जनता स्वीकार करले। संविधान का अंगीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा राज्य की स्थापना और सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति होती है। राज्य के काम तीन प्रकार के होते हैं—विधायी, कार्यपालक और न्यायिक, और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये विधायी तथा कार्यपालक शक्तियों का पृथक्करण आवश्यक है। जनता की सत्ता का प्रतिनिधित्व निर्वाचित प्रतिनिधि, राजा अथवा अभिजातवर्ग, कोई भी कर सकता है। प्रशिया की उस समय जो परिस्थितियाँ थीं उनसे प्रभावित होकर कांट ने सामान्य इच्छा के प्रभुत्व के सिद्धान्त का इस विश्वास के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया कि इस प्रभुत्व का राजतन्त्रीय सरकार द्वारा भी प्रयोग किया जा सकता है। उसने आदर्श तथा वास्तविक के बीच जो दार्शनिक भेद किया उसमे कुछ उलझन और गड़बड़ उठ खड़ी हुई। एक ओर तो उसका कहना था कि आदर्श राज्य की स्थापना ऐच्छिक समझौते से होती है और उसका प्रभुत्व, जिसकी अभिव्यक्ति निरपेक्ष विधि के रूप में होती है, सम्पूर्ण जनता की इच्छा से व्युत्पन्न होता है। किन्तु दूसरी ओर उसका कहना था कि वास्तविक राज्य ऐतिहासिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुए हैं और शक्ति तथा विवेक पर आधारित होते हैं, और उनका प्रभुत्व उन व्यक्तियों में निहित होता है जिनके हाथों में वास्तविक शक्ति रहती है। कांट को हिंसा तथा अव्यवस्था से घृणा थी और फ्रांस में हुए अतिचार से वह घबड़ा गया था, इसलिये उसने विद्रोह के अधिकार को स्वीकार नहीं किया और कहा कि संविधान में परिवर्तन विधि के अनुसार और स्वयं प्रभु द्वारा किये जाने चाहिए।

कांट राष्ट्रीय राज्य के सामूहिक जीवन की धारणा से परिचित नहीं था। उसके मन में व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा सर्वोपरि थी। उसने नैतिकता, विधि तथा राजनीति में अन्तर्हित निरपेक्ष सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि प्रत्येक व्यक्ति को इच्छा करने और अपने ऊपर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार है। समाज में रहनेवाले व्यक्तियों पर पारस्परिक प्रतिबन्ध विधि द्वारा लगाये जाते हैं और विधि सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। इस प्रकार कांट ने सत्ता और पूर्ण स्वतन्त्रता के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने स्वतन्त्रता को विषयगत (सब्जैक्टिव) बतलाया और व्यक्ति को स्वयं साध्य माना। उसने

विवेकशील मनुष्य को सबसे अधिक मूल्यवान ठहराया, और यही वास्तव में उसके दर्शन का मुख्य तत्व था। तदनुसार राज्य के विषय में उसका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी था, और उसका कहना था कि राज्य को नागरिक के सम्पूर्ण जीवन का नियन्त्रण करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

इन्हीं विचारों को उसने राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में लागू किया। उसका विश्वास था कि यूरोप की शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था कभी स्थाई शान्ति का आधार नहीं बन सकती, और राज्य अपने बाह्य आचरण में कभी पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं हो सकते। उसका सुझाव था कि सब राष्ट्र मिलकर एक राष्ट्र-संघ बनालें जिसके अन्तर्गत प्रत्येक राज्य सामान्य यूरोपीय इच्छा के अधीन हो। उसका विश्वास था कि यह ईश्वर की इच्छा है कि अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण मानव जाति एक विश्व-राज्य के रूप में संगठित हो। यूरोप की अराजकता को दूर करने का उपाय यह है कि लोक-विधि और शक्ति पर आधारित एक अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारों की व्यवस्था का निर्माण किया जाय और प्रत्येक राज्य उस व्यवस्था की अधीनता स्वीकार करे। कांट का यह भी विश्वास था कि आर्थिक परिस्थितियां बुद्धिमान व्यक्तियों को युद्ध का उन्मूलन करने पर बाध्य करेंगी। अपने जीवनकाल में उसने सप्तवर्षीय युद्ध और नेपोलियन के युद्ध देखे थे, और दोनों में जर्मनी को भारी क्षति उठानी पड़ी थी। इस चीज ने निश्चय ही उसके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में विचारों को बहुत कुछ प्रभावित किया था।

योहन फिख्टे (१७६२-१८१४) कांट के विचारवादी दर्शन से सहमत था। किन्तु कांट की अपेक्षा उसे व्यावहारिक राजनीति की समस्याओं में अधिक दिलचस्पी थी। नेपोलियन की विजयों से प्रुशिया पर घोर विपत्तियां आईं थीं, और उनके बाद फिर देश में राष्ट्रीय भावनाओं का पुनरुत्थान हुआ था। इन दोनों चीजों का फिख्टे पर गहरा प्रभाव पड़ा। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में उसने रूसो के उदार और व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का अनुसरण किया, और प्राकृतिक विधि, व्यक्ति के अधिकारों और लोक-प्रभुत्व पर विशेष बल दिया; किन्तु अपनी परवर्ती रचनाओं में उसने राष्ट्रीय राज्य के महत्व पर जोर दिया और उसके कार्यकलाप के क्षेत्र के प्रसार को उचित ठहराया। इसी से आगे चलकर फासीवादी सिद्धान्तों का जन्म हुआ।

अपनी प्रारम्भ की रचनाओं में फिख्टे ने कांट की स्वतंत्र, विवेकशील प्राणियों की धारणा का भी विकास किया। उसने स्वीकार किया कि व्यक्तियों की स्वतंत्रता दूसरों की स्वतंत्रता द्वारा परिसीमित होती है; वे सामाजिक संविदा द्वारा अपनी इच्छाओं को संयुक्त करके एक सामान्य इच्छा की रचना कर लेते हैं ताकि विधि द्वारा उनके स्वतंत्र कार्यकलाप पर जो प्रतिबन्ध लगाये जायँ वे स्वयं उन्हीं की इच्छा के अनुकूल हो सकें। किन्तु फिख्टे ने इस धारणा को अस्वीकार किया कि राजनीतिक समाज के

से पहले मनुष्य प्रकृति की अवस्था में रहता था और कहा कि राज्य स्वयं मनुष्य जाति की प्राकृतिक अवस्था है। सामाजिक संविदा की उसने तीन प्रक्रियाएँ मानीं: सम्पत्ति-संविदा जिसके अनुसार व्यक्तियों ने परस्पर यह समझौता कर लिया कि बाह्य जीवन में वे स्वेच्छा से आचरण नहीं करेंगे; सुरक्षा-संविदा जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ने वचन दिया कि प्रथम समझौते को कायम रखने के लिये जितनी शक्ति की आवश्यकता होगी उसमें मैं भी अपना योग दूँगा; संघ-संविदा जिसके आधार पर सब लोगों ने एक प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की रचना की जिसका कर्तव्य पहले के समझौतों का परिपालन करवाना था। अतः राज्य को व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से नागरिक के स्वतंत्र कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

अपनी परवर्ती रचनाओं में फिख्टे ने राज्य की सत्ता के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया। उसने कहा कि व्यक्ति राज्य के द्वारा ही अपनी सम्पत्ति का उपभोग कर सकता है, उसकी सम्पत्ति का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो सकता, और राज्य का कर्तव्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसका दातव्य प्रदान करे और उसे इस बात की गारंटी दे कि उसे अपने अधिकारों का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग करने दिया जायगा। जर्मनी की तत्कालीन राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर उसने इस बात पर जोर दिया कि प्रत्येक राज्य को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होना चाहिए। राज्य को चाहिए कि अपनी जनसंख्या को उत्पादकों, किसानों, शिल्पियों और व्यापारियों के वर्गों में बाँटे, चीजों के मूल्य निश्चित करे और ऐसी व्यवस्था करे कि प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्रीय धन का सम्यक अंश मिल सके। जहाँ तक हो सके वैदेशिक व्यापार से बचा जाय, और यदि आवश्यक हो तो राज्य उसे स्वयं अपने हाथों में लेले। उसका कहना था कि राष्ट्रीय राज्यों के स्वतंत्र अस्तित्व का यह स्वाभाविक निष्कर्ष है कि वे आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हों। उसने इंगलैंड के मुक्त व्यापार के सिद्धान्त, का जो जर्मनी की अविकसित अर्थ-व्यवस्था के लिये नाशकारी सिद्ध हुआ था, कटु विरोध किया। उसने बतलाया कि अपनी प्राकृतिक भौगोलिक सीमाओं से आबद्ध राष्ट्रीय राज्य ही आर्थिक इकाई हो सकता है, पड़ोसी राज्यों के साथ उसे केवल ऐसे सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए जिनके बिना कि काम भी न चल सके। विश्व की वाणिज्य सम्बन्धी महत्वाकांक्षाओं और प्रतियोगिता को उसने युद्ध का मुख्य कारण माना।

फिख्टे का विश्वास था कि जिस प्रकार व्यक्ति का राज्य के अन्तर्गत उचित स्थान और कार्य होना चाहिए, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र सभ्यता के विकास में अपना विशिष्ट योग देने के लिये है। उसने बतलाया कि नेपोलियन के मुकाबिले में प्रुशिया की पराजय का मुख्य कारण उसके नागरिकों में राजनीतिक चेतना का अभाव है। इसीलिये उसने अपने देशवाशियों की देशभक्ति को उभाड़ा, और जर्मनी की राष्ट्रीय एकता के आदर्श को सामने रक्खा। उसका विश्वास था कि जर्मनी का मिशन अपने

राष्ट्रीय अस्तित्व की स्थापना करना और विश्व में नेतृत्व का पद धारण करना है। उसने प्रेरणा दी कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये राज्य को विशद बौद्धिक और नैतिक शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।

जिस समस्या ने कांट को उलझन में डाल दिया था वह यह थी कि लोकप्रभुत्व के सिद्धान्त का शक्तिशाली और उत्तरदायित्वहीन राजतंत्र के साथ सामञ्जस्य कैसे स्थापित किया जाय। फिख्टे ने इसका हल ढूँढ़ निकाला। इस डर से कि कहीं सरकार का कोई अंग संविधान में व्यक्त जनता की प्रभु इच्छा की उपेक्षा न करे उसने सुझाव दिया कि निरीक्षकों की एक परिषद का निर्माण किया जाय जिसका कर्तव्य केवल इस बात का निर्णय करना हो कि संविधान का परिपालन हुआ है अथवा नहीं, और आवश्यकता पड़ने पर वह ऐसे तरीके अपनाए जिससे जनता की प्रभु इच्छा की अभिव्यक्ति हो सके। यदि यह प्रतिबन्ध सरकार को शक्ति का दुरुपयोग करने से न रोक सके तो सम्पूर्ण जनता को विद्रोह करने का अधिकार है, क्योंकि वह सब शक्ति का स्रोत है और केवल ईश्वर के प्रति जबावदेह है।

हीगिल

जर्मनी के विचारवादी राजनीतिक चिन्तन को जार्ज विलहेल्म हीगिल (१७७०-१८३१)[४] ने पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। कांट के स्वतंत्रता के सिद्धान्त और स्थाई शान्ति के आदर्श के पीछे १७८९ की फ्रांसीसी क्रान्ति के विचारों की प्रेरणा थी। हीगिल ने उस समय लिखा जबकि नेपोलियन के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हो चुकी थी और जब लोगों के हृदय में राष्ट्रीय राज्य और राजतंत्र के लिये भक्ति पुनः प्रतिष्ठित हो गई थी। अतः उसने अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की उपेक्षा की, राष्ट्रीय राज्य के व्यक्तित्व की अतिरंजित प्रशंसा की और उसे नागरिकों के मुकाबिले में बहुत अधिक महत्त्व दिया।

हीगिल ने इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त का खंडन किया कि राज्य की उत्पत्ति कृत्रिम रूप से संविदा द्वारा हुई है, और बतलाया कि राज्य एक प्राकृतिक जीव (आॅर्गेनिज्म) है और ऐतिहासिक "विश्व प्रक्रिया" का एक पहलू है।[५] उसने इस विचार का भी विरोध किया कि राज्य स्वतंत्र व्यक्तियों का संग्रह मात्र है, प्रत्येक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकार होते हैं और सामान्य इच्छा अथवा प्रभुत्व में उसका साझा होता है। इसके विपरीत उसने बतलाया कि राज्य एक वास्तविक व्यक्ति होता है और उसकी इच्छा पूर्ण विवेक की अभिव्यक्ति होती है—उसके अन्तर्गत सार्वभौम और वैयक्तिक स्वतंत्रता

४. देखिये उसकी पुस्तक *Grundliniem der Philosophice des Rechts* (1821) trans. by S. W. Dyde.

५. इस विचार को सर्व प्रथम फ्रीडरिख शीलिंग (Friedrich Schilling) ने अपने ग्रन्थ *System of Transcendental Idealism* में व्यक्त किया था।

का समन्वय रहता है। व्यक्ति के जीवन की वास्तविकता राज्य का सदस्य होने में ही है, राज्य से पृथक अथवा बाहर होकर उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता। पूर्ण जीवन का अर्थ है सार्वभौम इच्छा के अनुसार आचरण करना। हीगिल ने नैतिकता की आन्तरिकता और विधि की बाह्यता के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया और बतलाया कि वास्तविक स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि जिस चीज की मनुष्य का आन्तरिक विवेक माँग करता है उसका बाह्य जगत में यथार्थीकरण भी होना चाहिए। और यह कार्य उसी विधि, उन नैतिकता के नियमों और उन संस्थाओं के द्वारा संपादित हो सकता है जिनसे धर्म और सदाचार को प्रोत्साहन मिलता है। इस व्यवस्था में राज्य का स्थान सर्वोच्च है, क्योंकि वह सब सामाजिक कृत्यों के बीच समरूपता स्थापित करता है।

हीगिल के अनुसार प्रभुत्व राज्य के विधिक व्यक्तित्व में निवास करता है, न कि नागरिकों के समूह अथवा जनता में। किन्तु उस व्यक्तित्व की एक व्यक्ति के रूप में अभिव्यक्ति होनी चाहिए और वह व्यक्ति राजा हो सकता है। इस प्रकार हीगिल ने राजा को राज्य के व्यक्तित्व का धारणकर्ता अथवा राज्य का मूर्तरूप बना दिया। इससे उसके सिद्धान्त का तात्कालिक प्रभाव यह हुआ कि लोगों का ध्यान राज्य के प्रभुत्व के सिद्धांत की ओर से हट कर उसने राजा तथा प्रभुत्व का जो एकात्म्य स्थापित किया उसकी ओर चला गया। हीगिल सांविधानिक राजतंत्र को लोकतंत्र के मुकाबिले में निश्चित रूप से श्रेष्ठ मानता था।

हीगिल का कहना था कि प्रत्येक राज्य का संविधान उसके ऐतिहासिक विकास का परिणाम होना चाहिए; संविधान के सर्वोत्तम रूप के सम्बन्ध में विवाद करना अथवा संविधान की रचना करने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। उसके अनुसार सरकार की शक्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं: विधायी; प्रशासनीय जिसमें न्यायिक शक्ति भी सम्मिलित रहती है; और राजतंत्रीय। विधायी और प्रशासनीय शक्तियों का पृथक्करण वैविध्य के मूल्यवान सिद्धान्त का प्रतीक है; और राजतंत्रीय शक्ति एकता के सिद्धान्त का द्योतक है। विधायिका (व्यवस्थापिका) अनेक का प्रतिनिधित्व करती है, प्रशासन कुछ का और राजा एक का। इस प्रकार हीगिल ने राजतंत्रीय अभिजाततंत्रीय और लोकतंत्रीय तत्वों का सुन्दर समन्वय किया। उसने शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त का विरोध किया और कहा कि राजा तथा प्रशासक वर्ग को विधि के निर्माण में भाग लेना चाहिए ताकि कि राज्य की इच्छा की जैविक एकता सुरक्षित रह सके।

राज्य के बाह्य सम्बन्धों के विषय में हीगिल का कहना था कि प्रत्येक राज्य स्वतंत्र है और उस पर अपनी इच्छा के अतिरिक्त अन्य कोई कानून लागू नहीं होता। राष्ट्रों के परिवार के प्रत्येक सदस्य का व्यक्तित्व पूर्ण है, अतः नैतिकता के जो नियम व्यक्तियों के सम्बन्ध में लागू होते हैं वे राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में नहीं लागू किये जासकते। राज्यों के पारस्परिक करार अथवा समझौते अस्थाई होते हैं। किसी

सन्धि का उद्देश्य राज्य के विशिष्ट हितों की रक्षा करना होता है; इसलिये परिस्थितियों के बदलने पर संधियों की उपेक्षा की जासकती है। राज्य की रचना करने तथा उसके अस्तित्व को कायम रखने के लिये युद्ध अनिवार्य है, और पूर्णतया अवांछनीय भी नहीं है। युद्ध वास्तव में एक ऐसी भट्टी है जिसमें तप कर ही राज्य के "सच्चे व्यक्तित्व" का निर्माण होता है। अनन्त शान्ति से आन्तरिक भ्रष्टाचार उत्पन्न होता है, सफल युद्ध से आन्तरिक असन्तोष कम होता और राज्य की शक्ति बढ़ती है। राज्य के लिये एक ऐसे विशिष्ट वर्ग की बड़ी आवश्यकता होती है जो साहसी और युद्ध प्रिय हो और राज्य की सेवा में अपना बलिदान करने के लिये सदैव तैयार रहे।

फिख्टे की भाँति हीगिल का भी विश्वास था कि प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विशिष्ट आत्मा और संस्कृति होती है, और वह विश्व सभ्यता के विकास में विशिष्ट योग देता है। विश्व का इतिहास वास्तव में सार्वभौम आत्मा के क्रमिक विकास की प्रक्रिया है; और प्रत्येक युग में कोई विशेष जाति उस समय तक उद्भासित सार्वभौम आत्मा का प्रतिनिधित्व करती है। हीगिल का विश्वास था कि राज्य का जीवन आदर्श स्वतंत्रता की ओर अग्रसर होता है। इस धारणा के आधार पर उसने राजनीतिक विकास की चार अवस्थाएँ ढूँढ़ निकालीं: प्राच्य अवस्था जिसमें केवल निरंकुश-शासक स्वतंत्र था; यूनानी तथा रोमन जिसमें कुछ लोग स्वतंत्र थे; और जर्मन जिसमें सब स्वतंत्र थे। अपने देश और अपने समय की संस्थाओं को उसने मानवीय उन्नति की श्रेष्ठतम उपलब्धि बतलाया।

जर्मन विचारवादियों ने शुद्ध चिन्तन की धारणाओं को अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का आधार बनाया, निरीक्षण और अनुभव को नहीं। उन्होंने इस विचार का विकास किया कि राजनीति में इच्छा ही अन्तिम तत्व है। वे फ्रांसीसी क्रान्ति के उदारवादी सिद्धान्तों और विश्वबन्धुत्व के आदर्शों को लेकर चले किन्तु विरोधी दिशा में अग्रसर हुए और राष्ट्रीय राज्य का गौरवगान किया तथा विश्वास प्रकट किया कि जर्मन जाति ईश्वरीय उद्देश्य (मिशन) को पूरा करने के लिये उत्पन्न हुई है। स्वतंत्रता के स्थान पर उन्होंने सत्ता को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उनके विचारों से जर्मनी के एकीकरण की माँग को, फासीवाद के विकास को और जर्मन आधिपत्य के आक्रामक आदर्शों को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

पठनीय ग्रन्थ

Bosanquet, Bernard, *The Philosophical Theory of the State*, 3rd ed. (London, Macmillan, 1920)

Cairns, Hutington, *Legal Philosophy from Plato to Hegel* (Baltimore, Johns Hopkins Press, 1949). Chaps. 12-14.

Cassirer, Ernst, *The Myth of the State* **(New Haven, Yale Univ. Press, 1946), Chap. 17.**

Dewy, John, *German Philosophy & Politics* **(New York, Holt, 1915).**

Engelbrecht, H. C., *Johann Gottlieh Fithte* **(New York, Columbia Univ. Press, 1933).**

Forster, M. B., *The Political Philosophies of Plato & Hegel* (Oxford Univ. Press, 1935).

Heine, Heinrich, *Religion & Philosophy in Germany,* **trans. by** John Snodgrass (London, Kegan Paul, 1891), Part III.

Hobhouse, L. T., *The Metaphysical Theory of the State* (London, G. Allen, 1918).

Lindsay, A. D., *Kant* (London, Oxford Univ. Press, 1934).

Lukacs, Gyosgy, *Der Junge Hegel* (Zurich, Europa Verlag, 1948).

Marcuse, Herbert, *Reason & Revolution : Hegel & the Rise of Social Theory* (New York, Oxford Univ. Press, 1941).

McGovern, W. M., *From Luther to Hitler* (Boston, Houghton 1941). Part II.

Rosenz Weieig, F. *Hegel und der Staat*(Munich,Oldenbourg) 1928.)

अध्याय २५

वैगनॅर से लेकर चैम्बरलेन तक

प्रतिक्रिया की अनुवृत्ति

फ्रांसीसी क्रान्ति के विरुद्ध जो दार्शनिक प्रतिक्रिया हुई उसका प्रभाव अन्य क्षेत्रों में भी पड़ा।

कलाओं के क्षेत्र में रोमांटिकवाद (रोमांटिसिज्म) का प्राधान्य हो गया। **काउन्त आव मोन्ते क्रिस्तो** जैसे उपान्यास के नायकों, कार्ललाइल की रचनाओं और वैगनर के संगीत नाटकों ने वीर-पूजा का बीज बोया तथा यह विश्वास उत्पन्न किया कि प्रत्येक जाति की अपनी होतव्यता होती है जिसके अनुसार उसका उत्थान-पतन हुआ करता है। इन सब चीजों ने फासीवाद का मार्ग प्रशस्त किया।

व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप राष्ट्रीय भावना की वृद्धि हुई। लोग पहले से अधिक गौरव के साथ अपने-अपने राष्ट्रों की उत्पत्ति और विशिष्ट राष्ट्रीय भावनाओं का अध्ययन करने लगे। इतिहास में भी लोगों की रुचि बढ़ी और वे राजनीतिक समस्याओं को ऐतिहासिक दृष्टि से समझने का प्रयत्न करने लगे। ऐतिहासिक सम्प्रदाय के विचारकों ने इस धारणा का खंडन किया कि राज्य की रचना कृत्रिम रूप से और सोच-समझ कर की गई है और राजनीतिक संस्थाओं को इच्छानुसार बनाया बिगाड़ा जा सकता है। उन्होंने संविदा के सिद्धान्त को मानने से इन्कार किया और बतलाया कि राज्य का निर्माण अचेतन रूप से और ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया द्वारा हुआ है। इंगलैंड में बर्क तथा जर्मनी में ट्राइट्स्के और साविञी ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया।

फ्रांसीसी क्रान्ति के बुद्धिवाद और अनीश्वरवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई और धार्मिक सिद्धान्तों का वेग के साथ पुनरुत्थान हुआ। कहा गया कि मनुष्य की शक्ति को सत्ता का समुचित आधार नहीं माना जा सकता, राज्य के प्रभुत्व का वास्तविक स्रोत ईश्वर ही है। राज्य की उत्पत्ति मानवीय संविदा से नहीं, ईश्वर के समादेश से हुई है। द मेस्त्र, मार्की द बोनाल आदि फ्रांसीसी कैथोलिकों का यही मत था।

मानव विवेक के प्रति इस प्रकार अविश्वास की जो भावना उत्पन्न हुई उसने दर्शन में एक अबुद्धिवादी सम्प्रदाय को जन्म दिया। नीत्शे तथा पेरेतो इस सम्प्रदाय के प्रमुख नेता थे। उन्होंने सिखाया कि मनुष्य की बुद्धि संसार की समस्याओं को हल करने के लिये पर्याप्त नहीं है। अबुद्धिवादियों का विश्वास था कि बहुसंख्यक लोगों में बुद्धि

बहुत कम होती है और तत्वतः वे विवेक-शून्य होते हैं। जहाँ तक राजनीति का सम्बन्ध था उन्होंने संसदीय संस्थाओं का और लोकतंत्रीय धारणाओं का उपहास किया और इस फासीवादी विश्वास को बल दिया कि "हम अपने रक्त से सोचा करते हैं।"

अन्त में, उदारवादियों के समता के सिद्धान्त के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई, और गोबिन्यू तथा चेम्बरलेन ने नस्ल की प्रकृष्टता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

वैगनर और कार्लाइल

रिचार्ड वैगनर (१८१३-१८८३) की कृतियों में जर्मनी के रोमांटिकवाद की पराकाष्ठा देखने को मिलती है। अपने संगीत के द्वारा उसने जाति-पूजा और वीर पूजा की भावनाओं के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया।

वैगनर ने हर्डर के विचारों को अपनी धारणाओं का आधार बनाया और मध्ययुगीन जर्मनी की महानता का गुणगान करके जाति के महत्व को रोमांटिक ढंग से प्रस्तुत किया। अपने संगीत नाटकों के द्वारा उसने जर्मनी के अतीत संगीत, काव्य और लोक कथाओं का पुनः सृजन किया और अपने श्रोताओं को गौरव की एक सर्वव्यापी भावना के द्वारा एकता के सूत्र में बाँध दिया। उसने बतलाया कि महापुरुष वह विरला व्यक्ति होता है जिसमें अपनी जाति की भावना को हृदयंगम करने की सामर्थ्य होती है। एक अर्थ में वह अपनी जनता का प्राण होता है, और उसे अधिक गौरवमय सफलताओं की ओर लेजाता है। उसके द्वारा ही जीवन का सच्चा अर्थ प्रकट होता है। वैगनर ने जिन महापुरुषों का चित्रण किया उनमें भौतिकता का लेशमात्र भी न था ; किन्तु वे वैयक्तिक रूप मे जनता से घृणा करते थे, यद्यपि वैगनर का विश्वास था कि सामूहिक रूप से जनता महान सफलताएँ प्राप्त कर सकती है। वैगनर को उपयोगितावादी नैतिकता और मध्यवर्ग (बुर्जुआ) की तुच्छता से भी उतनी ही घृणा थी जितनी कि अन्य किसी साधारण चीज से। उसकी निगाह में आधारभूत संवेगों का दुर्दमनीय प्रवाह और आदिम शक्ति महानता के मुख्य तत्व थे।

इंगलैंड में टॉमस कार्लाइल (१७९५-१८८१)[१] ने इसी प्रकार के विचारों का प्रतिपादन किया। उसने उपयोगितावादी सिद्धांत का खंडन किया और लोकतंत्र की यह कह कर आलोचना की कि उसमें महानता का अभाव होता है और शासन की बागडोर औसत दर्जे के लोगों के हाथों में आजाती है। कार्लाइल के मन में जर्मन साहित्य के लिये बड़ी श्रद्धा थी और इस चीज का उसके चिन्तन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह इस धारणा से भी बहुत प्रभावित हुआ था कि संसार में विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिये महापुरुषों का जन्म हुआ करता है। अपने चार्टिज्म नाम के निबन्ध में उसने बत-

१. देखिये *Chartism* (1839) ; *Past & Present* (1843) ; *Shorting Niagara* (1867).

लाया कि नेता ऐसा होना चाहिए जो अन्तर्दृष्टि से सही मार्ग को देख सके। यदि साधारण लोगों को अपने ऊपर छोड़ दिया जाय तो उनका आचरण पागलों से अधिक अच्छा न होगा। आवश्यकता इस बात की होती है कि उन्हें घसीट कर अपने निर्दिष्ट की ओर लेजाया जाय। कार्लाइल का कहना था कि अच्छी सरकार वही है जोकि बुद्धिमान है, और मूढ़ भीड़ में बुद्धि नहीं पाई जाती। मतदाताओं को संख्या की गणना करके सत्य और बुद्धि का पता लगाना उपहासास्पद है। उसकी निगाह में इंगलैंड के २ करोड़ ७० लाख (यही उस समय इंगलैंड की जनसंख्या थी) आदमियों में से अधिकतर मूर्ख थे। उनसे अथवा उनके प्रतिनिधियों से शासन-सम्बन्धी पेचीदा समस्याओं के उत्तर की आशा करना मूर्खता थी और स्त्रियों के सम्बन्ध में उसका कहना यह था कि प्रभु ने उन्हें मूर्ख बनाया है जिससे कि वे पुरुषों की बराबरी न कर सकें।"[२]

प्रुशिया के इतिहासकार

राष्ट्रवादी आदर्श का, जिसने फासीवाद के विकास में इतना महत्वपूर्ण योग दिया, सबसे अच्छा समर्थन प्रुशिया के इतिहासकार हाइनरिख फोन ट्राइट्स्के (१८३४-१८९६) और फ्रेडरिख कार्ल फोन साविञी (१७७९-१८६१) ने अपनी रचनाओं में किया।

ट्राइट्स्के[3] ने देश-भक्ति की उस भावना को प्रज्वलित किया जिसके कारण प्रुशिया में बिस्मार्क को इतनी सफलता मिली और उस आक्रामक राष्ट्रवाद का निरूपण किया जिसका इस शताब्दी में जर्मनी के साथ विशिष्ट सम्बन्ध रहा है। उसने सिखाया कि जर्मनी को चाहिए कि अपनी राष्ट्रीय सीमाओं को पूरा करे, अपने विभिन्न तत्वों को आत्मसात करे और यदि आवश्यक हो तो नीची जातियों में अपनी संस्कृति का प्रसार करे।[४] उसने अपने ग्रंथों में इस बात को बार-बार दुहराया कि राज्य के निर्माण के लिये जो भी उपाय किये जायँ वे सब उचित हैं, उनसे चाहे व्यक्तियों का अहित होता हो और चाहे अन्य राष्ट्रों का। एक शक्तिशाली राज्य ही जर्मनी की संस्कृति का संरक्षण कर सकता और जनता में एकता तथा स्थिरता स्थापित कर सकता है।

ट्राइट्स्के ने अनेक वर्षों तक बर्लिन विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रधानाचार्य (प्रोफेसर) के पद पर कार्य किया। वहाँ सम्मानित लोग बड़ी संख्या में उसके व्याख्यानों को सुनने के लिये आया करते थे। उन्हें उसने जर्मनी की महानता और उसकी राष्ट्रीय

२. W. M. McGovern, *From Luther to Hitler* (1941), p. 198.
३. Die Politik (1899-1900).
४. ट्राइट्स्के का कहना था कि राष्ट्र की एकता जितनी अधिक युद्ध से सुदृढ़ होती है उतनी अन्य किसी चीज से नहीं। "उससे राष्ट्र का नाम जितना सार्थक होता है उतना और किसी चीज से नहीं हो सकता और राज्यों का विस्तार सदैव विजय द्वारा ही होता है।" *Politics* (1916), Vol. I, p. 108.

होतव्यता का उपदेश दिया। इतिहासकार के रूप में उसे सत्य जैसी नगण्य चीज की खोज से कोई प्रयोजन नहीं था। उसने जो कुछ कहा अथवा लिखा उसका एकमात्र उद्देश्य आक्रामक सैनिक नेतृत्व की अधीनता में जर्मनी के एकीकरण का सम्पादन करना था। हीगिल की भाँति प्रायः वह भी कहा करता था कि यही वास्तव में उदारवाद और स्वतन्त्रता का वास्तविक उद्देश्य है। किन्तु उसके अनुसार स्वतन्त्रता केवल राज्य के ही लिये हो सकती थो, व्यक्ति के लिये नहीं।

जहाँ तक जर्मनी के आन्तरिक मामलों का सम्बन्ध था ट्राइट्स्के ने हौहेनत्सोलर्न राजतंत्र का और प्रुशिया के अभिजातवर्गीय नेतृत्व का समर्थन किया। उसने यहूदियों की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाने का भी उपदेश दिया और इस प्रकार यहूदी-विरोधी आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया।

ट्राइट्स्के के मार्ग को सरल बनाने का मुख्य श्रेय साविञ्‍नी को था। जर्मनी के ऐतिहासिक सम्प्रदाय के निर्माण में साविञ्‍नी का महत्वपूर्ण प्रभाव था।

साविञ्‍नी ने १८१४ में ही विधि के स्वभाव तथा उत्पत्ति के सम्बन्ध में वे सिद्धान्त निरूपित कर दिये थे जिन्हें आगे चलकर ऐतिहासिक सम्प्रदाय ने अंगीकार कर लिया। उसका कहना था कि विधि की रचना राष्ट्र की सामूहिक चेतना द्वारा हुआ करती है, और राष्ट्रीय जीवन तथा चरित्र के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। उसकी रचना में अनेक पीढ़ियों का हाथ होता है, वह किसी निरंकुश इच्छा से व्युत्पन्न नहीं होती। उसका जनता की परिवर्तमान सामाजिक, आर्थिक और नैतिक परिस्थितियों के आधार पर विकास होता है। साविञ्‍नी ने दार्शनिक सम्प्रदाय का, जो कि अपने आदर्शों के अनुसार सुधार का काम करना चाहता था, विरोध किया, और परम्परा के महत्व पर बल दिया तथा परिवर्तन को खतरनाक बतलाया। उसका आग्रह था कि ऐतिहासिक परिस्थितियों का सावधानी से अध्ययन करना चाहिये और उनको यथासम्भव ठीक तरह से समझने की चेष्टा करनी चाहिए। उसका विश्वास था कि सुधार का काम तब तक स्थगित रक्खा जासकता है जब तक कि विधायकों के पथप्रदर्शन के लिये विश्वसनीय सिद्धान्तों की रचना न हो जाय। वह इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं था कि कानून मनुष्यों की आज्ञा से बनाये जा सकते हैं; उसने अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवाद की जड़ों पर प्रहार किया। उसका विधान सम्बन्धी सिद्धान्त उपयोगितावादियों के सिद्धान्तों का बिलकुल उलटा था। उसने नागरिकों के वैयक्तिक जीवन की तुलना में राज्य के जीवन को श्रेष्ठ ठहराया और जर्मनी में पूर्णरूपी निरंकुशवाद की प्रवृत्ति को जन्म दिया। उसका कहना था कि जनता तब तक राजनीतिक शक्ति प्राप्त नहीं कर सकती जब तक कि वह राज्य के रूप में संगठित नहीं होती; राज्य के द्वारा ही उसे व्यक्तित्व का प्रभुत्व उपलब्ध होता है। फिर भी प्रभुत्व किसी एक पीढ़ी की जनता में निवास

नहीं करता। राज्य के अन्तर्गत अतीत की तथा आनेवाली अनेक पीढ़ियाँ सम्मिलित रहती हैं। उसका राष्ट्र के जीवन तथा इतिहास से जैविक रूप में प्रादुर्भाव होता है। वह अन्तस्तल में क्रियावान सृजन शक्ति से उद्भूत होता है।

साविन्नी ने विधि के सम्बन्ध में जिस ऐतिहासिक धारणा का प्रतिपादन किया उसने उन्नीसवीं शताब्दी के बौद्धिक जीवन के लिये पृष्ठभूमि का काम दिया। उसने प्राकृतिक-अधिकार दर्शन को उसी की भाषा में चिनौती दी। उसने स्वीकार किया कि अधिकारों का मूल प्रकृति है, किन्तु प्रकृति का अर्थ उसने इतिहास लगाया, और कहा कि किसी राष्ट्र की संस्थाएँ उसकी परम्पराओं और अनुभव का सार होती है। उसने राष्ट्र के क्रमिक विकास का द्वार तो खुला रक्खा, किन्तु क्रान्तिकारी तरीकों का विरोध किया। इस ऐतिहासिक सम्प्रदाय के लेखकों ने सब मनुष्यों पर समान रूप से लागू होने वाले प्राकृतिक अधिकारों की खोज करना और सभी जातियों के लिये उपयुक्त आदर्श संस्थाओं की संरचना करना छोड़ दिया। उन्होंने प्रत्येक राष्ट्र की मौलिक विशेषताओं को ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न किया; उनका विश्वास था कि प्रत्येक राज्य का राजनीतिक संगठन और विधि-व्यवस्था उस सामाजिक प्रक्रिया की आवश्यक उपज होती है जिसके द्वारा उसकी राष्ट्रीय प्रतिभा का विकास होता है।

धर्म तथा राजनीति

राजनीतिदर्शन का एक ऐसा भी सम्प्रदाय था जिसने फ्रांसीसी क्रान्ति का इसलिये विरोध किया कि उसने धर्म विरोधी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया था। इस सम्प्रदाय के सब से अच्छे प्रतिनिधि फ्रांसीसी कैथोलिक जोजफ द मेस्त्र (१७५३-१८२१), मार्की द बोनाल (१७५४-१८४०) और राबर्ट द लामेनिया (१७८८-१८५४) हुए। इन लेखकों का फासीवादी परम्परा से सीधा सम्बन्ध नहीं है, फिर भी इनका महत्व है क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के अनुदार विचारकों में इनका प्रमुख स्थान था। इन्होंने निर्वासित सामन्तों के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया; इसके अतिरिक्त उन लोगों की भावनाओं को व्यक्त किया जो क्रान्ति की चर्च विरोधी नीति से घृणा करते तथा नेपोलियन द्वारा चर्च को अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं के अधीन करने के प्रयत्नों के विरोधी थे। उनकी निगाह में क्रान्ति अराजकता की स्थापना मात्र थी, मानव अधिकारों की घोषणा राजा का बध करने और सामंतों को निर्वासित करने का बहाना थी, और बुद्धि के प्रभुत्व का सिद्धान्त चर्च का दमन करने का तरीका था। उनका उद्देश्य था राजतंत्र की पुनः स्थापना करना, चर्च को राज्य के नियन्त्रण से मुक्त करना और पोपतंत्र के अन्य प्रभुत्व को कायम करना। उन्होंने बोसे के सिद्धांत को अपनाया और कहा कि ईश्वर ही सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत है। राजनीति तथा धर्म के क्षेत्र में व्यक्तिवाद के नाम पर जो अराजकता फैलाई गई थी उससे वे घबड़ा गये थे, इसलिये उन्होंने सत्ता और दैवी अधिकार के सिद्धान्तों का पुनः प्रतिपादन किया। बुद्धि की अपेक्षा उन्होंने परम्परा तथा

मध्यकाल पर जोर दिया, उनका विश्वास था कि राज्य ईश्वर के विवेक का प्रतिबिम्ब होना चाहिए न कि मनुष्यों के सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति। उनकी निगाह में बूर्बों राजतंत्र की पुनःस्थापना का अर्थ था ईश्वर की योजना की ओर पुन: लौटकर जाना, और फ्रांसीसी क्रांति एक ऐसी घटना थी जिसके दौरान में राष्ट्र ने ईश्वर की ओर से मुख मोड़ लिया था।

द मेस्त्र का विश्वास था कि कानूनों तथा संविधानों की रचना में मानवीय बुद्धि का प्रयोग करना निरर्थक है। संस्थाओं का स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुसार शनैःशनैः विकास होना चाहिए; और विधि संचित रूढ़ियों तथा परम्पराओं की प्रतिनिधि होनी चाहिए। कृत्रिम योजनाएँ कभी भी आशा के अनुकूल कार्य नहीं कर सकतीं। लोकतांत्रिक संविधान से कोई राष्ट्र स्वतंत्र नहीं हो सकता, और न अधिकारों की घोषणा से लोगों को स्वतंत्रता उपलब्ध हो सकती है। उसे अमरीकी तथा फ्रांसीसी क्रांतियों के लेख्यों तथा उस काल के लिखित संविधानों से घृणा थी; साथ ही साथ वह इस प्रचलित विश्वास को भी मूर्खतापूर्ण समझता था कि सरकार के संगठन के लिये आधारभूत और सार्वभौम सिद्धान्त हो सकते हैं। द मेस्त्र मोंतेस्क्यू से इस बात में सहमत था कि किसी जाति के कानून उसकी विशिष्ट परिस्थितियों से ही विकसित होने चाहिये; और अपने दृष्टिकोण के समर्थन के लिये उसने अपने इतिहास विषयक विशद् ज्ञान का प्रयोग किया।

किन्तु साथ ही साथ द मेस्त्र का राजनीति दर्शन तत्वतः मध्ययुगीन और धर्मतांत्रिक था। उसका विश्वास था कि चर्च तथा राज्य दोनों के लिये राजतंत्रीय प्रणाली आवश्यक है। उसने राजा के निरंकुश प्रभुत्व और पोप की प्रामाणिकता (आप्तता) का समर्थन किया और बतलाया कि ये दोनों चीजें ईश्वर की उस योजना के दो पहलू हैं जो उसने पृथ्वी के शासन के लिये बनाई है। सत्ता का स्रोत ईश्वर है, राज्य की उत्पत्ति मनुष्यों की इच्छाओं से नहीं हो सकती। मनुष्य स्वतंत्र नहीं है। ईश्वर की इच्छा के अनुकूल कार्य करके ही सफलता प्राप्त की जा सकती है। धर्म पर आधारित सत्ता से ही संसार की वर्तमान बुराइयाँ दूर हो सकती हैं। रोमन केथौलिक धर्म में ही ऐसी एकता, स्थायित्व और सत्ता है जिसके आधार पर व्यवस्था कायम की जा सकती है। अन्तिम सत्ता पोप के हाथ में होनी चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी में पोप ने जिन सिद्धांतों के आधार पर अपनी प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया वे द मेस्त्र की रचनाओं से लिये गये थे।

द बोनाल ने राज्य की विवेचना अपने तीन प्रवर्गों के आधार पर की : कारण, साधन और परिणाम। परिवार, चर्च और राज्य में से प्रत्येक में तीन प्रकार के तत्व होते हैं : प्रभुत्व धारण करनेवाला तत्व, प्रभु की इच्छा को क्रियान्वित करने वाला तत्व, आज्ञा का पालन करने वाला। राज्य में प्रभु ईश्वर है और राजा उसका प्रतिनिधि है। प्रभु के का अभिकर्ता सामन्त वर्ग है जिसका काम राज्य की सेवा करना है। और प्रजा,

का कर्त्तव्य है विनम्र भाव से आज्ञा का पालन करना। प्राकृतिक अधिकार तो धोखे में डालनेवाले स्वप्नों के सदृश हैं। असमानता प्रकृति का नियम है। मनुष्य नई संस्थाओं की रचना करने और नये संविधानों को बनाने के लिये जो सोच-समझ कर प्रयत्न करते हैं, वे सब निरर्थक हैं। बाईबिल तथा स्थापित परम्पराओं का अनुगमन करना ही उचित है। परिवर्तन बहुत ही बुरी चीज है; धार्मिक और राजनीतिक एकता अति आवश्यक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि द बोनाल सत्रहवीं शताब्दी के सिद्धान्तों और पांडित्यवादियों की तर्क पद्धति का अन्तिम महानतम प्रतिनिधि था।

लामेनिया ने भी बहुत-कुछ बोनाल के सिद्धान्तों का अनुगमन किया और उस काल की व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का विरोध किया तथा धर्म पर आधारित सत्ता को आवश्यक बतलाया। नेपोलियन ने चर्च का अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये प्रयोग करने का जो प्रयत्न किया था उससे लामेनिया को विशेष घृणा थी। राजतंत्र की पुनः संस्थापना के बाद उसने फ्रांस के रोमन कैथोलिकों के राजा तथा चर्च के बीच संघात्म सम्बन्ध स्थापित करने के सिद्धान्त (गैलीकन सिद्धान्त) का विरोध किया, क्योंकि उस का विश्वास था कि ऐसा करने से चर्च राज्य के अधीन हो जायगा। उसका आदर्श था चर्च का साम्राज्यवाद जिसका केन्द्र रोम हो, और जिसके अन्तर्गत चर्च राज्य से स्वतंत्र हो। इस विषय में लामेनिया का द मेस्त्र और द बोनाल से मतभेद था। उन्हें मुख्यतया राज्य में दिलचस्पी थी, और राजा का समर्थन करने के लिये ही उन्होंने धर्मतांत्रिक दृष्टिकोण अपनाया था। लामेनिया को धर्मनिरपेक्ष राजनीति में दिलचस्पी नहीं थी। वह तो केवल धर्म का भक्त था; और उसका उद्देश्य चर्च को राज्य के नियंत्रण से स्वतंत्र करना था। उसे फ्रांस के राजा तथा पादरी वर्ग से समर्थन की आशा नहीं थी, क्योंकि गैलीकन सिद्धान्त उन दोनों के लिये लाभदायक था। इसके अतिरिक्त वह यह भी समझता था पोप पेचीदा राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उसकी नीति को नहीं अपनायगा। इसलिये उसने अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाया और जनता तथा सम्पूर्ण पुरोहित वर्गों से अपील की और अन्तःकरण तथा शिक्षा की स्वतंत्रता पर बल दिया। चर्च ने उसकी भर्त्सना की, अतः उसके सिद्धांत और भी अधिक उग्र होते गये और अन्त में उसके एक सामयिक लुई ब्लैंक के साम्यवादी सिद्धान्तों के निकट जा पहुँचे।

नीत्शे तथा पेरेतो

फ्रीडरिख नीत्शे (१८४४-१९००)[५] तथा विलफ्रेदो पेरेतो (१८४३-१९२३) की रचनाएँ फासीवादी सिद्धांतों के अधिक निकट थी। नीत्शे अपने अतिमानव (सुपर-मैन) के सिद्धांत के लिये विशेष रूप से विख्यात है। इसी सिद्धांत ने अतिराज्य (सुपर-स्टेट) की धारणा को जन्म दिया। उसका विश्वास था कि विकास की प्रक्रिया के

5. Also *Sprach Zarathustra*. (1883-1885)

फलस्वरूप मानव जाति दो वर्गों में विभक्त हो जायगी—अतिमानव तथा वे लोग जो शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से निम्नकोटि के होंगे। संसार में प्रथम वर्ग के आधिपत्य का स्थापित होना अनिवार्य है, क्योंकि प्राकृतिक नियम उसी दिशा में ले जा रहे हैं। नीत्शे को आशा थी कि इस परिवर्तन के आते हो स्वर्ण युग आजायगा।

शोपेनहावर के विचारों[१] का अनुगमन करते हुए नीत्शे ने भी मनुष्य जीवन में अबौद्धिक तत्व को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया। उसका कहना था कि संसार एक ऐसे तत्व के द्वारा नियंत्रित होता है जो बुद्धि से भी अधिक आधारभूत है—वह तत्व है शक्ति प्राप्त करने की इच्छा। सभी चीजें अपने प्राकृतिक शत्रुओं पर विजय पाने के लिये संघर्ष किया करती है। जिनमें शक्ति की इच्छा सबसे अधिक बलवती है वे इस संघर्ष में अपने शत्रुओं को पराजित करने में सफल होते हैं; और उन शत्रुओं का सामाजिक उन्नति के मार्ग से हट जाना ठीक ही होता है। शक्ति के लिये यह संघर्ष हो वास्तव में प्रगति है, और इसमें जीवित वे ही बचते हैं जिनमें सबसे अधिक साहस और योग्यता होती है।

नीत्शे के मन में रूढ़िगत विचारों अथवा नैतिकता के लिये कोई सम्मान नहीं था। उसने ईसाइयत और लोकतंत्र दोनों पर ही प्रहार किया और कहा कि ये हीनता के सिद्धान्त हैं और इनके रचयिता दास मनोवृत्ति के व्यक्ति थे। ईसाइयत शक्तिशाली की दुर्बल पर विजय का विरोध करती है और इस प्रकार विकास के मार्ग में बाधा डालती है। लोकतंत्र बुद्धि तथा समानता में झूठा विश्वास उत्पन्न करता है।

पेरेतो इटली और स्विटजरलैंड के प्रोफेसरों के एक सम्प्रदाय का सदस्य था। उनका सिद्धान्त था कि सभी संगठनों में शासन वास्तव में श्रेष्ठ लोगों के एक आन्तरिक गुट के हाथों में हुआ करता है, वे चाहे लोकतंत्र की दुहाई देते हों अथवा न देते हों। इस सम्प्रदाय के विकास में पेरेतो का एक विशिष्ट योगदान था। उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि यही नहीं कि सब सम्प्रदाय इस प्रकार से संगठित होते हैं, बल्कि यह भी बतलाया कि उनके अधिकांश कार्य अबौद्धिक तत्वों द्वारा नियंत्रित हुआ करते हैं। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **द माइंड एण्ड सोसाइटी** (मन तथा समाज) में उसने लिखा है कि मनुष्य के आचरण को प्रभावित करनेवाले तत्वों में प्रमुख स्थान उनका है जो कि उपचैतन्य अथवा मूलप्रवृत्ति के स्तर पर कार्य करते हैं। "साहचर्य की प्रवृत्ति" अथवा एक विशाल समूह का सदस्य बनने को इच्छा, अपनी स्थिति की रक्षा करने की प्रवृत्ति, आत्म अभिव्यक्ति की आवश्यकता और यौन आचार सम्बन्धी सर्वसम्मत मान्यताओं के अनुकूल आचरण करने की आवश्यकता आदि तत्व सबसे महत्वपूर्ण हैं।

पेरेतो का तर्क था कि इन तथ्यों को देखते हुए लोकतंत्र अथवा सांविधानिक

१ देखिये शोपेनेहावर का ग्रन्थ *The World as Will and Idea.*

शासन की बात करना व्यर्थ जान पड़ता है। "हमें लोक प्रतिनिधित्व के मिथ्या आडम्बर में अपना समय नष्ट नहीं करना चाहिए।"

नस्लवाद

नस्ल की प्रकृष्टता का सिद्धान्त फासीवाद का अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व था। इसके जितने भयकंर और वीभत्स परिणाम हुए उतने अन्य किसी सिद्धान्त के नहीं हुए। इसके प्रतिपादक आर्थर द गोबीनो (१८१६-१८८२) और हाउस्टन स्टिवार्ट चेम्बरलेन (१८५५-१९२६) थे। इस सिद्धान्त का ही फल था कि जर्मनी में कितने भी सहस्र यहूदी मार डाले गये अथवा निर्वासित कर दिये गये।

गोबीनो वास्तव में इस सम्प्रदाय का संस्थापक था। उसकी विज्ञान की अपेक्षा कविता में अधिक रुचि थी, फिर भी उसने मानव नस्लों की असमानता पर आधारित एक नये विज्ञान की घोषणा की।

उसने कहा कि मनुष्य जाति को तीन स्पष्ट नस्लों में विभक्त किया जा सकता है—नीग्रो, चीनी और यूरोपीय। प्रत्येक नस्ल के अपने विशिष्ट गुण हैं, और अपने गुणों के अनुसार वह अन्य नस्लों की तुलना में प्रकृष्ट अथवा अवकृष्ट होती है। जहाँ तक बुद्धि का सम्बन्ध है नीग्रो नस्ल सबसे नीची और यूरोपीय सबसे ऊँची है। किन्तु कला और संगीत में नीग्रो श्रेष्ठ है। चीनियों में व्यावहारिकता और कानून पालन की क्षमता अधिक है, किन्तु उनमें इतनी शक्ति नहीं कि महान् नेताओं अथवा प्रतिभाशाली व्यक्तियों को जन्म दे सकें। गोरी जातियों में बुद्धि, शक्ति, साधनसम्पन्नता तथा सृजनात्मक शक्ति का प्राधान्य है, किन्तु ये गुण सब गोरी जातियों में समान रूप से नहीं पाये जाते। उदाहरण के लिये सामी जाति अन्य गोरी जातियों की तुलना में निम्न कोटि की हैं, क्योंकि वास्तव में वह गोरी तथा काली जातियों के मिश्रण से बनी है। गोरी जातियों में सबसे अधिक शुद्ध और सर्वश्रेष्ठ आर्य नस्ल है जो जर्मनी, इंगलैंड और फ्रांस के अभिजातवर्ग में पाई जाती है।

यद्यपि गोबीनो नस्ल की पूर्ण शुद्धता को वांछनीय नहीं मानता था, फिर भी उसका कहना था कि आर्य नस्ल अन्य निम्नकोटि की नस्लों के रक्त के मिश्रण से अशुद्ध होती जा रही है। यदि यह प्रक्रिया जारी रही तो सभ्यता का भविष्य संकट में पड़ जायगा।

चेम्बरलेन जन्म से अँग्रेज था, किन्तु जर्मनी में जाकर बस गया था। उसने जर्मनी में उक्त विचारों को लोकप्रिय बनाने के लिये बड़ा काम किया। उसकी पुस्तक **द फाउंडेशन्स ऑव द नाइनटीन्थ सेंचुरी** (उन्नीसवीं शताब्दी के आधार) का इतना अधिक प्रचार हुआ कि उसके प्रभाव के सम्बन्ध में अत्योक्ति करना कठिन है। कैज़र विलहेल्म द्वितीय उसे अपने बच्चों को जोर-जोर से पढ़कर सुनाया करता था, और जर्मनी के प्रत्येक पुस्तकालय में उसने उसकी प्रतियाँ रखवादी थीं।

गोबीनो की भांति चैम्बरलेन का तर्क था कि नस्लों की विशेषताएँ एक दूसरे से उतनी ही भिन्न होती हैं जितनी कि पशुओं की। कुत्तों की विभिन्न नस्लों के बीच जितना अन्तर देखने को मिलता है उतना ही अन्तर मनुष्यों की नस्लों के बीच मिलेगा।[७] आर्य नस्ल, और विशेषकर उसकी ट्यूटन शाखा, तात्विक गुणों की दृष्टि से अन्य नस्लों की तुलना में इतनी अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुई है कि कला, विज्ञान, दर्शन, धर्म और राजनीति में जो कुछ भी प्रगति हुई है उस सबका आदि स्रोत यही है। ट्यूटन जाति "हमारी संस्कृति का प्राण है। ...... यदि हम चारों ओर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि हर राष्ट्र का महत्व इस बात पर निर्भर है कि उसकी जनसंख्या में ट्यूटन रक्त का अनुपात कितना है।"[८] जर्मनी ऐसा राष्ट्र है जिसमें कि ट्यूटन नस्ल का रक्त सबसे अधिक है। इस विषय में जर्मन जातियाँ इतनी श्रेष्ठ हैं कि आगे अनेक शताब्दियों तक संसार का सांस्कृतिक और राजनीतिक नेतृत्व उन्हीं के हाथों में रहेगा।

पठनीय ग्रन्थ

Barker, Ernest, *Nietzsche and Treitschke, the Worship of Power in Modern Germany* (London, Oxford Univ. Press, 1914).

Borkenau, Franz, *Pareto* (New York, Wiley, 1936).

Butler, Rohan, *The Roots of National Socialism* (New York, Dutton, 1942).

Coker, F. W., *Recent Political Thought* (New York, Appleton-Century, 1934) Chaps. 11-12.

Hankins, F. H., *The Racial Basis of Civilization*, rev. ed. (New York, Knopf, 1934).

Homans, G. C. and Curtis, G.P., *An Introduction to Pareto* (New York, Knopf, 1934).

Jackson, Holbrook, *Dreamers of Dreams : The Rise and Fall of 19th Century Idealism* (London, Faber, 1948).

Lehman, B. H, *Carlyle's Theory of the Hero* (Durham, Duke Univ. Press, 1928).

McGovern, W.M. *From Luther to Hitler* (Boston, Houghton, 1941) Part III.

The Foundations of the Nineteenth Century, Vol. 1, p. 261.
वहीं, Vol. 1, p. 257.

Morgan, G. A. *What Nietzsche Means* (Cambridge, Harward Univ. Press, 1941).

Snyder, L. L., *Race, a History of Modern Ethnic Theories* (New York, Longmans, 1939).

Symons, Julian, *Thomas Carlyle* (New York, Oxford Univ. Press, 1952).

Viereck, Peter, *Metapolitics* (New York, Knopf, 1941).

अध्याय २६

फासीवाद

फासीवाद का स्वभाव

साम्यवाद की भाँति फासीवाद भी तत्वतः पाश्चात्य व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है, उस व्यवस्था के खिलाफ प्रतिक्रिया है जिसे फासीवादी "भ्रष्ट, आडम्बरपूर्ण, और पतनशील मध्यवर्गीय लोकतंत्र" कहकर पुकारते हैं। इसका प्रादुर्भाव उस आर्थिक और सैनिक संघर्ष से हुआ जो उन्नीसवीं शताब्दी की बाह्य शान्ति के अन्तस्तल में धधकता रहा और जिसकी परिणति प्रथम विश्वयुद्ध में हुई। यूरोप के अधिकतर निवासियों ने अहस्तक्षेप की नीति से उत्पन्न अव्यवस्था और विघटन का वास्तव में कभी भी स्वागत नहीं किया था। उन्होंने ससदीय लोकतंत्र के सिद्धान्तों को वास्तव में कभी भी स्वीकार नहीं किया था। उनकी दृष्टि में इन दोनों चीजों से शक्ति की वृद्धि नहीं हुई थी, बल्कि दुर्बलता आई थी। शक्ति संगठन से ही आसकती थी, और संगठन तभी कायम हो सकता था जबकि सब लोग किसी एक सिद्धान्त का अनुगमन करने को तैयार होते। उसके लिये एक ऐसे पंथ की आवश्यकता थी जोकि एक नये "धर्म" का काम दे सकता। अतः फासीवाद दो प्राथमिक सिद्धान्तों को लेकर चला, समग्रता और सत्ता—अंगों के मुकाबिले में समग्र की प्रधानता और वैयक्तिक मतों की तुलना में "सत्य" की सर्वोच्चता।

फासीवाद की सफलता के लिये संगठन तथा शक्ति की चाह के अतिरिक्त और भी कुछ चाहिए था। अतः उदारवाद की शक्तियों ने साम्यवाद तथा मन्दी के अतिरिक्त प्रहार के सामने ही घुटने टेके।

साम्यवाद को १९१७ में रूस में पैर टेकने को जगह मिल गई। इससे इटली और जर्मनी दोनों के ही सम्पत्तिधारी वर्गों के लिए संकट उत्पन्न होगया, और हजारों सफेदपोश मध्यवर्गीय लोग भयभीत हो उठे और आगे चलकर उन्होंने फासीवाद का समर्थन किया। इन लोगों को डर था कि लोकतंत्र साम्यवाद के इस ज्वार को नहीं रोक सकता। इटली के प्रतिनिधि सदन और जर्मनी की संसद ने उसे रोकने के लिये जो अधमने उपाय किये उनसे लोग ऊब गये। और यूरोप को "लाल आतंक" से बचाने के लिये एक नये नेतृत्व और भिन्न तरीके की आवश्यकता अनुभव होने लगी।

फासीवाद का जन्म मन्दी से हुआ, किन्तु अभाव और दरिद्रता ने उसका पोषण किया। भूखों मरने वालों को संसदीय प्रक्रिया और स्वतंत्रता की चर्चा से सन्तोष नहीं हो सकता। परिणाम यह हुआ कि जब इटली को प्रथम विश्व युद्ध में विजेताओं का साथ देने से लाभ कुछ नहीं हुआ बल्कि उलटे भयंकर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना

पड़ा, और जर्मनी में मुद्रास्फीति के बोझ के बाद मन्दी का संकट बढ़ा तो ऐसी स्थिति उत्पन्न होगई कि कोई नया ईश्वर आकर राष्ट्र का भार सँभाले।

विचारवाद तथा फासीवाद

एक दृष्टि से फासीवादी राजनीतिदर्शन का विकास पश्चशोचन के रूप में हुआ। इटली के सम्बन्ध में तो यह बात विशेष रूप से सत्य थी। वहाँ मुसोलिनी ने अपनी राजनीतिक सफलताओं के पश्चात् अपने आन्दोलन के सम्बन्ध में सिद्धान्त गढ़ लिये। किन्तु विस्तृत अर्थ में अन्य राजनीतिक घटनाओं की भाँति फासीवाद का प्रादुर्भाव भी अतीत के गर्भ से हुआ। रूसो की अव्यवस्थित रचनाएँ, जिनका निर्वचन विचारवादियों ने और परिवर्धन नीत्शे और चेम्बरलेन आदि लेखकों ने किया, वास्तव में फासीवाद की जननी थीं। उन्होंने मुसोलिनी जैसे व्यक्ति को उत्पन्न किया और नात्सियों के "एक जाति, एक राज्य और एक नेता" के मंत्र का मार्ग प्रशस्त किया।

पिछले अध्यायों में हम फासीवाद की सैद्धान्तिक परम्पराओं का विवेचन कर चुके हैं। यहाँ उनका सारांश देना पर्याप्त होगा। प्रमुख स्थान हीगिल के इस विश्वास का था कि राज्य साहचर्य का सर्वोत्तम रूप है और उसी के द्वारा किसी जाति के सब सदस्यों का जीवन पूर्ण और सार्थक हो सकता है। नेतृत्व के सिद्धान्त का भी उतना ही महत्व था—नेता दुर्लभ बुद्धिवाला वीर पुरुष होता है जो अपनी प्रजा रूपी सन्तान का वियाकान से उद्धार करने के लिये अवतार लेता है। अबुद्धिवाद का विकास, सत्तावाद की स्वीकृति और लोकतन्त्र का परित्याग तीसरा तत्व था। लोकतंत्र में स्वतन्त्र चुनावों के द्वारा व्यक्त हुई लोकेच्छा का महत्व था, उसके विपरीत फासीवाद में राज्य और नेता की आत्मा में निहित जनता की "वास्तविक इच्छा" को महत्व दिया गया। राष्ट्रवाद और विश्व-विजय की लिप्सा तथा नस्लगत् घृणा अन्य तत्व थे।

मुसोलिनी

राजनीतिक दृष्टि से फासीवाद का प्रारम्भ १९२२ में हुआ। उस वर्ष बेनीतो मुसोलिनी (१८८३-१९४५)[१] ने सरकार पर अधिकार करने के इरादे से अपने अनुयायियों को लेकर रोम पर धावा बोल दिया। सेना उसे मारकर भगा देती, बल्कि पुलिस ही खदेड़ देती, किन्तु जिन शक्तियों का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं उनके षडयंत्र से उसकी सफलता निश्चित हो गई। उसके रोम पहुँचने पर राजा ने उससे सरकार का निर्माण करने को कहा। अगले वर्षों में उसने क्रूरतापूर्वक सब विरोधियों का उन्मूलन करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर लिया। संसद तथा मजदूर संघों पर उसका नियन्त्रण कायम हो गया। १९३२ तक उसकी स्थिति सुरक्षित हो गई, अतः

---

१. *The Doctrine of Fasicism* (1932). यह फासीवादी सिद्धान्त का प्रारम्भिक अभिकथन है। मुसोलिनी ने इसे *Encyclopedia Italiana* के लिये लिखा था।

उसने अन्य चीजों की ओर ध्यान दिया और अपने कार्यों को अधिकारी ढंग से उचित ठहराने के लिये फासीवाद के सिद्धान्त की रचना कर ली।

साधारण तौर पर फासीवादी सिद्धान्त उन दो प्रतियोगी सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी जिनका फासीवादियों को मुकाबिला करना था। उनके "मुख्य शत्रु मार्क्सवादी थे। चूँकि वे अपने को भौतिकवादी बतलाते थे, इसलिये आवश्यक था कि फासीवाद उच्च प्रकार के राजनीतिक विचारवाद को अपना आधार बनाये। चूँकि मार्क्सवादी सभी प्रकार की राजनीति को आर्थिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब मानते थे, इसलिये आवश्यक था कि फासीवादी राज्य को औद्योगिक व्यवस्था का नेता तथा संचालक माने।"[2] और चूँकि मार्क्स ने सिखाया था कि उन्नति वर्ग-संघर्ष के द्वारा होती है, इसलिये फासीवाद को सिखाना चाहिए था कि उन्नति सर्वव्यापी राज्य का अभिन्न अंग बन कर ही की जा सकती है। उनके अन्य शत्रु लोकतन्त्रवादी थे जो स्वतन्त्रता की बहुत बात किया करते थे। उनका मुकाबिला करने के लिये जरूरी था कि एक उच्च प्रकार की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया जाय। और संसदवाद के पुराने तथा निकम्मे सिद्धान्तों के स्थान पर समाज का एक नया रूप प्रस्तुत किया जाय जो कि नैगम संगठन पर आधारित हो।

इन सिद्धान्तों को मुसोलिनी ने अपने लेख[3] के प्रथम खंड में इस प्रकार स्पष्ट किया।

फासीवाद की दृष्टि से यह ऊपर से दिखाई देनेवाला जगत वास्तविक जगत नहीं है। इस जगत में तो व्यक्ति अन्य सब लोगों से पृथक होकर स्वतंत्र और अकेला खड़ा हुआ दिखाई देता है, और उसका जीवन ऐसी प्राकृतिक विधि से शासित होता है जो उसे प्रवृत्ति से ही स्वार्थपूर्ण तथा क्षणिक आनन्द का जीवन बिताने के लिये प्रेरित करती है। फासीवाद ऐसे मानव का आदर्श प्रस्तुत करता है जो कि स्वयं राष्ट्र और पितृभूमि हो—पितृभूमि एक नैतिक विधि है जो व्यक्तियों तथा पीढ़ियों को एक परम्परा और एक उद्देश्य के सूत्र में बाँधती तथा क्षणिक आनन्द की प्रवृत्ति का दमन करती है ताकि व्यक्ति देश-काल की सीमाओं से मुक्त होकर कर्तव्य के उच्चतर जीवन का रसास्वादन कर सके। ऐसे जीवन का जिसमें वह अपने को मिटाकर, अपने निजी स्वार्थों का उत्सर्ग करके, यहाँ तक कि मृत्यु का भी आलिंगन करके, आध्यात्मिक जीवन का पूर्ण साक्षात्कार कर सके जिसमें कि उसके अस्तित्व की सार्थकता निहित है।

उसने आगे लिखा है कि फासीवाद उन्नीसवीं शताब्दी के दुर्बल सिद्धान्तों के

1. G. H. Sabnie, *A History of Political Theory*, (1937), p. 748.
2. *The Doctrine of Fascism*, trans. by Michael Oakeshott. *The Social & Political Doctrines of Contemporary Europe*, (1949).

विरुद्ध प्रतिक्रिया है। वह "ऐसे मानव का निर्माण करना चाहता है जो कर्मण्य हो और जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति निरन्तर कार्य में संलग्न रहे : वह ऐसा मानव बनाना चाहता है जो सामने आनेवाली सभी कठिनाइयों के प्रति पूर्णतया सचेत हो।"[४] "इसलिये जीवन एक अत्यन्त गम्भीर; कठोर और सरल तथा धार्मिक चीज है ...... फासीवाद आराम के जीवन से घृणा करता है।"[५]

यही नहीं, फासीवाद "एक इच्छा है जो विशिष्ट व्यक्तियों की इच्छाओं से भिन्न है और जो उन्हें ऊपर उठाकर आध्यात्मिक समाज का सचेत सदस्य बनाती है[६]। फासीवाद एक ऐतिहासिक धारणा है। "इतिहास के बाहर मनुष्य का कोई मूल्य नहीं है"[७] व्यक्ति का तभी कोई महत्व होता है जब कि वह राज्य के अंग के रूप में अपनी भूमिका अदा करता है, और **राज्य मनुष्य के ऐतिहासिक अस्तित्व की सार्वभौम इच्छा और अन्तःकरण है।......उदारवाद ने विशिष्ट व्यक्ति के स्वार्थों के लिये राज्य को अनंगीकार किया किन्तु फासीवाद राज्य को ही व्यक्ति की सच्ची वास्तविकता मानता है। अतः फासीवादी के लिये सब कुछ राज्य के अन्तर्गत ही है; राज्य के बाहर किसी मानवीय अथवा आध्यात्मिक चीज का अस्तित्व नहीं हो सकता, मूल्य का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसी अर्थ में फासीवाद समग्रवादी है, और फासीवादी राज्य सब मूल्यों और मान्यताओं की एकता है, वह जनता के सम्पूर्ण जीवन का निर्वचन करता, उसका विकास करता और उसे शक्ति देता है।**[८]

फासीवाद समाजवाद का भी विरोधी है, क्योंकि समाजवाद वर्ग-संघर्ष का पाठ पढ़ाता और एक नेता की अधीनता में वर्गों की एकता की उपेक्षा करता है[९]। उसी प्रकार वह लोकतंत्र का विरोध करता है। लोकतंत्र की सबसे बड़ी भूल यह है कि वह बहुसंख्यकों को ही राष्ट्र मान लेता है। राष्ट्र की धारणा गुणात्मक होनी चाहिए, संख्यात्मक नहीं। वह सर्वशक्तिमान विचार ही राष्ट्र है जो कुछ थोड़े से अथवा केवल एक व्यक्ति के अंतःकरण और इच्छा के रूप में राष्ट्र के जीवन में कार्य करता है।

अन्त में, फासीवाद शक्ति प्राप्त करने की इच्छा है जो यह मानती है कि यदि राज्य का प्रसार रुक जाता है तो उसका नाश हो जाता है।

इसलिये राज्य केवल वह सत्ता ही नहीं है जो व्यक्तियों की इच्छाओं को कानूनों का रूप और आध्यात्मिक जीवन का मूल्य प्रदान करती है, बल्कि ऐसी शक्ति

४. वहीं पृष्ठ 165।
५. वहीं।
६. वहीं।
७. वहीं।
८. वहीं, पृष्ठ 166।
९. वहीं।

भी है जो अपनी इच्छा को दूसरे देशों पर स्थापित करती, और उसका सम्मान बढ़ाती है; दूसरे शब्दों में वह अपने विकास की सभी आवश्यक दिशाओं में अपनी इच्छा की सार्वभौमता के तथ्य का प्रदर्शन करती है। इस प्रकार इसकी तुलना मनुष्य की इच्छा से की जा सकती है, जिसके विकास की सीमाएँ नहीं होतीं और जो अपनी असीमता की परीक्षा करके ही अपने को परिपूर्ण बनाती है।

जर्मन फासीवाद : राष्ट्रीय समाजवाद

ये विचार बहुत ही विचित्र प्रतीत होते हैं, और हमें इनसे भय भी होने लगता है, किन्तु जर्मनी के करोड़ों लोगों को ये इतने ऊटपटाँग नहीं प्रतीत हुए। उन्हें दर्शन के सौ वर्षों, युद्ध, मन्दी, रूसी साम्यवाद और दुर्बल शासन-व्यवस्था ने इसी प्रकार की विचार धारा को अंगीकार करने के लिये तैयार कर दिया था जो जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवाद के नाम से विख्यात हुई।

एडोल्फ हिटलर (१८८९-१९४५) के **जर्मन राष्ट्रीय समाजवादी दल** की स्थापना १९१९ में हुई।[१०] प्रारम्भ में वह असन्तुष्ट लोगों का छोटा सा गुट था। किन्तु हिटलर के नेतृत्व में, और उसकी संगठन सम्बन्धी प्रतिभा और उन्मादपूर्ण वक्तृता के कारण उसने शीघ्र ही अपने प्रतियोगी दलों को मात कर दिया। उसने सम्पूर्ण जर्मनी में उसकी शाखाएँ स्थापित कीं; एक समाचार पत्र की नींव डाली और एक अर्ध-सैनिक ढंग का संगठन कायम किया और उसका नाम **प्रभंजन वाहिनी** (स्टॉर्म ट्रूपर्स) रक्खा।[११]

अपनी प्रारम्भिक सफलताओं से प्रोत्साहित होकर १९२३ में हिटलर ने म्यूनिख पर धावा बोल दिया, किन्तु असफल रहा। इस उपद्रव के लिये उसे कारावास का दंड दिया गया, और **लांड्सबर्ग—आम लेख** के कारागार में रक्खा गया। वहीं उसने अपनी **माइन काम्फ** (मेरा संघर्ष) नामक आत्मकथा का अधिकांश लिखा। १९२४ में जब उसे क्षमा-दान मिला तो बाहर आकर उसने देखा कि उसका आन्दोलन नष्ट प्राय हो चुका है और जर्मनी में समृद्धि का युग आ गया है जो परिवर्तन के अनुकूल नहीं है। १९३० तक उसके दल ने कोई प्रगति नहीं की, किन्तु उस वर्ष की मन्दी के कारण राष्ट्रीय समाजवाद में लोगों की रुचि तेजी से बढ़ गई। सितम्बर १९३० के चुनावों में नात्सियों को संसद में १०७ सीटें मिल गईं, और मार्च १९३२ के राष्ट्रपति-पद के लिये हुए चुनाव में हिटलर को १३,०००,००० वोट मिल गये। जनवरी १९३३ में हिंडनबर्ग ने, जो यह समझने लगा था कि हिटलर ही देश को साम्यवाद के संकट से बचा सकता है, उसे प्रधानमन्त्री नियुक्त कर दिया।

जब एक बार हिटलर के हाथ में शक्ति आगई तो उसने अपनी स्थिति को

देखिये हिटलर रचित *Mein Kampf* (1925-1927).

1. W. M. McGovern, *From Luther and Hitler*, (1941) pp. 603-604.

सुदृढ़ बनाने में तनिक भी विलम्ब नहीं किया। उसने साम्यवादियों पर संसद को जलाने का आरोप लगाया, और प्रतिक्रिया की जो घोर लहर आई उसका लाभ उठाकर मार्च १९३३ के चुनाव में सभी लोकतांत्रिक दलों को परास्त कर दिया। तब तक हिंडन-बर्ग की मृत्यु होगई, जिससे उसके निष्कंटक आधिपत्य के लिये मार्ग साफ हो गया। १९३४ में तृतीय जर्मन समधिराज्य की घोषणा की गई, संसदीय संस्थाएं भंग कर दी गईं और हिटलर ने अपने को राष्ट्र का नेता घोषित कर दिया।

स्वामि नस्ल

नात्सी विचारधारा का अधिकारपूर्ण अभिकथन हिटलर[12] और रोजेनबर्ग[13] की रचनाओं में मिलता है। इन दोनों में रोजेनबर्ग की रचना कहीं अधिक स्पष्ट तथा विषय के निकट है। **माइन काम्फ** के सम्बन्ध में एक लेखक का कहना है कि सम्पूर्ण इतिहास में ऐसी कोई आत्मकथा नहीं मिलेगी जिसमें इतनी बे सिर-पैर की चीजें देखने को मिलें। उसे पढ़कर हम विचित्र चमत्कार की दुनिया में पहुँच जाते हैं, दृष्टि चकाचौंध हो जाती है और सभी चीजें विकृत रूप में दिखलाई देती हैं। ईसाइयत समाजवाद, लोकतन्त्र आदि विश्व के बड़े-बड़े आन्दोलन इस प्रकार चित्रित किये गये हैं मानों वे हिटलर के व्यक्तित्व के सामने नगण्य हों। बड़े-बड़े राष्ट्र और महाद्वीप हिटलर के पैरों के नीचे पड़े हुए दिखाई देते हैं। उसके विचार और रुचियाँ ही मानो सार्वभौम सत्य हैं और विश्व के करोड़ों लोगोंके भाग्य का निपटारा करेंगे।[14] सत्य तो यह है कि **माइन काम्फ** में हिटलर ने राष्ट्रीय समाजवाद के आधारमूल सिद्धान्तों की तर्क-संगत विवेचना नहीं की है। उसका मुख्य प्रयोजन तो प्रारम्भ से राष्ट्रीय समाजवाद के विकास की कहानी प्रस्तुत करना और यह दिखलाना है कि उसके परिवर्धन में स्वयं उसके व्यक्तित्व का क्या योग था। किन्तु "जनता तथा नस्ल"[15] नामक एक अध्याय में वह विस्तार से अपनी नस्ल सम्बन्धी धारणा की व्याख्या करता है, और इससे उसकी अन्य रचनाओं को समझने में सहायता मिलती है।

हिटलर सामाजिक डार्विनवाद और गोबीनो तथा चेम्बरलेन के नस्ल के सिद्धान्तों को लेकर चला और उनकी सहायता से उसने राजनीतिदर्शन को एक नया आधार देने का प्रयत्न किया। उसने बतलाया कि इतिहास व्यक्ति की मुक्ति का संघर्ष नहीं है, और न वर्गों के पारस्परिक संघर्ष की कहानी है। वह तो प्रकृष्ट नस्ल—आर्य नस्ल—की प्रतिभा के प्रस्फुटन का वृत्तान्त है। अनेक नस्लें जीवित रहने के लिये संघर्ष कर रही हैं, उनमें जो सर्वाधिक शुद्ध होती हैं वे ही सबसे अधिक शक्तिशाली सिद्ध होतीं

12. *Mein Kampf.*
13. *Der Mythus des 20. Johrhundents.*
14. Max Lerner, *Ideas Are Weapons* (1939), p. 356.
15. Vol. I, Chap. 11.

हैं।[१६] और सबसे शुद्ध आर्य नस्ल है, और विशेषकर उसकी वह शाखा जो जर्मनी में निवास करती है। इस दृष्टि से वह नस्ल अन्य नस्लों की तुलना में इतनी अधिक श्रेष्ठ है कि वही सभ्यता के जीवित रहने की एकमात्र आशा है। जब कभी भी इस नस्ल का अन्य नस्लों के साथ मिश्रण हुआ है तभी उसके परिणाम बड़े भयंकर हुए हैं।

इतिहास के अनुभव से हमें इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं। बड़ी भयावह स्पष्टता से हमें यह चीज देखने को मिलती है कि जब कभी आर्य रक्त का निम्न कोटि की जातियों के साथ सम्मिश्रण हुआ है तभी सभ्य और संस्कृत जनता का अन्त होगया है। उत्तरी अमेरिका की जनसंख्या में जर्मन नस्ल का अंश सबसे अधिक है। उसका वहाँ की निम्नकोटि की रंगीन जातियों के साथ थोड़ा-सा मिश्रण हुआ है। उस मिश्रण से जो जनता और संस्कृति उत्पन्न हुई है वह केन्द्रीय और दक्षिणी अमेरिका की जनता और संस्कृति से भिन्न है, जहाँ कि लातीनी (लैटिन) नस्ल का आदिवासियों के साथ बड़े पैमाने पर मिश्रण हुआ। इस एक उदाहरण से नस्लगत मिश्रण का प्रभाव स्पष्ट रूप से समझ में आजाता है। अमरीकी महाद्वीप के जर्मन निवासी, जो नस्ल की दृष्टि से शुद्ध और अमिश्रित रहे, महाद्वीप के स्वामी बन गये; और वे तब तक स्वामी बने रहेंगे जब तक कि वे रक्त की अपवित्रता के शिकार नहीं बन जाते।[१७]

हिटलर का निष्कर्ष था कि प्रकृति की भी यही इच्छा है कि नस्लों के भेद कायम रहें, जहाँ कहीं इस इच्छा का उल्लंघन किया जाता है वहाँ दंड अवश्य मिलता है और जातियों का पतन होने लगता है।

नस्लों की पवित्रता को कायम रखना ही आवश्यक नहीं है ; यह भी भली-भाँति स्मरण रखना है कि कुछ नस्लें दूसरी नस्लों से स्पष्टतया प्रकृष्ट होती हैं। उनमें आर्य नस्ल सर्व श्रेष्ठ है। "मनुष्य जाति की सम्पूर्ण संस्कृति, कला, विज्ञान और प्रविधि की सभी उपलब्धियाँ जोकि आज हमारे सामने हैं, केवल आर्य नस्ल की सृजनात्मक प्रतिभा का परिणाम हैं।"[१८] अन्य नस्लों की परीक्षा करने पर पता लगेगा कि उनमें से किसी ने सृजन का कार्य नहीं किया है, उनमें केवल धारण करने की क्षमता पाई जाती है। उनके विकास का चित्र सदैव निम्न प्रकार का देखने को मिलेगा :

आर्य नस्लें प्रायः संख्या में अति अल्प होने पर भी विदेशी जातियों को अपने अधीन कर लेती हैं, और फिर वे नई भूमि की परिस्थितियों (उर्वरापन, जलवायु

Mein Kampf, p. 284, ff. देखिये राल्फ मानहाइम (Ralfh Manheim) का अंग्रेजी अनुवाद जो हाउटन मिफिन (Houghton Miflin) कम्पनी द्वारा १९४३ में प्रकाशित किया गया था।

Mein Kampf, p. 6.

वहीं, p. 290.

आदि) से उत्तेजित होकर निम्न कोटि के अगणित मनुष्यों से, जोकि सहायकों के रूप में उनकी सेवा करने के लिये सदैव उनके सामने खड़े रहते हैं, सहायता पाकर ये अपनी अन्तर्निहित मानसिक तथा संगठनात्मक शक्तियों का विकास कर लेती हैं। प्रायः कुछ सहस्राब्दियों, बल्कि शताब्दियों में ही, वे ऐसी संस्कृतियों की रचना कर लेती हैं जिनमें उनके स्वभाव की सभी मूल विशेषताएं सम्मिलित रहती हैं और जो साथ ही साथ भूमि तथा विजित जातियों के उपर्युक्त गुणों के भी अनुरूप होती हैं।[१९]

किन्तु हिटलर ने बतलाया कि कालान्तर में विजेता लोग नस्लगत शुद्धता के आधारभूत नियम का उल्लंघन करते हैं। वे नीची किस्म की नस्लों के साथ मिलने लगते जैसे, कि आज वे जर्मनी में यहूदियों के साथ मिल रहे हैं। इस चीज़ को बन्द करना चाहिए।

हिटलर और रोजेनबर्ग दोनों का ही कहना था कि यहूदी लोग उन सब बुराइयों के अवतार हैं जिनका शिकार आज जर्मनी हो रहा है। जर्मनी के विरुद्ध जो अन्तर्राष्ट्रीय कुचक्र चलाये जा रहे हैं उनमें यहूदियों का हाथ है। वे देश की सारी सम्पत्ति हड़पने में लगे हुए है। सच्चे नात्सियों का यहूदी ही सबसे बड़ा शत्रु है। हिटलर ने नात्सी आन्दोलन को बल देने के लिये यहूदियों के प्रति घृणा का ही सबसे अधिक सहारा लिया। जो घृणा उसने उनके विरुद्ध भड़काई उसकी कोई सीमा नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि नात्सियों ने यहूदियों को जर्मनी से मार भगाने अथवा उनका पूर्णरूपेण मूलोच्छेद करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। और जब इंगलैंड तथा संयुक्त राज्य में उनके इस अमानुषिक कार्य के विरुद्ध आवाज़ उठाई गई तो उन्होंने उत्तर दिया कि हमारी यहूदी विरोधी नीति के विरुद्ध जो तर्क दिये जा रहे हैं वे इतने मूर्खतापूर्ण हैं कि उनका खंडन करने की आवश्यकता नहीं। यहूदी लोग परोपजीवी पशुओं से तनिक भी अच्छे नहीं हैं, अतः उनका उन्मूलन करना ही ठीक है। जब तक जर्मनी में एक भी यहूदी विद्यमान है तब तक संसार को सबसे बड़ी संस्कृति खतरे में है। "इतिहास से स्पष्ट है कि जो राष्ट्र यहूदियों को अपने में अंगीकार कर लेते हैं और उन्हें वे सब अधिकार दे देते हैं जिनका वे स्वयं उपभोग करते हैं तो यहूदी-विष से वे शीघ्र ही अथवा कुछ बिलम्ब से नष्ट हो जाते हैं।[२०]

नेता तथा समग्रवादी राज्य

नेतृत्व का सिद्धान्त राष्ट्रीय समाजवाद का अन्य उल्लेखनीय पहलू है। नात्सियों की आशा थी कि उनके नेता एडोल्फ हिटलर का महान् व्यक्तित्व जर्मन समाज के सभी तत्वों को एकता के सूत्र में बाँधने में समर्थ होगा। वह एक ऐसा आप्त नेता होगा जो राष्ट्र की लोक भावना को भलीभाँति समझ सकेगा।

१९. वहीं, पृ० २९१-२९२.
20. *Nazi Guide to Nazism* (1942), p. 114 ff.

इस सिद्धान्त की सबसे अच्छी व्याख्या अर्नेस्ट हूबर के ग्रन्थ[२१] में मिलती है, जिसका प्रकाशन १९३९ में हुआ था। हूबर का कहना है कि नेता की आवश्यकता इस लिये होती है कि "संसदीय मतों के द्वारा जनता की सच्ची इच्छा का पता नहीं लग सकता।"[२२] शुद्ध और अविकृत रूप में जनता की इच्छा नेता द्वारा ही व्यक्त हो सकती है।[२३] लोकतांत्रिक देशों में जनता की इच्छा वास्तव में स्वार्थों के संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती है। तृतीय जर्मन राज्य में नेता के द्वारा व्यक्त हुई सामूहिक इच्छा जर्मन जाति की वास्तविक ऐतिहासिक महानता का प्रतीक है। निजी स्वार्थ सामूहिक स्वार्थों में विलीन हो गये हैं।

नेता किसी विशिष्ट समूह का "प्रतिनिधि" नहीं है, जिसकी इच्छाओं को क्रियान्वित करना उसका काम हो। वह केवल कार्यपालक अभिकर्ता के अर्थ में राज्य का "अंग" नहीं है। बल्कि वह स्वयं जनता की सामूहिक इच्छा का धारण करने वाला है। उसकी इच्छा के द्वारा जनता की इच्छा पूर्ण होती है। जो जनता की भावनाएँ मात्र हैं उन्हें वह सचेत इच्छा का रूप प्रदान करता है।......इस प्रकार जिस जनता की वह सेवा करता है उसकी सच्ची इच्छा के नाम पर वह जनता के भीतर सम्मिलित व्यक्तियों के विषयगत मतों और विश्वासों के विरुद्ध भी कार्य कर सकता है, यदि वे मत और विश्वास जनता की वास्तविक होतव्यता से मेल नहीं खाते......वह स्वयं जनता की सामूहिक इच्छा का निरूपण करता है, और वैयक्तिक स्वार्थों के विरुद्ध जनता की समग्रता और राजनीतिक एकता का मूर्तरूप है।[२४]

नेता ही सम्पूर्ण सत्ता का केन्द्र था। कानून बनाना और राष्ट्रीय जीवन के महान् उद्देश्यों को निर्धारित करना उसी का काम था। वही उन सब योजनाओं को बनाता जिनके द्वारा राष्ट्र की शक्तियों का उपयोग किया जा सकता। नेता के लिये यह आशा करना सर्वथा उचित था कि उसके इस महान् कार्य में जर्मन जनता पूर्ण सहयोग देगी। ऐसी कोई चीज़ नहीं हो सकती थी जो कि राज्य की शक्ति के परे होती क्योंकि जर्मनी की महानता के अनन्य उद्देश्य के आगे सभी चीजें तुच्छ थीं। शिक्षा, उद्योग और संस्कृति सभी चीजें राष्ट्रीय शक्ति का अंग थी, इसलिये उन पर राज्य का नियन्त्रण आवश्यक था। कोई संगठन, चाहे राजनीतिक होता और चाहे धार्मिक, राष्ट्र की समग्र

Verfassungsrecht des grossdeutschen Reiches (Constitutional Law of the geater German Reich). References to this work are to excerpts contained in a State Department publication entitled *National Socialism* (1943).
वहीं, पृष्ठ 34।
वहीं।
वहीं पृष्ठ 35।

योजना का अंग बन कर ही कायम रह सकता था, उससे स्वतंत्र और पृथक रहकर उसे जीने का अधिकार नहीं था। इस प्रकार जीवन का पूर्ण नियंत्रण और नियमन पूर्ण हो गया।

जर्मनी में वाईमर संविधान के अन्तर्गत लोकतांत्रिक शासन-प्रणाली की स्थापना हुई थी। उसके दस वर्ष से भी कम में वहाँ की सरकार संसार की एक सर्वाधिक सत्ता-वादी और समग्रवादी सरकार बन गई। और हम सब की इच्छाओं के विपरीत जर्मनी की जनता को इस परिवर्तन से कोई खेद नहीं हुआ।

राजनीति में अबुद्धिवाद तथा कलाकार का स्थान

नात्सियों ने सांविधानिक शासन-प्रणाली की ही उपेक्षा नहीं की, उन्हें पश्चिम की "बौद्धिकता" से भी घृणा थी। हिटलर का कहना था कि "एक कर्मण्य व्यक्ति हजार बौद्धिक बकवासियों से अच्छा होता है—वे वास्तव में राष्ट्र के क्षेप्य उत्पादों की भाँति निरर्थक हुआ करते हैं।"[२५] नात्सियों के लिये बौद्धिकों को सन्देह की निगाह से देखना ठीक ही था। राष्ट्रीय समाजवाद के सिद्धान्त ऐसे थे कि वे बकवासियों की भी आलोचना के सामने नहीं टिक सकते थे। नात्सीवाद तो जनता के सामूहिक आवेगों (संवेगों) पर जिन्हें हिटलर और गोइबिल्स नियंत्रित कर सकते, पनप सकता था। अतः उनके लिये चिन्तन पर आधारित दर्शन की अपेक्षा कार्य पर आधारित दर्शन अधिक उपयोगी था, और बुद्धि की अपेक्षा संवेगों का अधिक महत्व था।

इस दृष्टिकोण के लिये दार्शनिक समर्थन ढूंढ़ निकालना कठिन नहीं था। रूसो ने बुद्धि के प्रति जो अविश्वास प्रकट किया था और उन्नीसवीं शताब्दी के बुद्धिवाद के खिलाफ जो विद्रोह किया था वह नात्सियों के इस नारे से कि "हम अपने रक्त से सोचते हैं" एक ही कदम पीछे था।[२६] इसलिये राष्ट्रीय समाजवाद के लिये पश्चिम के बुद्धिवाद के खिलाफ नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना अपेक्षाकृत सरल था। महान् नेता की प्रतिभा, आदिम संवेगों की शक्ति और इच्छा तथा कार्य की सृजनशीलता और निश्चया-त्मक अभिव्यक्ति--ये नये सिद्धान्त थे जिनका नात्सियों ने प्रतिपादन किया।[२७]

नात्सियों ने "खोखले बुद्धिवाद" तथा अपने दर्शन के बीच भेद स्पष्ट करते हुए कहा कि हमारा दर्शन "आलोचनात्मक नहीं, सृजनात्मक है; ऊपरी नहीं, गम्भीर है; रूढ़ नहीं, प्राकृतिक है; और यथारीति नहीं, निरंकुश तथा अनियंत्रणीय है।[२८] उनका

२५. ३० जनवरी १९३९ को संसद के समक्ष दिये गये भाषण से।
२६. देखिये पीछे अध्याय २५।
२७. G. H. Sabine, *A History of Political Theory*, rev. ed. (1950), p. 865.
२८. वहीं।

कहना था कि साक्ष्य की परीक्षा और समीक्षा करना तो "मध्यवर्गीय (बुर्जुआ) गुण है और नई व्यवस्था की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल" हैं ।[२९] हिटलर ने कहा कि राष्ट्रीय समाजवाद का यह सिद्धान्त है कि कुछ चीजें तो सदैव विवाद के परे हुआ करती हैं । "कौन व्यक्ति अपने छोटे तथा औसत दिमाग से" शाश्वत मूल्यों का विवेचन करने का "साहस कर सकता है" ? इन चीजों का निर्णय तो शताब्दियों में होता है, "साधारण और छोटे लोगों की बुद्धि" उनका निर्णय नहीं कर सकती ।[३०] हिटलर का तर्क था कि व्यक्ति का कल्याण इसी में है कि वह भक्तिपूर्वक अपने को सार्वजनिक हित की वेदी पर अर्पित करदे, और अपनी क्षुद्र बुद्धि का भरोसा छोड़ कर नेता की प्रतिभा और कौशल का अनुगमन करे ।

नात्सी नेताओं का विश्वास था कि हमने "राजनीति की कला" नाम की एक ऐसी वस्तु ढूँढ़ निकाली है जो बुद्धि से परे है और जिसे केवल हमीं समझ सकते हैं । हिटलर की धारणा थी कि कलाकारों में मैं सबसे महान हूँ और अपने कौशल द्वारा जनता को—जिससे उसे घृणा थी—एक महान राष्ट्र का रूप दे सकता हूँ । उसका कहना था कि कला के बिना राजनीति प्रेरणा-शून्य होती है, और जीवन में प्रेरणा ही वास्तव में सब कुछ है । जिन नेताओं में कला के लिये प्रेम नहीं होता वे सदैव द्वितीय श्रेणी के नेता हुआ करते हैं । एक बार हिटलर ने अपने को ध्यान में रखकर कहा था, "जिसे ईश्वर ने विश्व के समक्ष जनता की आत्मा का उद्घाटन करने के लिये उत्पन्न किया है, वह उस सर्वशक्तिमान प्रेरक सत्ता की शक्ति के अधीन कार्य करता हुआ कष्ट सहन करता है, जो कि उसकी प्रभु है ; वह बोलता है चाहे संसार उसकी बात भले ही न समझे, और चाहे उसे उसकी बात समझने की इच्छा भी न हो; वह सब कष्टों को सहेगा, किन्तु एक बार भी उस ज्योति को धोखा नहीं देगा जो उसके हृदय में प्रज्वलित होती और उसका नेतृत्व किया करती है ।"[३१]

क्रियाशील व्यक्तियों को राजनीतिक सिद्धान्तियों से सदैव चिढ़ रही है । अब फासीवाद के आगमन से उन्हें एक नये भयावह तत्व का सामना करना पड़ रहा है—वह राजनीतिक कलाकार ।

रहने के लिये स्थान

रक्त सम्बन्धी सिद्धान्त, तथा समग्रवादी राज्य और राजनीति में कलाकार के स्थान का विवेचन करके नात्सियों ने अन्त में भूमि विषयक सिद्धान्त की ओर ध्यान दिया । उनकी धारणा थी कि जर्मन जाति के पास रहने को पर्याप्त स्थान नहीं है,

---

[२९] वही ।
[३०] म्यूनिख में जनवरी २२, १९३८ को दिये गये हिटलर के एक भाषण से ।
[३१] १९३३ में राष्ट्रीय समाजवादी दल की कांग्रेस के सामने भाषण करते हुए ।

इसके लिये अधिक भूमि की आवश्यकता है। उनका उद्देश्य था कि यूरोप के हृदय स्थल में जर्मन राज्य स्थित हो और उसके द्वारा विजित गैर-जर्मन राज्य उसे चारों ओर से घेरे हों।[३२]

यह धारणा अनेक दशकों से जर्मन लोगों के मन में भड़क रही थी। रैटज़ल, कजैलन, हाउसहोफर आदि लेखकों ने यह विश्वास फैला रक्खा था कि जो जीव (ऑर्गेनिज्म) अपना प्रसार नहीं करता वह मर जाता है। अपनी ऐतिहासिक होतव्यता को पूरा करने के लिये जीव को रहने के स्थान की आवश्यकता होती है, जिसमें कि उसकी अभिवृद्धि हो सके। फ्रीडरिख रैटजल[३३] ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राजनीतिक भूगोल (पॉलटिकल जियोग्रफी) में लिखा कि राष्ट्र की अभिवृद्धि पर राजनीतिक संगठन का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि भूगोल का पड़ता है। विश्व के सांस्कृतिक क्षेत्रों के बीच रहने के स्थान के लिये जो संघर्ष चला करता है उसी से इतिहास की गति को प्रेरणा मिलती है। स्वीडन के राजनीति शास्त्री रुडोल्फ कजैलन (१८६४-१९२२)[३४] ने जर्मनी में इन विचारों को लोकप्रिय बनाने के लिये बहुत काम किया। उसका कहना था कि जर्मन जाति सबसे योग्य है, इसलिये रहने के स्थान के संघर्ष में उसी की विजय होगी। उसने एक योजना भी तैयार की जिसमें बतलाया कि जर्मनी को किस प्रकार विजय का कार्य करना चाहिए। कार्ल हाउसहोफर (१८६९-१९४६) ने अंग्रेज भूगोलविद एच० जे० मैकिंडर के "हृदय-स्थल" के विचार का विकास किया और उसके आधार पर नात्सियों की भू-राजनीति का अधिकारी ढंग से समर्थन किया। मैकिंडर ने इंगलैंड को चेतावनी दी थी कि यदि यूरोप के हृदयस्थल पर, जिसमें पूर्वी यूरोप और पश्चिमी एशिया भी सम्मिलित हैं, जर्मनी अथवा रूस का नियन्त्रण बना रहा तो आधिपत्य के लिये होनेवाले संघर्ष में समुद्री शक्तियों को स्थलीय शक्तियों के मुकाबिले में हार खानी पड़ेगी। उसका कहना था कि "जिसका इस क्षेत्र पर शासन होगा वही हृदय स्थल का स्वामी बनेगा। जिसका हृदय स्थल पर शासन होगा वही विश्व-द्वीप (यूरोप, एशिया और अफ्रीका) का अधिपति होगा। जिसके हाथ में विश्व-द्वीप का शासन होगा, वह सारे संसार का स्वामी बन जायेगा"[३५] हाउसहोफर के दिमाग में इस कथन का अर्थ स्पष्ट था कि जर्मनी का भविष्य पूर्व की ओर है। यदि वहाँ उसे सफलता मिल गई तो फिर उसकी क्षितिज की कोई सीमा नहीं रहेगी।

हाउसहोफर की प्रेरणा से नात्सियों ने उपर्युक्त सिद्धान्त को अपने दल की नीति

३२. Sabine, op. cit., p. 891.
३३. *Anthropogeographie* (1882-1891) *Politische Geographie* (1897).
३४. *Stormakterna* (1905), *Staten Som lifsform* (1916), *Grundreiss zu einem Systim der Politik* (1920).
३५. *Democratic Ideals and Realities* (1919), p. 150.

का एक अंग बना लिया। माइन काम्फ में हिटलर ने लिखा कि जातीय राज्य की वैदेशिक नीति का उद्देश्य जाति (नस्ल) के अस्तित्व की रक्षा करना होना चाहिये। जहाँ तक जर्मनी का सम्बन्ध है, यह उद्देश्य तभी पूरा हो सकता है जबकि पूर्वीय राष्ट्रों की भूमि छीनकर उसके क्षेत्र का विस्तार किया जाय।[३६] पहले जर्मनी ने पश्चिम और दक्षिण की ओर प्रसार करके भूल की। हिटलर का कहना था कि जर्मनों को यूरोप के हृदय स्थल की ओर अपनी दृष्टि करनी चाहिए। "हमारे दिमाग में केवल रूस तथा उसकी सीमाओं पर स्थित उसके अधीन राज्य ही आ सकते हैं।"[३७]

इन सिद्धान्तों के अन्य पहलुओं को भी नात्सियों ने चाव के साथ अंगीकार किया। उनसे अति-जनसंख्या[३८] की समस्या ही हल नहीं होती थी, बल्कि उनके नस्ल सम्बन्धी सिद्धांतों की पूर्ति में भी सहायता मिलती थी। जमन नस्ल की प्रकृष्टता में विश्वास करने वाले दो अन्य सिद्धांतों को भी मानते थे। पहला यह कि सब जर्मनों को विदेशी आधिपत्य से मुक्त कराया जाय और उन्हें वृहत्तर जर्मनी में सम्मिलित किया जाय।[३९] और दूसरा यह था कि नीची कोटि की जातियों पर जर्मन जाति का आधिपत्य स्थापित किया जाय और बाध्य किया जाय कि वे उसके आदेशानुसार आचरण करें। इस प्रकार संसार की महानतम साम्राज्योय शक्ति बनना और नीची जातियों को संस्कृति तथा संगठन प्रदान करना जर्मनी का मुख्य उद्देश्य बन गया। युद्धि, विजय तथा "भूराजनीति" द्वारा जर्मनी को संसार पर अपना शासन स्थापित करना है, यह धारणा जर्मनों के मनमें दृढ़ता से बैठ गई।

फासीवाद का भविष्य

बड़े सन्तोष की बात यह है कि द्वितीय विश्व युद्ध ने नात्सियों के इन उद्देश्यों को पूरा नहीं होने दिया। किन्तु यह सोचना गलत होगा कि फासीवाद मर चुका है। फासीवाद आधारभूत समस्या का एक पहलू है जिसे हम अभी तक हल नहीं कर पाये हैं। पश्चिमी उदारवाद ने व्यक्तिवाद का एक ऐसा रूप उत्पन्न किया है जिसने बहुत कुछ अंशों में समुदाय, सत्ता और उद्देश्य का स्थान ले लिया है। उसने मनुष्यों को स्वतन्त्रता तो प्रदान की है, किन्तु उन्हें अकेला छोड़ दिया है। हम किसी के हैं, इस भावना से जो सन्तोष मिलता है उससे वे वंचित हैं। और न उन्हें कोई ऐसा निर्देश देने वाला है जिससे कि उनका वैयक्तिक निर्णय अनावश्यक हो जाय; और न उनके सामने कोई ऐसे आकर्षक उद्देश्य हैं जो उनका आह्वान करते हों। इसके अतिरिक्त उदारवाद अनन्त विवादों, सांविधानिक प्रक्रियाओं, भ्रष्टाचार और अयोग्यता का भी शिकार है।

---

६. *Mein Kampf*, pp. 642-643.
७. वहीं पृष्ठ, 654।
८. देखिये Rudolf Frercks; *German Population Policy* (1938).
९. Franz Neumann, *Behemoth* (1944) p. 130.

इटलीवासी शेली से कहा करते थे कि मुसोलिनी के शासन में कम से कम गाड़ियाँ तो समय से चलती हैं।

करोड़ों लोगों की निगाह में उदारवाद इतना खर्चीला है कि बहुत कम लोग उसकी कीमत चुकाने को तैयार हैं अथवा इस योग्य हैं कि चुका सकें। हम भले ही तैयार हों; किन्तु क्या इटली और जर्मनी के निवासी इसके लिये उद्यत हैं? जो विचार मनुष्यों के दिमागों में घर कर जाते हैं उन्हें युद्ध द्वारा परास्त नहीं किया जा सकता। और इस समय ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नहीं है कि इटली और जर्मनी में अधिनायकतंत्र को त्यागने की वास्तविक इच्छा उत्पन्न होगई है। सच्चाई तो यह है कि यदि साम्यवाद के विरुद्ध दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया का जोर बढ़ा तो फासीवादी पुनः भयंकर शक्ति के रूप में उठ खड़ा होगा।[४०]

पठनीय ग्रन्थ

Bayles, W. D. — *Caesars in Goose Step* (New York, Harper, 1940).

Chandler, A. R. — *Rosenberg's Nazi Myth*, (Ithaca, Cornell Univ. Press, 1945).

Cobban, Alfred, — *Dictatorship* (New York, Scribner, 1939).

Dietrich, Otto, — *A Revolution in Thought*, (Berlin Terramare, 1939).

Ebenstein, William, — *Fascist Italy*, (New York, American Book, 1939).
The Nazi State, (New York, Farrar and Rinehart, 1943).

Frercks, Rudolf, — *German Population Policy* (Berlin, Terramare, 1938).

Kneller, G. F., — *The Educational Policy of National Socialism*, (New Haven, Yale Univ. Press, 1941).

Lerner, Max, — *Ideas are Weapons*, (New York, Viking, 1939) Part III, Chap. 9.

Lichtenbeger, Henri, — *The Third Reich*, (New York, Greystone, 1937).

Mathews, H. L., — *The Fruits of Fascism*, (New York, Harcourt, 1943).

४०. फासीवाद अभी स्पेन में विद्यमान है और दक्षिण अमेरिका में उसके अनुयायियों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ रही है।

McGovern, W. M. *From Luther to Hitler,* (Preston, Houghton, 1941), Part IV.

Monnig Richard, ed. *Adolf Hitler from His Speeches,* (Berlin Terramare, 1938).

Montague, M. F. A., *Man's Most Dangerous Myth : The Fallacy of Race,* (New York, Columbia Univ. Press, 1942).

Neumann, Franz, *Behemoth,* (New York, Oxford Univ. Press, 1944).

Neumann, Sigmund, *Permanent Revolution* (New York, Harper, 1942).

Pitigliani, F., *The Italian Corporate State,* (New York, Macmillan, 1935).

Sabine, G. H., *A History of Political Theory,* rev. ed. (New York, Holt, 1950) Chap. 35.

Schinnerer, Erich, *German Law & Legislation* (Berlin, Terramare, 1938).

Schmidt, C. T, *The Corporate State in Action : Italy under Fascism* (New York, Oxford Univ. Press, 1939).

Shuman, F. L. *Hitler and the Nazi Dictatorship,* 3rd. ed. London, Hale, 1936).
"The Political Theory of German Fascism", *American Political Science Review,* Vol. 28 (April 1934).

Tell, Rolf, ed. *Nazi Guide to Nazism,* (Washington, American Council on Public Affairs, 1942).

U. S. State Department, *National Socialism* (Washington, Government Printing Office, 1943).

Watkins, Frederick, *The Political Traditions of the West,* (Cambridge, Harvard, Univ. Press, 1948) Chap. II.

भाग ७

मार्क्स की विरासत

अध्याय २७

साम्यवाद

मार्क्स तथा एंगिल्स का जीवन और रचनाएँ

साम्यवाद एक इतिहास-दर्शन है जिसका आधार मानव विकास की भौतिकवादी धारणा है। कार्ल मार्क्स और फ्रीडरिख एंगिल्स उसके आदि प्रवर्तक थे। उनका तथा उनके साथ-साथ लेनिन और स्टेलिन का पैगम्बरों के रूप में सम्मान किया जाता है। उनके सिद्धान्त का आधार प्रेम नहीं, बल्कि वर्ग संघर्ष और क्रान्ति हैं।

मार्क्स (१८१८-१८८३) का जन्म जर्मनी के ट्रीव्ज स्थान में हुआ था। उसका पिता जाति का यहूदी था, किन्तु ईसाई हो गया था, और वकालत का पेशा करता था। जब मार्क्स विश्वविद्यालय में पढ़ता था तभी उसने कुशाग्र बुद्धि और गम्भीर अध्यवसाय का परिचय दिया था, जिसके लिये वह आज तक प्रसिद्ध है। उसने हीगिल के दर्शन और साविञ्गी के इतिहास का तल्लीनता से अध्ययन किया। उसने "अपनी जैनी" को अनेक कविताएँ लिखकर भेंट कीं। जैनी अभिजातवंश की सुन्दर लड़की थी; बाद में मार्क्स ने उससे विवाह कर लिया। विश्वविद्यालय में रहकर मार्क्स ने एपीकूरुस के भौतिकवादी दर्शन पर एक मौलिक निबन्ध लिखा।

हीगिल के दर्शन का अध्ययन करके मार्क्स ने विचारवादी चिन्तन की आधारभूत भ्रान्ति को भलीभाँति समझ लिया। हीगिल "सार्वभौम विचार" अथवा "निरपेक्ष आत्मा" के प्रस्फुटन को ही इतिहास की कुंजी मानता था। इसके विपरीत मार्क्स ने भौतिक जगत को ही इतिहास का सार माना। अपने पिता को एक पत्र में उसने लिखा कि मेरे विचारों में आमूल परिवर्तन हो गया। पहले मैं हीगिल को सबसे बड़ा दार्शनिक मानता, किन्तु अब मेरी निगाह में उसकी विचार-व्यवस्था ध्वस्त हो गई है और उसका स्थान लेने के लिये नये विचारकों की आवश्यकता है। मैं विचारवाद को लेकर चला ......किन्तु मैंने वास्तविकता में ही विचार को ढूँढ निकालने का प्रयत्न किया। यदि प्राचीनकाल में देवता संसार के ऊपर रहते थे तो अब वे उसके केन्द्र बन गये।[1] हीगिल की भावना मुझे अच्छी नहीं लगी। उसने आगे लिखा : "मेरी पुनः समुद्र में गोता लगाने की इच्छा हुई जिससे कि मैं असली मोतियों को सूर्य के प्रकाश में ला सकूँ।"[2]

१. देखिये ओटो रूहले (Otto Ruhle), *Karl Marx : His Life and Work* (1929), pp. 20-21.
२. वहीं।

मार्क्स सम्भवतः अध्यापक का जीवन बिताना पसन्द करता, किन्तु उसके विचार इतने उग्र थे कि विश्वविद्यालय के अधिकारी उसे अपने यहाँ स्थान देने के लिये तैयार नहीं हो सकते थे। अतः उसे पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता। १८४२ में वह कोलों के एक समाचारपत्र का सम्पादक बन गया। किन्तु इस बार उसे अपने धर्म सम्बन्धी उग्र विचारों के कारण उस स्थान को छोड़ कर पेरिस के लिये प्रस्थान करना पड़ा। मार्क्स ने पेरिस को इसलिये पसन्द किया कि वह फ्रेंच समाजवाद के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करने का इच्छुक था। उसने प्रूधों आदि के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुन रक्खा था, किन्तु पेरिस पहुँच कर शीघ्र ही उसकी भ्रान्ति दूर होगई। फ्रांसीसी समाजवादियों को पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति असन्तोष भड़काने में तो सफलता मिली थी, किन्तु वे समाजवाद को एक दर्शन अथवा कार्यक्रम देने में असमर्थ सिद्ध हुए थे। लास्की का कथन है कि मार्क्स के सम्बन्ध में महत्व की बात यह है उसने समाजवाद को "अव्यवस्थित रूप में पाया, किन्तु उसे एक आन्दोलन बनाकर छोड़ गया ... उसके प्रयत्नों से उसने (समाजवाद ने) एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप धारण कर लिया, और इस बात पर बल देने लगा कि संसार के सब देशों के श्रमिक वर्ग एक होकर अपने हितों की रक्षा के लिये संघर्ष करें।" फ्रांसीसी समाजवादियों के विपरीत, मार्क्स का यह विश्वास था कि यदि मजदूर वर्ग की दशा का सुधार करना है तो सिद्धान्त और व्यवहार में मेल स्थापित करना और राजनीतिक कार्यवाही में सक्रिय भाग लेना होगा। बिना सिद्धान्त के सर्वहारा वर्ग का उद्धार नहीं हो सकता, किन्तु सर्वहारा के बिना सिद्धान्त भी निरर्थक है। जो समाजवादी राजनीति से घृणा करते थे उनसे उसका कहना था कि एक नये सिद्धान्त की घोषणा कर देना और यह आशा करना प्रत्येक व्यक्ति उसके सामने सिर झुका देगा पर्याप्त नहीं है। असली संघर्ष तो सड़कों और गलियों में चलाना पड़ेगा और केवल वहीं विजय प्राप्त की जा सकती है।

फ्रीडरिख एंगिल्स (१८२०-१८९५) से मार्क्स की पहले से जान पहिचान थी। पेरिस में रह कर मार्क्स ने इस जान पहिचान को पक्का किया, और इस प्रकार ऐसी मित्रता की नींव पड़ी जोकि इतिहास में सर्वाधिक प्रसिद्ध है। एंगिल्स की आयु उस समय चौबीस वर्ष की थी और वह मार्क्स से केवल दो वर्ष छोटा था। वह अपने परिवार के सूती मिलों में से एक का प्रबन्धक था। किन्तु अपने इस काम को केवल आय का साधन समझता था जिससे कि उसे अपने बौद्धिक और राजनीतिक व्यसनों को पूरा करने का अवसर मिल सके। इंगलैंड की निर्माणशालाओं और बस्तियों की, जहाँ कि उसका अधिकांश जीवन बीता, दशा इतनी शोचनीय थी कि मार्क्स से पहले ही वह क्रान्तिकारी समाजवाद के सिद्धान्तों को स्वीकार कर चुका था। उसकी बुद्धि

3. H. J. Laski, *Communism* (1927), p. 22.

तीव्र थी और चीजों को बड़ी ही जल्दी ही समझ लेता था। इसीलिये मार्क्स ने एक बार उसको बार लिखा : "तुम जानते हो कि मुझे चीजों को समझने में बड़ी देर लगती है, इसलिये मैं सदैव तुम्हारे चरण चिन्हों पर ही चलता रहूँगा।"[४] किन्तु एंगिल्स ने इस साझेदारी में अपने महत्व को सदैव कम बहलाया और लिखा कि मैं तो मार्क्स की अद्वितीय प्रतिभा का अनुगमन करने के लिये हूँ और इसी में मुझे प्रसन्नता है।[५] यह कहना कठिन है उन दोनों में से किसका योगदान अधिक था। जो पुस्तकें उन्होंने साथ-साथ लिखीं वे हर अर्थ के संयुक्त प्रयत्न की उपज थीं। और यदि मार्क्स का जन्म न भी हुआ होता तो भी एंगिल्स प्रसिद्ध हो जाता। किन्तु इतिहास ने मार्क्स को ही अधिक श्रेय देना पसन्द किया है, और एंगिल्स को छोटा साझीदार ही माना गया है।

१८४५ में प्रुशिया की सरकार के आग्रह पर मार्क्स को पेरिस में निर्वासित कर दिया गया। वहाँ से वह ब्रुसल्स गया। वहीं पर **साम्यवादी घोषणा-पत्र** (कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो) की रचना की गई। उसके बाद वह कोलों चला गया और एक क्रान्तिकारी पत्र का सम्पादक बन गया। अन्त में उसने इंगलैंड में शरण ली, और वहीं उसका शेष जीवन बीता।

इंगलैंड को प्राय: निर्वासितों की माता कहा जाता है, किन्तु मार्क्स के साथ उसका व्यववहार अच्छा नहीं था। वहाँ रह कर उसने दरिद्रता और कष्टों का, जिनके सम्बन्ध में उसने इतना लिखा है, स्वयं अपने जीवन में अनुभव किया। अपने बड़े परिवार के साथ उसे दो कमरों के मकान में रहना पड़ता था। उसकी पत्नी प्राय: बीमार रहती थी, और बाद में वह स्वयं भी अस्वस्थ रहने लगा था। उसे भोजन भी कभी पर्याप्त नहीं मिलता था। अपने मित्र एंगिल्स की उदारता के सहारे वह किसी प्रकार अपना निर्वाह करता था। रूहले ने लिखा है कि उनके जीवन का क्रम यह था कि कभी बिलों ता भुगतान नहीं हो पाता, तो कभी बीमारी ने आघेरा और कभी-कभी उससे भी भयंकर मुसीबतें आखड़ी हुईं। मार्क्स की पत्नी ने अपने एक मित्र को एक बार लिखा :

मैं इस जीवन के केवल एक दिन का यथार्थ वर्णन लिखकर भेज रही हूँ। इससे तुम्हें पता लग जायगा कि शायद अन्य किन्हीं भी शरणार्थियों को इतने कष्ट नहीं भोगने पड़े होंगे जितने कि हम भोग रहे हैं। चूँकि यहाँ पर दूध पिलानेवाली धायें बहुत पैसा माँगती हैं, इसलिये मैंने संकल्प किया कि स्तनों और पीठ के भयंकर पीड़ा के बावजूद मैं अपने बच्चे को स्वयं अपने ही दूध पर रक्खूँगी। किन्तु बेचारे

४. Gustav Mayer, *Friederich Engels* (1936), p. 57.
५. वहीं।

बच्चे ने दूध के साथ इतना दुःख पी लिया कि वह भयंकर पीड़ा में दिन रात निरन्तर तड़पता रहा। जब से वह इस दुनियाँ में आया है तब से वह एक रात भी दो-तीन घंटे से अधिक नहीं सोया। हाल में उसे ऐंठन के भयंकर दौड़े लग गये हैं जिससे वह जीवन और मृत्यु के बीच लटका हुआ है।......एक दिन मैं बैठी बच्चे को दूध पिला रही थी कि हमारी मकान मालिकिन सहसा आ धमकी। जाड़े के महीनों में हम उसे ढाइसौ थैलर (जर्मनी का एक चाँदी का सिक्का—अनु०) दे कर चुके थे और यह समझौता होगया था कि भविष्य में हम किराया उसे न देकर उसके मकान मालिक को देंगे जिसने कि कुर्की करा ली थी। किन्तु अब उसने राजीनामा भंग कर दिया और पाँच पौंड, जो कि हम पर चाहिए थे, माँगने लगी। चूँकि हम तुरन्त रकम अदा नहीं कर सके इसलिये दो दलाल हमारे मकान में घुस आये और हमारी सब चीजों पर कब्जा कर लिया—बिस्तर, कपड़े, हर वस्तु, यहाँ तक कि बच्चे का पालना और छोटी लड़की के खिलौने भी लेलिये जिससे कि बच्चे फूट-फूट कर रोने लगे। उन्होंने धमकी दी कि दो घंटे के अन्दर हम सब सामान उठा ले जायँगे। यदि ऐसा होजाता तो मुझे स्तनों की पीड़ा में अपने ठिठुरते हुए बच्चों के साथ फर्श पर ही लेटना पड़ता। हमारे मित्र श्रेम सहायता के लिये तेजी से बाहर दौड़े। उन्होंने एक बग्गी किराये पर की, किन्तु घोड़े गिर गये, वे कूद पड़े और रक्त में लथपथ उन्हें हमारे मकान में, जहाँ मैं रो रही थी और बच्चे काँप रहे थे, वापिस लाया गया।[६]

किन्तु इन आपत्तियों के मुकाबिले में भी मार्क्स "मजदूरवर्ग को पूँजीवाद के चंगुल से मुक्त करने के लिये" अथक प्रयत्न करता रहा। वह अपने ग्रन्थ **पूँजी** के सिद्धान्तों का विस्तार करने के लिये **ब्रिटिश म्यूजियम** में देर तक काम किया करता था। पत्र-व्यवहार के द्वारा उसने समाजवादी आन्दोलन में अपना नेतृत्व कायम रक्खा। अपने प्रतिद्वन्दियों की आलोचना करने तथा अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये उसने अनेक पुस्तिकाएँ लिखीं। उसने **न्यूयार्क ट्रिबून** के लिये, जिसका सम्पादक उस समय होरेस ग्रीली था, एक लेख माला लिखी। और एंगिल्स के सहयोग से उसने १८६४ में प्रथम **अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ** की स्थापना की। दरिद्रता और संघर्ष कदाचित उसके अनुकूल सिद्ध हुए, क्योंकि अन्त में उसकी "इतिहास की शक्तियों को मुक्त करने की" महत्वाकांक्षा पूर्ण होगई।

मार्क्स के दो ग्रन्थ सबसे महत्वपूर्ण थे—**साम्यवादी घोषणापत्र** और **पूँजी**। साम्यवादी **घोषणापत्र** की रचना उसने एंगिल्स की सहायता से की। कहा जाता है कि मार्क्स की रचनाओं में वह सर्वश्रेष्ठ है।[७] ओज तथा प्रसाद की दृष्टि से इसकी

६. Ruhle, op. cit., p. 202-203.
७. Bertrand Russel, *Freedom Versus Organization* (1934), p. 181.

तुलना करनेवाली कम पुस्तकें हैं। और प्रचार के साधन से रूप में तो उसकी तुलना का कोई ग्रन्थ है ही नहीं। उसके अन्तिम वाक्य हैं : "साम्यवादियों को अपने दृष्टिकोण तथा उद्देश्यों के छिपाने से घृणा है। उनकी स्पष्ट घोषणा है कि सम्पूर्ण विद्यमान सामाजिक व्यवस्था को बलपूर्वक उलट कर ही उनका उद्देश्य पूरा हो सकता है। साम्यवादी क्रान्ति की आशंका से संसार के शासक वर्गों को काँपने दो। सर्वहारा के पास अपनी दासता की बेड़ियों के अतिरिक्त खोने को कुछ नहीं है। जीतने के लिये उनके सामने सारा संसार है। सब देशों के मजदूरो, एक हो जाओ।"

पूँजी की रचना में मार्क्स ने अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया। अपने एक मित्र को उसने लिखा कि इसकी रचना में मैंने अपने आराम, सुख और यहाँ तक कि परिवार का भी उत्सर्ग कर दिया है। बहुत ही लगन और तल्लीनता से पढ़नेवाले कुछ लोगों को छोड़कर, अन्य अधिकतर पाठकों के लिये **पूँजी** नीरस और भारीभरकम प्रतीत होता है। किन्तु सच्चे मार्क्सवादी उसे साम्यवाद की अंजील मानते हैं। इसके अन्दर सिद्धान्त, वर्णन और विश्लेषण का अनुपम सम्मिश्रण है। अतिरिक्त मूल्य के अत्यधिक सूक्ष्म विश्लेषण के बाद मैंचस्टर के एक उटाई की मशीन के चालक की क्रियायों का विस्तृत वर्णन है। **पूँजी** की तीन जिल्दें हैं, पहली का प्रकाशन १८६७ में हुआ था। अन्य दो जिल्दों को मार्क्स की मृत्यु के बाद एंगिल्सने संपादित तथा प्रकाशित किया था।

अन्य उल्लेखनीय रचनाएँ हैं **दर्शन की दरिद्रता** (पॉवर्टी ऑफ फिलॉसफी), **अर्थ शास्त्र की समीक्षा** (कन्ट्रीब्यूशन टू द क्रिटिक आव पालिटिकल इकोनोमी) और **फ्यूअरबाख पर ग्यारह प्रस्थापनाएँ** (इलेविन थीसस ऑन फ्यूअरबाख)। **दर्शन की दरिद्रता** का प्रकाशन १८४७ में हुआ था। इसकी रचना मार्क्स ने प्रूधों के **दरिद्रता का दर्शन** (फिलॉसफी आव पॉवर्टी) नामक ग्रन्थ का खंडन करने के लिये की थी। अतः इसमें यूटोपियाई समाजवाद का पूर्ण खंडन है। प्रूधों पर मार्क्स का आरोप था कि उसके सोचने का ढँग एक किसान जैसा है जिसे न अर्थशास्त्र का ज्ञान है और न इतिहास का। **अर्थशास्त्र की समीक्षा** की रचना १८५९ में हुई थी। इसका सबसे बड़ा महत्व यह है कि इसमें मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का बहुत ही स्पष्ट अभिकथन मिलता है। **फ्यूअरबाख पर ग्यारह प्रस्थापनाएँ** (१८४५) नामक पुस्तक में मार्क्स के दार्शनिक भौतिकवाद का प्रतिपादन है। उसका निष्कर्ष है कि अब तक दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार से विश्व का निर्वचन किया है, किन्तु वास्तविक कार्य उसको बदलता है।

हीगिल से मार्क्स तक

मार्क्स और एंगिल्स के साम्यवादी सिद्धान्तों का मुख्य स्रोत जर्मन आदर्शवाद, ब्रिटिश अर्थशास्त्र और फ्रांस के क्रान्तिकारी तथा समाजवादी विचार थे। मार्क्सवाद का मुख्य आधार ऐतिहासिक भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त हैं। इन दोनों का हीगिल के दर्शन से निकट सम्बन्ध है। दूसरे, वह अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त पर निर्भर

है, जिसका आधार इंगलैंड का अर्थशास्त्र है। और तीसरे, इसमें फ्रांसीसी क्रान्ति और फ्रांसीसी समाजवाद के तत्व भी सम्मिलित हैं। इनसे उसने क्रान्ति के द्वारा प्रगति का सिद्धान्त और राज्य के विलीन होने की धारणा ग्रहण की है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद से मार्क्स का क्या अभिप्राय था, यह समझने के लिये हीगिल तथा उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति के सम्बन्ध में कुछ जान लेना आवश्यक है। यद्यपि मार्क्स ने हीगिल के दर्शन के सार को अस्वीकार किया, किन्तु अपने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सम्बन्ध में उसने उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति को अंगीकार कर लिया। हीगिल का कहना था कि केवल विचार ही वास्तविक (सार भूत) हैं और उन्हीं के अन्तर्द्वन्द्व में इतिहास का रहस्य छिपा हुआ है। विश्व के मूल में एक ईश्वरीय योजना कार्य करती है, और उसी योजना के अनुसार "विश्व-आत्मा" अथवा "सार्वभौम विचार" का प्रस्फुटन और विकास होता है। इसीसे इतिहास को गति और उद्देश्य मिलता है। विभिन्न प्रकार के विचारों में आधिपत्य के लिये संघर्ष चलता है, और संघर्ष के उद्वेलन से नये विचार उत्पन्न होते हैं जो ईश्वर की अन्त्य पूर्णता के अधिक अनुरूप हुआ करते हैं।

अतः कोई विचार ऐसे नहीं हो सकते जिन्हें स्थिर अथवा पूर्ण माना जासके। सभी चीजें निरन्तर गति की अवस्था में हुआ करती हैं। प्रत्येक विचार (वाद) अपूर्ण होता है, इसलिये उसके अन्तर्विरोध के कारण स्वभावतः विरोधी विचार (प्रतिवाद) उत्पन्न होते हैं। और अन्त में इन दोनों से सत्य (संवाद) का प्रादुर्भाव होता है।[८] किन्तु इस प्रकार प्रादुर्भूत संवाद पुनः वाद बन जाता है और वही प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रहती है।

मार्क्स इस बात से सहमत था कि इतिहास की प्रगति द्वन्द्वात्मक योजना से होती है। किन्तु वह यह मानने के लिये तैयार नहीं था कि इस प्रगति में विचार नियामक तत्वों का काम करते हैं। उसके कहा कि हीगिल ने इतिहास को सिर के बल खड़ा कर दिया है। विचार वास्तविकता का नियंत्रण और नियमन नहीं करते। अपितु वे स्वयं भौतिक परिस्थितियों की उपज होते हैं। पूंजी में एक स्थान पर उसने लिखा है: "हीगिल चिन्तन की प्रक्रिया को, जिसे उसने विचार का नाम दिया और यहाँ तक कि एक स्वतंत्र विषय मान लिया, वास्तविक जगत का सर्जन कर्ता मानता है, और उसकी दृष्टि में वास्तविक जगत उसी विचार की अभिव्यक्ति अथवा बाह्य रूप है। किन्तु इसके विपरीत मेरी निगाह में विचार मन के द्वारा प्रतिबिम्बित भौतिक जगत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वही भौतिक जगत चिन्तन का रूप ले लेता है"[९] मार्क्स

८. देखिये पीछे अध्याय २४।
९. *Capital*, Vol. I. p. 25. देखिये Ken Edition (1926).

का विश्वास था कि सभी चीजें भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर होती हैं, और यही द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को समझने की कुंजी है। वाद, प्रतिवाद और संवाद के अन्तर्द्वन्द्व के मूल में कार्य करनेवाले तत्व स्वभाव से भौतिक होते हैं और मनुष्य तथा उत्पादन के साधनों के बीच विद्यमान सम्बन्धों से उत्पन्न हुआ करते हैं।

ऐतिहासिक भौतिकवाद

मार्क्स का कथन था कि प्रत्येक समाज में दो आधारभूत तत्व हुआ करते हैं— उत्पादन के भौतिक साधन और उनका प्रयोग करने लिये आवश्यक ज्ञान। ये ही "उत्पादन के उपादान" होते हैं। इन उत्पादन के उपादानों का प्रभावकारी ढंग से प्रयोग करने के लिये समाज अपने को एक विशेष प्रकार से संगठित कर लेता है। इस संगठन को मार्क्स ने "उत्पादन के सम्बन्ध" की संज्ञा दी। ये सम्बन्ध सदैव उत्पादन के उपादानों पर निर्भर रहते हैं और समाज के सम्पत्ति विषयक सम्बन्धों में उनकी अभिव्यक्ति हुआ करती है। उदाहरण के लिये पूंजीवादी समाज में उत्पादन के उपादानों का सफल प्रयोग करने के लिये निजी सम्पत्ति की प्रथा और एक विशाल मजदूर वर्ग का होना आवश्यक है। साथ ही साथ इन आधारभूत आर्थिक सम्बन्धों के अनुरूप और उनको प्रतिबिम्बित करनेवाले विधिक, राजनीतिक, धार्मिक और दार्शनिक रूप भी उठ खड़े होते है। मार्क्स के ही शब्दों में :

मनुष्य सामाजिक उत्पादन का जो कार्य करते हैं उसके दौरान में वे आपस में एक निश्चित प्रकार के सम्बन्ध कायम कर लिया करते हैं। इन सम्बन्धों के बिना उनका काम नहीं चल सकता अतः वे अपरिहार्य होते हैं और मनुष्यों की इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। उत्पादन के ये सम्बन्ध उत्पादन के भौतिक तत्वों के विकास की विशिष्ट अवस्था के अनुरूप हुआ करते हैं। इन उत्पादन के सम्बन्धों के सम्पूर्ण योग से ही समाज का आर्थिक ढांचा बनता है और वही ढांचा असली नींव होता है जिस पर विधिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का निर्माण होता है, और इसी ढांचे के अनुरूप मनुष्यों की सामाजिक चेतना के निश्चित रूप हुआ करते हैं। भौतिक जीवन में उत्पादन की जो पद्धति होती है उसी से जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का सामान्य रूप निर्धारित होता है। मनुष्यों का जीवन उनकी चेतना से निर्मित और निर्धारित नहीं होता, बल्कि उनके सामाजिक जीवन से उनकी चेतना बनती है। समाज के विकास में एक ऐसी अवस्था आ जाती है जबकि उत्पादन के भौतिक तत्वों और विद्यमान उत्पादन के सम्बन्धों—अर्थात् सम्पति विषयक सम्बन्धों जिनके अन्तर्गत वे तत्व पहले से कार्य करते आये हैं—के बीच संघर्ष आ खड़ा होता है। दूसरे शब्दों में ये सम्बन्ध उत्पादन के तत्वों के विकास में बाधा डालने लगते हैं। तब सामाजिक क्रान्ति का युग

प्रारम्भ होता है। इस प्रकार आर्थिक नींव के बदलने से सम्पूर्ण व्यवस्था शीघ्र ही बदल जाती है।

किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि कोई सामाजिक व्यवस्था तब तक विलुप्त नहीं होती जब तक कि उत्पादन के तत्व, जिनके लिये उसके भीतर गुंजाइश होती है, पूर्णतया विकसित नहीं हो जाते, और उत्पादन के नये उच्चतर सम्बन्ध तब तक प्रकट नहीं होते जब तक कि पुराने समाज की कोख में ही उनके अस्तित्व के लिये आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ परिपक्व नहीं हो जातीं। इसलिये मनुष्य जाति उन्हीं समस्याओं को अपने हाथों में लेती है जिन्हें कि वह हल कर सकती है; बल्कि अधिक ध्यान से देखने पर हमें पता लगेगा कि कोई समस्या उठती ही तब है जबकि उसके हल करने के लिये आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकती हैं अथवा कम से कम उत्पन्न होने लगती है।[१०]

मार्क्स ने बतलाया है कि समाज विकास की चार महत्वपूर्ण अवस्थाओं में हो कर गुजर चुका है—एशियाई, प्राचीन, सामन्ती और पूँजीवादी (बुर्जुआ)। प्रत्येक अवस्था में उत्पादन के तत्वों और पुराने उत्पादन के सम्बन्धों के बीच संघर्ष देखने को मिलता है। किन्तु हर बार इस संघर्ष का समाधान ढूँढ़ निकाला गया।

वर्ग संघर्ष

यद्यपि इस संघर्ष के रूप अनेक थे, किन्तु तत्वतः वह विरोधी वर्गों के बीच निर्मम संघर्ष था। एक ओर वे वर्ग थे जिन्हें पुराने सम्बन्धों से लाभ हुआ था और दूसरी ओर वे जिन्हें नये उत्पादन-सम्बन्धों से लाभ होने को था। मार्क्स का विश्वास था कि हर समाज दो वर्गों में विभक्त हुआ करता है—उत्पीडक और उत्पीड़ित। "अब तक जितने समाज हुए हैं उन सब का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है।"[११] पूँजीवादी युग के सम्बन्ध में तो यह बात विशेष रूप से चरितार्थ होती है। आधुनिक पूँजीवाद एक विशाल सर्वहारा वर्ग को उत्पन्न करके ही अपनी पूरी शक्तियों का विकास करता है और सर्वहारा वर्ग अपने निर्वाह के लिये पूर्ण रूप से मजदूरी पर निर्भर रहता है। पूँजीपति को जनशक्ति के अक्षय भंडार की आवश्यकता होती है जिसमें से वह आवश्यकतानुसार बाजार मूल्य पर जितनी चाहे किराये पर ले ले, ठीक उसी प्रकार जैसे कि कोई चक्कीवाला गेहूँ खरीदता है। इससे अतिरिक्त आधुनिक पूँजीवाद लाभ की लिप्सा पर निर्भर रहता है, और इससे वर्ग-संघर्ष और भी अधिक तीव्र होता है। पूँजीपतियों की लिप्सा कभी तृप्त नहीं होती और लाभ के संचय से उन्हें और भी अधिक लाभ की

१०. *Critique of Politcal Economy* (1859), pp. 11-13. International Library Edition (1904).

११. *Communist Manifesto* (1848), p. 8. देखिये Regening Edition (1949).

प्रेरणा मिलती है। परिणामस्वरूप कुछ थोड़े से लोग धनी होते जाते हैं और सर्वहारा वर्ग दिन पर दिन गरीब होता जाता है। साथ ही साथ सर्वहारा की संख्या भी बढ़ती जाती है, क्योंकि पूँजीपति वर्ग के शक्तिशाली सदस्य अपने कमजोर भाइयों को प्रतियोगिता में परास्त करके सर्वहारा की श्रेणी में धकेल देते हैं।

किन्तु अन्त में शोषित वर्ग भी संगठित होने लगता है और अपनी संख्या तथा महत्व को समझने लगता है। वह स्वामी वर्ग की वृद्धिमान सम्पत्ति से अपनी स्थिति की तुलना करता और अपनी भयंकर गरीबी के प्रति सचेत हो उठता है। और दार्शनिक (मार्क्स) की सहायता से वह इस बात को समझने लगता है कि समाज की सम्पूर्ण भौतिक सामग्री हम लोग उत्पन्न करते हैं किन्तु बदले में हमें उसका बहुत ही अल्प अंश मिलता है। पूँजी में मार्क्स ने इस समस्या का सविस्तार विवेचन किया है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

मार्क्सवाद के आर्थिक पहलू का आधार अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त है, और यह सिद्धान्त इंगलैंड के क्लसीकल अर्थशास्त्रियों के मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित है।

रिकार्डो का कहना था[१२] कि किसी पण्य (विक्रय वस्तु) का मूल्य उसके उत्पादन पर व्यय किये गये परिश्रम से निर्धारित होता है। उदाहरण के लिये यदि एक जोड़ी जूते के बनाने में पन्द्रह घंटे लगते हैं और एक मन गेहूँ पैदा करने में भी उतना ही परिश्रम खर्च होता है तो दोनों का विनियम मूल्य बराबर होगा। इस सिद्धान्त का मार्क्स ने हृदय से समर्थन किया। उसने लिखा है कि किसी उपयोगी वस्तु का मूल्य केवल इसलिये होता है कि उसमें मानव श्रम जोड़ दिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि हम इस मूल्य की मात्रा की नाप कैसे करें ? स्पष्ट है कि यह नाप मूल्य निर्माण करने वाले तत्व की मात्रा से अर्थात् उस वस्तु में विद्यमान परिश्रम से ही की जा सकती है।[१३] इसलिये जो लोग किसी वस्तु के उत्पादन में परिश्रम व्यय करते हैं वे ही वास्तव में मूल्य उत्पन्न करते है अतः वे अपने उत्पादन का सम्पूर्ण मूल्य पाने के हकदार हैं। किन्तु पूँजीपति मजदूरों को उनकी मेहनत का पूरा प्रतिफल देने को तैयार नहीं होते। वे किराया, ब्याज और लाभ द्वारा मजदूरों के उत्पादन का एक अंश स्वयं हड़प लेते है।

पूँजीपतियों का यह अनुपार्जित भाग जिस स्रोत से आता है उसे मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य का नाम दिया। एक मजदूर दिन भर में जितना उसके जीवित रहने के लिये आवश्यक है उससे अधिक उत्पन्न कर लेता है, किन्तु मालिक उसको उतनी ही मजदूरी

१२. *Principles of Political Economy* (1817).
१३. *Capital*, Vol. I, p. 45.

देता है जितनी कि उसके जीवित रहने मात्र के लिये पर्याप्त होती है। दोनों का अन्तर ही अतिरिक्त मूल्य है जिसे मालिक स्वयं हड़प लेता है।

द्रव्य का स्वामी श्रम-शक्ति को उसका मूल्य चुका कर खरीद लेता है, और श्रमशक्ति का मूल्य, अन्य वस्तुओं के मूल्य की भाँति, सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम की उस मात्रा से निर्धारित होता है जो कि उसके उत्पादन में व्यय की जाती है (अर्थात् मजदूर तथा उनके परिवार के निर्वाह लिये आवश्यक परिव्यय से)। जब द्रव्य का स्वामी एक बार श्रम-शक्ति को खरीद लेता है तो फिर उसे अधिकार हो जाता है कि वह उसका पूरे दिन तक प्रयोग करे—मान लीजिये १२ घण्टे। छः घण्टे में मजदूर अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न करता है जिसके लिये पूँजीपति उसे कुछ नहीं देता।[१४]

मार्क्स यह मानने को तैयार है कि पूँजीपति भी लाभकारी परिश्रम कर सकता है और उसे भी परिश्रम के अनुरूप उत्पादन का एक अंश मिलना चाहिए। किन्तु उसे इस अतिरिक्त मूल्य के हड़पने का कोई अधिकार नहीं है। यह तो वास्तव में चोरी है।

इस अन्याय को दूर करने के लिये आवश्यक है कि पूँजीपति को ही समाज से हटा दिया जाय और निजी सम्पत्ति के स्थान पर ऐसी समष्टिवादी अर्थ व्यवस्था स्थापित की जाय जिसके अन्तर्गत हर व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार काम कर सके और अपनी आवश्यकतानुसार उपभोग की सामग्री पा सके। केवल समाजवादी व्यवस्था में यह सम्भव हो सकता है कि मजदूर को उसके परिश्रम का उचित प्रतिफल मिले और ब्याज, लाभ तथा किराया समाप्त कर दिया जाय। किन्तु यद्यपि समाजवाद आर्थिक शोषण की समस्या को हल कर सकता है किन्तु पूँजीवादी समाज में जो राज्य-व्यवस्था है उसके कारण समाजवाद का आना कठिन है।

राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, मार्क्स राज्य को प्रवर्तमान आर्थिक शक्तियों का प्रतिबिम्ब मानता था। उसने बतलाया कि राज्य भी वर्ग-संघर्ष का ही एक अंग है। एंगिल्स का कहना था कि राज्य की उत्पत्ति उस समय होती है जबकि शासक वर्ग को वर्तमान सम्पत्ति सम्बन्धों को कायम रखने के लिये संगठित दमन-शक्ति की आवश्यकता का अनुभव होने लगता है[१५]। राज्य संगठित उत्पीड़न के अतिरिक्त और कुछ नहीं है[१६]। जिस वर्ग के हाथों में आर्थिक शक्ति होती है वह अपनी आर्थिक सर्वोच्चता के

---

१४. V. I. Lenin, *The Teachings of Karl Marx* (1930) देखिये International Publishers Edition.

१५. Friederich Engels, *Origin of the Family, Private Property and the State* (1884), p. 211. Untermann translation (1902)

१६. Lenin, op cit, p. 31.

बल पर राजनीतिक शक्ति भी हथिया लेता है, और इस प्रकार उसके हाथों में उत्पीड़ित जनता का शोषण और दमन करने के नये साधन आजाते हैं। इस दृष्टि से प्राचीन राज्य दासों के स्वामियों का राज्य था और उसका उद्देश्य दासों पर नयंत्रण करना था। सामन्ती राज्य सामन्त वर्ग के हाथों में अर्ध दासों (सर्फ) और आश्रित किसानों का उत्पीड़न करने का साधन था। आधुनिक प्रतिनिधि राज्य पूँजीपतियों का राज्य है जिस की सहायता से वे मजदूर वर्ग का शोषण करते हैं।[१७]

राज्य पूँजीपति वर्ग की प्रबन्ध समिति है, अत: उसका प्रथम कार्य विधि, व्यवस्था और स्थिर आर्थिक सम्बन्धों की स्थापना करना है। किन्तु, मजदूर वर्ग की जागृति, बढ़ते हुए आत्मविश्वास और संघर्ष-शक्ति के कारण यह काम दिन पर दिन कठिन होता जाता है। राज्य अपनी पुलिस और किराये की सेनाओं की सहायता से सदैव उत्पीड़न जारी रखने का प्रयत्न करेगा, क्योंकि कोई शासक वर्ग स्वेच्छा से अपनी लाभ की स्थिति को छोड़ने के लिये तैयार नहीं होगा। किन्तु अन्त में इतिहास की निर्मम द्वन्द्वात्मक शक्तियों के मुकाबिले में उसकी विफलता अनिवार्य है। जिस समय सर्वहारा की शक्ति और दबाव पूँजीपतियों के बराबर हो जायगी तभी क्रान्ति फूट पड़ेगी।

क्रान्ति

मार्क्स का विश्वास था कि क्रान्ति अनिवार्य है,[१८] किन्तु उसका अभिप्राय यह नहीं था कि उसके आगमन की प्रतीक्षा में बैठा रहना चाहिये।

उसका कहना था कि दार्शनिकों के लिये संसार को समझ लेना मात्र पर्याप्त नहीं है। उन्हें उसे बदल देना चाहिये। इस विषय में उसने हीगिल की विशेष रूप से कटु आलोचना की। हीगिल ने लिखा था कि दर्शन का काम केवल जो कुछ हो चुका है उसको समझना है, न कि ईश्वरीय योजना में हस्तक्षेप करना। हीगिल का कथन था

१७. वहीं।

१८ यह विवाद का प्रश्न है कि क्या अपने परवर्ती जीवन में मार्क्स यह नहीं सोचने लगा था कि हिंसा और क्रान्ति के बिना भी पूँजीवादी व्यवस्था का तख्ता उल्टा जा सकता है। "एंगिल्स लिखता है कि मार्क्स इस निष्कर्ष पर पहुँच गया था कि कम से कम इंगलैंड में अनिवार्य क्रान्ति पूर्णरूपेण शान्तिमय तरीकों से सम्पादित की जा सकती है;" और १८८० में हिंडमन को अपने एक पत्र में उसने (मार्क्स ने) लिखा था कि मेरा दल ऐसी क्रान्ति को 'आवश्यक' नहीं मानता, किन्तु ऐतिहासिक पूर्वोदाहरणों के आधार पर उसे केवल "संभव' समझता है।" (R. N. Carew Hunt, *The Theory and Practice of Communism* (1951, pp. 69-70) किन्तु यह स्पष्ट है कि मुख्यतया मार्क्स का जोर सशस्त्र क्रान्ति पर ही था जिसके लिये उसने साम्यवादी घोषणा पत्र में मजदूर वर्ग को आह्वान किया था, और बाद में भी वह विश्वास करता रहा कि सर्वाधिक लोकतांत्रिक देशों को छोड़ कर सभी जगह क्रान्ति की आवश्यकता होगी।

कि "दर्शन का प्रादुर्भाव इतनी देर से होता है कि वह दुनियाँ को यह नहीं सिखा सकता कि क्या होना चाहिये।...... बुद्धि का उल्लू तब उड़ना प्रारम्भ करता है जब कि संध्या का अँधेरा आ घेरता है।" इससे मार्क्स पूर्णतया असहमत[१९] था। उसका कहना था कि इतिहास में दार्शनिक का वही स्थान है जो बालक के जन्म में धात्री (प्रसविका) का। वह आधारभूत योजना को नहीं बदल सकता, किन्तु वह पीड़ा को कम कर सकता और द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की गति को तीव्र कर सकता है। मार्क्स को यह विश्वास था कि मैं स्वयं क्रान्ति का नेतृत्व कर सकता हूँ। उसकी सैद्धान्तिक रचनाएँ आगामी क्रान्ति को ध्यान में रख कर भी लिखी गईं थीं। एंगिल्स के साथ हुए उसके पत्र व्यवहार से स्पष्ट है कि वह यही सोचा करता था कि क्रान्ति की घड़ी कब आयेगी।

आनेवाली क्रान्ति के सम्बन्ध में मार्क्स ने बड़े विश्वास के साथ लिखा क्योंकि उसकी सफलता की उसे पूर्ण आशा थी। फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों की भाँति उसका भी विश्वास था प्रगति निश्चित है, और द्वन्द्ववाद को वह एक अकाट्य विज्ञान मानता था। उसकी निगाह में इतिहास के जो नियम उसने ढूँढ़ निकाले थे वे उतने ही निश्चित और निर्मम थे जितने कि गुरुत्वाकर्षण के नियम। पूँजीवादी समाज जैसे ही परिपक्वावस्था को प्राप्त होगा वैसे ही उसका पतन अनिवार्य हो जायगा।[२०]

मार्क्स की परिभाषा के अनुसार वर्ग संघर्ष का चरम रूप ही क्रान्ति है।[२१] मजदूर लोग प्रारम्भ में अपनी मजदूरी को कायम रखने और शोषण का विरोध करने के लिये ही अपने संघ बनाते हैं।[२२] किन्तु मजदूर को शीघ्र ही यह समझ में आ जाता है कि "उत्पादन के उपकरणों में सबसे बड़ी उत्पादक शक्ति क्रान्तिकारी वर्ग स्वयं है।[२३] अपनी एकता के द्वारा वे उत्पादन की शक्तियों को बदलने और पुराने स्वामी वर्ग का

१९. Hunt, op. cit., pp. 15-16.

२०. इस विश्वास का, कि साम्यवाद इतिहास की नई लहर के साथ-साथ चल रहा है, गहरा प्रभाव पड़ा। साम्यवाद को पहले रूस में और फिर पूर्वी यूरोप और चीन में जो सफलता मिली उसका बहुत कुछ श्रेय इस विश्वास को था (और साम्यवादियों का यह विश्वास उतना ही दृढ़ है जितना कि लोगों का धार्मिक विश्वास हुआ करता है) कि सफलता साम्यवाद के ही पक्ष में है। किसी काम को प्रारम्भ करने से पहले हम प्रायः ईश्वर की सहायता की प्रार्थना किया करते हैं। साम्यवादियों को ईश्वर अथवा किसी औपचारिक धर्म की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, वे समझते हैं कि मार्क्स और इतिहास हमारे पक्ष में है। उन्हें इस विश्वास से भी बड़ा बल मिलता है कि यदि आज हमारे पास रैफ्रीजेटर और बिजली का चूल्हा नहीं है, तो कल हमारे पास दो-दो होंगे।

२१. *The Poverty of Philosophy*, p. 159.

२२. वहीं, पृष्ठ 157.

२३. वहीं।

तख्ता उलट देने में समर्थ होते हैं। उत्पादन की शक्तियों के बदलने से राजनीतिक व्यवस्था में भी तदनुरूप द्वन्द्वात्मक परिवर्तन हो जाता है, और श्रमिक वर्ग अन्ततोगत्वा अपने जन्म सिद्ध अधिकारों को प्राप्त कर लेता है।

पूँजीवाद के उपरान्त

पूँजीवाद के उपरान्त जो समाज व्यवस्था आयेगी उसके सम्बन्ध में मार्क्स ने बहुत कम लिखा है। किन्तु उसका यह निष्कर्ष अवश्य है कि पूँजीवाद की पराजय और सच्चे साम्यवाद[२४] की स्थापना के बीच एक संक्रमण की अवस्था आवश्यक होगी। इस अवस्था का उसने "सर्वहारा के अधिनायकत्व" के नाम से उल्लेख किया। उसका कहना था कि विजय प्राप्त करने, पुरानी व्यवस्था के अवशेषों को नष्ट करने और वर्ग भेद के बचे-खुचे चिन्हों को समाप्त करने के लिये यह अवस्था आवश्यक है।

सर्वहारा के अधिनायकत्व के दौरान में राज्य को कायम रखना आवश्यक होगा और साम्यवाद के अपूर्ण और सीमित रूप से ही सन्तुष्ट होना पड़ेगा। किन्तु जब अधिनायकत्व का काम समाप्त हो जायगा तो राज्य का आगे कोई उद्देश्य नहीं रहेगा। अतः वह स्वतः विलुप्त हो जायगा ("मुरझा जायगा")। न वर्ग-संघर्ष रहेगा और न शोषण। सब वर्ग एक में विलीन हो जायँगे। और तब सच्चे साम्यवाद का युग आरम्भ होगा। यद्यपि मार्क्स यूटोपियायी समाजवादियों का कटु आलोचक था, किन्तु फ्रांस में उसने जो समय बिताया था उसके प्रभाव से पूर्णतया मुक्त कभी नहीं हो सका। समाज का अन्तिम उद्देश्य ऐच्छिक साहचर्य है जिसके अन्तर्गत मनुष्य को किसी प्रकार की आर्थिक चिन्ताएँ क्लेश न पहुँचाएँगी। "पूँजीवाद की दासता और पूँजीवादी शोषण के अगणित आतंकों, बर्बरता, और बेहूदगियों से मुक्त होकर लोग सामाजिक जीवन के उन प्राथमिक नियमों का पालन करने के आदी हो जायँगे जिनसे वे शताब्दियों से परिचित हैं और जिन्हें हजारों वर्षों से उपदेशों में अगणित बार दुहराया गया है। वे ऐसे अभ्यस्त हो जायँगे कि बिना बल प्रयोग के, बिना नियन्त्रण, बिना शासन और बिना दबाव की उस व्यवस्था के जिसे हम राज्य कहते हैं उनका पालन करेंगे।"[२५]

साम्यवादी समाज की उच्चतम अवस्था में जबकि श्रम-विभाजन की व्यवस्था से उत्पन्न व्यक्ति की दासतापूर्ण पराधीनता नष्ट हो जायगी, और शारीरिक परिश्रम तथा बौद्धिक परिश्रम का पारस्परिक विरोध समाप्त हो जायगा; जब कि परिश्रम जीवन का साधन ही नहीं बल्कि जीवन की उच्चतम आवश्यकता बन जायगा; जबकि

---

२४. शुद्ध मार्क्सवादी भाषा में, साम्यवादी अवस्था तभी आयेगी जबकि वर्ग-संघर्ष समाप्त हो जायगा और राज्यविहीन समाज की स्थापना हो जायगी। उससे पहले की सब अवस्थाएँ—जैसे कि रूस की वर्तमान अवस्था—समाजवादी अवस्थाएँ हैं।

२५. V. I. Lenin, *The State and Revolution* (1917), p. 94. देखिये *Marxian Educational Society Edition* (1933).

व्यक्ति की सभी शक्तियों के विकास के साथ-साथ उत्पादन की शक्तियों में भी तदनुरूप वृद्धि हो जायगी और सामाजिक सम्पत्ति के स्रोत पहले से अधिक प्रचुरता के साथ बहने लगेंगे—तभी कहीं पूँजीवादी अधिकारों का सीमित दृष्टिकोण पूर्णतया नष्ट होगा, और समाज अपनी पताका पर इन शब्दों को उत्कीर्ण कर सकेगा: "प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यतानुसार काम, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार (उपभोग की सामग्री) ।"[२६]

लैनिन

मार्क्स और एंगिल्स की मृत्यु के उपरान्त साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व निकोलाई लैनिन[२७] (१८७०-१९२४) के हाथों में आगया । लैनिन को किसी भी अर्थ में मार्क्स का उत्तराधिकारी नहीं नियुक्त किया गया था, और न वह मार्क्स के विचारों का सबसे अधिक निष्ठावान निर्वचनकर्ता ही था । मार्क्स का उत्तराधिकारी बनने में उसे सफलता इसलिये मिली कि साम्यवादी क्रान्ति पहले रूस में हुई, जर्मनी अथवा इंगलैंड में नहीं जैसी कि मार्क्स ने भविष्यवाणी की थी ; और इसके अतिरिक्त लैनिन में असाधारण क्रान्तिकारी प्रतिभा थी । अक्टूबर १९१७ की साम्यवादी क्रान्ति से पहले इस बात की अधिक सम्भावना थो कि रूस में युद्धकालीन कुप्रबन्ध और कुव्यवस्था से जो क्रान्तिकारी स्थिति उत्पन्न होगई थी उससे कैरेंस्की के **सांविधानिक लोकतंत्रवादियों, मैनशेविकों**[२८] अथवा **सामाजिक क्रान्तिकारियों** को ही अधिक लाभ होगा । किन्तु हुआ यह कि लैनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक दल ने स्थिति का सबसे अधिक लाभ उठाया ।

लैनिन का असली नाम ब्लाडीमीर इलीइच उनियानोव था। उसने कटु अनुभव की पाठशाला में क्रान्तिकारी प्रेरणा और सूझबूझ प्राप्त की थी । जब वह बीस से भी कम आयु का था तभी उसे **काजान** के विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया था और पुलिस के बन्धन में रख दिया गया था । उससे एक वर्ष पूर्व उसके भाई को ज़ार अलेक्ज़ांडर तृतीय की हत्या का षडयंत्र रचने के अपराध में फांसी लगा दी गई थी । सेंट पीटर्सबर्ग के विश्वविद्यालय में लैनिन वकालत का अध्ययन करने गया। उस काल में उसने मजदूर आन्दोलन में भाग लिया और प्रायः पुलिस से टक्कर लेता रहा । आगे चलकर उसने **श्रमिक का काम** (लेबर्स वर्क) और **इस्करा** (चिनगारी) नामक पत्रों का सम्पादन

---

२६. Karl Marx, *Critique of the Gotha Programme* (1891), p. 31. देखिये International Publishers Edition (1933).

२७. *State and Revolution* (1917), *Imperialism The Highest Stage of Capitalism* (1916).

२८. **बोल्शेविकों** (बहुसंख्यकों) की भाँति **मैनशेविक** (अल्पसंख्यक) भी मूलतः **समाजवादी लोकतांत्रिक** दल का अंग थे । १९०३ में कार्यप्रणाली के प्रश्न पर दोनों गुटों में फूट पड़ गई ; **मैनशेविकों को बोल्शेविकों** का क्रान्तिकारी ढंग पसन्द नहीं था ।

किया। दोनों ही पत्र गुप्त रूप से निकलते थे और नगरों के मजदूरों में क्रान्तिकारी विचार फैलाया करते थे। १९०३ से लेकर आगे उसने नरम समाजवादियों के विरुद्ध उत्साह के साथ संघर्ष चलाया। १९०५ की क्रान्ति में वह भाग नहीं ले पाया। उस समय वह स्विटज़रलैंड में निर्वासित रूप में रह रहा था। जब वहाँ से वह रूस पहुँचा तब तक क्रान्ति समाप्त चुकी थी, अतः वह यह देखने के अतिरिक्त कि क्रान्तिकारियों ने क्या भूलें कीं और अधिक कुछ न कर सका। किन्तु अक्टूबर १९१७ की क्रान्ति के लिये वह तैयार मिला।

अप्रैल १९१७[२९] में रूस लौटकर उसने सबसे पहले अपनी **अप्रैल थीसिस** प्रकाशित की और बोल्शेविकों से अपील की कि वे लड़खड़ाती हुई अस्थाई सरकार का, जिसने फरवरी की क्रान्ति के बाद शासन को बागडोर अपने हाथों में लेली थी, साथ न दें। इसकी बजाय उसने मजदूरों के लिये "शान्ति, स्वतन्त्रता, रोटी और भूमि" का नारा लगाया। उसे आशा थी कि जनता उसी नेता का अनुगमन करेगी जो उसे सबसे अधिक देने का वचन देगा; और वह मजदूरों तथा किसानों दोनों को यह समझाने में सफल हुआ कि अस्थाई सरकार सुधार का कार्य करने अथवा अपने वायदों को पूरा करने के अयोग्य है। अक्टूबर के अन्तिम दिनों में उसे आभास हो गया कि दूसरी क्रान्ति की घड़ी आ गई है, अतः उसने तुरन्त घोषणा करदी कि अब अथवा फिर कभी नहीं। कुछ ही घन्टों में बोल्शेविकों ने अपनी सावधानी से तैयार की हुई योजनाओं को कार्यान्वित कर लिया। २४ अक्टूबर की रात में उन्होंने ज़ार के **शीतकालीन प्रासाद** तथा अन्य सरकारी इमारतों को घेर लिया, और २५ अक्टूबर की सुबह अस्थाई सरकार के सदस्यों को जैसे ही वे अपने काम पर आये गिरफ्तार कर लिया गया—केवल कैरेंस्की भाग निकलने में सफल हुआ।

---

२९. लैनिन पैट्रोग्राड पहुँचने में इसलिये सफल हुआ कि जर्मनी ने उसे सीमाएँ पार करने की आज्ञा देदी थी। मार्क्स के दर्शन की अपूर्णता की विवेचना करते हुए इस घटना के सम्बन्ध में बर्ट्रांड रसल ने लिखा है। "यदि यह मान भी लिया जाय कि आर्थिक कारण महान् शक्तियों को जन्म देते हैं; तो भी प्रायः यह देखा जाता है कि अत्यन्त साधारण और आकस्मिक घटनाओं पर यह निर्भर करता है कि इन महान् शक्तियों में से किसकी विजय होगी। ट्राट्स्की ने रूसी क्रान्ति का जो वृत्तान्त लिखा है उसे पढ़कर यह विश्वास करना कठिन है कि लैनिन के कारण क्रान्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ा, किन्तु जर्मन सरकार उसे रूस जाने देती या नहीं यह तो एक बहुत ही अनिश्चित और संयोग की बात थी। यदि सम्बद्ध मन्त्री किसी दिन बीमार हो जाता तो वह "हाँ" की बजाय "नहीं" कह देता। मेरी राय में यह कहना बुद्धिसंगत नहीं होगा कि लैनिन के बिना भी रूसी क्रान्ति को वही सफलता मिल जाती जोकि उसे मिली। *Freedom Versus Organization* (1934), p 198.

लेनिन की क्रान्तिकारी प्रतिभा तो अद्भुत थी ही; किन्तु उसकी सैद्धान्तिक विश्लेषण की योग्यता भी किसी रूप में कम न थी। लेनिन के एक प्रशंसक ने लिखा है। "लेनिन ने अपने जीवन में क्रान्ति का सैद्धान्तिक विश्लेषण और क्रांति का सम्पादन, इन दोनों चीजों का समन्वय करने में अद्भुत सफलता पाई; राजनीतिक चिंतन के इतिहास में अन्य कोई ऐसी चीज नहीं मिलेगी जिसकी तुलना लेनिन की इस सफलता से की जा सके। वह उन बिरले व्यक्तियों मे से एक था जिनके जीवन में दौर्बल्यजनक फूट अथवा विभाजन नहीं होता और इसलिये विचारों तथा कार्यों के बीच अन्तर देखने को नहीं मिलता।"[३०] सैद्धान्तिक के रूप में लेनिन अपने क्रांतिकारी चालों के विश्लेषण और साम्राज्यवाद के अध्ययन के लिये सबसे अधिक प्रसिद्ध है।[३१]

क्रान्ति का विश्लेषण करते हुए लेनिन ने बतलाया कि पूँजीवादी उदारवादियों के साथ समझौता करना ठीक नहीं है, और हिंसात्मक परिवर्तन की आवश्यकता पर बल दिया। अनेक वर्षों तक उसने उन मार्क्सवादियों के खिलाफ पुस्तिकाओं द्वारा संघर्ष चलाया जिन पर वह मार्क्स को "साधारण उदारवादी" में परिवर्तित कर देने का आरोप लगाया करता था। लेनिन का कहना था कि श्रमिकों को सफलता कार्य द्वारा ही मिल सकती है और कार्य का अर्थ है क्रान्ति। अन्य मार्ग भ्रान्ति मात्र हैं। विकासात्मक परिवर्तन की प्रतीक्षा करना अथवा लोकतांत्रिक पद्धतियों और स्वतंत्रता की बात करना मार्क्सवाद को निठल्लों के दर्शनों में परिवर्तित करना है। जब तक तलवार का सहारा नहीं लिया जाता तब तक कोई शासक वर्ग श्रमिकों को दिखावटी स्वतंत्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकता। शोषित जो कुछ चाहते हैं उसे शक्ति के बल पर ही प्राप्त कर सकते हैं। और यदि इस प्रक्रिया में उदारवादी लोकतांत्रिक विचारों को कुचलना पड़े, तो इससे क्या खास बनता बिगड़ता है? राज्य अधिक से अधिक एक अस्थाई संस्था हैं। यह तो प्रत्याशित ही है कि क्रान्तिकारी भूतपूर्व शासक-वर्गों की सम्पत्ति को जब्त करने के लिये राज्य का प्रयोग करेंगे। "जब तक सर्वहारा को राज्य की आवश्यकता है तब तक वह उसका प्रयोग स्वतंत्रता की रक्षा के लिये नहीं बल्कि अपने विरोधियों का दमन करने के लिये करेगा, और जब स्वतंत्रता की बात करना सम्भव हो जायेगा तब राज्य का अस्तित्व ही नहीं रहेगा।"[३२]

३०. Max Lerner, *Ideas Are Weapons* (1939), p. 326.

३१. लेनिन के सम्बन्ध में स्टैलिन ने लिखा था कि लेनिनवाद क्रान्ति और साम्राज्यवाद के युग का मार्क्सवाद है *Foundations of Leninism* (1924), p. 10 देखिये International Publishers Editions.

३२. V. I. Lenin, *The Proletarian Revolution and the Renegade Kautsky* (1918), p. 24. देखिये Foreign Languages Publishing House Edition. (1947).

लेनिन ने आगे लिखा कि यह कल्पना करना मूर्खता है कि क्रान्तिकारियों के पास बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों के झगड़े में पड़ने के लिये समय है अथवा उसमें उनकी रुचि है। क्रान्ति का इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं होता कि अनुयायियों की अथवा दल के सदस्यों की संख्या अधिक है अथवा कम। लेनिन ने मैनशेविकों से इसलिये सम्बन्ध तोड़ लिया था कि वे यदा-कदा दिलचस्पी लेने वाले सदस्यों को भी साम्यवादी आन्दोलन में सम्मिलित करने के पक्ष में थे जब कि वह इस चीज के विरुद्ध था। उसका सिद्धान्त था कि दल में उन्हीं लोगों को प्रविष्ट किया जाय जो सक्रिय रूप से पार्टी के उद्देश्यों के लिये काम करने को तैयार हों। वह चाहता था कि पार्टी ऐसे पेशेवर क्रान्तिकारियों का एकता के सूत्र में बँधा हुआ संगठन होना चाहिये जो एक इच्छा से काम कर सकें और जिनके बीच गुटबंदी की कोई गुंजाइश न हो।[34] दल मजदूर वर्ग का अग्रगामी दस्ता होता है और उसी पर इस बात का उत्तरदायित्व होता है कि संक्रमण काल में सर्वहारा के अधिनायकत्व द्वारा पुराने समाज के अवशेषों का मूलोच्छेद करके साम्यवाद के लिये मार्ग प्रशस्त करे।

पार्टी के द्वारा सर्वहारा वर्ग शक्ति पर कब्जा करता है, शासक वर्ग बनता, पूँजीवादी संसदवाद और लोकतन्त्र का ध्वंस करता, अन्य वर्गों के पूँजीवाद की पुनःस्थापना करने के प्रयत्न को कुचलना, श्रमिकों को वास्तविक स्वतंत्रता और समानता प्रदान करता, और उन्हें पूँजीपतियों से छीनी हुई सम्पत्ति का वास्तविक अर्थ में प्रयोग करने का अवसर और अधिकार देता है। केवल यही एक तरीका है जिससे मानव द्वारा शोषण बन्द किया जा सकता, और वर्गविहीन तथा राज्यविहीन शुद्ध साम्यवादी समाज की स्थापना का रास्ता तैयार किया जा सकता है।

लेनिन के साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार उसकी पुस्तक **साम्राज्यवाद : पूँजीवाद की उच्चतम अवस्था** में मिलते हैं। इसकी रचना उसने १६१६ में की थी। इसमें उसने मार्क्सवाद के आर्थिक पहलू का परिवर्धन किया। उसने कहा कि मार्क्स ने पूँजीवाद की राष्ट्रीय अवस्था का सही चित्र प्रस्तुत किया था, किन्तु वह उसकी साम्राज्यवादी अन्तिम मंजिल का विश्लेषण नहीं कर पाया था। किसी देश में पूँजीवाद की वृद्धि तब तक जारी रहती है तब तक कि सब अच्छे-अच्छे बाजारों का इस्तेमाल नहीं हो जाता, और पूँजी लगाने के सब लाभदायक तरीकों से काम नहीं ले लिया जाता। तब पूँजीवाद एकाधिकार की अवस्था में प्रवेश करता है, जिसके अन्तर्गत आन्तरिक (घरेलू) प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है और संयोजन[35] औद्योगिक संगठन का प्रधान रूप बन जाता है। ये राष्ट्रीय एकाधिकारी संगठन घर के बाजार का पूरी तरह दोहन कर लेते

३३. वहीं, pp. 22 ff.
34. Hunt, op. cit, p. 147.
35. Combinations (अ॰ उ॰)

हैं, किन्तु उन्हें जल्दी ही यह समझ में आने लगता है कि अधिक लाभ कमाने का उपाय यही है कि संसार के अविकसित क्षेत्रों की ओर ध्यान दिया जाय। फलतः व्यापार भूमांडलिक पैमाने पर होने लगता और विभिन्न राष्ट्रों के बीच प्रतियोगिता कच्चे माल और बाजारों के लिये संघर्ष का रूप धारण कर लेती है।

चूँकि किसी राष्ट्र की शक्ति अन्त में उसकी अर्थ-व्यवस्था पर निर्भर होती है, इसलिये आर्थिक प्रतियोगिता के फलस्वरूप राष्ट्रों के बीच राजनीतिक संघर्ष आ खड़े होते हैं, और संसार के शोषण के योग्य क्षेत्रों का नियंत्रण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मुख्य आधार बन जाता है। और इस प्रकार पूँजीवाद साम्राज्यवादी युद्ध की अवस्था में प्रवेश करता है।

जिस समय लेनिन ने अपनी पुस्तक लिखी उस समय प्रथम विश्व-युद्ध चल रहा था; उसे उसने साम्राज्यवादी युद्ध की ही संज्ञा दी। उसने कहा कि जर्मनी, इंगलैंड और फ्रांस साम्राज्यवादी लुटेरे हैं जो संसार के आर्थिक साधनों पर अपना अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिये संघर्ष में उलझे हुए हैं। यह संघर्ष दो पुराने लुटेरों और एक नये लुटेरे के बीच है।[३६] अतः मजदूर वर्ग को इससे कोई प्रयोजन नहीं है। अपने पूँजीवादी मालिकों की सेवा करने से उन्हें क्या लाभ हो सकता है? पूँजीवादी देशभक्ति एक खोखली चीज़ है और श्रमिक वर्गों को धोखे में डालने के लिये हैं। मजदूरों का उद्देश्य यह होना चाहिये कि वे साम्राज्यवादी युद्ध का अपने लाभ के लिये प्रयोग करें। यदि इस प्रकार के संघर्ष को सर्वहारा की क्रान्ति का रूप दिया जा सके तो फिर साम्यवाद का शीघ्र ही आना सम्भव हो सकेगा। लेनिन के जीवन की यह आशा थी कि साम्राज्यवादी युद्ध से सर्वहारा की क्रान्ति का जन्म होगा।[३७]

स्टैलिन

इस बात की अधिक सम्भावना है कि इतिहास में जोसफ स्टैलिन (१८७९-१९५३)[३८] का एक महान राजनीतिज्ञ के रूप में उल्लेख होगा, न कि एक राजनीतिक दार्शनिक के रूप में। किन्तु उसका साम्यवादी सिद्धांत को एक योगदान अवश्य है जिसके लिये उसे याद रक्खा जायगा। यह "एक देश में समाजवाद" का सिद्धान्त है। १९२४ में जबकि लियोन ट्राट्स्की से उसका संघर्ष चल रहा था उसने सहसा इस सिद्धांत की घोषणा की।

ट्राट्स्की अपनी रचनाओं और भाषणों में इस बात पर जोर दे रहा था कि रूस को तुरन्त ही क्रान्ति की ज्योति अन्य देशों से फैलाने का प्रयत्न करना चाहिये नहीं तो

36. G. H. Sabine, *A History of Political Theory*. re ed. (1950) p. 819.
३७. वहीं।
38. *Foundations of Leninism* (1924), *Problembs of Leninism* (1926) *Economic Problems of Socialism in the U. S. S. R.* (1952)

पूँजीवादी शत्रु रूस में जो कुछ हुआ है उसे भी समाप्त कर देंगे। उसका दृष्टिकोण उग्र तथा अन्तर्राष्ट्रवादी था। इसके विपरीत स्टैलिन ने रूस की राष्ट्रीय भावना की शक्ति को भलीभाँति समझा और सावधानी का तथा राष्ट्रवादी रुख अपनाया। उसकी दलील थी कि पूँजीवादी देशों से घिरे होने पर भी केवल एक देश में समाजवाद सफल हो सकता है।[३९] आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि हमें यूरोप के मजदूरों की सहानुभूति और अप्रत्यक्ष समर्थन प्राप्त हो। इतना होने पर, लाल सेना की शक्ति तथा मजदूरों और किसानों को अपनी समाजवादी पितृभूमि की रक्षा करने की तत्परता रूस को इतना अवकाश दे देगी कि वह अपने शत्रुओं का सामना करने के योग्य हो जाये[४०]।

किन्तु इससे स्टैलिन का यह अभिप्राय नहीं था कि विश्व क्रांति का आदर्श त्याग दिया जाय। उस आदर्श को केवल स्थगित करना था। उसका कहना था कि साम्यवाद की अंतिम अवस्था तब तक नहीं आ सकती जब तक कि सर्वहारा की क्रांति द्वारा घेरने वाले शत्रुओं को परास्त नहीं कर दिया जाता। किन्तु यह क्रान्तियाँ तभी सफल हो सकती हैं जब कि रूस ऐसा मजबूत गढ़ बन जाय जहाँ से साम्यवाद को शेष संसार में फैलाया जा सके।

साम्यवाद का भविष्य

इस सिद्धान्त का महत्व यह नहीं है कि इससे उद्देश्य में कोई परिवर्तन हो गया है। रूस के नेताओं का आदर्श अब भी विश्वव्यापी साम्यवाद की स्थापना करना है। फिर भी दृष्टिकोण के इस परिवर्तन का महत्त्व है। मार्क्स तथा **साम्यवादी घोषणापत्र** के अन्तर्राष्ट्रवाद का स्थान राष्ट्रवाद ने ले लिया है जिसका आधार रूसी ढँग का विशिष्ट साम्यवाद है। इसके दो प्रभाव हुए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूसी लोग अन्य राष्ट्रों के मजदूरों को विद्रोह करने में सहायता दे रहे हैं। रूमानियाँ, बुल्गारिया, पोलैंड, चैकोस्लावाकिया आदि देशों में उन्होंने यही किया है। किन्तु इस प्रकार श्रमिक वर्गों को मुक्त करके उन्होंने जिस स्वतन्त्रता की स्थापना की है वह उस स्वतन्त्रता से भिन्न नहीं है जो पश्चिम के राष्ट्र "गोरे आदमी का भार" वहन करने के बहाने अविकसित देशों में बहुत पहले स्थापित कर चुके हैं। साम्यवाद के रूसीकरण का अर्थ यह हुआ है कि एक नये प्रकार का साम्राज्यवाद उत्पन्न हो गया है। इस साम्राज्यवाद के नेता राज्यों की सीमाओं के पार सेनाएँ बहुत कम भेजते हैं; और वहाँ की सरकारों को "जनता के लोकतंत्र" का रूप देते हैं, किन्तु रूस द्वारा किया जाने वाला नियन्त्रण कम वास्तविक नहीं है और न शोषण ही कम स्पष्ट है।

---

39. Joseph Stalin, *Leninism* (1942) p. 17. देखिये International Publishers Edition. यह पुस्तक *Problems of Leninism* का संक्षिप्त संस्करण है।

४०. वहीं, पृष्ठ २०।

राष्ट्रीय क्षेत्र में इस राष्ट्रीयकृत साम्यवाद का अर्थ यह हुआ है कि जनता के जीवन पर अधिक नियन्त्रण लगाया गया है और साम्यवाद का शुद्ध रूप अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दिया है, यद्यपि साम्यवाद की समाजवादी अवस्था की स्थापना की घोषणा १९३६ में ही कर दी गई थी। स्टैलिन तथा उसके उत्तराधिकारियों का इस बात पर जोर रहा है कि घेरनेवाले पूँजीवादी शत्रु को मार भगाने के लिये आन्तरिक शासन में अपरिमित शक्ति की आवश्यकता है। और इस बहाने को लेकर उन्होंने ऐसे सुपरिचित अधिनायकवादी हथकंडों का प्रयोग किया जैसे झूठ बोलना और विरोधियों को निकालकर बाहर करना। उनके संविधान में लोकतंत्र और नागरिक अधिकारों की बात भले ही हो, और साम्यवादी प्रचारक फासीवादी अधिनायकत्व की निन्दा भले ही करें किन्तु इस कथन में सत्य का अंश है कि साम्यवाद फासीवाद का ही एक साथी है। अन्त में दोनों सत्ता और समग्रता के आदर्शों पर कायम हैं और दोनों घोर प्रतिक्रियावादी हैं, यद्यपि अपनी भूल से हमने साम्यवादियों को इस बात का अवसर दिया है कि वे अपने को ही "सच्चे प्रगतिशील" कहते आये हैं।

भविष्य में क्या होगा, इसकी कल्पनामात्र की जा सकती है। कुछ भी हो, यह असम्भव प्रतीत होता है कि निकट भविष्य में साम्यवाद अपने ही बोझ से अथवा आन्तरिक विद्रोह के फलस्वरूप छिन्न-भिन्न हो जायगा, जैसी कि उसके कुछ आलोचकों की धारणा है। साम्यवाद की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उसका सहसा विलुप्त हो जाना असम्भव है। उसकी दार्शनिक परम्पराएँ अतीत में बहुत दूर तक फैली हुई हैं और वह उन समस्याओं के सहारे फलता फूलता है जिन्हें हल नहीं किया जा सका है। और न इसी बात का भय है कि भविष्य में साम्यवाद सारे संसार पर छा जायगा और लोकतांत्रिक शासन प्रणाली तथा उदारवादी परम्पराओं का गला घोंट दिया जायगा। ऐसा सोचने वालों को उदारवाद की प्राण-शक्ति पर कम भरोसा है। अधिक सम्भावना इस बात की है कि यदि कोई सार्वभौम युद्ध न हुआ तो भविष्य में जहाँ तक हम अभी से देख सकते हैं, संसार दो ऐसे खेमों (गुटों) में बँटा रहेगा जो आदर्शों की दृष्टि से एक दूसरे के विरोधी हैं और जो एक दूसरे की दुर्बलताओं और विफलताओं की प्रतीक्षा करते हैं।

पठनीय ग्रन्थ

Berlin, Isaiah, *Karl Marx* (London, T. Butterworth, 1939).

Carr, E. H., *Karl Marx* (London, Dent, 1934).

Chang, Sherman, H.M., *The Marxian Theory of the State* (Philadelphia, 1931).

Cocker, F. W., *Recent Political Thought* (New York, Appleton-Century, 1934), pp. 35-65 ff.

Cole, G. D. H., *What Marx Really Meant* (New York, Knoff, 1937).

Hook, Sidney, *Towards the Understanding of Karl Marx* (New York, Day, 1933).

Hunt, R. N. Carew, *The Theory and Practice of Communism* (New York, Macmillan, 1951).

Kelsen, Hans, *The Political Theory of Bolshevism* (Berkeley, Univ. of California Press, 1948).

Koestler Arthur, *The Yogi and the Commissiar* (New York, Macmillan, 1945).

Laski, H. J., *Communism* (New York, Holt, 1927).
Karl Marx (London G. Allen., n. d.)

Lerner Max, *Ideas are Weapons* (New York Viking, 1939), pp. 319-337.

Le Rossignol, J. E. *From Marx to Stalin* (New York, Crowell, 1940).

Mayer, Gustav, *Freiderich Engels* (London, Chapman, 1936).

Robinson Jean, *An Essay on Marxian Economics* (London Macmillan, 1942),

Ruhle, Otto *Karl Marx* (New York, Viking, 1929).

Russel, Bertrand, *Freedom Versus Organization* (New York, Norton, 1934) Chaps. 17-20.
The Practice and Theory of Bolshevism (London, G. Allen, 1920).

Sabine, G. H., *A History of Political Theory* rev. ed. (New York, Holt, 1950) Chaps. 33-34.

Winslow, E. M., *The Pattern of Imperialism* (New York Columbia Univ. Press, 1948). Chaps. 6-9.